महाकवि बाणभट्ट-रचित

कादम्बरी

[कथामुख भाग]

महाकवि बाणभट्ट-रचित

कादम्बरी

[कथामुख भाग]

(आलोचनात्मक भूमिका, संस्कृत टीका, हिन्दी अनुवाद, अंग्रेजी अनुवाद, शब्दार्थ, टिप्पणी आदि के सहित)

टीकाकार

पं० रामस्वरूप शास्त्री, व्या० तीर्थ; न्या० तीर्थ; व्याकरणाचार्य तथा साहित्य शास्त्री

Translated into English by

Pt. Debi Prasad Malviya, M. A.

सम्पादक तथा हिन्दी अनुवादक

प्रकाशनारायण शर्मा एम० ए० (हिन्दी तथा संस्कृत);

("The Essentials of Indian Philosophy" के अनुवादक)

प्रकाशक

रामनारायण लाल बेनी माधव

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद

१९६१] [मूल्य ५)

छोड़ गये हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ कादम्बरी के कथामुख के प्रारम्भिक श्लोकों में तो इसकी रूप-रेखा मात्र ही प्राप्त होती है, परन्तु उनके दूसरे सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'हर्षचरित' में यह वृत्तान्त काफी विस्तार के साथ प्राप्त होता है । इस ग्रन्थ के प्रथम कुछ उच्छ्वासों (परिच्छेदों) में लेखक ने पूर्ण रूप से अपने और अपने सुप्रतिष्ठित पूर्वजों के विषय में ही लिखा है । इन दोनों ही ग्रन्थों के अनुसार बाण ने अपने कुल की उत्पत्ति सारस्वत (सरस्वती और दधीचि के पुत्र) के चचेरे भाई वत्स से बतायी है । इन्हीं सुप्रतिष्ठित वत्स से प्रसिद्ध वात्स्यायन वंश चला था । इसी वंश में कुबेर नामक एक अत्यन्त सम्माननीय और धुरन्धर विद्वान् ब्राह्मण की उत्पत्ति हुई थी । ये अपनी साहित्यिक कृतियों के लिए अनेक गुप्तवंशीय राजाओं के आदर और कृपा के पात्र हुए—यह हमें कादम्बरी की प्रस्तावना के एक श्लोक से पता चलता है । हर्षचरित के अनुसार इन कुबेर के चार पुत्रों में से एक पाशुपत था, जैसा कि इस ग्रन्थ के आधार पर बनायी हुई वंशावली[1] से प्रकट होता है । परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि कादम्बरी की प्रस्तावना के श्लोकों में इसका

---

१ वत्स, ये इस वंश के प्रवर्तक थे और सारस्वत (सरस्वती और दधीचि
| के पुत्र) के चचेरे भाई थे ।
कुबेर, वत्स के एक वंशज
|
अच्युत ईशान हर पाशुपत
|
अर्थपति
|
चित्रभानु आदि ग्यारह पुत्र
|
बाण
|
भूषण

कोई उल्लेख नहीं है। इसका क्या कारण है, यह केवल अनुमान का विषय हो सकता है। पाशुपत के एक पुत्र का नाम था अर्थपति। अर्थपति के ग्यारह पुत्रों में एक थे चित्रभानु। यही हमारे विद्वान् कवि बाण के पिता थे। इस वंश को चलाने वाले 'वत्स' के समय से ही इस कुल का पैतृक घर तथा निवास-स्थान, हिरण्यबाहु नामक महानद के तीरस्थ प्रीतिकूट नाम के ग्राम में था। इस महानद का एक और नाम शोण भी है ('यं जनाः शोण इति कथयन्ति')। बाण के भाग्य में अपने माता-पिता का सुख नहीं लिखा था। जब वह बहुत छोटा था, तभी उसकी माता राज्यदेवी चल बसीं। इसके पश्चात् उनके अत्यन्त स्नेही पिता ने ही, उनकी माता का स्थान ग्रहण किया और अत्यन्त प्रेम के साथ उनका पालन-पोषण किया। जब ये लगभग चौदह वर्ष के ही थे कि उनके पिता का भी स्वर्गवास हो गया। चन्द्रसेन और मातृसेन ये दोनों उनके भाई लगते थे जो उनके पिता की शूद्रा भार्या से उत्पन्न हुए थे। गणपति, अधिपति, तारापति और श्यामल उनके चचेरे भाई थे।

पिता की मृत्यु के पश्चात् बाण के हृदय में विभिन्न देशों के देखने की तीव्र लालसा उठी। इसी से प्रेरित होकर बाण ने देशाटन करना प्रारम्भ कर दिया और एक प्रकार से 'घुमक्कड़ों' का जीवन ग्रहण कर लिया। यद्यपि उन्हें पैतृक उत्तराधिकार के रूप में पर्याप्त विभव की प्राप्ति हुई थी और यदि वे चाहते तो अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए अत्यन्त आनन्द के साथ रह सकते थे, तथापि युवकसुलभ प्रवृत्ति और चपलता के कारण वे घर से निकल ही पड़े और एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमते रहे। जब यौवन का आगमन होता है, भावनाएं जोर मारती हैं और मर्यादा के बन्धन शिथिल पड़ जाते हैं उस समय यह नितान्त स्वाभाविक ही होता है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि अपने इन कार्यों के लिए उन्हें अपने पड़ोसियों और अन्य प्रतिष्ठित जनों के उपहास का पात्र बनना पड़ा। इस भ्रमण-काल में उनको बहुत से 'समवयस्क मित्र

सभा के प्रथम-पण्डित के उच्च स्थान पर सुशोभित किया और अपनी कृपा-दृष्टि से उन्हें भली भाँति कृतार्थ किया। राजकीय अनुकम्पा के फल-स्वरूप पर्याप्त प्रतिष्ठा तथा आतिथ्य-प्राप्त करने के कुछ दिनों पश्चात् बाण लौटकर अपनी जन्म-भूमि ब्राह्मणाधिवास अथवा प्रीतिकूट आये। वहाँ पर उनके बन्धुवान्धवों और जाति के लोगों ने उनका शानदार स्वागत किया। कुछ समय पश्चात् एक दिन जब वे विश्रामादि करके आनन्द से बैठे हुए थे, सुदृष्टि ने किसी पुराण का पाठ करके उन्हें सुनाया। इसके पश्चात् उनके चारण सूचीबाण ने हर्ष के जीवन-चरित सम्बन्धी कुछ श्लोक गाकर सुनाये। ये श्लोक सबों को और विशेष रूप से उनके चार चचेरे भाइयों को बड़े पसन्द आये। उनमें सबसे छोटे श्यामल ने बाण से हर्ष के पूर्ण जीवनचरित को सुनाने की प्रार्थना करने का भार अपने ऊपर लिया। पहले तो बाण ने सम्पूर्ण हर्षचरित को सुना देने में अपनी असामर्थ्य सूचित करते हुए कहा कि यशस्वी महाराज हर्ष के पुण्य-कृत्यों की सम्पूर्ण गाथा सुनाने की आशा तो वे सौ जन्मों में भी नहीं कर सकते। हाँ, यदि उन लोगों को उसके एक अंश के सुनने से सन्तोष हो तो वे सुना सकते हैं। दूसरे दिन प्रातःकाल उन्होंने अपने कथना-नुसार हर्षचरित सुनाना शुरू किया।

हर्षचरित के प्रारम्भिक उच्छ्वासों (परिच्छेदों) से हमें बाण की आत्म-कथा के विषय में इतनी ही बातें उनके द्वारा स्वयं लिखी मिलती हैं। इसके बाद के उनके जीवन के विषय में कुछ जानने के लिए हमें कोई सामग्री नहीं प्राप्त होती। अनुमानतः हम यही कह सकते हैं—और यह नितान्त असम्भव भी नहीं प्रतीत होता—कि वे अपना शेष जीवन साहित्य-सेवा करते हुए शान्तिमय ढंग से व्यतीत कर रहे थे कि मृत्यु के निर्दय हाथों ने उन्हें सहसा संसार से उठा लिया। ऐसा हम इस आधार पर कहते हैं कि जब वे अपने महान् ग्रन्थ, कादम्बरी, को पूरे उत्साह के साथ लिख रहे थे तभी वे सहसा मृत्यु को प्राप्त हुए और वह ग्रन्थ अधूरा ही रह गया। कादम्बरी जिस रूप में अब हमें प्राप्त होती है उस रूप में उसकी सफल

समाप्ति का श्रेय बाण के मेधावी और सुयोग्य पुत्र को है। उसका पुत्र लिखता है कि मैंने यह कार्य-भार किसी 'कवित्व-दर्प' के कारण नहीं, वरन् अपने पिता की मृत्यु के कारण कादम्बरी की असमाप्त कथा को देखकर सज्जनों को जो दुःख होगा उसका विचार कर, ग्रहण किया[1]।

डा० बूह्लर के अनुसार इस कर्तव्य-परायण सुपुत्र का नाम भूषणबाण था। कहीं-कहीं भूषणभट्ट, पुलिन अथवा पुलिन्द के रूप में भी उसके नाम का उल्लेख किया गया है।[2]

बाण का जन्मकाल और उनके समकालीन

जहाँ तक बाण की जन्मतिथि का सम्बन्ध है, हम अन्य बातों की अपेक्षा उसके विषय में अधिक निश्चित रूप से कह सकते हैं। संस्कृत के अधिकांश कवि और लेखकों के विषय में ऐसा नहीं है, परन्तु बाण का काल, हम मिलने वाली सामग्री के आधार पर, पूर्ण विश्वास के साथ निश्चित कर सकते हैं और इस सामग्री की प्रामाणिकता भी असन्दिग्ध है। हमें यह तो एक ऐतिहासिक तथ्य के रूप में पता है कि महाराज हर्ष ६०६ ई० से ६४८ ई० के बीच हुए। हर्ष-चरित में लिखित बाण की आत्म-कथा से हमें यह भी पता चलता है कि उन्हें श्रीहर्ष के द्वारा राज्याश्रय प्राप्त हुआ था। इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध चीनी

---

१ याते दिवं पितरि तद्वचसैव सार्धं,
विच्छेदमाप भुवि यस्तु कथाप्रबन्धः।
दुःखं सतां तदसमाप्तिकृतं विलोक्य,
प्रारब्ध एव स मया न कवित्व-दर्पात्॥
(कादम्बरी के उत्तर भाग की भूमिका)

२ केवलोऽपि स्फुरन्बाणः करोति विमदान्कवीन्।
किं पुनः क्लृप्तसन्धानः पुलिन्दकृतसन्निधिः॥
[बाण की प्रशंसा करते हुए धनपाल ने तिलकमञ्जरी की भूमिका में यह लिखा है।]

बौद्ध यात्री ह्वेनसांग ने भी, जो कि बुद्ध से और बौद्ध धर्म से सम्बन्धित तीर्थ-स्थानों का दर्शन करने के लिए भारत में कितने ही वर्षों तक (६२६ ई० से ६४५ ई० तक) रहा, हर्ष नामक एक राजा का उल्लेख किया है। यह राजा उस समय सम्पूर्ण उत्तर भारत पर शासन कर रहा था। इस चीनी यात्री ने अपनी भारत-यात्रा के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से जो अपने संस्मरण लिखे थे उनका मिलान जब हम बाण के महाराज हर्षविषयक वर्णनों से करते हैं तो इसमें सन्देह की कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती कि इस यात्री द्वारा उल्लिखित हर्ष नामक राजा जो सम्पूर्ण उत्तर भारत पर शासन कर रहा था वही राजा था जिसने बाण को राज्याश्रय दिया था और जिसे उसने अपनी रचना द्वारा बाद में अमर कर दिया। इस प्रकार बाण हर्ष (६०६ ई० से ६४८ ई०) के समकालीन थे और हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि वे ईसा की छठी शताब्दी के अन्तिम भाग और सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अवश्य रहे होंगे।

इसके अतिरिक्त और भी कितने ही प्रमाण[1] मिलते हैं जिनसे हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं। इनमें से सर्वप्रमुख प्रमाण यह है कि ८वीं शताब्दी से १२वीं शताब्दी के बीच होने वाले अनेक लेखकों ने बाण और उनके ग्रन्थों का उल्लेख किया है। हम बाण के जन्म-काल-निर्धारण को इतना महत्त्व

---

१ श्री पी० वी० काने द्वारा सम्पादित कादम्बरी के विभिन्न अंशों की भूमिका अत्यन्त ही विद्वत्ता-पूर्ण है। इसमें उन्होंने हमारे ध्यान को इस प्रमाण और इन कवियों की ओर आकर्षित किया है। इस सम्बन्ध में विभिन्न लेखकों और उनके ग्रन्थों की विस्तृत तुलनात्मक परीक्षा करके प्रस्तुत विषय के विवेचन एवं प्रतिपादन में उन्होंने जिस गवेषणात्मक शक्ति का परिचय दिया है वह अत्यन्त सराहनीय है। स्थानाभाव के कारण यहाँ हम उससे कोई विशेष लम्बा उद्धरण नहीं दे सकते हैं। हम इस विषय में ऊपर जो कुछ लिख चुके हैं उससे अधिक कुछ नहीं कह सकते। जिज्ञासु पाठकों को हम श्री 'काने' की इसी सराहनीय भूमिका का अध्ययन करने की सलाह देंगे।

केवल इसलिए नहीं देते हैं कि उससे वाण का काल निश्चित हो जाता है, वरन् इसलिए भी कि इससे उन अनेक लेखकों के काल-निर्धारण के लिए हमें एक आधार प्राप्त हो जाता है जिनका उल्लेख वाण ने किया है। उदाहरणार्थ उन्होंने हर्षचरित की भूमिका में भास, कालिदास आदि कवियों का प्रशंसा-पूर्ण शब्दों में उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त (सुबन्धु की) वासवदत्ता, (गुणाढ्य की) वृहत्कथा आदि ग्रन्थों का उल्लेख भी उन्होंने किया है। इसके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ये विभिन्न लेखक अवश्य ही वाण के पूर्ववर्ती हैं और इसलिए ये सातवीं शताब्दी के पूर्व हुए होंगे।

बाण के समकालीन लोगों में मुख्य रूप से जिनका उल्लेख किया गया है उनमें कवि मयूर भी हैं। प्रचलित परम्परा के अनुसार वे उनके ससुर थे। सूक्तिमुक्तावली[1] में राजशेखर ने लिखा है, कि ये मयूर एक महान् कवि थे और एक बार महाराज श्रीहर्ष की प्रेरणा से इनमें और बाण में शास्त्रार्थ[2] भी हुआ था। इन दोनों कवियों के सम्वन्ध में एक विचित्र कथा प्रचलित है। एक बार कोढ़ से ग्रस्त होने पर कवि मयूर, सूर्य-शतक के रूप में सूर्य की स्तुति में सौ श्लोकों की रचना कर, रोगमुक्त हो गये।[3] इस पर बाण को अत्यन्त ईर्ष्या हुई। उन्होंने अपना अङ्ग-भङ्ग कर डाला

---

१ दर्पं कविभुजंगानाम् गता श्रवणगोचरम्।
विषविद्येव मायूरी मायूरौ वाङ्निकृन्तति॥
राजशेखर की सूक्तिमुक्तावली

२ सचित्रवर्ण विच्छित्ति हारिणोखनीपतिः।
श्रीहर्ष इव सङ्घट्टं चक्रे बाणमयूरयोः॥
—नवसाहसाङ्कचरित।

३ आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम्।
—काव्यप्रकाश।

और चण्डी अथवा दुर्गा देवी की स्तुति में चण्डीशतक की रचना कर पुनः स्वस्थ हो गये। बाण ने अपने परिभ्रमण-कालीन साथियों में 'जाङ्गुलिक मयूरक' का भी उल्लेख किया है। सम्भव है कि वह मयूर भी यही 'जाङ्गुलिक मायूरक' हों क्योंकि ऊपर सूक्तिमुक्तावली से जो श्लोक उद्धृत किया गया है उससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि कवि मयूर भी 'जाङ्गुलिक' अथवा विष-वैद्य रहे होंगे। बाण के दूसरे समकालीन सम्भवतः कवि मातङ्ग दिवाकर थे। राजशेखर ने लिखा है कि ये अपनी विद्वत्ता के कारण महाराज श्रीहर्ष की राजसभा में बाण और मयूर के तुल्य माने जाते थे।[1]

बाण की साहित्यिक कृतियाँ और उनका मूल्याङ्कन

इस शीर्षक के अन्तर्गत आगे चल कर मुख्य विषय की विवेचना के सम्बन्ध में जो लिखा जायगा उसके वास्तविक महत्त्व को सम्यक् रूपेण समझने के लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हमें पहले निम्न-बातों के विषय में निश्चित रूप से कुछ ज्ञात हो जाय। (१) काव्य के तत्त्व, (२) संस्कृत साहित्य में गद्य और अलंकारशास्त्र का विकास, (३) गद्य-रचनाओं का वर्गीकरण। इसलिए पहले हम इन्हीं में से एक-एक को लेंगे।

(१) काव्य के तत्त्व

संस्कृत साहित्य में काव्य का वास्तविक स्वरूप क्या माना गया है, यह बड़ी आसानी से बताया जा सकता है। इसके अनुसार पद्य मात्र अथवा छन्दरचना मात्र को काव्य का अपरिहार्य अङ्ग नहीं माना गया है। वह तो काव्य के बाह्य और अतिरिक्त अलंकार मात्र हैं। संस्कृत साहित्य-शास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों में दी हुई काव्य की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर

---

१ अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातङ्गदिवाकरः।
श्रीहर्षदेवस्याभवत्सभ्यः समो बाणमयूरयोः ॥—राजशेखर।

यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि काव्य गद्य या पद्य किसी में भी लिखा जा सकता है।[१] यह भी कहा गया है कि गद्य ही कवियों की कसौटी है।[२] साथ ही हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि अलंकार, गुण, ध्वनि आदि जो भाषा के अलंकरण के विविध उपकरण माने जाते हैं, उनमें अनेक प्रकार के अलंकारों तथा भाषा को उत्कृष्ट बनाने के विविध विशिष्ट साधनों की गणना होती है। यद्यपि काव्य के बाह्य-स्वरूप को सजाने की दृष्टि से ये कुछ अंशों में आवश्यक कहे जा सकते हैं, परन्तु इन्हें काव्य की आत्मा कथमपि नहीं कहा जा सकता। मानव-जीवन में वस्तुजगत् के प्रति आकर्षण है, सुख भी है और दुःख भी है। इस प्रकार वह (मानव-जीवन) अत्यन्त सूक्ष्म और परस्पर-विरोधी भावों का एक जटिल समन्वय है। प्रेम और घृणा, आशा और निराशा, भय और दया आदि ही वे विरोधी भाव हैं जो जीवन में आने वाली विभिन्न परिस्थितियों के कारण विविध रूपों में परिवर्तित हो जाते हैं। इन भावों और उससे सम्बन्धित अन्य विषयों का सच्चाई और ईमानदारी के साथ उपयुक्त भाषा में चित्रण कर देना, चाहे उसका बाह्य वेष और आलंकारिक विन्यास कैसा ही क्यों न हो, निस्सन्देह काव्य की श्रेणी में ही आयेगा। प्रोफेसर शैर्प भी अपने 'आस्पेक्ट्स आफ़ पोइट्री' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं—सहृदयों में जीवन की झाँकी जिन उच्च विचारों और भव्य भावों को जागृत करती है उनको सुन्दर स्वरूप और सरस भाषा में व्यक्त करना ही काव्य है, और गद्य या पद्य किसी में भी इसकी रचना हो सकती है। संस्कृत के कुछ साहित्य-शास्त्रियों के अनुसार रस ही काव्य की आत्मा है। उसके अभाव में छन्दोबद्ध कविता भी काव्य नहीं है अथवा एक अत्यन्त निकृष्ट श्रेणी के काव्य का उदाहरण है। कभी-

---

१ काव्यं गद्यं च पद्यं च तद्विधैव व्यवस्थितम्।

—दण्डी, काव्यप्रकाश १.

२ गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।

—वामन द्वारा उद्धृत

कभी इस रस शब्द का प्रयोग विषय अथवा अभिव्यक्तीकरण की मधुरता के अर्थ में भी होता है; परन्तु ऊपर मानव-हृदय के जिन भावों को काव्य का वास्तविक स्वरूप माना गया है, हम रस को उनसे नितान्त भिन्न भी नहीं मान सकते हैं।

(२) संस्कृत गद्य-साहित्य तथा साहित्य-शास्त्र का विकास

अभी ऊपर हम जो कुछ कह आये हैं उससे एक बात स्पष्ट हो जाती है। वह यह कि काव्य की रचना गद्य और पद्य दोनों में ही हो सकती है; यद्यपि यह कुछ विचित्र सा प्रतीत होता है। संस्कृत विद्वान् बहुत पहले से ही इस मत को निश्चित सिद्धान्त के रूप में मानते चले आ रहे हैं। बाण के समय में भी यह मत मान्य था। यही नहीं, उस समय तो गद्यकाव्य या काव्यात्मक-गद्य की रचनाएँ अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त हो चुकी थीं। यद्यपि संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में हमें ऐसा कोई युग नहीं दिखाई देता जब कि छन्दोबद्ध कविता का प्रचलन न रहा हो, तथापि हम यह भी देखते हैं कि इसके साथ-साथ गद्य रूप में भी काव्य सदैव विकसित होता रहा है। हमें गद्य-साहित्य का किसी न किसी रूप में सर्वप्रथम निश्चित दर्शन लौकिक संस्कृत-साहित्य के युग के पूर्व ही हो जाता है, क्योंकि हमें सबसे पहले तो वेदों में ही और बाद में ब्राह्मणों, उपनिषदों और विभिन्न सूत्र-ग्रन्थों में गद्य के खूब उदाहरण प्राप्त होते हैं। परन्तु केवल यही नहीं कि यह गद्य-साहित्य नितान्त एकाङ्गी है और उसका सम्बन्ध केवल धार्मिक क्रियाओं और धार्मिक विचारों से है, बल्कि उसका स्वरूप भी अत्यन्त अपरिष्कृत तथा असुन्दर है। जैसा कि स्वाभाविक ही है, विषयों की विविधता और चित्रविचित्र रूप में किसी बात को कहने के ढंग का उसमें सर्वथा अभाव है। हाँ, आगे चल कर बाण के काल से बहुत पूर्व ही ईसवी संवत् की प्रारम्भिक शतियों में संस्कृत गद्य-साहित्य ने तीव्र गति से प्रगति की। इसके साथ ही अलंकार-शास्त्र तथा उसके अंगभूत अनुप्रास, दीर्घ सामासिक पद, यमकालंकार और विविध विशेषण सैद्धा-

न्तिक और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से विकास की अत्यन्त उच्च अवस्था को प्राप्त हो चुके थे। प्रोफेसर मेकडानेल ने अपने संस्कृत-साहित्य के इतिहास में द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के दो महत्त्वपूर्ण गद्य में लिखे हुए शिलालेखों का उल्लेख किया है। इनके सम्बन्ध में वे लिखते हैं :—'इनसे यह सूचित होता है कि उस समय भी गद्य में काव्य लिखने की एक विशिष्ट शैली विद्यमान थी। सामान्य ही नहीं वरन् कितनी ही सूक्ष्म बातों में भी संस्कृत साहित्य की कथाओं और आख्यायिकाओं की शैली से इनकी शैली मिलती-जुलती है क्योंकि इन कथाओं की भाषा दीर्घ समास-बहुला ही नहीं है, अपितु उसमें हमें अनुप्रास, उपमा और रूपक आदि अलंकारों के विविध भेद भी देखने को मिलते हैं"। इनके अतिरिक्त और भी शिला-लेख पाये जाते हैं।[1] ये दूसरी और पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के हैं। श्री काने के अनुसार इनमें बाद के इस 'गद्य'-काव्य की विशिष्ट शैली के समस्त लक्षण पाये जाते हैं। बाद में तो हमें क्रमशः काव्य की इस विधा (गद्य-साहित्य) के अधिकाधिक प्रसिद्ध लेखक मिलते हैं। इन्होंने इस कला को विकास की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचा दिया। सुन्दर, परिश्रम-साध्य विस्तृत वर्णन और अत्यन्त मनोरम शैली इन दोनों दृष्टियों से यह

---

१ दृष्टव्य—श्री पी० वी० काने की कादम्बरी के एक अंश पर लिखी हुई भूमिका (द्वितीय संस्करण, १९१४) पृष्ठ २१। उनके अनुसार इनमें से एक रुद्रदामन (१५० ई०) का शिलालेख है। दूसरा समुद्रगुप्त (चौथी शताब्दी ई० पू०) के समय का शिलालेख है। इनके गद्य की शैली बाण की शैली के सामान है। तृतीय मन्दसौर शिलालेख मालव संवत् ५२९ (अर्थात् ४७३ ई०) का है। उनके अनुसार इसमें ऐसे श्लोक हैं जो शैली और उपमा की दृष्टि से कालिदास, भवभूति तथा अन्य संस्कृत के महान् साहित्यिकों की सर्वोत्कृष्ट कृतियों से टक्कर ले सकते हैं।

विकास महत्त्वपूर्ण है। इस शैली के प्रथम लेखक हैं वासवदत्ता के रचयिता सुबन्धु; दूसरे हैं दशकुमार-चरित के लेखक दण्डी और तीसरे हैं इन सबों के शिरोमणि, स्वयं बाण। इनके पुत्र और बाण के सुयोग्य पुत्र भूषण भट्ट के अतिरिक्त और भी अपेक्षतया कम महत्त्व-वाले लेखक भी हैं। इनमें से कुछ बाण के पूर्व के हैं और कुछ बाद के। इन सबों ने भी इसी शैली का अनुकरण-सा किया है और वह भी पर्याप्त कुशलता के साथ। यह तो हुई लक्ष्य-ग्रन्थों की बात—लक्षण-ग्रन्थों के निर्माण की दिशा में संस्कृत साहित्य-शास्त्रियों की गति जरा भी मन्द नहीं रही है। उनकी इस 'प्रगति' के कारण साहित्य-शास्त्र बहुत उन्नति कर चुका था। विस्तृत रूप से साहित्य-क्षेत्र में निश्चित नियमों का प्रतिपादन कर दिया गया था और लेखक अत्यन्त दृढ़ता के साथ उनका पालन करते थे। ऊपर हमने तत्कालीन रचनाओं का जो उल्लेख किया है उससे इस बात की पुष्टि हो जाती है। इस उन्नति के काल में 'गद्य'-काव्य का एक विशेष लक्षण यह था कि उसमें कथा और आख्यायिका—इनके विषय में हम अगले शीर्षक के अन्तर्गत विचार करेंगे—के विशिष्ट लक्षणों और आवश्यक तत्त्वों में भेद किया गया है। इनमें से आख्यायिका का उल्लेख तो महर्षि पाणिनि के सूत्रों पर लिखे कात्यायन मुनि के कुछ वार्तिकों में हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि बाण के पूर्व के भी साहित्य-शास्त्रियों में आख्यायिका का स्वरूप सर्वमान्य था। ऐसा हम इसलिए कहते हैं कि उनके पूर्ववर्ती लेखकों के ग्रन्थों में इसका निश्चित उल्लेख तथा इसके भेदों को स्पष्ट करने का प्रयत्न पाया जाता है। उदाहरणार्थ दण्डी, जो सम्भवतः छठी शती ई० पू० में हुए, इस भेद का उल्लेख करते हैं। एक स्थान पर उन्होंने यह भी बताया है कि आख्यायिका का वास्तविक स्वरूप क्या होना चाहिए, यद्यपि स्वयं वह उससे पूर्णतया सम्मत नहीं हैं। सुबन्धु भी, जो कुछ लोगों के मतानुसार बाण के पूर्ववर्ती थे, इस विषय में जो लिख गये हैं उससे उनके समय में आख्यायिका किस अर्थ में ग्रहण होती थी यह स्पष्ट हो जाता है। स्वयं बाण ने अपने ग्रन्थों में इस विषय में जो

अनेकशः जोरदार उल्लेख किये हैं[1] उनसे यह स्पष्ट होता है कि स्वयं उन्हें उसका खूब अच्छा ज्ञान था।

साहित्यिक गद्य के विकास के युग में कथा और आख्यायिका में धीरे-धीरे अन्तर माना जाने लगा था। बाण के पूर्व ही साहित्य-शास्त्र का भी इतना विकास हो चुका था कि उसमें इस प्रकार की रचनाओं को एक निश्चित रूप देने के लिए विविध नियमों और सिद्धान्तों का प्रतिपादन हो चुका था। सुबन्धु ने इनमें से कुछ का उल्लेख भी किया है। दण्डी तो 'गद्य'-काव्य के मुख्य लक्षण के विषय में लिखते हैं कि—'ओज और समास-बहुलता ही गद्य का प्राण है'।[2] आगे चल कर वे यह भी कहते हैं कि साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों की उन्होंने जो व्याख्या की है उसमें उन्होंने किसी नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया है, वरन् पूर्ववर्ती महान् लेखक जो सामान्य लक्षण और परिभाषाएँ निर्धारित कर चुके हैं उसी को वे जरा परिष्कृत रूप में और नवीन ढंग से प्रस्तुत कर रहे हैं। यह पता चलता है कि बाण के समय तक साहित्य-शास्त्र में बाल की खाल उखाड़ने वाले नियम बन चुके थे और शैली अत्यन्त सूक्ष्म, श्रमसाध्य साथ ही विस्तृत वर्णनों तथा शब्दाडम्बर की प्रचुरता की दृष्टि से अति की सीमा तक पहुँच चुकी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि कितने ही लेखक इस शैली को इस सीमा तक ले गये कि पढ़ने वालों का सर चकराने लगता है। किसी भी रचना की उत्कृष्टता के लिए यह एक सामान्यतः सर्व-सम्मत सिद्धान्त माना जाने लगा था कि उसमें अत्यन्त सूक्ष्म विभिन्न अलंकारों की भरमार हो; श्लेष, अनुप्रास, यमक और विशेषणों का प्रचुर प्रयोग हो; शब्दों और वर्णों को

---

१ 'कथासु नाटकेषु आख्यायिकासु काव्येषु'
'कदाचिदाख्यानकाख्यायिकेतिहासपुराणाकर्णनेन'
'आख्यायिकाख्यानपरिचय चतुरेण'—इत्यादि कादम्बरी

२ 'ओजःसमासभयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्'—काव्य० १-८०

इस कुशलता से रखा जाय कि सन्धि के नियमों के अनुसार विभिन्न प्रकार से उनका विग्रह हो सके और इस प्रकार उनके भिन्न-भिन्न अर्थ किये जा सकें; कूटोक्तियों और गूढ़ोक्तियों को भी यथास्थान रखा जाय, और साहित्य-शास्त्र में वर्णित इसी प्रकार के अन्य अत्यन्त सूक्ष्म अलंकरण के उपकरणों का प्रयोग किया जाय।[1] इसी कारण हमें अलंकार-सम्प्रदाय के ऐसे लेखकों का दर्शन होता है जो इस प्रकार की रचनाओं में अपना चातुर्य प्रकट करने और एक दूसरे से बढ़ जाने की होड़ सी लगाये हुए थे। उदाहरण के लिए कवि सुबन्धु को ही लीजिए। उसने प्रत्येक पद और यहाँ तक कि प्रत्येक वर्ण में श्लेष का प्रयोग करने का प्रयत्न किया है।[2]

संस्कृत साहित्य के इतिहास का अवलोकन करने पर हमें यह पता चलता है कि प्राचीन परम्परा के अनुसार पद्यमय रचनाओं का ही आदर होता था। गद्य की रचनाओं की उपेक्षा ही नहीं की जाती थी, अपितु उन को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था। परन्तु इस काल की अलंकृत गद्य-काव्य की शैली और साहित्य-शास्त्र में तद्विषयक सूक्ष्म विवेचन से यह ज्ञात होता है कि इस समय तक साहित्य-क्षेत्र में लोगों की मनोवृत्ति में स्पष्टतः परिवर्तन हो गया था और फलस्वरूप गद्य-काव्य का भी आदर होने लगा था। इस कारण भले ही हम उन्हें गद्य की शैली को कृत्रिमता और अलंकरण के बोझ से विकृत कर देने का दोषी ठहराएँ, परन्तु हमें उनका महत्त्व स्वीकार ही करना पड़ेगा। उनको साहित्य-क्षेत्र में एक नवीन क्रान्ति ला देने का श्रेय प्राप्त है। गद्य को पद्य के समान गौरव-

---

१ स्वयं बाण ने अपने ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर इनमें से कितनों का ही उल्लेख किया है—उदाहरणार्थ—'अक्षरच्युत-मात्राच्युतक-विन्दुमतीगूढ-चतुर्थपाद-प्रहेलिका-प्रदानादिभिः' (कादम्बरी)।

२ श्री काने ने कादम्बरी की भूमिका में इस सम्बन्ध में निम्न उद्धरण दिया है—'सरस्वती-दत्तवर-प्रसादश्चक्रे सुबन्धुः सुजनैकबन्धुः। प्रत्यक्षरं श्लेषमयं प्रबन्धं विन्यास-वैदग्ध्य-निधिर्निबन्धम्'॥

मय बनाकर उन्होंने उसको भी साहित्य के उच्च सिंहासन पर प्रतिष्ठापित कर दिया।

(३) कथा और आख्यायिका में अन्तर

जैसा कि कहा जा चुका है, साहित्यशास्त्रियों ने इस प्रकार की गद्य-रचनाओं की दो विधाएँ बताई हैं। इनमें से एक कथा है और दूसरी आख्यायिका। दण्डी का काल सामान्यत: छठी शताब्दी माना जाता है और इस दृष्टि से वे बाण के पूर्ववर्ती ठहरते हैं। कथा और आख्यायिका में क्या अन्तर है, इस पर सबसे पहले उन्होंने ही प्रकाश डाला है। यद्यपि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती लेखकों और साहित्यशास्त्रियों के ग्रन्थों के आधार पर यह विवेचना की है और स्पष्ट रूप से यह बताने का प्रयास किया है कि कथा और आख्यायिका में किन-किन बातों में अन्तर है, तथापि आगे चल कर उन्होंने स्वयं कहा है कि हम ऐसे निश्चित लक्षणों का प्रतिपादन नहीं कर सकते जिनके अनुसार यह कहा जा सके कि अमुक रचना कथा है और अमुक रचना आख्यायिका। उनका मत है कि ये वास्तव में एक ही प्रकार की रचनाओं के दो विभिन्न नाम हैं। तब भी उन्होंने कथा और आख्यायिका में निम्न अन्तर बताये हैं :—(१) आख्यायिका उच्छ्वासों में विभाजित होती है और उसमें वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग किया जाता है; परन्तु कथा में इनकी कोई आवश्यकता नहीं होती। (२) इसके विपरीत कथा में कन्यापहरण, युद्ध, विरह, सूर्योदय तथा चन्द्रोदय आदि का वर्णन होना चाहिए; परन्तु आख्यायिका के लिए यह आवश्यक नहीं है। (३) आख्यायिका में नायक स्वयं अपनी आत्म-कथा का वर्णन करते हैं; परन्तु कथा में अन्य पुरुष भी कथा का वर्णन कर सकता है। यहाँ यह बतला देना ठीक होगा कि भामह ने भी इसी प्रकार से अपने काव्यालंकार में इन दोनों के अन्तर का उल्लेख किया है। भामह दण्डी के बाद हुए थे। भामह के पश्चात् विश्वनाथ ने भी इस विषय में साहित्य-

दर्पण[1] में लिखा है। उनके अनुसार कथा में किसी सरस कथानक का वर्णन गद्य में होता है। उसमें कहीं आर्या छन्द का प्रयोग होता है तो कहीं वक्त्र और अपवक्त्र छन्दों में श्लोक रहते हैं। प्रारम्भ में मंगलाचरण के श्लोक होते हैं। खल आदि का[2] चरित्र-चित्रण किया जाता है। आख्यायिका भी एक प्रकार से कथा ही के समान होती है। अन्तर केवल यह होता है कि उसमें कवि के वंशादि का वर्णन रहता है और इसके साथ ही उसमें अन्य कवियों के विषय में भी लिखा जा सकता है। अन्य साहित्यशास्त्रियों ने भी इन दोनों प्रकार की रचनाओं के लगभग इसी प्रकार के लक्षण लिखे हैं। यदि उनमें अन्तर है तो वह किसी गौण लक्षण के विषय में ही है। किसी ने किसी लक्षण को प्रमुखता दे दी है तो दूसरे ने किसी दूसरे को। मूलतः वे लक्षण एक ही प्रकार के हैं। इन लक्षणों के आधार पर जब हम बाण के ग्रन्थों की परीक्षा करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि हर्षचरित आख्यायिका है और कादम्बरी कथा। स्वयं बाण ने इनमें

---

१ गद्येन युक्तोदात्तार्था सोच्छ्वासाऽऽख्यायिका मता।
वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम् ॥
वक्त्रं चापरवक्त्रं च काले भाव्यर्थशंसि च।
कवेरभिप्रायकृतैरंकनैः कैश्चिदंकिता ॥
कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयान्विता।
न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छ्वासवत्यपि ॥
संस्कृतं संस्कृता चेष्टा कथाऽपभ्रंशभाक् तथा।

—भामह १-२५ से २८।

२ कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्। क्वचिद्वक्त्रापवक्त्रके ॥ आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्त्तनम्। आख्यायिका कथावत्स्यात्कवेर्वंशादि-कीर्त्तनम् ॥ अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं गद्यं क्वचित्क्वचित् ॥

—साहित्यदर्पण, छठा परिच्छेद।

से प्रत्येक ग्रन्थ की प्रस्तावना[1] में इस बात का स्पष्टतः उल्लेख कर दिया है।

(४) वाण के ग्रंथ

इसमें सन्देह नहीं कि 'कादम्बरी' वाणभट्ट की सर्व-प्रसिद्ध और सर्व-प्रमुख रचना है। पीछे हम यह कह आये हैं कि वाणभट्ट इस ग्रन्थ को समाप्त करने के पूर्व ही दिवंगत हो गये थे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह उनकी अन्तिम कृति है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी रचना के समय वाण अपने ज्ञान और अनुभव की चरम सीमा पर थे। जब हम उनके अन्य ग्रन्थों से इसकी तुलना करते हैं तो इस बात की सम्यक् रूप से पुष्टि हो जाती है। वाण के समय में गद्य की एक विशेष शैली प्रचलित थी। यह शैली रूपक, यमक, श्लेष, अनुप्रास आदि अलंकारों के बोझ से आक्रान्त थी और उस समय इसी प्रकार की शैली का आदर होता था। वाण ने पूर्ण कुशलता के साथ इस शैली को अपनाया और अपने पाण्डित्य और रचना-चातुर्य को साहित्य-जगत् में प्रतिष्ठापित कर दिया। परन्तु अलंकारों से बोझिल और लम्बे-लम्बे सामासिक पदों से पूर्ण वाण की यह शैली दुरूहता की इस सीमा तक पहुँच गयी है कि इसके लिए उन्हें कितने ही पाश्चात्य आलोचकों की अत्यन्त कटु आलोचना का लक्ष्य बनना पड़ा है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि बाण की इस श्रमसाध्य कला पर आश्चर्य-चकित हो जाना पड़ता है।

यह हम पहले भी कह चुके हैं कि कादम्बरी की अपूर्ण कथा वाण के सुपुत्र भूषण वाण अथवा भूषण भट्ट के द्वारा पूर्ण की गयी। वाण ने कादम्बरी में उच्चकोटि की जो शैली अपनायी थी, उनके इस सुयोग्य पुत्र ने उसका अंत तक बड़ी कुशलता और सफलता के साथ निर्वाह किया है।

---

१ तथापि नृपतेर्भक्त्या भीतो निर्वहणाकुलः।
करोम्याख्यायिकाम्भोधौ जिह्वाप्लवनचापलम्॥

—हर्षचरित की प्रस्तावना, श्लोक २०

यहाँ पर कादम्बरी की कथा के आधार के विषय में दो शब्द कह देना अधिक उपयुक्त होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस कथा की रूपरेखा अवश्य ही बाण ने गुणाढ्य की बृहत्कथा से ली होगी, क्योंकि बाण ने गुणाढ्य का उल्लेख अत्यन्त आदर के साथ किया है; किन्तु इसके साथ ही हम यह भी निश्चित रूप से कह सकते हैं कि इस कथा के कथानक को जटिलता और विस्तार बाण की कल्पना द्वारा ही प्राप्त हुआ है। गुणाढ्य की बृहत्कथा, जिसके आधार पर सम्भवतः कादम्बरी की रचना हुई, अब अपने मूल रूप में प्राप्य नहीं है। मूलतः वह पैशाची में लिखी गयी थी। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि सोमदेव का कथा-सरित्-सागर और क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामंजरी उसी पर आधारित हैं और एक प्रकार से संस्कृत भाषा में उसका रूपान्तर हैं। इन दोनों ग्रन्थों की रचना बाण के कई शती बाद हुई और सोमदेव ने स्वयं यह लिखा है कि उसका ग्रन्थ बृहत्कथा पर आधारित है। वैसे हमें इसके प्रमाण भी प्राप्त हुए हैं कि बृहत्कथा बाण के समय में वर्तमान थी। दण्डी[1] ने काव्यादर्श में और सुबन्धु[2] ने वासवदत्ता में इसका निश्चित रूप से उल्लेख किया है। डा० पिटर्सन ने कादम्बरी की भूमिका में (पृ० ८६-९४) कथा-सरित्सागर से राजा सुमन की कथा उद्धृत की है। बाण की कादम्बरी की कुछ घटनाओं में और इस कथा में इतनी समानता है कि ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे हम कथा-सरित्सागर न पढ़कर कादम्बरी पढ़ रहे हों और केवल पात्रों के नाम मात्र का अन्तर हो। यदि कादम्बरी में हम राजा शूद्रक, चाण्डालकन्या, शुक, हारीत, जाबालि ऋषि आदि का उल्लेख पाते हैं तो इस ग्रन्थ में उन्हीं के ठीक अनुरूप—राजा सुमन, भिल्लकन्या, शास्त्राज्ञ शुक, मरीचि तथा पौलस्त्य मुनि का वर्णन हुआ है। शाल्मली वृक्ष, अच्छोद, तथा अन्य घटनाएँ भी किसी

---

१ कथा हि सर्वभाषाभिः संस्कृतेन च बध्यते।
भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम् ॥ —काव्यादर्श

२ बृहत्कथा लम्भैरिव शालभञ्जिकोपेतैः।

न किसी रूप में उसमें पायी जाती हैं। इससे यह निश्चित हो जाता है कि बाण ने कल्पना के आधार पर कथा के विस्तार में चाहे जो परिवर्तन कर दिया हो, वस्तुतः कहानी की रूपरेखा बहुत कुछ वैसी ही है जैसी कि कथासरित्सागर में है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि कथासरित्-सागर का आधार बृहत्कथामंजरी (जो कि अब अप्राप्य है) है।

बाण की दूसरी सुप्रसिद्ध रचना हर्षचरित है। इसमें महाराज हर्ष के प्रारम्भिक जीवन की कुछ मुख्य घटनाएँ वर्णित हैं। ये घटनाएँ यद्यपि मूलतः इतिहास-सम्मत हैं, पर लेखक ने अपनी कल्पना से उन्हें रँग दिया है। इसके साथ ही हमें इसमें लेखक के जीवन और उसके काल के विषय में भी विस्तृत रूप से पता चलता है। यही नहीं, इसमें कुछ अन्य प्रसिद्ध लेखकों का भी उल्लेख किया गया है और इस दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए संस्कृत साहित्य के इतिहास में विभिन्न कवियों और लेखकों के काल-निर्णय के लिए यह एक प्रमुख साधन बन गया है। साहित्यिक दृष्टि से इसका स्थान कादम्बरी के बाद ही आता है। इसकी शैली कादम्बरी की शैली के समान ही अलंकृत और दीर्घसामासिक पदों से युक्त है, परन्तु कादम्बरी की शैली में जो पूर्णता, भाषा का जो सुन्दर प्रवाह और सौष्ठव दिखाई देता है उसका हर्षचरित में कुछ अभाव-सा प्रतीत होता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि हर्षचरित कादम्बरी से पूर्व की रचना है क्योंकि उसकी भाषा पूर्ण रूप से मँजी नहीं है।

चण्डीशतक और पार्वती-परिणय, ये दो ग्रन्थ भी बाण के ही बताये जाते हैं। उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों की तुलना में ये बहुत साधारण कोटि के ग्रन्थ मालूम होते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि ये बाण की प्रारम्भिक रचनाएँ होंगी। प्रथम ग्रन्थ सौ श्लोकों का संग्रह है। इसमें चण्डी अथवा दुर्गा देवी की स्तुति की गयी है। इसका प्रवाह अत्यन्त सुन्दर है और शैली ओजपूर्ण है। यह ग्रन्थ किन विशेष परिस्थितियों में लिखा गया, इस सम्बन्ध में एक किंवदन्ती है जिसका उल्लेख हम प्रारम्भ में बाण और कवि

मयूर के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करते समय कर चुके हैं। दूसरा ग्रंथ एक नाटक है। इसकी कथा का कालिदास के कुमारसम्भव की कथा से कुछ साम्य है। जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट होता है, इसमें भगवान् शिव तथा पार्वती का विवाह वर्णित है। बाण ने कालिदास के सम्वन्ध में अत्यन्त प्रशंसात्मक वाक्यों का प्रयोग किया है।[1] इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि उन्होंने कालिदास के ग्रन्थों का भली भाँति अध्ययन किया था। यदि हम इस बात को सत्य मान लेते हैं, और ऐसा मानने में सन्देह का कोई स्थान भी नहीं है, तो हमें यह देखकर आश्चर्य न करना चाहिए कि उसमें अनेक स्थानों पर कालिदास के ग्रन्थों से साम्य दिखाई पड़ता है और कहीं-कहीं तो ऐसा मालूम पड़ता है कि बिलकुल नकल ही कर दी गयी हो। यह कहना भी अनुचित न होगा कि बाण को उस ग्रन्थ के लिखने की प्रेरणा कुमारसम्भव से प्राप्त हुई। कुछ लोगों का तो मत है कि यह बाण का ग्रन्थ ही नहीं है; परन्तु इसके पक्ष में कोई जबरदस्त प्रमाण प्राप्त नहीं होता है।

कहा जाता है कि 'नलचम्पू' की एक टीका में एक स्थान पर एक ऐसा वर्णन आया है जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि बाण ने 'मुकुटताडितक'[2] नामक एक और नाटक भी लिखा था, परन्तु अन्य कोई प्रमाण न मिलने के कारण इस विषय में कोई निश्चित मत नहीं दिया जा सकता।

महाराज हर्ष द्वारा रचित तीन ग्रन्थ पाये जाते हैं। इनमें उनकी नाटिका 'रत्नावली' के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। काव्यप्रकाश में काव्य-प्रयोजन पर विचार करते हुए लिखा गया है कि--'श्रीहर्षदेर्बाणादीनामिव धनम्'। इसके आधार पर कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि यह

---

१ निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसार्द्रासु मंजरीष्विव जायते ॥
—हर्षचरित की प्रस्तावना श्लोक, १७

२ यदाह मुकुटताडितकनाटके बाणः—

रत्नावली नाटिका बाण ने ही धन-प्राप्ति के लिए, अपने आश्रयदाता राजा हर्ष के लिए, लिखी थी और इस कारण वह उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध हुई। परन्तु यह मत विश्वसनीय नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इसके लिए हमें कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता है।

(५) गुणदोष

ऊपर हमने बाण की कृतियों पर विचार किया है। अब हम उनके आधार पर बाण की काव्य-कला, उनके साहित्य के सौंदर्य और उसके गुण-दोषों पर विचार करेंगे। हमें देखना यह है कि प्राप्य ग्रन्थों के आधार पर बाण को साहित्य-क्षेत्र में कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है।

एक समय था जब संस्कृत साहित्य-जगत् में गद्य का कोई महत्त्व नहीं था, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि धीरे-धीरे गद्य में भी ऐसी साहित्यिक रचनाएँ होने लगीं कि वह उपेक्षा का विषय नहीं रहा। बाण के समय में गद्य के ऐसे अलंकृत और उत्कृष्ट स्वरूप का दर्शन होने लगा था कि गद्य को भी काव्य की एकविधा मान लिया गया और 'गद्य को कवियों की कसौटी (निकष)' कहा जाने लगा। बाण के पूर्ववर्ती और बाण के समकालीन अनेक लेखकों ने उस युग की प्रचलित दीर्घ सामासिक पदों से युक्त, अत्यधिक अलंकृत और कलापक्ष-प्रधान शैली में अपनी गद्य रचनाएँ की थीं; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि बाण इन समस्त लेखकों की तुलना में कहीं महान् कलाकार थे। उनकी रचनाओं में कला अपनी चरम सीमा को पहुँच चुकी है। भोजराज ने अपनी रचना 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में बाण के विषय में लिखा है—'यादृग्गद्यविधौ बाणः पद्यबन्धे न तादृशः'। बाण ने अपनी रचना पांचाली शैली में की है। इस शैली में संस्कृत-साहित्य में जितनी भी रचनाएँ हुई हैं उनमें बाण के ग्रन्थों में मिलने वाला इसका स्वरूप निस्सन्देह सर्वोत्कृष्ट है।

बाण की रचनाओं का महत्त्व उनके कलापक्ष और भावपक्ष दोनों ही के कारण है। गद्य के क्षेत्र में उनका स्थान सर्वोच्च है और साहित्य-जगत् में उनकी गणना संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ कवियों में की जाती है। भारत के

ही नहीं अपितु युरोप के भी प्राचीन और आधुनिक संस्कृत के विद्वानों ने इस लेखक की भूरि-भूरि प्रशंसा करने में कोई कमी नहीं की है। भारत के प्राचीन लेखकों ने भी बाण की प्रशंसा करने में कोई कसर नहीं उठा रखी है। उन्होंने सदैव यह प्रयत्न किया है कि किसी विलक्षण चमत्कार के साथ बाण की प्रशंसा करने के लिए कोई विचित्र उक्ति कही जाय और ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसा करने में उन्होंने एक दूसरे से होड़-सी की हो। यहाँ हम ऐसी ही कुछ उक्तियों का उल्लेख करेंगे। एक उक्ति में कहा गया है—जैसे प्राचीन काल में शिखण्डिनी ने शिखण्डी के रूप में जन्म लिया था वैसे ही अधिक प्रभावशाली बनने के लिए वाणी (सरस्वती) बाण हो गई।[1] एक अन्य उक्ति में कहा गया है—'रुचिर स्वर, वर्ण और पद से युक्त, रस-भाववती संसार के मन को हर लेती है—क्या वह कोई तरुणी है ? नहीं, नहीं वह मधुर स्वभाव वाले बाण की सरस वाणी है।[2] इसी प्रकार कितने ही अन्य आलोचकों ने भी बाण की प्रशंसा में विलक्षण उक्तियाँ लिखी हैं।[3] 'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' (बाण ने कुछ

---

१ 'जाता शिखण्डिनी प्राक् यथा शिखण्डी तथावगच्छामि।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूवेति'।
—गोवर्धनाचार्य-रचित आर्यासप्तशती से।

२ 'रुचिर-स्वरवर्ण-पदा रसभाववती जगन्मनो हरति।
तत्किं तरुणी, नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य ॥'
—विदग्धमुखमण्डन।

३ यहाँ केवल दो उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं—
'युक्तं कादम्बरीं श्रुत्वा कवयो मौनमाश्रिताः।
बाणध्वनावनध्यायो भवतीति स्मृतिर्यतः ॥
—कीर्तिकौमुदी।

'शश्वद्बाण द्वितीयेन नमदाकारधारिणा।
धनुषेव गुणाढ्येन निःशेषो रंजितो जनः ॥
—नलचम्पू ॥

भी अछूता नहीं छोड़ा है)---यह एक अन्य उक्ति है जिससे बाण की महत्ता प्रकट होती है। इसी के साथ यदि हम यह भी कह दें कि जहाँ भी बाण की लेखनी का स्पर्श हुआ है वहीं स्वर्ण-राशि बिखर गयी है तो कुछ अनुचित न होगा। राघवपाण्डवीय के रचयिता कविराज ने अपने एक सुप्रसिद्ध श्लोक में लिखा है कि वक्रोक्ति-प्रयोग का नैपुण्य यदि किसी में है तो वह केवल सुबन्धु, बाण और कविराज (स्वयं कवि)---इन्हीं तीन में। चौथा ऐसा कोई नहीं है जिसमें यह गुण पाया जा सके।[१] बाण के ग्रन्थों में कला-पक्ष अपने पूर्ण सौन्दर्य के साथ प्रकट हुआ है। किसी भी दृष्टि से विचार कीजिए, बाण की कला में कोई अभाव दृष्टिगत नहीं होता है। विविध अलंकारों का उपयुक्त प्रयोग, सुन्दर शब्द-चयन, विभिन्न रसों का प्रभावपूर्ण परिपाक, चित्ताकर्षक प्रवाह, कथा कहने की मनोहर शैली सभी जैसे समन्वित होकर उनकी काव्यकला का शृंगार कर रहे हों। इस में सन्देह नहीं कि उनकी कला बहुत उच्चकोटि की है और उनकी समस्त रचनाओं में उसके गौरव की स्पष्ट छाप पड़ी हुई है। उनका व्यक्तित्व इस दृष्टि से निस्सन्देह उपेक्षणीय नहीं है। श्री चन्द्रदेव[२] ने बाण की प्रशंसा करते हुए ठीक ही लिखा है कि महाकवि बाण 'काव्य के विशाल और गम्भीर विन्ध्यारण्य में शान के साथ सर्वत्र विचरण करते हुए पंचानन (सिंह) के समान हैं' क्योंकि काव्य-क्षेत्र का कोई भी भाग ऐसा नहीं है

१ 'सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणश्चतुर्थो विद्यते न वा' ॥

---राघवपाण्डवीय १-४१

१ 'श्लेषे केचन शब्दगुम्फविषये केचिद्रसे चापरेऽ-
लंकारे कतिचित्सदर्थविषये चान्ये कथावर्णने।
आसर्वत्रगभीरधीरकविताविन्ध्याटवीचातुरी---
संचारी कविकुम्भिकुम्भभिदुरो बाणस्तु पंचाननः ॥

---श्री चन्द्रदेव

जिसे कि बाण ने अलंकृत न किया हो। इसके विपरीत अन्य कवि श्लेष, शब्द-विन्यास, रस, अथवा अलंकार—इनमें से किसी एक ही में सफलता प्राप्त कर सके हैं।

ऊपर हमने बाण की कला के कुछ सामान्य गुणों का उल्लेख किया है। अब हम बाण के विशेष साहित्यिक गुणों पर कुछ प्रकाश डालेंगे। सब से पहले बाण के प्रबन्ध-कौशल को लीजिए। उनमें कथा-क्रम को गूँथने की अद्भुत प्रतिभा दिखाई देती है। कथा कितनी ही जटिल और लंबी क्यों न हो, लेखक आदि से अन्त तक कथा-क्रम के प्रवाह को विच्छिन्न नहीं होने देता है। कादम्बरी के कथानक ही को देखिए, वह कितना जटिल है। कथा में कथा गुँथी हुई हैं। घटनाओं की बहुलता है। इस कथा के वक्ता भी दो हैं—वैशम्पायन (शुक) और जाबालि मुनि। आगे चल कर महाश्वेता ने भी अपनी कथा स्वयं कही है। यह सब होते हुए भी कथा के सूत्र को कहीं भी टूटने नहीं दिया गया है। ऐसा कहीं नहीं हुआ है कि परस्पर विरोधी बातों का समावेश हुआ हो। पात्रों के तीन-तीन जन्मों की कथा एक में गुँथी हुई है और अत्यन्त कौशल के साथ विभिन्न कथाओं और घटनाओं की समाप्ति मुख्य घटना में हुई है। इन विविध घटनाओं का क्रम ऐसे नाटकीय और रोचक रूप में रखा गया है कि पाठक की उत्सुकता बढ़ती चली जाती है। किसी अज्ञात शक्ति का पुण्डरीक को ले जाना, उसी के पीछे रहस्यात्मक ढंग से कपिंजल का लुप्त हो जाना, इन्द्रायुध और पत्रलेखा का सहसा अच्छोद सर में प्रविष्ट होकर अदृश्य हो जाना, अच्छोद सर पर पहुँच कर वैशम्पायन के स्वभाव में अभूतपूर्व परिवर्तन हो जाना आदि ऐसी घटनाएँ हैं जिनसे पाठक का कौतूहल उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। पात्रों के दो और तीन जन्मों की कथा का वर्णन किया गया है, परन्तु इस ओर लेखक का सदैव ध्यान रहा है कि उनके व्यक्तित्व में कोई विरोध न आ जाय। इसी प्रकार यद्यपि कथा में लौकिक और अलौकिक घटनाओं का समावेश किया गया है, परन्तु इससे कथा-क्रम को कोई व्याघात नहीं पहुँचा है।

बाणभट्ट का दूसरा प्रमुख गुण है पात्रों के चरित्र-चित्रण की अपूर्व क्षमता। उनका प्रत्येक पात्र इतनी सजीवता के साथ चित्रित किया गया है कि वह कल्पना-लोक का नहीं प्रतीत होता है। उसकी यथार्थ मूर्ति हमारे नेत्र-पटल के सम्मुख उपस्थित हो जाती है। उनके पात्र हाड़-मांस के बने हुए, इसी भौतिक जगत् के प्राणी प्रतीत होते हैं; भले ही कहीं-कहीं अतिमानवी शक्तियों का वर्णन क्यों न हुआ हो। हर एक पात्र का एक अपना व्यक्तित्व है और उसके उस व्यक्तित्व का निर्वाह पूर्ण सफलता के साथ किया गया है। इसके अतिरिक्त पात्रों का चित्रण इतनी विशदता के साथ किया गया है कि हमारे हृदय-पटल पर उनका जो चित्र अंकित हो जाता है वह कभी मिटता नहीं। प्रजापालक तथा वीरता की मूर्ति पराक्रमी महाराज शूद्रक का चित्र किसके हृदय में उत्साह का संचार नहीं करता। सौम्य तापस हारीत, ज्ञानवृद्ध जावालि, प्रसिद्ध नरपति तारापीड, शास्त्रवेत्ता तथा नीतिज्ञ अमात्य शुकनास, स्वामिभक्त तथा आज्ञा-कारिणी पत्रलेखा आदि गौण पात्र हैं, तब भी ये लेखक की तूलिका से इस प्रकार चित्रित हुए हैं कि पाठकों के हृदय पर अपना अमिट प्रभाव डालते हैं। नायक और नायिका के चित्रण में तो कोई कसर नहीं रही है। नायिका का चित्रण तो लेखक की कला के चरम उत्कर्ष से चमक उठा है। लेखक की उत्कृष्ट कल्पना तथा सूक्ष्म-निरीक्षणशक्ति, उसका अद्भुत वर्णन-कौशल और उसकी अपूर्व रसात्मकता सबने मिलकर कादम्बरी का एक ऐसा मनोरम स्वरूप हमारे सम्मुख अंकित किया है कि उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। कादम्बरी के रूप में एक ऐसी सरल-हृदया कुमारी का चित्र हमारे सम्मुख खींचा गया है जो उत्कट-प्रेम-भावना और कुमारी-सुलभ लज्जा के विरोधी भावों के संघर्ष से विक्षिप्त-सी हो गयी है। कभी पुन-र्मिलन की आशा उसमें जीवन का संचार कर देती है तो क्षण भर में वियोग की अनिश्चित अवधि उसे विक्षुब्ध कर देती है। एक ओर यदि उद्दाम काम-भावना उसे प्रिय मिलन के लिए व्याकुल कर देती है तो दूसरी ओर कुल की मर्यादा और पितृ-प्रेम उसकी गति को स्तब्ध कर देते

हैं। यदि कभी उसका हृदय संसार की निन्दा और कलंक के भय से स्तम्भित हो जाता है तो कभी प्रेम के स्वर्ग को प्राप्त करने के लिए वह सब सहन कर लेने के लिए ललक उठता है।

बाणभट्ट का तीसरा मुख्य गुण है सूक्ष्म-निरीक्षण। प्रकृति-सुन्दरी और मानव-प्रकृति दोनों का अत्यन्त सूक्ष्म-निरीक्षण लेखक ने किया है। उनका प्रकृति-चित्रण अनुपम है। वे प्रकृति के मंजुल और भयंकर दोनों प्रकार के स्वरूपों का अंकन करने में सिद्धहस्त हैं। प्रकृति-सौन्दर्य के तो वे पुजारी हैं। सूर्योदय और चन्द्रोदय, सन्ध्या और विभावरी, हिमाच्छादित हिमालय के उत्तुङ्ग शृङ्गों के सुन्दर दृश्यों और निर्मल अच्छोद सर की मनोरमता आदि का वड़ा ही सुन्दर और अद्भुत वर्णन कादम्बरी में मिलता है। इसके साथ ही विन्ध्याटवी के भयावह दृश्यों का चित्रण भी बाण ने उतनी ही सफलता के साथ किया है। यद्यपि प्रकृति-वर्णन करने में बाण ने पाठकों के सामने उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास परिसंख्या आदि अलंकारों का स्तूप खड़ा कर वर्ण्य-विषय की अभिव्यंजना की है और कभी-कभी इन अलंकारों की छटा में वर्ण्य-विषय भी ढक-सा जाता है, परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि बाण ने प्रकृति के वास्तविक सौन्दर्य का वर्णन ही नहीं किया है। उन्होंने आलम्बन-रूप में भी प्रकृति का वर्णन किया है और उसके दृश्यों की सुन्दर झाँकी हमें दिखाई है। उदाहरण रूप में विन्ध्याटवी के एक मनोरम दृश्य का उल्लेख करना अनुचित न होगा—'......अति-विकचधवल-कुसुमनिकरमत्युच्चतया तारकागणमिव, शिखरप्रदेशसंलग्न-मुद्वहद्भिः पादपैरुपशोभिता—' (विन्ध्याटवी के विशाल हरेभरे वृक्षों पर श्वेत पुष्प खिले हुए हैं, ऐसा प्रतीत होता है मानो नील गगन में तारे चमक रहे हों)।

बाण की चौथी विशेषता यह है कि उनका शृंगार-वर्णन अश्लीलता से सर्वथा मुक्त है। उस समय के और बाद के भी जिन कवियों ने शृङ्गार रस का वर्णन किया है, उन्होंने स्थूल शृङ्गार का वर्णन करके उसे कलुषित कर दिया है। यद्यपि कादम्बरी का प्रमुख रस शृङ्गार है और

नायक-नायिका के प्रेम और सौन्दर्य के विस्तृत वर्णन उसमें मिलते हैं, तथापि उसमें प्रेम की वह पावन और मंजुलधारा प्रवाहित हुई है कि पाठक का हृदय सात्त्विक भावों से प्रफुल्ल हो उठता है। कादम्बरी की कथा में जिस प्रणय का वर्णन हुआ है वह शारीरिक सौन्दर्य-जन्य आसक्तिमात्र नहीं है। वह दो प्राणों को एक में बाँधने वाला अक्षय वन्धन है, अलौकिक आनन्दोत्पादक भाव है। महाश्वेता और पुण्डरीक तथा कादम्बरी और चन्द्रापीड दोनों युग्म प्रथम दर्शन में ही प्रेम के प्रबल प्रवाह में बह जाते हैं, मानो जन्म से ही उनका परस्पर सम्मिलन और संयोग निश्चित हो; परन्तु यह प्रेम काम-वासना का क्षणिक ज्वार नहीं है। वे एक दूसरे के लिए युग-युग तक, जन्म-जन्मान्तर तक प्रतीक्षा करने के लिए तत्पर हैं।

कादम्बरी में बाण के जिस पाँचवें गुण का परिचय हमें मिलता है वह यह है कि उन्होंने दैवी तथा अमानवीय पात्रों एवं अलौकिक घटनाओं को लेकर भी उन्हें मानवीय पात्रों के साथ इस कुशलता के साथ गूँथ दिया है कि हमें कथा कल्पना-लोक की नहीं प्रतीत होती है। प्रत्येक पात्र, चाहे वह कोई भी क्यों न हो, सुख-दुःख और विरह-मिलन की समान भावनाओं से उद्वेलित हो रहा है। वस्तुतः सम्पूर्ण कथा मानवीय जन्म-मरण, विरह-मिलन और सुख-दुःख की गाथा है।

बाणभट्ट का अन्तिम तथा सबसे महत्त्वपूर्ण गुण है उनकी शैली। गद्य लिखने में वे नितान्त प्रवीण हैं। उनकी शैली अत्यन्त प्रभावशालिनी और ओज-पूर्ण है। न केवल संस्कृत भाषा और शब्द-कोष पर उनका असाधारण अधिकार है, वरन् विविध अलंकारों और शैली को चमत्कृत करने वाले प्रयोगों और उक्तियों पर भी। यद्यपि उन्होंने प्रायः अलंकारों का आवश्यकता से अधिक प्रदर्शन किया है, शब्दालंकारों के द्वारा शब्दों के साथ 'खिलवाड़' भी किया है और दीर्घ सामासिक पदों के द्वारा कुछ दुरूहता भी उत्पन्न कर दी है, तथापि स्थान-स्थान पर विभिन्न प्रकार की शैलियों का प्रयोग करके उन्होंने अपने ग्रन्थों की रोचकता को कम नहीं होने दिया है। वर्ण्य-विषय के अनरूप ही उन्होंने अपनी

शैली को सवाँरा और परिवर्तित किया है। यदि कहीं 'चित्रण की सजीवता तथा प्रभाव उत्पन्न करने के लिए वाणभट्ट ने 'समास-बहुला ओजो-गुणमण्डिता शैली' का आश्रय लिया है तो 'अन्यत्र छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग कर, उन्होंने अपनी शैली को सशक्त तथा प्रभावोत्पादक' बनाया है। 'कवि किसी एक शैली का क्रीत-दास' नहीं है। जिस अवसर पर जैसी शैली से वर्णन प्रभावशाली बनता है उसी का आश्रय लेखक ने लिया है। यदि लेखक अटवी तथा संध्या के मनोरम वर्णन में दीर्घ सामासिक पदों का सौन्दर्य प्रदर्शित करता है तो वही विरह-वर्णन के अवसर पर 'लघु-कलेवर प्रासादिक वाक्यों की शोभा प्रस्तुत' करता है। इन विभिन्न शैलियों का सफल प्रयोग कर बाण ने अपनी प्रतिभा और भाषा पर अपना विलक्षण अधिकार स्पष्ट कर दिया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वाणभट्ट की निरीक्षण-शक्ति अत्यन्त सूक्ष्म, उनकी वर्णन-प्रणाली अत्यन्त चमत्कृत और उनकी शब्द-राशि अक्षय है। उनके वाक्यों में 'कल्पना-प्रसूत मौलिक अर्थों की उद्भावना' विशेष रूप से पायी जाती है।

बाण के दोष

अब हम वाण के ग्रन्थों में पाये जाने वाले कुछ सामान्य दोषों पर प्रकाश डालेंगे। प्रमुख रूप से पाश्चात्य आलोचकों ने ही बाण के दोषों का उल्लेख किया है और कुछ ने तो इस प्रसिद्धलेखक की अत्यन्त कटु आलोचना भी की है। एक विद्वान् ने तो बाण की भाषा को भारतीय जङ्गलों के समान भयावह तथा हिंस्र पशुओं के सदृश अप्रचलित तथा कठिन शब्दों से युक्त बताया है। इस विषय में प्रोफेसर वेबर का मत है कि बाण के ग्रन्थ दुरूह श्लेषालंकारों से भरे हुए हैं। विभिन्न प्रकार से पदों का सन्धि-विग्रह करने पर उनके अर्थ भी भिन्न-भिन्न निकलते हैं। दीर्घ सामासिक पदों से भाषा इतनी बोझिल हो गयी है कि बोधगम्यता रह ही नहीं गयी है। विशेषणों की इतनी लम्बी पंक्ति सम्मुख उपस्थित हो जाती है कि पाठक के लिए अर्थ समझना असम्भव-सा हो जाता है।

यदि हम आज के युग में प्रचलित आलोचना के मानों को दृष्टि में रखकर बाण की शैली पर विचार करेंगे तो हमें उपर्युक्त आक्षेपों को अधिक महत्त्व देना पड़ेगा। यह नितान्त सत्य है कि साधारण पाठक प्रायः बाण के अलंकारों की भूल-भुलैया में भटक जाता है और उसके लिए कहानी की सरसता कोई महत्त्व नहीं रखती। अप्रचलित शब्दों तथा श्लिष्ट पदों की पंक्तियों से वह घबड़ा उठता है। श्लिष्ट तथा दुरूह शब्दों के प्रयोग से बाण के रूपकों तथा उपमाओं का सौन्दर्य भी प्रकट नहीं हो पाता है। परन्तु केवल इसी आधार पर बाण के साहित्य की कटु आलोचना करना लेखक के प्रति अन्याय होगा। हमें यह ध्यान में रखना होगा कि बाण ने ऐसे युग में अपनी रचनाएँ की थीं जब कि साहित्य-संसार में आलंकारिक तथा क्लिष्ट शैली ही सर्वत्र समादृत थी। साहित्य-शास्त्र में तो यहाँ तक कह दिया गया था कि समास-बहुला शैली ही गद्य का प्राण है। इसी प्रकार वक्रोक्ति को भी काव्य का जीवन माना गया था और इसी पर कविराज ने यह गर्वोक्ति की थी कि 'यदि वक्रोक्ति-प्रयोग करने की निपुणता किसी में है तो वह सुबन्धु, बाण और कविराज में ही है।' इसलिए बाण के समय में प्रचलित आलोचना के सिद्धान्तों को दृष्टि में रख कर ही बाण की रचनाओं के गुण-दोषों की विवेचना करना तर्क-संगत होगा।

बाणभट्ट का दूसरा दोष यह है कि वे स्थान-स्थान पर अपने वर्णनों को इतना अनावश्यक विस्तार दे देते हैं कि पाठक उकता जाता है। एक के बाद दूसरी वस्तु को, जिसका कथा से कोई सम्बन्ध नहीं होता, इस प्रकार गिनाने लगते हैं कि एक लम्बी तालिका-सी तैयार हो जाती है। लम्बे-लम्बे सामासिक पदों के कारण यह वर्णन और भी नीरस हो जाता है और कथा के सरस प्रवाह में एक अवरोध-सा उत्पन्न हो जाता है।

बाण का तीसरा दोष यह है कि उन्होंने कथा में कथा को इस प्रकार गूँथ दिया है कि प्रायः साधारण पाठक चक्कर में पड़ जाता है। कभी-कभी मुख्य-कथा का सूत्र भी छूट जाता है। शुक और राजा, जाबालि

और उनके शिष्य, महाश्वेता और चन्द्रापीड, राजा शूद्रक और चाण्डाल-कन्या—इस प्रकार कथा के इतने वक्ता और श्रोता हैं कि पाठक को भटक ही जाना पड़ता है और वह यह भूल जाता है कि कौन किससे कह रहा है। डा० पिटर्सन के अनुसार यही इस कथा की सबसे बड़ी कमी है और कथा-सूत्र छूट न जाय, इसके लिए पाठक को अपने मस्तिष्क पर काफी जोर डालना पड़ता है, जिससे कथा की रोचकता कम हो जाती है।

बाण के इष्ट-देव

इसमें कोई सन्देह नहीं कि शिव बाण के इष्टदेव थे। हर्षचरित के रम्भ में उन्होंने शिव की वन्दना की है। कादम्बरी में भी पहले श्लोक में परब्रह्म की वन्दना के पश्चात् दूसरे श्लोक में शिव की स्तुति की गयी है। पार्वती-परिणय के मंगलाचरण में भी शिव-पार्वती की वन्दना है। इसके अतिरिक्त अन्य अन्त:साक्ष्य के आधार पर भी इस बात की पुष्टि होती है। कादम्बरी में अनेक उपमाओं और रूपकों में शिव का उल्लेख हुआ है। महाकाल के रूप में भी शिव का वर्णन किया गया है। हर्षचरित के द्वितीय उच्छ्वास में अपनी आत्म-कथा लिखते हुए बाण ने लिखा है—'अथान्यस्मिन्नहन्युत्थाय...देव-देवस्य विरूपाक्षस्य विधाय पूजाम्...प्रीतिकूटान्निरगात्' [फिर दूसरे दिन उठकर और भगवान् विरूपाक्ष (शिव) की पूजा करके प्रीतिकूट से चला]; इससे पूर्ण निश्चित हो जाता है कि बाण के इष्टदेव शिव ही थे।

कुछ विद्वान् कादम्बरी की प्रस्तावना के तृतीय श्लोक 'जयत्युपेन्द्रः......' के आधार पर नृसिंह को बाण का इष्टदेव बताते हैं, परन्तु किसी अन्य ठोस तथा विश्वसनीय प्रमाण के अभाव में इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

'कादम्बरी' शब्द की व्याख्या

कादम्बरी शब्द के अनेक अर्थ हैं। कादम्बरी, गन्धर्वों के अधिपति चित्ररथ की पुत्री थी। वही प्रस्तुत ग्रन्थ की नायिका है और उसी के नाम

पर इस ग्रन्थ का नामकरण हुआ है। कादम्बरी कदम्ब-वृक्ष के पुष्पों से बनने वाले विशेष आसव को भी कहते हैं। कादम्बरी का सामान्य अर्थ मदिरा भी होता है। इसका एक अन्य अर्थ गजमद भी होता है। कोकिला का भी एक नाम कादम्बरी है। गड्ढों में एकत्रित मेघजल को भी कादम्बरम् कहते हैं।

कादम्बरी-कथा-सार

कादम्बरी की कथा वैसे ही जटिल है, उस पर उसके पात्र कहीं दो और कहीं तीन रूपों में हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं और उसमें उनके कई जन्मों की घटनाओं का वर्णन किया गया है। इसी कारण कथा की दुर्बोधता और भी बढ़ गयी है। फलस्वरूप पाठक को कथा-सूत्र मिलाने में कठिनाई का अनुभव होता है। अतएव यहाँ संक्षेप में कादम्बरी की कथा का सार दिया जा रहा है।

पूर्वकादम्बरी

कथामुख

विदिशा नामक प्रसिद्ध नगरी में एक महाप्रतापी राजा शूद्रक राज्य करता था। एक बार जब वह राजसभा में बैठा हुआ था, प्रतिहारी ने आकर निवेदन किया—"महाराज ! द्वार पर एक चाण्डाल-कन्या एक तोते (शुक) को लेकर उपस्थित हुई है। वह आपके दर्शन करना चाहती है।" राजा ने उसे अन्दर लाने की आज्ञा दे दी। चाण्डाल-कन्या अपने वृद्ध अनुचर सहित राजा के समक्ष उपस्थित हुई। उस वृद्ध ने राजा के सम्मुख पिंजड़े में बन्द शुक को रख कर निवेदन किया कि यह वैशम्पायन नामक शुक समस्त कलाओं और शास्त्रों में पारंगत है और इसीलिए मेरे स्वामी ने अपनी पुत्री को आपके पास इस तोते को भेंट करने के लिए भेजा है। यह कह कर वह वृद्ध तो चला गया और शुक ने अपना दक्षिण चरण उठा कर राजा की प्रशंसा में एक आर्या छन्द पढ़ा। राजा को

उसकी वाणी सुन कर अत्यन्त विस्मय हुआ परन्तु उस समय उसे भोजनादि के लिए जाना था अतएव वह शुक और चाण्डाल-कन्या के उचित आतिथ्य-सत्कार करने की आज्ञा देकर चला गया। उसके आदेशानुसार भोजनादि से निवृत्त होन पर जब शुक पुनः उसके सम्मुख उपस्थित किया गया तो उसने शुक को अपना समस्त वृत्तान्त सुनाने को कहा। शुक ने इस प्रकार सुनाना प्रारम्भ किया—

शुक की आत्म-कथा

विन्ध्याटवी में एक विशाल शाल्मली (सेमर) वृक्ष पर घोंसला बनाकर मेरे माता-पिता रहते थे। मेरे जन्म के बाद ही मेरी माता का देहान्त हो गया अतएव मेरे भरण-पोषण का भार मेरे वृद्ध पिता के ऊपर आ पड़ा। एक दिन शवर सेनापति मातङ्ग का एक वृद्ध अनुचर अपने साथियों से बिछुड़ कर उस शाल्मली वृक्ष के निकट आया। वहाँ पक्षियों का कोलाहल सुनकर वह उस वृक्ष पर चढ़ गया और शुक-शावकों को मार-मार कर नीचे फेंकने लगा। स्नेह-वश मेरे पिता ने मुझे अपने परों में छिपा लिया अतएव जब उसने उन्हें मारकर नीचे फेंका तो मुझे न देख सका और मैं उन्हीं के साथ नीचे आ गिरा। किसी प्रकार वहाँ से चल कर मैं एक तमाल वृक्ष की जड़ों में जा छिपा। वह शवर मरे हुए पक्षियों को लेकर चला गया। मैं उस समय प्यास से व्याकुल होकर तड़प रहा था। उसी समय स्नानार्थ जाते हुए महर्षि जाबालि के पुत्र हारीत की दृष्टि मुझ पर पड़ी। मुझे देखकर उनको दया आ गयी और वे मुझे जल पिलाकर अपने आश्रम में ले आये। आश्रम में मुझे देखकर महर्षि जाबालि ने हँसते हुए कहा—'यह अपने किये हुए दुष्कर्मों का फल भोग रहा है।' उनकी इस बात को सुनकर आश्रम के समस्त ऋषियों को अत्यन्त कुतूहल हुआ और उन्होंने महर्षि से पूछा—'भगवन्! इसने क्या दुष्कर्म किये थे जिनका फल यह अब भोग रहा हैं?' महर्षि ने कहा—'यह लम्बी कथा है। पहले सब लोग अपने नित्य-कृत्य से निवृत्त हो लो फिर रात्रि में निश्चिन्त होकर इसकी कथा सुनाऊँगा।' जब सब लोग नित्य-कर्म से निवृत्त हो गये तब

महर्षि जावालि ने उन सवों को मेरी कथा सुनाना प्रारम्भ किया। [यहाँ कथामुख समाप्त होता है और प्रस्तुत ग्रन्थ में यहीं तक की कथा है।]

जाबालि मुनि द्वारा कथा-वर्णन

"अवन्ति देश की राजधानी में तारापीड नामक राजा राज्य करता था। उसकी पत्नी का नाम विलासवती था। शुकनास उसका मन्त्री था और शुकनास की पत्नी थी मनोरमा। बहुत दिनों तक निःसंतानता का दुःख भोगने के पश्चात् इन दम्पतियों को पुत्र प्राप्त हुए। राजा के पुत्र का नाम चन्द्रापीड था और मन्त्री के पुत्र का नाम वैशम्पायन। इन दोनों वालकों ने अपना शैशव एक साथ विताया और साथ-साथ सकल विद्याओं और कलाओं का ज्ञान प्राप्त किया। विद्यागृह से लौटने पर राजा ने चन्द्रापीड को युवराज वना दिया। चन्द्रापीड के अश्व का नाम 'इन्द्रायुध' था और उसकी माता ने उसकी सेवा के लिए जिस सेविका को नियुक्त किया था, उसका नाम था 'पत्रलेखा'। युवराज वनने के पश्चात् चन्द्रापीड ने दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया। अनेक नरेशों को जीतने के पश्चात् उसने हिमालय में स्थित किरातों की राजधानी हेमकूट को अपने अधिकार में कर लिया। यहीं एक बार शिकार में किन्नर-मिथुन का पीछा करते-करते वह अपने अनुचरों से विछुड़ कर रास्ता भूल गया। अन्त में वह अच्छोद नामक सरोवर पर पहुँचा। वहाँ के शिव-मन्दिर में एकाकी जीवन व्यतीत करने वाली एक अत्यन्त रूपवती कन्या महाश्वेता से उसका परिचय हुआ। चन्द्रापीड के अनुरोध करने पर उसने अपने विषय में इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया—

महाश्वेता की आत्म-कथा

"मैं गन्धर्व राजहंस की पुत्री हूँ। अपनी यौवनावस्था में मैं एक बार इस सरोवर में स्नानार्थ आयी। यहाँ मैंने देवी लक्ष्मी से उत्पन्न महर्षि श्वेतकेतु के पुत्र पुण्डरीक के दर्शन किये। उसके साथ उसका सहचर ऋषिकुमार कपिंजल भी था। दर्शन मात्र से ही हम दोनों एक दूसरे के प्रति अत्यन्त आसक्त हो गये, परन्तु हम दोनों का मिलन सम्भव न हो सका। अन्त में

जब रात्रि में छिपकर मैं उससे मिलने गयी तो मैंने देखा कि मेरी वियोग-व्यथा के कारण उसका प्राणान्त हो गया है। यह देखकर मैंने भी चिता में भस्म होकर उसका अनुगमन करने का निश्चय किया। परन्तु उसी समय चन्द्रमण्डल से अवतीर्ण होकर कोई महापुरुष आया और मुझसे यह कहकर—"वत्से ! तुम अपने प्राण मत त्यागो। तुम दोनों का पुनर्मिलन होगा"—पुण्डरीक के शरीर को उठाकर आकाश में उड़ गया। उसके मित्र कपिंजल ने भी यह कहते हुए कि मेरे मित्र को कहाँ ले जा रहे हो, उसका पीछा किया। तबसे मैं यहाँ पर अपनी परिचारिका तरलिका के साथ एकान्त जीवन व्यतीत कर रही हूँ।"

चन्द्रापीड के यह पूछने पर कि इस समय तरलिका कहाँ है, महाश्वेता ने पुनः कहना प्रारम्भ किया—

"गन्धर्वराज चित्ररथ की पुत्री कादम्बरी मेरी अभिन्न सखी है। मेरे दुःख को देखकर उसने यह प्रण कर लिया कि मैं भी विवाह नहीं करूँगी। उसी को समझाने के लिए मैंने तरलिका को वहाँ भेजा है, क्योंकि उसके पिता उसके विवाह के लिए अत्यन्त चिन्तित हैं।"

दूसरे दिन चन्द्रापीड को लेकर महाश्वेता स्वयं कादम्बरी को समझाने के लिए गयी। वहीं पर कादम्बरी और चन्द्रापीड में परस्पर प्रेम हो गया। इसके पश्चात् वह शिविर में लौट कर आया और अपने मित्र वैशम्पायन को सब समाचार कह सुनाया। यहाँ से चन्द्रापीड पुनः पत्रलेखा के साथ कादम्बरी से मिलने गया और कादम्बरी के अनुरोध पर पत्रलेखा को उसी के पास छोड़ गया। अपने शिविर लौटने पर उसे अपने पिता का पत्र मिला कि वह तुरन्त लौट आये, अतः वह वैशम्पायन आदि से बाद में सेना सहित आने के लिए कहकर स्वयं उज्जयिनी लौट आया।

उत्तर कादम्बरी

जब पत्रलेखा ने और उसके पश्चात् कादम्बरी के सेवक केयूरक ने आकर चन्द्रापीड को कादम्बरी की विरह-वेदना की सूचना दी तो वह अपने माता-पिता से यह बहाना बनाकर कि मैं वैशम्पायन को लिवाने जा रहा हूँ, चल

दिया। मार्ग में उसे अपने लौटते हुए सैनिकों से पता चला कि अच्छोद सरोवर के निकट पहुँचकर वैशम्पायन में ऐसा विचित्र परिवर्तन हो गया कि कितना ही समझाने पर भी वह वहाँ से चलने को तैयार न हुआ।

जब चन्द्रापीड वैशम्पायन को खोजते हुए अच्छोद सरोवर पहुँचा तो उसने महाश्वेता को अत्यन्त करुण अवस्था में पाया। तरलिका के प्रयत्न से ही वह किसी प्रकार अपने प्राण धारण किये हुए थी। कारण पूछने पर महाश्वेता ने उससे कहा—"तुम्हारे चले जाने के पश्चात् यहाँ एक युवक आया। मेरे बार-बार मना करने पर भी वह मुझसे प्रेम की याचना करता रहा अतएव मैंने क्रुद्ध होकर उसे शुक-योनि को प्राप्त हो जाने का शाप दे दिया। वह उसी समय अचेत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। बाद में मुझे पता चला कि वह तुम्हारा प्रिय मित्र वैशम्पायन था।" यह सुन कर चन्द्रापीड वहीं मृतवत् गिर पड़ा। उसी समय वहाँ कादम्बरी आयी और उसने अपने प्रिय चन्द्रापीड की यह दशा देखकर उसके साथ ही मरने का निश्चय किया। परन्तु उसी समय चन्द्रापीड के मृत शरीर से एक चन्द्र के समान उज्ज्वल ज्योति निकली और यह आकाशवाणी हुई—'महाश्वेता धैर्य रखो, तुम्हारे प्रिय पुण्डरीक का शरीर चन्द्र-लोक में सुरक्षित है। चन्द्रापीड के शरीर को भी सुरक्षित रखो और उसका दाह-संस्कार न करो। कादम्बरी का और तुम्हारा मिलन पुनः अपने-अपने प्रियतमों से होगा।'

उसी समय एक आश्चर्यजनक घटना और हुई। पत्रलेखा चन्द्रापीड के अश्व इन्द्रायुध को लेकर अच्छोद सर में प्रविष्ट हो गयी परन्तु उसी सर में से कपिंजल निकल कर महाश्वेता के सम्मुख उपस्थित हुआ और उसने अपना वृत्तान्त सुनाते हुए कहा—

कपिंजल द्वारा रहस्योद्घाटन

'पुण्डरीक के शरीर को ले जाने वाले महापु ष का अनुगमन करते-करते मैं चन्द्रलोक में पहुँच गया। वहाँ उस महापुरुष ने मुझसे कहा—"कपिंजल !

में चन्द्रमा हूँ। तुम्हारे मित्र पुण्डरीक ने महाश्वेता के विरह में विकल होकर मुझे बिना किसी अपराध के ही शाप दिया था कि हे चन्द्र ! जिस प्रकार अपनी प्रियतमा के प्रेम से वंचित होकर तुम्हारे कारण मैं मृत्यु को प्राप्त हो रहा हूँ उसी प्रकार तुम्हें भी कर्मक्षेत्र भारतवर्ष में एक बार से अधिक जन्म लेकर वियोगाग्नि में तड़प-तड़प कर प्राण देने होंगे। इस शाप को सुनकर मुझे भी क्रोध आ गया और मैंने भी उसे प्रतिशाप दे डाला कि तुझे भी मेरे साथ-साथ सुख-दुःख को भोगना पड़े। क्रोध दूर होने पर महाश्वेता के दुःख को देखकर मैं पुण्डरीक के शरीर को यहाँ ले आया हूँ। तुम जाकर यह समाचार पुण्डरीक के पिता श्वेतकेतु को बता दो।

"जब मैं (कपिंजल) आकाश मार्ग से लौट रहा था तो दुःख से मूढ़ होकर मैं एक महर्षि से टकरा गया अतः उन्होंने मुझे घोड़ा बन जाने का शाप दे दिया। अनुनय-विनय करने पर उन्होंने कहा—'चन्द्रमा उज्जयिनी के राजा तारापीड का पुत्र होगा और तुम्हारा मित्र पुण्डरीक मन्त्री शुकनास का पुत्र होगा। तुम अश्व-योनि में राजपुत्र के रूप में चन्द्रदेव के ही वाहन बनकर अपने मित्र के सहचारी बनोगे।' इसके पश्चात् मैंने तुरंग-योनि प्राप्त कर ली। पूर्व जन्म के संस्कार के कारण जो यह युवक वैशम्पायन तुम्हारे प्रेम की याचना कर रहा था और तुमने जिसे अपनी शापाग्नि से नष्ट करके शुक-योनि को प्राप्त हो जाने का शाप दिया है वह तुम्हारा प्रिय पुण्डरीक ही था।"

कपिंजल की कथा की समाप्ति

यह सुन कर महाश्वेता पुनः पश्चात्ताप की अग्नि में जलने लगी। कपिंजल उसे किसी प्रकार सान्त्वना देकर श्वेतकेतु मुनि के पास चला गया। कादम्बरी चन्द्रापीड के शरीर को देवोचित पूजा के साथ शिलातल पर रखकर अपने दिन व्यतीत करने लगी। चन्द्रापीड और वैशम्पायन के माता-पिता भी यह समाचार सुन कर वहीं आकर उस आश्रम में रहने लगे।

महर्षि जावालि इतना कह कर ऋषियों से वोले—"कामवृत्ति के कारण पुण्डरीक देवलोक से परिभ्रष्ट होकर वैशम्पायन रूप में शुकनास का पुत्र हुआ और यह वैशम्पायन कामान्ध होकर महाश्वेता के शाप-वश इस शुक-रूप को प्राप्त हुआ है।"

इस प्रकार जावालि द्वारा वर्णित कथा समाप्त हुई।

शुक द्वारा आगे की आत्म-कथा का वर्णन

(इतना कहकर शुक पुनः राजा शूद्रक को अपना वृत्तान्त सुनाने लगा—) 'महर्षि जावालि के इस वृत्तान्त को सुनकर मुझे अपने पूर्व जन्मों का स्मरण हो आया और मुझे मनुष्यों के समान वाणी भी प्राप्त हो गयी। वहीं आश्रम में मेरा पालन-पोषण भी हुआ। वाद में कपिंजल मुझे पिता श्वेत-केतु के आश्रम में ही शाप-काल के अवसान तक के लिए ले आया; परन्तु मेरे हृदय में महाश्वेतादि को देखने की उत्कट लालसा उत्पन्न हुई अतएव मैं उड़ने की थोड़ी-सी शक्ति के प्राप्त होते ही एक दिन आकाश में उड़ चला। असामर्थ्य के कारण मुझे मार्ग में रुकना पड़ा और वहीं मैं पाश में वद्ध होकर चाण्डालाधिपति की कन्या के सम्मुख उपस्थित किया गया। उसने ही आज तक मेरा पालन-पोषण किया। इस समय मुझे वही कन्या पिंजड़े में वन्द करके आपके समक्ष क्यों लायी है—यह जानने की स्वयं मुझे आपके समान ही उत्सुकता है।' यह कहकर शुक चुप हो गया।

इस प्रकार शुक द्वारा वर्णित आत्म-कथा समाप्त हुई।

चाण्डाल-कन्या द्वारा आगे की कथा का वर्णन

राजा के पूछने पर चाण्डाल-कन्या ने कहना प्रारम्भ किया—'कादम्बरी-लोचनानन्द चन्द्र! आपने इस दुरात्मा के पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुना। इस शुकयोनि में भी इसने पिता की आज्ञा के विरुद्ध काम-वश होकर कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। मैं इस दुरात्मा की मा लक्ष्मी हूँ। इसके पिता की आज्ञा से इसकी सुरक्षा के लिए ही मैं इसको इस प्रकार यहाँ अब तक

रखे रही । अब आपके और इसके दोनों के शाप की समाप्ति का समय है । अतः आप दोनों ही अपने प्रिय-जनों के समागम का आनन्द लें ।' यह कह वह विद्युत् के समान आकाश में जाकर अन्तर्धान हो गयी ।

उपसंहार

अपने पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुन कर शूद्रक और वैशम्पायन दोनों के हृदयों में पूर्व प्रेम के कारण पुनः वियोगाग्नि भड़क उठी और दोनों (शूद्रक और वैशम्पायन शुक) ने मानो उस अपार दुःख के कारण अपने शरीर छोड़ दिये । उधर वसन्त के आगमन के कारण कादम्बरी के हृदय को वियोगानल दग्ध करने लगा और आवेश में उसने चन्द्रापीड के शरीर का आलिङ्गन किया । उसी क्षण चन्द्रापीड जीवित होकर उठ बैठा । उसने कादम्बरी को समस्त कथा बताने के पश्चात् बताया कि वैशम्पायन अथवा पुंडरीक के शाप की भी निवृत्ति हो गयी है और वह भी शीघ्र ही आ रहा होगा ।

इसके पश्चात् सबों का मिलन हुआ । कादम्बरी और चन्द्रापीड तथा महाश्वेता और पुंडरीक (वैशम्पायन) परिणय-सूत्र में आबद्ध हो कर आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे ।

एक बार कादम्बरी ने चन्द्रापीड के स्वरूप को धारण करने वाले भगवान् चन्द्र से पूछा—'आर्यपुत्र ! हम सबों का तो दीर्घकालीन वियोग के पश्चात् सम्मिलन हो गया; परन्तु उस बेचारी पत्रलेखा का कुछ पता नहीं चला ।' चन्द्रापीड ने इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहा—"जब शापवश मुझे मृत्यु-लोक में अवतरित होना पड़ा उस समय मेरे वियोग-दुःख से दुःखित रोहिणी ही स्नेहवश पत्रलेखा-रूप में अवतरित हुई । इस समय मैंने उसे अपने लोक में भेज दिया है ।"

चन्द्रापीड के रूप में चन्द्रदेव राज्यभार पुंडरीक को सौंप कर भूलोक पर आनन्दपूर्वक अपना समय व्यतीत करने लगे ।

श्रीगणेशाय नमः

कादम्बरी

——:०:——

रजोजुषे जन्मनि, सत्त्ववृत्तये
स्थितौ, प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे ।
अजाय, सर्गस्थितिनाशहेतवे
त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः ।। १ ।।

प्रजानाम्—प्रजायन्ते इति प्रजाः, प्रपूर्वक जन्धातोः "उपसर्गे च संज्ञायाम्" इति डः । जन्यपदार्थानाम् । जन्मनि उत्पत्तौ । रजोजुषे रजोगुणयुक्ताय, रजो जुषते तस्मै । क्विप् चेति क्विप् । प्रजानां स्थितौ रक्षणे । सत्त्ववृत्तये सत्त्वस्य वृत्तिर्यस्मिन् तस्मै, सत्त्वगुणयुताय । प्रजानां प्रलये नाशे 'एरच्' इत्यच् । तमःस्पृशे तमोगुणवते, तमःस्पृशतीति तस्मै । 'लघु प्रकाशकं च सत्त्वम्', 'चलमवष्टम्भकं च रजः' 'गुर्वावरणं च तमः' इति यथाक्रमं त्रिगुणलक्षणम् । सर्गस्थितिनाशहेतवे । सर्गश्च स्थितिश्च नाशश्च तेषां हेतुस्तस्मै, उत्पत्तिरक्षानाशकारणाय । सृजते 'भावे' इति घञि सर्गः । "जन्माद्यस्य यतः" इति वेदान्त-सूत्रम् "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि श्रुतयश्च ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे मानम् । त्रयीमयाय—त्रयी वेदानां त्रयी तत्स्वरूपाय ।

'वेद एव परं ब्रह्मेत्युक्तेः' । अथवा ब्रह्माविष्णुमहेशानां त्रयी तद्रूपाय । यथा मृद उत्पन्ने घटे मृण्मय इति व्यवहारस्तथा ब्रह्मणो देवत्रयस्य जनकत्वे त्रयीमयत्वव्यवहारः । त्रयीशब्दात् 'मयड्वैतयोर्भाषायाम-भक्ष्याच्छादनयोः' इति मयट् । अतएव त्रिगुणात्मकाय सत्त्वर-जस्तमःस्वरूपाय । अभेदविवक्षयेयमुक्तिः । अजाय नित्याय परमब्रह्मणे । न जायते इति जन् धातोर्डः प्रत्ययः । नमः नमस्कारः । ये तु अत्र अजपदेन चतुर्मुखो ब्रह्मा ग्राह्य इति वदन्ति तदसङ्गतम् । तस्य सृष्टिमात्रकर्तृत्वेन रजोगुणस्यैव सम्बन्धात् त्रिगुणात्मकत्वं विरुद्धम् । किंच, विधेस्तमोगुणवत्त्वे सत्त्वगुणवत्त्वे वा शिवत्वं विष्णुत्वं च स्यात्, गुणभेदान्मूर्तिभेदो न स्यात् सर्गस्थितिनाशहेतवे त्रिगुणात्मने इति च पुनरुक्तं स्यात् । अतो नित्यं परं ब्रह्म अजपदेन बोध्यम् ।

विवृतिः । जगतां जनने यो रजोगुणवान् विधाता रजोगुण एव निर्माणे कारणम् । रक्षणे सत्त्वगुणवान् अर्थाद्विष्णुः तस्य सत्त्व-गुणप्रधानत्वात् । नाशे यस्तमोगुणविशिष्टश्शिवः । अतएव यत् सृष्टिरक्षानाशकारणं च देवत्रयरूपं वा वेदत्रयरूपमृगादिवेदानामपि तत्तद्गुणप्रधानत्वात् । रज आदिगुणत्रयरूपं यत् नित्यं परं ब्रह्म तस्मै नमः इत्यर्थः ॥ १ ॥

१—जो सृष्टि की उत्पत्ति के समय रजोगुण से युक्त, उसकी स्थिति (उसके पालन) के समय सत्त्वगुणात्मक तथा विनाश के समय तमोगुण से व्याप्त हैं, उन सृष्टि के कारण, वेदत्रयी अथवा त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) के स्वरूप, त्रिगुणात्मक (सत्व, रज तथा तम से युक्त) अजन्मा (नित्य परब्रह्म) को नमस्कार है ।

टिप्पणी :—इस श्लोक में परब्रह्म की वन्दना है। सृष्टि, स्थिति और विनाश इन तीन अवस्थाओं अथवा शक्तियों के प्रतीक रूप में तीन देवों की कल्पना भारतीय धर्म-ग्रन्थों में की गयी है। ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता, विष्णु पालनकर्त्ता, और शिव संहारकर्त्ता माने जाते हैं। इसी प्रकार सांख्य-दर्शन में तीन गुणों (सत्त्व, रज और तम) की कल्पना की गयी है। इनमें से प्रत्येक को क्रमश: स्थिति, उत्पत्ति और विनाश का कारण माना गया है। कवि ने यहाँ इन सब से परे ब्रह्म को माना है और उसी में इन सब गुणों का अन्तर्भाव है।

यहाँ 'अज' का अर्थ 'ब्रह्मा' ठीक न होगा, क्योंकि ब्रह्मा केवल सृष्टि-कर्त्ता ही माने जाते हैं।

सर्ग=सृष्टि, त्रयी=वेदत्रयी, अथवा ऋग्वेद. यजुर्वेद तथा सामवेद।

1. I bow (or Hail) to the Unborn Being, who, being full of *Rajas*, assumes activity at (the time of) the birth of creatures (created beings), who is characterised by *Sattva* or goodness during their preservation or continuance, who shows (lit-touches) *Tamas* or darkness (in the form of destruction) at their dissolution, who is the cause of Creation, Preservation and Destruction (of the universe), who is made up of the three gods (Brahma, Vishnu and Mahesh) or the three Vedas, and who consists of the three Gunas or fundamental qualities.

———

जयन्ति बाणासुरमौलिलालिताः
दशास्यचूडामणिचक्रचुम्बिनः ।
सुरासुराधीशशिखान्तशायिनो
भवच्छिदस्त्र्यम्बकपादपांसवः ॥ २ ॥

ज्ञानञ्च शंकरादिच्छेद् विद्याकामस्तु गिरिशं नमेदित्यादि वचनप्रमाणाच्छिवो ज्ञानद इति सिद्धौ ज्ञानलाभाय शिवचरण-रेणूत्कर्षवर्णनरूपं मंगलं जयशब्देन करोति ग्रन्थकारः जयन्तीति ॥ बाणासुरमौलिलालिताः बाणश्चासावसुरश्च तस्य मौलिना लालि-तास्ते, बाणनामदैत्यमुकुटसेविताः । बण् गतौ धातोर्बणतीत्यर्थे कर्तरि संज्ञायां घञ् बाणः । ललधातोर्णिचि कर्म्मणि क्तः । दशास्यचूडामणिचक्रचुम्बिनः दशास्यस्य चूडामणीनां चक्रं चुम्बितुं शीलं येषान्ते, ताच्छील्ये णिनिः, रावणमुकुटरत्नसमूहस्पर्शिनः । अत्र चुम्ब्धातोः स्पर्शार्थः, न तु वक्त्रसंयोगरूपः 'यातोऽस्तमेष चरमाचलचूडचुम्बी' इति मुरारिप्रयोगेऽपि तथा दर्शनात् । सुरासुराधीशशिखान्तशायिनः सुरासुराणां येऽधीशास्तेषां शिखान्ते शेरते इति शीलं येषान्ते । अत्रापि 'सुप्यजातौ' इति ताच्छील्ये णिनिः । देवदानवस्वामिचूडाप्रान्तपातिनः, पूजासमये तैः शिवपदधारणात् । भवच्छिदः भवं छिन्दन्तीति ते । सत्सूद्विष-द्रुहेत्यादिना क्विप् । पुनर्जन्मनिवर्त्तकाः । त्र्यम्बकपादपांसवः त्रीण्य-म्बकानि यस्य तस्य पादयोः पांसवस्ते त्रिलोचनचरणरेणवः । जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते ॥ २ ॥

२—बाणासुर के मस्तक द्वारा (श्रद्धापूर्वक) ग्रहण की जाने वाली, दशानन (रावण) के मुकुटों के रत्न-समूह को स्पर्श करने वाली, देवाधि-पतियों तथा दैत्याधिपतियों के केशसमूह पर स्थित तथा संसार रूपी बन्धन का नाश करने वाली (भगवान्) शंकर की चरण-धूलि सर्वोत्कृष्ट (विजयी होती) है ।

टिप्पणी :—दशास्य=दशमुख, रावण । त्र्यम्बक=त्रिनेत्र, शंकर । शिखान्त=केशसमूह । जयन्ति=यहाँ भाव है उत्कर्ष प्राप्त होना अर्थात्

सर्वोत्कृष्ट होना । अभिव्यजंना से इसका भाव है कि (कवि बाण) ऐसे महान् व्यक्तियों को नमस्कार करते हैं ।

2. Triumphant are the particles of dust of (or clinging to) the feet of the three-eyed god (Shiva), which were caressed by the crown or head of the demon (named) Banasur; which have kissed the circle of the (ten) diadems or crest jewels of Ravana (lit. the 'ten-mouthed') ; which have stuck to (lit. 'rested on') the top of the crests of the lords of gods and demons, and which destroy or put an end to (the cycle of) births and deaths.

जयत्युपेन्द्रः स चकार दूरतो
बिभित्सया यः क्षणलब्धलक्ष्यया[1][2] ।
दृशैव कोपारुणया रिपोरुरः
स्वयं भयाद्भिन्नमिवास्रपाटलम् ।। ३ ।।

सम्प्रति सर्वार्थसाधनत्वादिष्टदेवतां चिकीर्षितग्रन्थे निर्विघ्नता-लाभाय चेष्टदेवं नृसिंहं प्रार्थयते जयत्युपेन्द्र इति । स उपेन्द्रः । इन्द्रमुपगतो भ्रातृत्वेन सः । विष्णुः नृसिंहावतारी । जयति सर्वो-त्कर्षेण वर्तते । यः बिभित्सया भेत्तुमिच्छा तया । भिदेः सन्न-न्तात् अः प्रत्ययादिति अप्रत्यये टापि च बिभित्सा । दूरतः क्षण-लब्धलक्ष्यया । दूरतः विप्रकृष्टात् इव । क्षणलब्धलक्ष्यया क्षणं लब्धं लक्ष्यं यया तया । ईषत्कालप्राप्तहिरण्यकशिपुवक्षःस्थल-रूपवेध्यया । यद्वा प्राप्तावलोकनैकाग्रतया । लभेः कर्मणि क्तः ।

---

१ बद्ध, २ लक्षया,

अतएव कोपारुणया, कोपेन अरुणा तया। रोषरक्तया कुपेर्भावे घञ् कोपः। दृशैव लोचनेनैव। रिपोः हिरण्यकशिपोर्वैरिणः। उरः वक्षःस्थलम्। भयात् भीतेः। स्वयं आत्मना। भिन्नं विदीर्णमिव। अस्रपाटलम् अस्रवत् पाटलम् तत्। रुधिरश्वेतरक्तम्। 'श्वेतरक्तस्तु पाटलः' इत्यमरः। चकार कृतवान्। अनेन बाणभट्टस्योपास्यो देवो नृसिंह इति ज्ञायते ।। ३ ।।

३—उन (नृसिंहावतारी) भगवान् विष्णु की जय हो, जिन्होंने (हरिण्यकशिपु के वक्ष को) विदीर्ण करने की इच्छा से क्षण भर में ही लक्ष्य पर पहुँचने वाले और क्रोध के कारण लाल नेत्रों से दूर से ही शत्रु (हिरण्यकशिपु) के वक्षःस्थल को इस प्रकार रक्त के समान लाल कर दिया मानो वह भय के कारण स्वयं ही विदीर्ण हो गया हो।

टिप्पणी :—उपेन्द्र—विष्णु, यहाँ नृसिंह के रूप में उनकी स्तुति की गयी है। क्षण··· ··लक्ष्यया—इसका अर्थ दो प्रकार से हो सकता है। १—'दूरात् क्षण······लक्ष्यया' ऐसा अन्वय करने से इसका अर्थ होगा—'दूर से ही क्षण भर के लिए ही लक्ष्य (वक्षःस्थल) को देखने वाली दृष्टि से।' २—जैसा कि हिन्दी अनुवाद में किया गया है—'क्षण भर में ही लक्ष्य पर पहुँचने वाली'। रिपोः—शत्रु के, यहाँ हिरण्यकशिपु से तात्पर्य है।

3. Glory be to that Vishnu (the 'younger brother of Indra') who, by means of merely casting from a distance a moment's glance (lit. glance, 'having had the sight of its target for a moment only') which was red with wrath or anger, and was prompted by a desire to tear it, made the chest of his enemy, which was torn to pieces of its own accord, as it were, with fear, red with (or like) blood.

नमामि भर्वो[1]श्चरणाम्बुजद्वयं
सशेखरैर्मौखरिभिः कृतार्चनम् ।
समस्तसामन्तकिरीटवेदिका-
विटङ्कपीठोल्लुठितारुणाङ्गुलि ॥ ४ ॥

गुरुं नमस्कुर्वन् वदति नमामीति । भर्वोस्तन्नामकगुरोः । सशेखरैः शेखरैः सहिताः सशेखरास्तैः, मुकुटरूपशिरोभूषणसहितैः । मौखरिभिः क्षत्रियविशेषैः । मुखमस्ति यस्मिंस्तन्मुखरं संग्रामः । रप्रकरणे खमुखकुंजेभ्य उपसंख्यानम् इति मुखशब्दात् मत्वर्थीयो रप्रत्ययः । अत्र मुखशब्दो लक्षणया ध्वनिवाचकः । मुखरमेव मौखरं तदस्ति येषामिति मौखरिणस्तैः । अत इति ठनाविति मत्वर्थीय इनिः । कृतार्चनम् कृतमर्चनं यस्य तत् । विहितपूजनम् । समस्तसामन्तकिरीटवेदिकाविटंकपीठोल्लुठितारुणांगुलि समस्ता ये सामन्तास्तेषां किरीटान्येव वेदिका तस्या विटंक एव पीठं तस्मिन्नुल्लुठिता अरुणा अंगुलयो यस्य तत्; सकलान्यदेशनृपमुकुट-परिष्कृतभूमिमध्योन्नतदेशपादपीठघृष्टारक्तकरशाखम् । चरणाम्बुजद्वयम् चरणौ अम्बुजे इव तयोर्द्वयम् तत् । अम्बुनि जात-मित्यम्बुजम्, 'सप्तम्यां जनेर्डः' इति डः । नमामि नमस्यामि ॥४॥

४—मैं भर्वु (नामक अपने गुरुदेव) के उन दोनों चरण-कमलों को नमस्कार करता हूँ, जिनकी पूजा मस्तक पर मुकुट धारण किये हुए मौखरी वंश के राजा किया करते थे (भाव यह है कि वे मुकुट सहित

---

१ भर्त्सोः, भत्सो (भन्दात् कल्याणं जनयति इति भन्दधातोः सुप्रत्यये पृषोदरादित्वान्नलोपे च भत्सुः)

अपने मस्तक को उनके चरणों पर रखते थे) और जिनकी अँगुलियाँ समस्त सामन्तों (छोटे-छोटे राजाओं) के मुकुटरूपी वेदिका (परिष्कृत भूमि) के उन्नत प्रदेश रूपी पाद-पीठ के स्पर्श (संघर्षण) के कारण रक्त-वर्ण की हो जाती थीं। (भाव यह है कि राजाओं के मुकुट फर्श के समान हैं, उनका उठा हुआ भाग पादपीठ के समान है; इस पाद पीठ पर ही मानों चरण रखा जाता हो, क्योंकि वे मुकुटों सहित अपने शिर को चरणों पर स्थिर रखते थे।

टिप्पणी :—मौखरी—प्राचीन भारतीय राजवंश, जिसका शासन-काल ६ठी से ८वीं शताब्दी के मध्य में था। मौखरी का दूसरा अर्थ यह भी किया जा सकता है—'मुखरस्य वेदाद्युच्चारणेन शब्दायमानस्य भावो मौखरं, तदेषामस्तीति मौखरिण:, वेदध्वनि करने वाले छात्रगण। वेदिका—परिष्कृत भूमि। विटङ्क—उन्नतभूमि।

4. I bow to the lotus-like couple of the feet of Bharvu (probably the poet's Guru or Teacher), which were worshipped by the Maukhari kings wearing their crowns (*i. e*, which have been honoured by the Maukhari kings by means of their crowned heads being placed at them), and the toes of which became red, having been rubbed on or rolled against the foot-stool, consisting (as it were,) of the (centrally) raised or elevated part of the altar-pit, constituted (again, as it were), by the crowns of all the feudatory kings.

———

अकारणाविष्कृतवैरदारुणा-
दसज्जनात्कस्य भयं न जायते।
विषं महाहेरिव यस्य दुर्वच:
सुदु:सहं संनिहितं सदा मुखे ॥ ५ ॥

दुर्जनमुद्दिश्याह अकारणेति । अकारणाविष्कृतवैरदारुणात् अकारणमाविष्कृतं यद् वैरं तेन दारुणस्तस्मात् । अहेतुप्रकटित-द्वेषभीषणात् । असज्जनात् दुर्जनात् । संश्चासौ जनः सज्जनः न सः तस्मात् । कस्य जनस्य । भयम् भीतिः । न जायते आविर्भवति । महाहेः महांश्चासावहिस्तस्य बृहत्सर्पस्य । 'सर्पे वृत्रासुरेऽप्यहिरिति' वैजयन्ती । विषमिव गरलमिव । यस्य दुष्टस्य । मुखे आनने । सुदुःसहम् सुतरां दुःखेन सोढुं शक्यम् । सहतेः कर्म्मणि खल् । दुर्वचः दुर्वचनम् । सदा सर्वदा । सन्निहितम् समीपस्थमस्ति । एवं ममापि चिकीर्षितग्रन्थापवादशंकया दुर्जनाद् भीतिर्वर्तते इति भावः ।। ५ ।।

५—जो बिना कारण ही दारुण वैर प्रकट किया करते हैं और जिनके मुख में सदैव दुःसह दुर्वचन इस प्रकार उपस्थित रहते हैं जिस प्रकार कि महासर्प के मुख में विष, ऐसे दुर्जनों से किसे भय नहीं होगा ।

टिप्पणी :—५वें से ७वें श्लोक तक दुर्जन-निन्दा तथा सज्जनों की स्तुति है ।

5. Who is not afraid of a wicked man, rendered pitiless or hard-hearted on account of animosity, displayed (lit. 'invented') without any cause or reason, and in whose mouth, there is always to be found present abuse or calumny, which is extremely difficult to bear, like poison (in the mouth) of a big snake ?

कटु क्वणन्तो मलदायकाः खला-
स्तुदन्त्यलं बन्धनशृंखला इव ।
मनस्तु साधुध्वनिभिः पदे पदे
हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव ।। ६ ।।

सज्जनमुद्दिश्याह कटु इति । कटु दुःश्रवं यथा स्यात्तथा, क्वणन्तः वदन्तः श्रृंखलापक्षे शब्दायमानाः । क्वणतेः शतरि रूपम् । मलदायकाः दोषारोपकाः पक्षे सम्पर्कस्थले मालिन्यजनकाः । ददातेर्ण्वुल । मलस्य दायकास्ते । खला असाधवः । बन्धनश्रृङ्खला बन्धलोहनिगडा इव । बन्धनाय श्रृङ्खलास्ताः । अलमतिशयम् । तुदन्ति पीडयन्ति मनः स्वलग्नस्थानञ्च । सन्तः साधवः । मणिनूपुराः मणियुक्ता नूपुराः ते । रत्ननिर्मितमञ्जीराणीव । पदे पदे प्रतिपदम् । अन्यत्र प्रतिशब्दम् । साधुध्वनिभिः मनोहररवैः । पक्षे मंजुशिंजितैः । मनः हृदयम् । हरन्ति रमयन्ति । 'श्रृङ्खला पुंस्कटी वस्त्रबन्धे च निगडे त्रिषु' इत्यमरः । एवं गुणग्राहिणः साधवः एतन्मद्ग्रन्थे गुणैः सन्तुष्य प्रशंसया हृदयं हरन्तु मे इति भावः ।। ६ ।।

६—कटु शब्द कहने वाले तथा (मिथ्या) कलंक लगाने वाले दुर्जन कर्कश शब्द करने वाली तथा (संसर्ग) से कालिमा उत्पन्न करने वाली बन्धन-श्रृंखला (बाँधने की जञ्जीर) के समान अत्यधिक पीड़ा पहुँचाते हैं । (इसके विपरीत) सन्तजन अपने मृदु वचनों से (अपने) प्रत्येक शब्द पर मन को उसी प्रकार हर लेते हैं जिस प्रकार कि मणिनिर्मित नूपुर प्रत्येक पाद-क्षेप पर अपनी मधुर ध्वनि से ।

टिप्पणी :—यथा कटु क्वणन्तः—दुर्जन पक्ष में कटु शब्द कहते हुए तथा श्रृंखला पक्ष में कर्कश ध्वनि करते हुए । इसी प्रकार मलदायकाः—दुर्जन पक्ष में कलंक या दोष लगाने वाले; श्रृंखला पक्ष में कालिमा लगाने वाले । साधुध्वनिभिः—सज्जन पक्ष में मधुर वचन; नूपुर पक्ष में मधुर ध्वनि । पदे-पदे—शब्द-शब्द पर अथवा प्रत्येक पद पर ।

6. Wicked people, uttering harsh words and casting dirt or stain (in the form of abuse or calumny); but others

deeply to the quick (lit. 'cause sufficient pain' to others), like iron-fetters which bind (a person, and produce unpleasant sound, and cause dark stains on the feet); whereas good men, on the other hand, captivate the heart at every word, with the pleasing tones (of their speech), like jewelled-anklets (which produce soft and sweet music at every step).

सुभाषितं हारि विशत्यधो गला-
न्न दुर्जनस्यार्करिपोरिवामृतम् ।
तदेव धत्ते हृदयेन सज्जनो
हरिर्महारत्नमिवातिनिर्मलम् ।। ७ ।।

सुभाषितम् सुष्ठु भाषितं तत् । सुवाक्यम् । हारि मनोहारि । हरणं हारः हरतेर्घञ् । अत इनिठनाविति इनिः हारि । हारोऽस्यास्तीति तत् । दुर्जनस्य खलस्य । गलात् कण्ठात् । अधः अधोभागे । अर्करिपोः राहोः । अर्कस्य रिपुस्तस्य अर्करिपोः । अमृतमिव पीयूषमिव । 'पीयूषममृतं सुधा' इत्यमरः । न विशति, अन्तर्याति । सज्जनः गुणग्राही साधुः । तदेव सुभाषितमेव । हरिः विष्णुः । अति निर्मलम् अतिशयस्वच्छम् । महारत्नम् कौस्तुभम् मणिमिव । महच्च तद्रत्नं महारत्नम् । 'रत्नं श्रेष्ठे मणावपि' इत्यमरः । हृदयेन मनसा । धत्ते दधाति ।।७।।

७—जिस प्रकार राहु के गले के नीचे अमृत प्रवेश नहीं करता है उसी प्रकार दुर्जन के कण्ठ में मनोहर और सुन्दर वचन प्रवेश नहीं करते हैं; परन्तु उन्हीं (सुन्दर और मनोहर वचनों) को सज्जन इस प्रकार हृदय में धारण करते हैं, जैसे कि विष्णु भगवान् (अपने हृदय पर) अत्यन्त निर्मल महामणि (कौस्तुभ मणि) को ।

टिप्पणी—अर्करिपु—सूर्य का शत्रु अर्थात् राहु । महामणि—कौस्तुभ-मणि ।

7. The sweet fascinating speech (of a poet) does not go down the throat of a wicked man, in the same way as did nectar into that of the enemy of the Sun (*i. e.*, Rahu); but the same (speech), however, a good man (readily) takes to his heart, even as Vishnu holds (to his heart) the great or highly precious, and extremely pure or stainless gem (Kaustubha).

स्फुरत्कलालापविलासकोमला
करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम् ।
रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता
कथा जनस्याभिनवा वधूरिव ॥८॥

ग्रन्थकथामुद्दिश्याह स्फुरदिति । स्फुरत्कलालापविलास-कोमला । स्फुरन् यः कल आलापस्तस्य विलासस्तेन कोमला, विकसन्मनोहरशब्दगुम्फमाधुरी मृदुला । वधूपक्षे—स्फुरन्तौ यौ कलालापविलासौ ताभ्यां कोमला सा । प्रसर्पद्गभीरभाषण-पाटवसुन्दरी । 'कोमलं मृदुसुन्दरे' इति विश्वः । रसेन शृङ्गा-रादिना । शय्यां शब्दरचनाम् । 'शय्या तल्पे शब्दगुम्फे' इत्य-मरः । अभ्युपागतायाता । कथा गद्यपद्यमयी शब्दरचना । वधूपक्षे—रसेन प्रीत्या । शय्याम् तल्पम् । स्वयमभ्युपागता प्राप्ता । अभिनवा नवोढा । वधूः भार्या इव । जनस्य लोकस्य । 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । हृदि हृदये । कौतुकाधिकम्, कौतुकमधिकं यस्मिन् तम्, कौतुकपूर्णम् । रागम् प्रेमाणम् । करोति जनयति ॥८॥

८—जिस प्रकार (मन को) रोमाञ्चित करने वाले मधुर आलाप तथा विलास-चेष्टाओं के द्वारा अत्यन्त मनोरम नवोढा वधू प्रेमवश स्वयं ही (पति की) शय्या पर पहुँच कर पुरुष के हृदय में अत्यधिक प्रेम तथा आनन्द उत्पन्न करती है, उसी प्रकार ओजःपूर्ण और सुन्दर उक्तियों (अथवा वाक्य-रचना) के माधुर्य के कारण रमणीय अभिनव कथा शृंगारादि रस के द्वारा स्वयं ही मनोरम शब्द-रचना को प्राप्त होकर मनुष्य के हृदय में आनन्द और प्रीति उत्पन्न करती है ।

टिप्पणी—स्फुरत्–(वधू पक्ष में) इसका अर्थ टीकाकारों ने 'स्फुटं प्रतीयमाना' अथवा 'प्रसर्पन' किया है । यहाँ इसका भाव आनन्द से रोमांचित करने वाला (आलाप) अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । (कथा पक्ष में)—ओजःपूर्ण स्वाभाविक रचना । शय्या—'शय्या तल्पे शब्दगुम्फे' इत्यनेकार्थः । कथापक्ष में इसका अर्थ है शब्दरचना ।

8. Just as a newly-married bride, looking delicately attractive on account of her charming (lit. shining or throbbing) and sweet voice and gracefully amorous sports, having approached (her husband's) bed of her own accord being impelled by a passionate desire, produces in the heart (of her husband) a deep sentiment of love along with curiosity or admiration, similarly a new plot or story, tenderly delightful with the graceful display of bright and sweet dialogues, and assuming of itself the form of a regular composition (शय्या is a particular form of composition, in which the words are so arranged as to allow of no change of position, without destroying the genuine and essential effect of it), on account of (the charm of) its (prevailing) sentiments, arouses in the heart (of the reader) joy or pleasure, which is enhanced by admiration and interest.

हरन्ति कं नोज्ज्वलदीपकोपमै-
र्नवैः पदार्थैरुपपादिताः कथाः ।
निरन्तरश्लेषघनाः सुजातयो
महास्रजश्चम्पककुड्मलैरिव ॥९

उज्ज्वल ीपकोपमैः । उज्ज्वलो यो दीपकश्च उपमा च येषु तैः । स्फुटितदीपकालङ्कारोपमालङ्कारसहितैः । पक्षे शुचि-प्रदीपतुल्यैः । 'शृङ्गारः शुचिरुज्ज्वलः' इत्यमरः । नवैः नवीनैः । पदार्थैः शब्दाभिधेयैः । उपपादिताः विरचिताः । निरन्तरश्लेष-घनाः निरन्तरं श्लेषेण घनास्ताः । प्रतिपदमर्थसाम्यशब्दसाम्य-श्लेषगुणबहुलतराः । मालापक्षे सान्द्रतरग्रन्थननिबिडाः । सुजातयः सुष्ठु जातिर्यासां ताः । सुन्दरस्वरूपाः । पक्षे मनोहर-जातिकुसुमाः । चम्पककुड्मलैः चम्पकमुकुलैः उपपादिताः । महास्रजः महामाला इव । कथाः गद्यपद्यादिप्रबन्धाः । कं सहृदयं । न हरन्ति न रमयन्ति । किन्तु सर्वस्यैव मनोरमाः सन्ति ॥९॥

९—मनोहर दीपक तथा उपमालंकारों से युक्त नए-नए अर्थों को प्रकट करने वाले पदों से रचित, पद-पद पर श्लेष अलंकार के प्रचुर प्रयोग से पूण, सुन्दर जाति-छन्दों से युक्त कथा, देदीप्यमान दीपक के समान (सुन्दर दिखाई देने वाली) अभिनव चम्पा की कलियों से बनी हुई, सुन्दर जाति (चमेली) के फूलों से युक्त पूरी तरह से सघन (मिला कर) गुँथी हुई महामाला के समान किसको आकर्षित नहीं करती ।

टिप्पणी :—दीपकोपमैः—(अर्थ पक्ष में) दीपक तथा उपमालंकार से युक्त । (कुड्मल पक्ष में) दीपकाः प्रदीपाः उपमाः सादृश्यानि येषां ते ।

9. What man is there, whom stories, composed in a style, containing ever-new words and meanings (*or* new meanings of words), having distinct or brilliant figures of speech, called *Dipaka* and *Upama*, abounding in thickly strewn puns or ambiguities, and in which there are to be found beautiful figures of speech, such as *Jāti*, or which is (written) in beautiful *Jāti* metre, do not fascinate, like large garlands, prepared with fresh Champaka-buds, resembling brightly burning lamps, being strung or interwoven closely together and consisting of beautiful jasmine flowers !

बभूव वात्स्यायनवंशसंभवो
द्विजो जगद्गीतगुणोऽग्रणीः सताम् ।
अनेकगुप्तार्चितपादपङ्कजः
कुबेरनामांश इव स्वयंभुवः ॥ १० ॥

सम्प्रति कविर्दशभिः पद्यैः स्ववंशं वर्णयति । वात्स्यायनवंशसम्भवः । वत्सस्यापत्यमित्यर्थे गर्गादिभ्यो यञिति यञ्, वात्स्यः अस्मात् । यञिञोश्चेति फक् वात्स्यायनः । तस्य वंशे सम्भवो यस्य सः, वात्स्यायनर्षिकुलजन्मा । जगद्गीतगुणः । जगति गीतो गुणो यस्य सः । लोकोच्चारितकीर्तिः । सताम् साधूनाम् । अग्रणीः प्रधानः । अग्रे नयति सः । नयतेः क्विप् । अग्रग्रामाभ्यां नयतेर्णो वाच्यः इति नस्य णः । अनेकगुप्तार्चितपादपंकजः असंख्यवैश्यपूजितचरणाम्बुजः । अनेकैर्गुप्तैरर्चिते पादपंकजे यस्य सः । 'गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयो' इति वचनाद् गुप्तपदेन वैश्याः ग्राह्याः ॥ पंके जातं पङ्कजम् (सप्तम्यामिति जनेर्डः) स्वयम्भुवः विधातुः । अंश

इव अवतार इव । कुबेरनामा । द्विजः । द्वाभ्यां जन्मसंस्काराभ्यां जात इति द्विजः । जनेर्डः । विप्रः । 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः । बभूव आसीत् ॥१०॥

१०—वात्स्यायनवंश में उत्पन्न कुबेर नामक एक ब्राह्मण थे । समस्त संसार में उनके गुणों का गान होता था । वे सज्जनों में अग्रगण्य थे । अनेक गुप्तवंशीय राजाओं ने उनके चरण-कमलों की पूजा की थी । वे ब्रह्मा के अंशावतार के समान प्रतीत होते थे ।

10. Sprung from the family of Vatsyayana was there a Brahman, named Kuber, whose merits were sung in (or by) the whole world, who was foremost among the good or virtuous, whose lotus-like feet were worshipped by many Guptas (or Gupta kings), and who was, as it were, a portion (or an incarnation) of Brahma.

उवास यस्य श्रुतिशान्तकल्मषे
सदा पुरोडाशपवित्रिताधरे ।
सरस्वती सोमकषायितोदरे
समस्तशास्त्रस्मृतिबन्धुरे मुखे ॥११॥

श्रुतिशान्तकल्मषे । श्रुतिभिः शान्तं कल्मषं यस्य तस्मिन् । वेदाध्ययनोपशमितपापे । 'पापं किल्विषकल्मषम्' इत्यमरः । पुरोडाशपवित्रिताधरे । पुरोडाशेन पवित्रितोऽधरो यस्य तस्मिन् । हुतशेषपूताधरोष्ठे । 'पुरोडाशो हविर्भेदे हुतशेषे च कीर्तित' इति विश्वः । पवित्रं करोति पवित्रयति । आख्यात णिचि कर्मणि क्तः पवित्रितः । सोमकषायितोदरे सोमेन कषायितमुदरं यस्य तस्मिन् । सोमयागे सोमसंज्ञकलतारसेन ईषत्कटुभूतमध्ये ।

समस्तशास्त्रस्मृतिवन्धुरे । समस्तैः शास्त्रैः स्मृतिभिश्च बन्धुरं तस्मिन् । सकलव्यासादिनिर्मितदर्शनमन्वादिधर्मशास्त्रमनोहरे । 'बन्धुरं मुकुटे त्रिषु स्याद्रम्यनम्ययोरिति' मेदिनी । यस्य कुबेरस्य द्विजस्य । मुखे आनने । 'आननं लपनं मुखम्' इत्यमरः । सरस्वती वाग्देवी । सरणं सरो ज्ञानं सरतेरसुन् । तदस्ति यस्याः सा सरस्वती । तदस्यास्तीति मतुप् । उवास वसतिस्म ।।११।।

११—जिनके उस मुख में,—जिसका कि पाप वेदों (का पाठ करने) से नष्ट हो गया था, जिसके अधर सदैव पुरोडाश (यज्ञ के हुतावशिष्ट द्रव्य-भक्षण) से पवित्र हो गये थे, जिसके मध्य का भाग सोम-पान से कषायित (कसैला) हो गया था और समस्त शास्त्रों तथा स्मृतियों के पाठ के कारण जो अत्यन्त सुन्दर था,—सरस्वती वास करती थी ।

टिप्पणी :—उवास—वस् + लिट् प्र० पु०, ए० व० । वन्धुर—मनोहर ।

11. In whose mouth there always dwelt Saraswati or the goddess of learning,—a mouth. the sins of which had been suppressed by (the study of) the Vedas ; the lips of which were purified by (partaking of) the remains of sacrificial offerings or oblations the interior or inside of which was made astringent by (the draughts of) Soma juice, and which was made pleasing on account of the study of all the Shastras and Smritis (*i. e.*) the entire body of sacred scriptures)

जगुर्गृहेऽभ्यस्तसमस्तवाङ्मयैः
ससारिकैः पञ्जरवर्तिभिः शुकैः ।
निगृह्यमाणा वटवः पदे पदे
यजूंषि सामानि च यस्य शङ्किताः ।।१२।।

यस्य कुबेरस्य । गृहे गेहे । 'गृहं गेहो निवसितमि'त्यमरः । अभ्यस्तसमस्तवाङ्मयैः । अभ्यस्तं समस्तं वाङ्मयं यैस्तैः । निखिलविद्यापारगामिभिः । ससारिकैः । सारिकाभिः सहितास्तैः । शुकवधूसमेतैः पञ्जरवर्तिभिः । पञ्जरे वर्तन्ते तैः । लौहपक्षिगृहस्थितैः । शुकैः कीरैः । निगृह्यमाणाः निग्रहं गमिताः । निगृह्यन्ते इमे, ग्रह् धातोः कर्मणि लिटि शानच् निगृह्यमाणाः । त्वया अशुद्धमुक्तमिति विवादेन पराजिता इत्यर्थः । पदे पदे प्रतिपदम् । शङ्किताः सशङ्काः । शङ्कतेः कर्म्मणि क्तः । वटवः ब्रह्मचारिशिष्याः । यजूंषि यजुर्वेदान् । सामानि सामवेदांश्च । जगुः गायन्ति स्म । एकस्यापि यजुर्वेदस्य सामवेदस्य च बहुव्यक्तिगत्या वा शाखादिभेदेन बहुत्वाद् यजूंषि सामानि चेति बहुवचनमुपपन्नम् ॥१२॥

१२—और जिनके घर में ब्रह्मचारी (शिष्य), इस डर से कि कहीं मैनाओं के साथ पिंजरों में पले हुए (रहने वाले) समस्त विद्याओं में पारङ्गत शुक उनकी गलतियों को न पकड़ लें, पद-पद पर अत्यन्त शंकित होकर यजुर्वेद तथा सामवेद का पाठ करते थे ।

टिप्पणी :—(१) जब शुक और सारिकाओं का ज्ञान इतना अधिक था तो उनके स्वामी के ज्ञान का क्या कहना । (२) संस्कृत साहित्य म सारिकाओं को शुकों की वधू माना जाता है ।

12. In whose house scholars or students chanted the verses of Yajurveda and Samaveda, being afraid in their minds at every step (or word), lest they should be interfered (lit. 'checked') or found fault with by the parrots along with the *Mainas* (their mates), who were living in cages,

and had mastered or committed to memory the whole literature.

हिरण्य गर्भो भुवनाण्डकादिव
क्षपाकरः क्षीरमहार्णवादिव ।
अभूत्सुपर्णो विनतोदरादिव
द्विजन्मनामर्थपतिः पतिस्ततः ।।१३।।

भुवनाण्डकात् ब्रह्माण्डात् । भुवनस्याण्डकं तस्मात् हिरण्यगर्भः ब्रह्मा इव । हिरण्यं गर्भो यस्य सः । अर्थात् तद्वद् वेदपारंगतः । क्षीरमहार्णवात् । महांश्चासावर्णव इति महार्णवः, 'सन्महदिति' कर्मधारयः समासः । अर्णोऽब्धिध्वनिरस्त्यस्येत्यर्णवः । अर्णसो लोपश्चेत्यर्णःशब्दान्मत्वर्थीयो व प्रत्ययः । क्षीरस्य महार्णवः क्षीरमहार्णवस्तस्मात् । क्षपाकर इव । क्षपां करोतीति सः 'कृञो हेतुताच्छील्योनुलोम्येषु' इति टः प्रत्ययः । चन्द्र इव । अर्थात् चन्द्र इव समस्तजनाह्लादकः इतिभावः । विनतोदरात् । विनताया उदरं तस्मात् । गरुडमातृगर्भात् । सुपर्ण इव गरुड इव । हरिभक्तितत्पर इति भावः । ततः तस्मात् कुबेरात् । द्विजन्मनां पतिः द्वे जन्मनी येषान्ते द्विजन्मानस्तेषां विप्राणाम् । पक्षे खगानाम् । 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः । पतिः स्वामी । अर्थपतिः अर्थस्य पतिः सः । अर्थपतिनामा । अभूत् अभवत् ।।१३।।

१३— जिस प्रकार ब्रह्माण्ड से ब्रह्मा, क्षीर सागर से चन्द्रमा तथा विनता के गर्भ से गरुड़ उत्पन्न हुए उसी प्रकार उनसे (कुबेर द्विज से) ब्राह्मणों में श्रेष्ठ अर्थपति उत्पन्न हुए ।

टिप्पणी :—हिरण्यगर्भः—ब्रह्मा ।

13. To him there was born (lit. 'from him proceeded'—a son), Arthapati, the best or chief among the Brahmanas, just as the Hiranya-garbha (*i. e.*, Brahma) became manifested from the Universal or Primordial golden Egg, the moon (lit. 'the lord or producer of the night') proceeded from the Milky Ocean, and Garuda was born from the womb of Vinata

विवृण्वतो यस्य विसारि वाङ्मयं
दिने दिने शिष्यगणा नवा नवाः ।
उषस्सु लग्नाः स्रवणेऽधिकां श्रियं
प्रचक्रिरे चन्दनपल्लवा इव ।।१४।।

विसारि । विसतुं शीलमस्य तत् । विस्तृतम् । वाङ्मयम् वाचो विकारः । 'एकाचो नित्यमिति' मयट् । शास्त्रम् । विवृण्वतः पाठयतः । यस्य अर्थपतेः गुरुभूतस्य । नवा नवाः नवीनाः । पक्षे अम्लानाः । दिने दिने प्रतिदिनम् । उषःसु प्रभातेषु । श्रवणे गुरुवाक्याकर्णने । पक्षे कर्णे । लग्नाः अवहिताः तत्पराः वा । पक्षे सम्बद्धाः । शिष्यगणाः शिष्याणां गणाः । शास्तुं योग्यः शिष्यः । शास्तेः 'एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्' इति क्यप् । छात्रवर्गाः । चन्दनपल्लवा इव । चन्दनस्य पल्लवास्ते । पाटीरतरुकिसलयानीव । अधिकाम् प्रभूताम् । श्रियम् शोभाम् । प्रचक्रिरे विदधुः ।।१४।।

१४—जिस प्रकार (स्त्रियों के) कानों में लगे हुए नवीन चन्दन-पल्लव प्रातःकाल उनकी शोभा की अत्यधिक वृद्धि करते हैं, ठीक उसी प्रकार

प्रतिदिन प्रातःकाल नये-नये शिष्य विशाल वाङ्मय की व्याख्या करने वाले गुरु अर्थपति के वचनों को सुनने में दत्तचित्त होकर उनकी ख्याति (अथवा शोभा) को बढ़ाते थे।

टिप्पणी—श्रवणे लग्नाः—सुनने में लगे हुए; (पल्लवपक्षे) कानों में लगे हुए।

14. Just as the fresh leaves of sandal-wood trees enhance the beauty (of ladies), when placed on their ears in the early morning, even so did the ever new crowds or bands of disciples, lending their ears every morning to him who expounded the vast literature (to them), enhance his reputation or glory (*lit.* beauty) every day.

विधानसम्पादितदानशोभितैः
स्फुरन्महावीरसनाथमूर्तिभिः ।
मखैरसंख्यैरजयत्सुरालयं
सुखेन यो यूपकरैर्गजैरिव ॥ १५ ॥

यः अर्थपतिः । विधानसम्पादितदानशोभितैः । विधानेन सम्पादितं यद्दानं तेन शोभितास्तैः । यथाविधिविहितविप्रवितरणालंकृतैः । गजपक्षे भक्ष्यविशेषकवलजनितमदजलमण्डितैः । 'विधिर्विधाने दैवे चे'त्यमरः । 'विधानं हस्तिकवल' इति वैजयन्ती । स्फुरन्महावीरसनाथमूर्तिभिः । स्फुरन्तो ये महावीरास्तैः सनाथा मूर्तयो येषान्तैः । ज्वलद्धोमाग्निसहितस्वरूपैः । पक्षे स्यन्दमानमहाभटसंयुक्तशरीरैः । 'होमाग्निस्तु महाज्वालो महावीरः प्रवर्गवत्' इति कोशः । यूपकरैः यूपान् कुर्वन्ति तैः 'कृञो हेत्विति' टः । पशुवधस्तम्भसम्पादकैः । पक्षे यूपा इव करा येषान्तैः, यज्ञस्तम्भ-

शुण्डैः । गजैः हस्तिभिरिव । असंख्यैः बहुभिः । मखः यज्ञैः । सुखेन अनायासेन । सुरालयम् । सुराणामालयस्तम् । स्वर्गम् । अजयत् जितवान् । स्वर्गलिप्सया कृतयज्ञैः सोऽवश्यम्भावी तस्याभवत् इति भावः ॥१५॥

१५—जिन्होंने विधिपूर्वक दिये हुए (द्रव्यादि के) दान से शोभित, देदीप्यमान होमाग्नि से युक्त तथा यज्ञ-पशु-बन्धन-स्तम्भ रूपी हाथों वाले असंख्य यज्ञों के द्वारा स्वर्ग को इस प्रकार अत्यन्त सरलता के साथ जीत लिया, मानों उन्होंने यह (स्वर्ग-विजय) विधान (मदोद्रेक के लिए दिया जाने वाला भक्ष्य-पदार्थ) के द्वारा उत्पन्न मद-जल से शोभित उन हाथियों के द्वारा की हो जिन पर अत्यन्त उत्साही महान् योद्धा चढ़े हुए हों और जिनकी सूंड़ यज्ञ-स्तम्भ के समान हो।

टिप्पणी—यूप—पशुबन्धनार्थं यज्ञ-स्तम्भ।

15. Who easily won (for himself) heaven (lit. 'the abode of the gods') by means of innumerable sacrifices, which were adorned with gifts made in accordance with the prescribed rules (or sacred precepts); which had blazing sacrificial fires present in them; and which had the sacrificial posts as their arms; as though he had done so by means of innumerable elephants, who looked splendid or beautiful with the ichor produced by *Vidhana* (a kind of special food, upon which elephants are fed), who were ridden by illustrious warriors, and who had trunks, which were huge like the sacrificial posts.

स चित्रभानुं तनयं महात्मनां
सुतोत्तमानां श्रुतिशास्त्रशालिनाम् ।
अवाप मध्ये स्फटिकोपलोपमं
क्रमेण कैलासमिव क्षमाभृताम् ॥१६॥

सः अर्थपतिः । महात्मनाम् । महानात्मा येषान्तेषाम् । महानुभावानाम् जितेन्द्रियाणां वा । श्रुतिशास्त्रशालिनाम् वेददर्शनपाठकानाम् । सुतोत्तमानाम् । सुतेषूत्तमास्तेषाम् । योग्यतनयानाम् अत्र सप्तमी तत्पुरुषः । 'सप्तमी शौण्डै'रिति योगविभागात् 'सन्महदिति विशेषविहिते कर्मधारये तु उत्तमशब्दस्य पूर्वनिपातः स्यात्' । मध्ये अन्तः। क्षमाभृताम् । क्षमां विभर्ति तेषाम् । शान्तिशालिनाम् । कैलासपक्षे भूधराणाम् । 'क्षितिक्षान्त्योः क्षमा' इत्यमरः । कैलासमिव रजताद्रिमिव । स्फटिकोपलोपमम् । स्फटिकोपल उपमा यस्य तम् । स्वच्छस्फटिकतुल्यम् । निष्कलंकमिति भावः । चित्रभानुं तनयम् । क्रमेण । सुतमवाप लब्धवान् ।।१६।।

१६—उन (अर्थपति) ने कालान्तर में वेदशास्त्र को जानने वाले अपने उत्तम आचरण वाले पुत्रों के बीच चित्रभानु नामक पुत्र को प्राप्त किया, जो कि स्फटिक मणि के समान (निर्दोष) तथा पर्वतों में स्फटिक मणि की भाँति श्वेत तथा स्वच्छ कैलाश पर्वत के समान था ।

16. Among or in the midst of his magnanimous and excellent sons, who were fully conversant with the Vedas and the Shastras, and who were given to forgiveness. he got in course of time a son, named Chitrabhanu, who was (faultless in body and character) like a piece (lit. 'stone') of crystal, and was like or comparable to Kailash, which is (white) like a crystal, among the mountains.

महात्मनो यस्य सुदूरनिर्गताः
कलङ्कमुक्तेन्दुकलामलत्विषः ।
द्विषन्मनः प्राविविः शुक्तान्तरा
गुणा नृसिंहस्य नखाङ्कुरा इव ।।१७।।

यस्य चित्रभानोः महात्मनो जितान्तःकरणस्य । सुदूरनिर्गताः । सुदूरं निर्गतास्ते । दिगन्तव्याप्ताः । कलङ्कमुक्तेन्दुकलामलत्विषः कलङ्केनमुक्तो य इन्दुस्तस्य कला इव ग्रमला त्विट् येषान्ते । निष्कलङ्कचन्द्रांशविशदप्रभाः । कृतान्तराः कृतमन्तरं यैस्ते । विहितप्रवेशमार्गाः । गुणाः शौर्यदाक्षिण्यादयः । नृसिहस्य नरहरेः । ना सिंह इव तस्येत्युपमितसमासः । नखाङ्कुरा इव । नखानामङ्कुरास्ते । करजाग्रभागा इव । द्विषन्मनः द्विषतां मनस्तत् । रिपुमानसम् । पक्षे हिरण्यकशिपुमनः । 'हृन्मानस मनः' इत्यमरः । प्राविविशुः प्रविष्टवन्तः । शत्रुभिरपि चित्रभानोः प्रौढप्रखरगुणाः स्वमनोभिर्धृता इति भावः ॥१७॥

१७—जिन महात्मा (चित्रभानु) के दिगन्तव्यापी तथा कलङ्करहित चन्द्रकला के समान निर्मल कान्ति वाले गुण-समूह, शत्रुओं के हृदयों में स्वयं प्रवेश-मार्ग बना कर, इस प्रकार प्रविष्ट हो गये जैसे शत्रु हिरण्यकशिपु के हृदय में नृसिंह भगवान् के चन्द्रमा की कला के समान श्वेत नखांकुर प्रवेश कर गये थे ।

17. The merits of this (lit. 'which', great or high-souled (Chitrabhanu), the splendour of which was pure or faultless like a digit of the moon free from spots, and (the reputation of) which had travelled far and wide having made a way for themselves went deep into the hearts (even) of his enemies (*i. e.*, made an impression upon them), in the same way as the pointed ends of the claws of Nrisinha, which were long (with nails), and looked bright like the spotless digit of the moon, having pierced through, penetrated the heart of his enemy.

दिशामलीकालकभङ्गतां गत-
स्त्रयीवधूकर्णतमालपल्लवः ।
चकार यस्याध्वरधूमसञ्चयो
मलीमसः शुक्लतरं निजं यशः ॥१८॥

दिशाम् प्राच्यादीनाम् भार्यारूपाणामित्यर्थः । अलीकालक-भङ्गतां गतः । अलीकेषु ये अलकाः तेषां भङ्गस्तस्य भावस्तत्ता ताम् । मस्तकचूर्णकुन्तलरचनात्वं प्राप्तः । 'अलीकमप्रिये भालेऽवितथे' इति कोशः । त्रयीवधूकर्णतमालपल्लवः त्रयी चासौ वधूस्तस्याः कर्णे तमालपल्लव इव सः । स्वाभाविककृष्ण-वर्णतया ऋगादिवेदत्रयभार्याश्रोत्रतमालतरुकिसलयरूपः । त्रयाणां समूहस्त्रयी 'टिड्ढेति' ङीप् । वा त्रयोऽवयवा यस्याः सा । मलीमसः । मलमस्यास्तीति मलीमसः मलशब्दात् मत्वर्थीय इमसच् प्रत्ययो निपातितः । मलनः । 'मलीमसं तु मलिनम्' इत्यमरः । यस्य चित्रभानोः अध्वरधूमसञ्चयः अध्वराणां धूमानां सञ्चयः सः । याग-धूम्र-पटलम् । ध्वरणं ध्वरः । ऋदोरप् इति भावेऽप् । न ध्वरो यस्मिन् सः अध्वरः निजं स्वीयम् । शुक्लतरम् अतिधवलम् । यशः कीर्त्तिम् । चकार कृतवान् ॥१८॥

१८—जिनके यज्ञों की धूमराशि ने, जो कि दिग्वधुओं के ललाट-प्रदेश में (काली होने के कारण) अलकों की तरह तथा त्रयी (ऋक्, यजुः, साम) रूपी वधू के कानों में (कृष्ण-वर्ण के) तमाल-पत्र के समान प्रतीत होती थी, मलिन (अथवा काली) होने पर भी उनके यश को और अधिक उज्ज्वल कर दिया ।

टिप्पणी—अलीक—अलीकम् ललाट-प्रदेश, 'अलीकमप्रिये भालेऽवितथे' इति कोशः ।

18. The collection of (the columns of) smoke of this man's (lit. 'whose') sacrifices, which was dark, and came to assume the appearance of curly locks of hair on the foreheads of (young ladies in the shape of the various) Quarters or Directions, and which looked like the (dark) leaves of Tamal or betel-tree, worn (as an ornament) on the ears of the 'bride in the form of the three Vedas', made his own glory brighter (than before).

सरस्वतीपाणिसरोजसम्पुट-
प्रमृष्टहोमश्रमसीकराम्भसः ।
यशोंऽशुशुक्लीकृतसप्तविष्टपा-
त्ततः सुतो बाण इति व्यजायत ।।१६।।

सरस्वतीपाणिसरोजसम्पुटप्रमृष्टहोमश्रमसीकराम्भसः । सरस्वत्याः पाणी सरोजे इव तयोः सम्पुटं तेन प्रमृष्टानि होमश्रमस्य सीकराम्भांसि यस्य तस्मात् । वाग्देवी-करकमल-युग्म-प्रोञ्छित-होम-कर्म- परिश्रमजन्यविन्दुभूतजलस्य । यशोंशु-शुक्लीकृत-सप्त-विष्टपात् । यशसः अंशुभिः शुक्लीकृतानि सप्त विष्टपानि येन तस्मात् । कीर्ति-दीधिति शुभ्रित सप्त जगतः । 'विष्टपं भुवनं जगत्' इत्यमरः । एतद्विशेषणेन चित्रभानोर्यशसः सप्तलोकी व्याप्तिर्ज्ञायते । अशुक्लानि शुक्लानि सम्पाद्यन्ते तानि कृतानि इति शुक्लीकृतानि । अभूत-तद्भावे च्विः । ततः चित्रभानोः । बाणः इति बाणाभिधः । सुतः सूनुः । व्यजायत जातः उत्पन्नो वा ।।१६।।

१६--उन (चित्रभानु) से, जिनके हवन के परिश्रम से उत्पन्न पसीने की बूँदों को सरस्वती देवी अपने कर-कमलों के सम्पुट द्वारा पोंछ देती थीं तथा जिनकी कीर्ति-रश्मियों ने सप्त भुवनों को उज्ज्वल कर दिया था, वाण नामक पुत्र उत्पन्न हुए।

19. To him, the drops of whose perspiration, caused by fatigue in sacrifices, were wiped away by the cavity of the (folded) lotus-like hands of Saraswati, the goddess of learning, and who had brightened (lit. 'whitened') the seven regions or worlds, with the rays or splendour of his fame, there was born a son, known as Bana.

द्विजेन तेनाक्षतकण्ठकौण्ठ्यया
महामनोमोहमलीमसान्धया।
अलब्धवैदग्ध्यविलासमुग्धया
धिया निबद्धेयमतिद्वयी कथा ।।२०।।

तेन द्विजेन बाणनाम्ना विप्रेण। अक्षतकण्ठकौण्ठ्यया। कण्ठे कौण्ठ्यम् इति कण्ठकौण्ठ्यम्। अक्षतं कण्ठकौण्ठ्यं यस्यास्तया। अनष्ट-गल-कुण्ठतया। क्षणोतेः कर्मणि क्तः क्षतम्। न क्षतं तत् अक्षतम्। कुण्ठाया भावः कौण्ठ्यम् भावे ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्। अर्थात् कण्ठेऽपि अकुण्ठिता नासीत् तन्मतिः किं पुनः शास्त्रादिषु इति भावः। महामनोमोहमलीमसान्धया। महांश्चासौ मनोमोहस्तेन मलीमसा अन्धा च तया। उत्कट-मानस-विकाशाभाव-मलिनाज्ञानोपेतया। मोहनं मोहः। मुह्यतेर्भावे घञ्। वा मोहयति अज्ञानं जनयतीति सः। अन्तर्भावितण्यर्थात् पचाद्यच्। अथवा मनोमोहः ध्वान्तं तेनान्धयोपाहतग्रहणशक्तिकया चमत्कारोत्पादकार्थस्फूर्त्तिर-

हितया । अलब्धवैदग्ध्याविलासमुग्धया—अलब्धो यो वैदग्ध्यविलासः तेन मुग्धा तया । अप्राप्तयोग्यवर्णनकौशललीलाऽप्रगल्भया । विदग्ध—वि+दह्+क्तः । विपूर्वक दह् धातोः कौशलार्थकता । मुग्ध—मुह्+क्तः । धिया—बुद्धया । अतिद्वयी—द्वयीमतिक्रांता ताम्—एतत्पूर्वंबृहत्कथावासवदत्तारुपकथाद्वयोत्कृष्टतरा अथवा प्रतिभाभाववैगुण्यनिर्मितत्वेनाद्वितीया । इयम्—एषा कादम्बरी । कथा—गद्यविशेषः । निबद्धा—रचिता ॥२०॥

२०—जिसके कण्ठ तक की कुण्ठता (जड़ता) नष्ट न हो सकी थी, जो चित्त के महामोह रूपी अन्धकार से अन्धी थी तथा जो अभी विदग्धता की कला को न प्राप्त करने के कारण मूढ़-सी थी, उसी बुद्धि के द्वारा इस ब्राह्मण (बाण) ने इस अद्वितीय कथा (कादम्बरी) की रचना की ।

टिप्पणी—वदग्ध्यविलासः— वैदुष्यचातुर्यम्, विद्वत्ता, चातुर्य ।

20. By that Brahmana (*i. e.*, Bana) this unrivalled story, or story which is superior to the other two extant stories *viz.*, the Brihatkatha and Vasavadatta), was composed with (the help of) his intellect, the dullness or bluntness of the throat of which had not yet gone away or been removed, which was dark and blinded by great mental infatuation, and which was still simple or immature, since it had not acquired the grace of skill or refinement.

कथा-मुखम्

१—आसीदशेषनरपतिशिरःसमभ्यर्चितशासनः पाकशासन इवापरश्चतुरुदधिमालामेखलाया भुवो भर्ता, प्रतापानुरागावनतसमस्तसामन्तचक्रश्चक्रवर्तिलक्षणोपेतश्चक्रधर इव कर-

कमलोपलक्ष्यमाणशङ्खचक्रलाञ्छनो हर इव जितमन्मथो गुह इवाप्रतिहतशक्तिः कमलयोनिरिव विमानीकृतराजहंसमण्डलो जलधिरिव लक्ष्मीप्रसूतिर्गङ्गाप्रवाह इव भगीरथपथप्रवृत्तो रविरिव प्रतिदिवसोपजायमानोदयो मेरुरिव सकलभुवनोपजीव्यमानपादच्छायो दिग्गज इवानवरतप्रवृत्तदानार्द्रीकृतकरः कर्ता महाश्चर्याणामाहर्ता क्रतूनामादर्शः सर्वशास्त्राणामुत्पत्तिः कलानां कुलभवनं गुणानामागमः काव्यामृतरसानामुदयशैलो मित्रमण्डलस्योत्पातकेतुरहितजनस्य प्रवर्तयिता गोष्ठीबन्धानामाश्रयो रसिकानां प्रत्यादेशो धनुष्मतां धौरेयः साहसिकानामग्रणीर्विदग्धानां वैनतेय इव विनतानन्दजननो वैन्य इव चापकोटिसमुत्सारितसकलारातिकुलाचलो राजा शूद्रको नाम ।

१—आसीदिति क्रियायाः राजाशूद्रक इति वक्ष्यमाणेन कर्तृपदेन सम्बन्धः । अशेषनरपतिशिरसमभ्यर्चितशासनः सकलभूपतिमस्तकसम्मानगृहीतादेशः । अशेषैः नरपतिभिः शिरोभिः समभ्यर्चितं शासनं यस्य सः । अतएवापरः द्वितीयः पाकशासन इव इन्द्र इव, पाकं तन्नामानमसुरं शास्तीति सः । शास्+ल्युः कर्तरि । अर्थात् शूद्रकः इन्द्र इव तत्सम्पत्तिसम्पन्नो मन्तव्यः इत्युत्प्रेक्षालंकारः । 'भवेत्सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परेण यत्' इति तल्लक्षणात् । चतुरुदधिमालामेखलायाः वेदसागरपंक्तिकाञ्च्याः । चतुर्णामुदधीनां मालैव मेखला यस्याः तस्याः । उदकानि धीयतेऽस्मिन् स उदधिः । उदकपूर्वकधाधातोः अधिकरणेऽर्थे किः प्रत्ययः; उदकस्योदः संज्ञा-

यामिति उदकस्योदादेशः । भुव भूमेः भर्ता स्वामी । बिभर्त्तीति सः भर्त्ता—भृ+तृच् कर्त्तरि । प्रतापानुरागावनतसमस्तसामन्तचक्रः—तेजोवात्सल्यवशीकृतसकलाधिकृतनृपमण्डलः । प्रतापश्चानुरागश्च ताभ्यामवनतं समस्तं सामन्तानां चक्रं येन सः । अनु+रञ्ज्+घञ्-अनुरागः । अव+नम्+क्तः—अवनतः । चक्रवर्त्तिलक्षणोपेतः—सार्वभौमातिशयरक्तत्वादिचिह्नसहितः । चक्रवर्त्तिनः लक्षणानि तैरुपेतः सः । 'अतिरिक्तः करो यस्य ग्रथिताङ्गुलिको मृदुः । चापाङ्कुशाङ्कितः सोऽपि चक्रवर्त्ती भवेद् ध्रुवम्' इति सामुद्रिकशास्त्रे कथनात् । चक्रधर इव—विष्णुरिव । धरतीति धरः चक्रस्य धरः सः । पचाद्यच् । कर्मणः शेषत्वविवक्षायां षष्ठीति समासः । करकमलोपलक्ष्यमाण-शङ्खचक्र-लाञ्छनः । पाणिपद्म—दृश्यमान-शङ्खचक्र-सदृश-रेखादि-चिह्नः । विष्णुपक्षे शङ्खचक्रचिह्नः । करकमले उपलक्ष्यमाणं शङ्खचक्रसदृशलाञ्छनम् । पक्षे शङ्खचक्रे एव लाञ्छने यस्य सः । मध्यमपदलोपि तत्पुरुषः । उपलक्ष्यते यत्तदुपलक्ष्यमाणम्, कर्मणि शानच् । 'कलङ्काङ्कौ लाञ्छनं च चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्'—इत्यमरः । हर इव शिव इव । हरतीति हरः पचाद्यच् । जितमन्मथः निर्जितमदनः । जितो मन्मथो येन सः । 'मदनो मन्मथो मारः'—इत्यमरः । उभयपक्षेऽप्येवम् । गुह इव सेनानीरिव । 'सेनानीरग्निभूर्गुहः'—इत्यमरः । अप्रतिहतशक्तिः अकुण्ठितसामर्थ्यः । पक्षे अकुण्ठितास्त्रविषेशः । अप्रतिहता शक्तिर्यस्य सः । कमलयोनिरिव ब्रह्मेव । कमलं योनिर्यस्य सः । विमानीकृतराजहंसमडण्लः—अपमानितश्रेष्ठनृपवृन्दः । पक्षे देवयानी-कृत-मराल-निवहः । 'देवयानं विमानोऽस्त्री' इत्यमरः । 'राजहंसास्तु ते चञ्चु-

चरणैरतिलोहितै' रित्यमरः । विमानीकृतं राजहंसमण्डलं येन सः । विगतो मानो यस्य तद्विमानम्, अविमानं विमानं सम्पद्यते तथा कृतम् इति तत् । अभूत तद्भावे च्विः । अस्य च्वौ—इतीकारः । हंसानां राजानः इति राजहंसाः । 'राजदन्तादिषु परम्'—इति राज-शब्दस्य परनिपातः । जलधिरिव समुद्र इव । जलानि धीयन्ते यस्मिन्सः । लक्ष्मीप्रसूतिः कमलाप्रभवः । पक्षे शोभाप्रभवः । 'लक्ष्मीश्छाया च शोभाया'मिति हैमः । लक्ष्म्याः प्रसूतिः सः । गङ्गा-प्रवाह इव सुरनदीनिर्झर इव । 'प्रवाहो निर्झरो झरः'—इत्यमरः । गङ्गायाः प्रवाहः सः । भगीरथपथप्रवृत्तः । भगीरथनृप-मार्ग-लग्नः । भगीरथस्य पन्थाः तस्मिन् प्रवृत्तः । 'ऋक्पूरब्धूः पथा-मानक्षे'—इति पथः समासान्तोऽप्रत्ययः । पक्षे भगीरथनिर्दिष्ट-नृपनयलग्नः । रविरिव सूर्य इव । प्रतिदिवसोपजायमानोदयः । प्रतिदिनोद्भूयमानोऽभ्युदयः । पक्षे अनुदिनं जन्याविर्भावः । प्रति-दिवसमुपजायमान उदयो यस्य सः । दिवसं दिवसं प्रतीति प्रतिदिव-सम् । वीप्सार्थेऽव्ययीभावः । मेरुरिव सुमेरुरिव । 'मेरुः सुमेरुर्हे-माद्रिरि'त्यमरः । सकलोपजीव्यमानपादच्छायः । समग्रलोकसेव-नीयचरणकान्तिः । पक्षे निखिलदेवलोकसमाराध्य-प्रत्यन्त-पर्वता-नातपः । सकलैरुपजीव्यमाना पादच्छाया यस्य सः । 'पादाः प्रत्यन्त-पर्वता' इत्यमरः । 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः'—इत्यमरः । दिग्गज इव दिशानाग इव । अनवरतप्रवृत्तदानार्द्रीकृत-करः । अनारत-कृत-वितरणवारिस्विन्न-हस्तः । पक्षे निरन्तर-च्यवमान-गजमद-क्लिन्न—शुण्डदण्डः । अनवरतं प्रवृत्तं यद्दानं तद्वारिणा आर्द्रीकृतः करो यस्य सः । 'मदो दानं प्रवृत्तिश्चे'त्यमरः ।

महाश्चर्याणां कर्त्ता । अद्भुतसंग्रामादीनां सम्पादिता । महान्ति आश्चर्याणि तेषाम् । ऋतूनाम् आहर्त्ता । यागानां निष्पादकः । सर्वशास्त्राणाम् आदर्शः । निखिलागमानां मुकुरः । अर्थात् तेषां प्रतिबिम्बनात् । आसमन्ताद् दृश्यते मुखमस्मिन् सः आदर्शः । कलानाम् उत्पत्तिः चतुःषष्टिकलानाम् प्रभवः । गुणानाम् शौर्यादीनाम् । कुलभवनं प्रसूतिः । कुलस्य भवनम् तत् । काव्यामृतरसानाम् कविकर्मपीयूषास्वादनहर्षाणाम् । आगमः उत्पत्तिः । काव्यस्य येऽमृतसदृशास्तेषाम् । आगमनम् आगमः । 'ग्रहवृहृनिश्चिगमश्चे'ति भावेऽप् । मित्रमण्डलस्य सुहृद्वृन्दस्य । पक्षे सूर्यबिम्बस्य । मित्राणां मण्डलं तस्य, पक्षे मित्रस्य मण्डलं तस्य । उदयशैलः उन्नतिस्थानम्, पक्षे उदयपर्वतः उदयस्य शैलः सः । अहितजनस्य रिपुलोकस्य । अहितश्चासौ जनस्तस्य । उत्पातकेतुः धूमध्वजः । उत्पातस्य केतुः सः । गोष्ठीबन्धानाम् मधुरकथानाम् । बन्धनं बन्धः भावे घञ् । वा बध्यतेऽसौ इति बन्धः—'अकर्त्तरि च कारके'—इति कर्म्मणि घञ् । गोष्ठ्या बन्धास्तेषाम् । प्रवर्त्तयिता निष्पादकः । रसिकानाम् रसवेत्तृणाम् । रसोऽस्त्येषां ते रसिकाः । रसादिभ्यश्चेति ठन् । आश्रयः आधारः । धनुष्मताम् धनुर्धारिणाम् । धनुरस्ति येषां ते धनुष्मन्तस्तेषाम् । प्रत्यादेशः निवारकः, भावे घञ् । 'प्रत्यादेशो निराकृति':—इत्यनेकार्थकोशः । निखिलधनुर्धरधुरीणः । साहसिकानां सत्त्ववताम् । सहसा प्रवर्त्तते इति साहसिकः । 'ओजः सहोऽम्भसा वर्तते' इति ठक् । धौरेयः—धुरिभवः धौरेयः । धुरो यड्ढकौ इति ढक् । विदग्धानाम् कुशलानाम् । अग्रणीः पुरःसरः । अग्रे नयनीति सः ।

क्विप् । 'अग्रग्रामाभ्यां नयतेर्णो वाच्यः'—इति नस्य णः । वैनतेय इव गरुड इव । विनताया अपत्यमित्यर्थे । 'स्त्रीभ्यो ढक्'—इति ढक् । विनतानन्दजननः नम्रप्रमोदकर्त्ता । पक्षे गरुड-मातृ-प्रमोदकः । विनतानामानन्दस्य जननः सः । अन्यत्र विनतायाः आनन्दजननः जनेर्नन्द्यादित्वाल्ल्युः । वैन्य इव वेनपुत्रः पृथुरिव । वेनस्य गोत्रापत्यं वैन्यः । गर्गादित्वाद् यञ् । चापकोटिसमुत्सारितारातिकुलाचलः । धनुरग्रभागनिवारितरिपुकुलपर्वतः । पक्षेऽप्येवम् । चापकोटिना समुत्सारिता अरातय एव कुलाचला येन सः । चलतीति चलः पचाद्यच् । न चलः अचलः । अर्थात् 'पर्वताकीर्णां भूमिं दृष्ट्वा पृथुना धनुष्कोट्या पर्वतान्समीकृत्य धरा समीकृते'ति पौराणिकी गाथा । शूद्रको नामा राजा । आसीत् । 'महेन्द्रो मलयः सत्यशक्तिमानृक्षपर्वतः । विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः' ।।

१—शूद्रक नाम का एक राजा था । समस्त नृपति-गण आदरपूर्वक सिर झुका कर उसकी राजाज्ञा स्वीकार करते थे । (इस प्रकार वस्तुतः) वह द्वितीय देवराज इन्द्र के समान था । वह चारों समुद्रों की माला-रूप मेखला से घिरी हुई पृथ्वी का स्वामी अर्थात् पालनकर्त्ता था । समस्त सामन्त-मण्डल उसके पराक्रम में अनुरक्त होने के कारण उसके वश में हो गये थे । वह चक्रवर्ती सम्राट् के समस्त लक्षणों से युक्त था । चक्र धारण करने वाले भगवान् विष्णु के समान उसका कर-कमल भी शङ्ख और चक्र के चिह्नों से युक्त दिखाई देता था । शंकर के समान उसने कामदेव को जीत लिया था और कार्त्तिकेय के समान उसकी शक्ति अकुण्ठित थी । (यह राजा ब्रह्मा के समान था क्योंकि) ब्रह्मा ने राजहंसों को अपना विमान बनाया था और इसने राजहंसों (श्रेष्ठ राजाओं के मण्डल) को 'विमान' (हराकर-मान रहित) बना दिया था । जिस प्रकार समुद्र, देवी लक्ष्मी का उत्पत्ति-स्थान है उसी

प्रकार यह राजा भी लक्ष्मी (सम्पत्तियों) का उद्भव स्थान था। जिस प्रकार गङ्गा जी भगीरथ के रथचक्र के द्वारा बनाये हुए पथ से प्रवाहित हुई थीं, उसी प्रकार यह राजा भी भगीरथ के द्वारा निर्दिष्ट धर्म-मार्ग का अनुयायी था। प्रतिदिन उदय होने वाले सूर्य के समान उसका भी प्रतिदिन अभ्युदय होता था। जिस प्रकार समस्त देव-लोक सुमेरु पर्वत के पाद (तलहटी) की छाया का (धूप से बचने के लिए) आश्रय लेते थे, उसी प्रकार समस्त संसार (राजा शूद्रक) के पाद (चरणों) की छाया का सेवन करता था। जिस प्रकार दिग्गज की कर (सूंड़) अनवरत बहने वाले मदजल से आर्द्र रहती है, उसी प्रकार उसका कर (हाथ) भी सदैव दिये जाने वाले दान के (संकल्पार्थ) लिये हुए जल से गीला रहता था। वह अत्यन्त आश्चर्य-चकित कर देने वाले कार्यों को तथा यज्ञों को किया करता था। वह समस्त शास्त्रों का दर्पण-(सा) था (अर्थात् उसने समस्त शास्त्रों का अध्ययन किया था और उनका ज्ञान उसके जीवन में इस प्रकार प्रतिबिम्बित होता था जैसे कि दर्पण में आकृति)। वह कलाओं का उत्पत्ति-स्थान, (गाम्भीर्यादि) गुणों का कुल पराम्परागत घर तथा अमृत तुल्य काव्य-रसों का उद्भव-स्थान था। मित्र-मंडल (सूर्य-मंडल) उदयाचल से उदय होता है; वह अपनी मित्र-मण्डली के अभ्यदय का कारण था। वह शत्रुओं के लिए अनिष्टकारी धूमकेतु (पुच्छल तारा), (साहित्यिक) गोष्ठियों की स्थापना करने वाला, रसिकों का आश्रय-स्थान था। उसने समस्त धनुर्धारियों को नीचा दिखा दिया था। वह साहसी लोगों में मुख्य, और विद्वान् एवं चतुर मनुष्यों का अग्रणी था। जिस प्रकार वैनतेय (गरुड़) अपनी माता विनता को आनन्द देने वाला था उसी प्रकार वह विनत (विनम्र, वश में रहने वाले) लोगों के मन को आनन्द देने वाला था। जिस प्रकार वेन के पुत्र राजा पृथु ने अपने धनुष की कोटि से शत्रु के समान समस्त पर्वतों को उखाड़ डाला था, उसी प्रकार उसने कोटि (करोड़ों) धनुर्धारी (सैनिकों) के द्वारा पर्वत के समान सुदृढ़ समस्त शत्रुओं को उखाड़ डाला था।

टिप्पणी—पुराणों के अनुसार यह कहा जाता है कि पहले समस्त भूमण्डल पर पर्वत ही पर्वत पाये जाते थे। राजा पृथु ने पृथ्वी को खेती योग्य बनाने के लिए पर्वतों का उच्छेदन कर दिया।

शब्दार्थ—१ पाकशासनः—इन्द्र; गुहः—कार्त्तिकेय; कमलयोनिः—ब्रह्मा; विमानीकृत—(१) विमान (वाहन) बनाया। (२) मान (अहंकार-रहित कर दिया। उपजीव्यमानः—सेवनीय; मित्र—(१) सूर्य। (२) सुहृद्; धौरेयः—धुरन्धर, मुख्य; वैनतेयः—गरुड़।

1.—There was a King named Sudraka, whose mandate or sovereign rule was honoured (by bowing to it) with their heads by all kings; who was, as it were, a second Indra [or, who, having had his mandate etc., honoured (by bowing to it) with their heads by all kings, was, as it were, a second Indra]; who was the lord or supporter of the earth, bounded (girdled) by a circular row of four oceans; before whom the whole group (lit 'circle') of neighbouring princes bowed by reason of his greatness and their love for him (or, on account of their love or admiration for his great valour); who, being endowed with the marks of a universal monarch, was like the wielder of the discus (*i. e.*, Vishnu), as it were; who was characterised by the marks of a conch and a discus visible on his lotus-like hands (*i. e.*, the palms of whose lotus-like hands bore the marks of a conch and a discus on them); who, like Shiva, had subdued cupid, the god of love (*i. e.*, who kept his passion of love well under restraint); who, like Guha or Kartikeya (the son of Shiva, who wields on unfailing weapon), had his prowess unresisted or unimpeded; who, like Brahma, the lotus-born, who has had a circle of swans, made as his conveyance, had subdued the pride (lit. 'had it slighted')

of a group (lit. 'circle') of most powerful or noble kings; who was like the ocean, which is the birth-place of Lakshmi, the goddess of wealth, the source of all wealth and prosperity, as it were; who, like the current of the Ganges, which ran on the track shown by Bhagiratha, strenuously followed the path (of greatness, piety and stubbornness) set down by him; who, like the sun, ever taking its rise day by day, had his prosperity continually increasing every day; who, like the mountain Meru, having the shade of its foot (that is, its support) being resorted to by all the world-regions, had the shade or protection of his feet depended upon by the whole world; who, like an 'elephant of (one of) the (various) quarters', having his trunk made wet with the continuously flowing ichor, had his hand rendered wet with (water usually employed in making) gifts, that were constantly flowing from him; who was a worker of great wonders or highly mervellous feats; who was a performer of sacrifices; who was, (as it were), a mirror of all the Shashtras (*i. e.*, he had thoroughly mastered the religious lore which became reflected in his life as in a mirror); who was the birth-place, as it were, of all arts (*i. e.*, he greatly encouraged them); who was the ancient home, as it were, of all merits or virtues; who was the source of the (various) joyful delights, arising out of all nectar-like poetry or piece of literay composition (*i. e*, he was a great patron of learning and literature); who was, as it were, the Udayachal or the 'rising mountain' which produces great joy and delight, in relation to the entire circle of his friends (*i. e.*, ever gave them delight); who was an ominous comet, as it were, to his enemies; who was a starter or institutor, as it were, of all

literary meetings or associations; who was the supporter of, or a place of shelter to, those who are endowed with (various literary) tastes ; who was an obscurer of, or threw into the shade all archers ; who was foremost or most important among the adventurers or men of daring; who was the leader of the learned ; who, like Vainteya or Garuda, the son of Vinata causing delight to her (*i. e.*, Vinata, his mother), was the producer or source of great delight to those who were humble ; and who, like Vainya or king Prathu, the son of Vena, having completely cast away the enemy- like mountains (which covered the earth, and made it yield no crops at the time) with the end of his bow, had extirpated all his great or formidable mountain-like enemies, with the end of his bow.

२—नाम्नैव यो निर्भिन्नारातिहृदयो विरचितनारसिंहरूपाडम्बरमेकविक्रमाक्रान्तसकलभुवनतलो विक्रमत्रयायासितं च जहासेव वासुदेवम् । अतिचिरकाललग्नमतिक्रान्तकुनृपतिसहस्रसंपर्ककलङ्कमिव क्षालयन्ती यस्य विमले कृपाणधाराजले चिरमुवास राजलक्ष्मीः । यश्च मनसि धर्मेण कोपे यमेन प्रसादे धनदेन प्रतापे वह्निना भुजे भुवा दृशि श्रिया वाचि सरस्वत्या मुखे शशिना बले मरुता प्रज्ञायां सुरगुरुणा रूपे मनसिजेन तेजसि सवित्रा च वसता सर्वदेवमयस्य प्रकटितविश्वरूपाकृतेरनुकरोति भगवतो नारायणस्य । यस्य च मदकलकरिकुम्भपीठपाटनमाचरतो लग्नस्थूलमुक्ताफलेन दृढमुष्टिनिपीडनान्निष्ठ्यूतधाराजलबिन्दुदन्तुरेणेव कृपाणे-

नाकृष्यमाणा सुभटोरःकपाटविघटितकवचसहस्रान्धकार-मध्यवर्तिनी करिकरटगलितमदजलासारदुर्दिनास्वभि-सारिकेव समरनिशासु समीपमसकृदाजगाम राजलक्ष्मीः ।

२—यः शूद्रकः । नाम्नैव नामश्रवणेनैव । निर्भिन्नारातिहृदयः विदीर्णरिपुवक्षाः । निर्भिन्नानि अरातीनां हृदयानि येन सः । एक-विक्रमाक्रान्तसकलभुवनतलः । अद्वितीय-पराक्रमायत्तीकृत-चतुर्दश-लोकः । एकविक्रमेणाक्रान्तं सकलानां भुवनानां तलं येन सः । अक्रामीत्याक्रान्तम् । क्रमेः कर्मणि क्तः । विरचित-नरसिंह-रूपाडम्बरम् । कृत-नरहरि-स्वरूप-बृहद्-व्यापारम् । विर-चितः नरसिंहरूप आडम्बरो येन तम् । विक्रमत्रयायासित-भुवनत्रयम् । पाद-विन्यास-त्रितय-व्याप्त-त्रिभुवनम् । विक्र-मत्रयेणायासितं भुवनत्रयं येन तम् । वासुदेवम् विष्णुम् । वसुदेव-स्यापत्यं तम् । ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्चेत्यण् । हसति स्म इव जहास इव । अर्थात् शूद्रकेण तु नामश्रावणेनैव बहूनां वैरिणां मनो विदारितम् । हरिणा तु नृसिंहीयं महारूपं धृत्वा हिरण्यकशिपो-रेकस्यैव रिपोर्वक्षो भिन्नम् इति च । केवलपराक्रमेणैव नृपेण तु सकलाश्चतुर्दशाऽपि लोका आक्रान्ताः, हरिणा तु विक्रमत्रयेणाऽपि लोकत्रितयमेवाक्रान्तमिति हास्ये कारणम् । अतिचिरकाललग्नम् बहुव्यतीतसमयजातम् । अतिचिरकालेन लग्नः तम् । लगेर्धातोः कर्त्तरि क्तः । अतिक्रान्तकुनृपतिसहस्रम् । व्यतीतानेककुत्सितनृप-सम्बन्धजन्यपापम् । अतिक्रान्ता ये कुनृपतयस्तेषां सहस्रेण यः सम्पर्कस्तेन जातो यः कलङ्कस्तम् । क्षालयन्ती निवारयन्तीव । राजलक्ष्मीः नृपश्रीः । यस्य शूद्रकस्य कृपाणधाराजले खड्ग-तीक्ष्ण-

भाग-वारिणि । कृपाणस्य धारैव जलं तस्मिन् । चिरम् बहु-कालम् उवास वसतिस्म । यथा जनः स्वदेहलग्नं कर्दमं वारिणा दूरीकरोति तथा राजश्रीः शूद्रकासिधारा जलेन निवारयतीति भावः ।। किञ्च यश्च शूद्रकः । मनसि मानसे । वसता तिष्ठता । धर्मेण पुण्येन । कोपे क्रोधे । वसता । यमेन कृतान्तेन । प्रसादे अनुग्रहे । वसता । धनदेन कुबेरेण । सवित्रेतिपदपर्य्यन्तसर्वे-सप्तम्यन्तेषु वसतेति पदमन्वेति क्रियाकारकभावेन । प्रतापे प्रभावे । बह्निना अग्निना । भुजे बाहौ भुवा भूम्या (भुजे राज्य-भारसत्त्वात्) दृशि चक्षुषि श्रिया लक्ष्म्या (सानुरागदर्शनं यत्र तत्रैव लक्ष्मीस्थितिः) वाचि वाक्ये सरस्वत्या भारत्या (निरन्तरगद्यपद्यादिविविधप्रबन्ध-रचनात्) । मुखे आनने । 'आननं लपनं मुखम्——इत्यमरः' शशिना चन्द्रेण (सर्वजनाह्लादजननात्) । बले शक्तौ मरुता वायुना (प्रौढबलशालित्वात्) प्रज्ञायां मतौ सुरगुरुणा बृहस्पतिना (अप्रति-मप्रतिभा युक्तत्वात्) रूपे सौन्दर्ये मनसिजेन कामेन (मानिनीमा-ननिवारणात्) तेजसि प्रतापातपे सवित्रा सूर्येण (रिपुभिर्दुर्निरीक्ष्य-माणत्वात्) । सर्वदेवमयस्य निखिलदेवस्वरूपस्य । सर्वे देवाः प्राचुर्येण यस्मिन् तस्य । तत्प्रकृतवचने मयडिति मयट् प्राचुर्येऽर्थे भवति । 'सर्वदेवमयो हरिः' 'पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वान्' इत्यादि वचनात् । प्रकटितविश्वरूपाकृतेः प्रकाशित-भुवन-रूपाकारस्य । प्रकटिता विश्वरूपा आकृतिर्येन तस्य । भगवतः परमेश्वरस्य नारा-यणस्य हरेः । नारा अयनं यस्य सः । 'आपो नारा इति प्रोक्ता' इति कोशः । सागरशायिन इति भावः । अनुकरोति हरिसादृश्यं भजति नृपस्यापि देवमयत्वात् 'नराणां च नराधिपः' इति वचनाच्च । मदकल-करिकुम्भपीठ-पाटनम् दानवारि-मनोहर-गजमस्तक-पिण्डफल-

कविदारणम् । मदेन कलं यत् करिकुम्भपीठं तस्य पाटनं तत् । रिपु-मत्तगजशिरो विदारणमिति भावः । विदधतः कुर्वतः । यस्य शूद्रकस्य समीपम् अन्तिके सन्निधिं वा । समरनिशासु संग्रामरात्रिषु । समरस्य निशास्तासु । राजलक्ष्मीः रिपुनृपश्रीः । राज्ञो लक्ष्मीः सा । अभिसारिकेव दत्तसंकेता नायिकेव । स्वयमभिसरति व्यभिचरितुं साऽभिसारिका । अभिसरतेः कर्त्तरि ण्वुल् । 'कान्तार्थिनी तु सङ्केतं याति या साऽभिसारिका'—इति दर्पणे । यथा अभिसारिका निशासु उपनायकं स्वयमभ्युपैति तथा संग्रामनिशासु लक्ष्मीस्तद्रिपुनृपान् विहाय शूद्रकमुपागतवतीति भावः । सकृत एकवारम् । एकस्य सकृच्चेति निपातनादेकशब्दस्य सकृदादेशः । आगात् आजगाम । न पुनर्वैरि-नृपसन्निधौ गता । अनेन अस्य महावीरता व्यज्यते । लग्नस्थूलमुक्ताफलेन सम्बद्धबृहन्मौक्तिकेन । लग्नानि स्थूलानि मुक्ताफलानि यस्मिस्तेन । कृपाणेन मत्तगजशिरो विदारणात् । तत्रात्य मुक्तानां खड्गेन सम्बन्धात् इति भावः । दृढमुष्टिनिपी-डनात् सबलकरताडनात् । दृढं मुष्टचा यन्निपीडनं तस्मात् । निष्ठचूत-धारा-जलबिन्दु-दन्तुरेणेव निर्गत-खड्ग-तीक्ष्ण-भाग-वारिपृषतोन्नत-दशनेनेव । 'उदग्रदशनोदन्तुरः'—इति कोशान्तरम् । निष्ठचूतं यद् धारा एव जलं तस्य ये बिन्दवस्तैर्दन्तुरस्तेन । उन्नताः दन्ता सन्ति यस्य तेनेति दन्तुरेण । दन्त उन्नत उरच् इति मत्वर्थीय उरच् । कृपाणेन खड्गेन । आकृष्यमाणा आकृष्टा । सुभटारेः कपाट-विघटित-कवचसहस्रान्धकार-मध्यवर्तिनी योद्धृवक्षःकपाटविभिन्न-तनुत्रसमूह-ध्वान्तान्तर्गता । सुभटानामुरांसि एव कपाटानि तेभ्यो विघटितानि यानि कवचानि तेषां सहस्रमेव अन्धकारस्तस्य मध्य-वर्तिनी सा । करिकरटगलित-मदजलासार-दुर्दिनासु [illegible]च्युत-

दानवारि-वेगवद्वृष्टिमेघजन्यतिमिरवतीषु । करीणां करटानि तेभ्यो गलितं यन्मदजलं तस्य आसारस्तेन दुर्दिनं यासु तासु । 'मेघच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम्'—'धारासम्पात आसारः'—इत्युभयत्राप्यमरः ।

२—इस (शाब्दिक अर्थ–'जिस' है) राजा शूद्रक के नाम मात्र से शत्रुओं का हृदय विदीर्ण हो जाता था। उसने अपने अद्वितीय पराक्रम (एक-विक्रम) के द्वारा समस्त भूमण्डल को आक्रांत कर डाला था अतएव वह वसुदेव-पुत्र (भगवान्) कृष्ण की हँसी उड़ाता था, क्योंकि उनको (अपने शत्रु हिरण्यकशिपु) का हृदय विदीर्ण करने के लिए नृसिंह का रूप धारण करके बड़ा (आडम्बर) प्रयास करना पड़ा था और तीनों लोकों को आक्रान्त (अर्थात् व्याप्त अथवा नापने) करने के लिए तीन कदम (त्रिविक्रम) उठाने पड़े थे। उसकी खड्गधारा के जल में राजलक्ष्मी ने चिरकाल तक निवास किया था, (इससे ऐसा प्रतीत होता था) मानो वह बहुत समय तक नीच नृपतियों के संसर्ग में रहने के कारण लगे हुए अपने कलंक को इस पुण्यशील राजा की खड्गधारा में धो रही हो। उसके मन में धर्म, कोप में यम, अनुग्रह में कुबेर, प्रताप में अग्निदेव, भुजा में पृथ्वी (अर्थात् उसके प्रताप के ही कारण पृथ्वी स्थित थी), नेत्रों में लक्ष्मी, वाणी में सरस्वती, मुख में चन्द्रमा (अर्थात् मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर था), बल में वायु, बुद्धि में बृहस्पति, रूप में कामदेव तथा तेज में सूर्य निवास करते थे। इस कारण ऐसा प्रतीत होता था मानो वह सर्वदेवमय उन भगवान् विष्णु के समान हो, जिन्होंने (एक बार अर्जुन का मोह दूर करने के लिए) विश्वरूप (विराट्-रूप) धारण किया था। वह (संग्राम में) मदमत्त हाथियों के गण्डस्थल को विदीर्ण किया करता था, इस कारण उसकी तलवार म गजमुक्ता के बड़े-बड़े दाने लग जाया करते थे, इससे ऐसा प्रतीत होता था मानो उसने अपनी दृढ़ मुष्टि से तलवार को दबाया हो और इस कारण तलवार की धारा से जलविन्दु निकल आये हों। इस कारण उसकी तलवार दन्तुर (बहुत दाँतों वाली) मालूम होने लगती थी।

योद्धाओं के वक्षस्थल रूपी कपाट से छिन्न होकर गिरे हुए सहस्रों (काले) कवचों के (द्वारा उत्पन्न) अन्धकार में (छिप कर), हाथियों के गण्ड-स्थल से बहते हुए मदजल की घोर वर्षा के कारण अँधेरी समर-निशाओं में राज-लक्ष्मी अभिसारिका (नायिका) के समान, उसकी (उपयुक्त गुणवाली) तलवार से आकृष्ट होकर उसके पास स्वयं बराबर जाया करती थी।

२. शब्दार्थ—आडम्बरम्—वृहद् व्यापारम्; विक्रम—(१) पराक्रम (२) पादविन्यास; सुरगुरु—वृहस्पति; करिकुम्भ—हाथी का गण्डस्थल; पाटनम्—विदारणम्; दन्तुरः—दाँतेदार; कटम्—गण्डस्थल; आसारः—वर्षा की झड़ी; दुर्दिनम्—मेघजनित तम; असकृत्—अनेक बार।

2—Who laughed, as it were, at Krishna, the son of Vasudeva, in so far as he broke the hearts of his enemies by means of (the terrible mention or utterance of) his name alone, whereas Krishna had to undergo the trouble of preparation in assuming the form of Nrisimha (lit. 'man-lion'); and in so far as he subdued the whole world (lit. 'the surface of the entire earth') by his unrivalled valour (or by his valour or 'single step' alone), whereas Vishnu (in the incarnation of Vamana) was put to the trouble of taking three steps (for the purpose of securing the same). In the pure or clear water (*i. e.*, the brightness or sharpness) of the edge of whose dagger or sword, royal fortune dwelt for long, as if washing away the stain, caused by the contact of thousands of bad kings of past ages, and adhering to her for a very long time. And who imitated (or resembled) the Venerable Narayana, who is identified as consisting of all the gods, and who (as such, once) displayed his universal form, inasmuch as there dwelt Dharma (the god of piety and righteousness) in his mind (*i. e.*, he was constantly thinking of righteousness

and pious deeds); Yama (the god of death and restraint) in his anger (*i. e.*, his anger was destructive like the god of death); Kuber (the god of wealth) in his pleasure or satisfaction (*i. e.*, when pleased, he freely bestowed wealth on others); Fire (the presiding deity of fire) in his greatness or valour (*i. e.* his valour, like fire, reduced his enemies to ashes); the Earth in his arm (*i.* e., the earth was supported by the might of his arm alone); Shri (the goddess of good luck or glory) in his eye (*i. e*, on whomsoever he cast his eye, became prosperous and glorious); Saraswati (the goddess of learning) in his speech (*i. e.*, he spoke wise words and eloquently); the Moon in his face (*i. e.*, his face was delightful like the moon); Marut (the god of wind) in his strength (*i. e.*, he possessed mighty strength like that of the wind); Brihaspati, the preceptor of the gods, in his intellect (*i. e.*, his intellect was extremely sharp); Cupid (the god of love) in his beauty (*i. e.*, he possessed great and incomparable personal charms); and the Sun in his splendour (*i. e.*, his splendour was brilliant like that of the Sun). To whom, engaged in (lit. 'doing or performing') the breaking of the broad temples of the (enemies), elephants, looking beautiful on account of the (overflowing) ichor (or trumpeting on account of intoxication), royal fortune (in the shape of victory or glory), like a loving lady, going out to meet her lover (out of intense love, and at an appointed time in the night), as it were, who was deeply involved in the midst (lit. 'being or living in the middle') of darkness, brought about by the thousands of (dark iron) armours, torn away from the broad (lit. 'door-like') chests of (his adversaries)

warriors, came over and over again (or more often than once), on nights of battle, rendered unpleasant like a rainy or cloudy day, as it were, with the showers of ichor flowing from the sides of the temples of elephants, being attracted by his dagger or sword, which had large pearls set to it (or sticking to its blade in the process of splitting up of the temples of elephants), and which was toothed or made uneven, as it were, by the drops of water flowing out from its blade, on account of the same being pressed by his firm grip.

३—यस्य च हृदयस्थितानपि पतीन्दिधक्षुरिव प्रतापानलो वियोगिनीनामपि रिपुसुन्दरीणामन्तर्जनितदाहो दिवानिशं जज्वाल । यस्मिंश्च राजनि जितजगति परिपालयति महीं चित्रकर्मसु वर्णसंकराः, रतेषु केशग्रहाः, काव्येषु दृढबन्धाः, शास्त्रेषु चिन्ता, स्वप्नेषु विप्रलम्भाश्छत्रेषु कनकदण्डाः, ध्वजेषु प्रकम्पाः, गीतेषु रागविलसितानि, करिषु मदविकाराश्चापेषु गुणच्छेदाः, गवाक्षेषु जालमार्गाः, शशिकृपाणकवचेषु कलङ्काः, रतिकलहेषु दूतसंप्रेषणानि, सार्यक्षेषु शून्यगृहाः प्रजानामासन् । यस्य च परलोकाद्भयमन्तःपुरिकालकेषु भङ्गो नूपुरेषु मुखरता, विवाहेषु करग्रहणमनवरतमखाग्निधूमेनाश्रुपातस्तुरङ्गेषु कशाभिघातो मकरध्वजे चापध्वनिरभूत् ।

३—वियोगिनीनामपि मृतभर्तृकाणामपि (शूद्रकेण तद्भर्तृवधात्) रिपुसुन्दरीणाम् वैरिवनितानाम् । रिपूणां सुन्दर्यस्तासाम् ।

हृदिस्थितानपि हृदयगतानपि । भर्तॄन् पतीन् । दिधक्षुः दग्धुमिच्छुः इव । दहतेः सन्नन्तादुः प्रत्ययः । अन्तर्जनितदाहः मनोऽन्तर्गतकृतदहनः । यस्य शूद्रकस्य । प्रतापानलः तेजो वह्निः । प्रतापोऽनल इव । दिवानिशम् नक्तन्दिवम् । जज्वाल दीप्यते स्म । हृदयमध्यवर्तिनोऽपि शत्रुगुणस्य सन्तापजननात्प्रतापस्य प्रौढत्ववर्णनेन राज्ञो महत्त्वं सूचितम् । दिवा च निशा च तयोः समाहारो दिवानिशम् । जितजगति निर्जितलोके । जितं जगद्येन तस्मिन् । यस्मिन् शूद्रके । राजनि नृपे । महीम् मेदिनीम् । पालयति शासति सति । चित्रकर्मसु आलेख्यकर्मसु । चित्रस्य कर्माणि तेषु । वर्णसङ्कराः रक्तपीतादिपरस्परसम्बन्धाः (न तु प्रजासु अन्यजातेरन्यजात्युत्पत्तिरूपा वर्णसङ्कराः) वर्णानां सङ्करास्ते । रतेषु रमणेषु । केशग्रहाः केशाकर्षणानि (सुविधामुत्पादयितुम् नतु प्रजाकलहेषु तद्राज्ये कलहाभावात्) । केशानां ग्रहास्ते । ग्रहेर्ग्रह् वृह—इति भावेऽप् । काव्येषु कविकर्मसु । दृढबन्धाः गाढरचनाः (नतु कारागारादिषु अपराधाभावात्) । दृढाश्च ते बन्धा इति दृढबन्धाः । शास्त्रेषु ऋषिशासनग्रन्थेषु । चिन्ता ध्यानम् (नतु अन्नादिषु लोकस्य सस्यादिसम्पन्नत्वात् । महासमृद्धिशालिता विविधविद्यावैदग्ध्यं च ध्वन्यते) । स्वप्नेषु शयनदशासु । विप्रलम्भा, वियोगः अथवा प्रतारणः (नतु लोके स्वप्नस्य क्षणिकत्वेनावास्तविकत्वात्) । स्वपो नन् इति स्वपेर्नन् स्वप्नः । लभेर्घञ् विप्रलम्भः । छत्रेषु आतपत्रेषु । कनकदण्डाः सुवर्णयष्टयः (नतु प्रजासु सुवर्णस्य दण्डदानम् स्वधर्मानुसारेण प्रजानां व्यवहारात् कस्यचिदपि दण्डयत्वाभावात्) । कनकस्य दण्डाः इति ते । ध्वजेषु पताकासु । प्रकम्पाः प्रकर्षेण

कम्पनानि । कम्पतेर्घञ् (नतु प्रजासु भीतिजनिताः प्रकम्पाः भयाभावात्) । 'ध्वजश्चिह्ने पताकायाम्'—इति विश्वः । गीतेषु गानेषु । रागविलसितानि वसन्तादिगेयचेष्टितानि (नतु क्रोधादिव्यापाराः वा वेश्यादिगमनव्यापाराः क्रोधरागद्वेषाभावात्) । करिषु गजेषु । मदविकाराः दानवारिविकृतयः (नतु अहङ्कारविचेष्टितानि) । मदस्य विकारास्ते । 'मदो दर्पेन दानयोः'—इत्यमरः । शान्तिप्रधानाः सर्वाः प्रजा आसन् । चापेषु धनुष्षु । गुणच्छेदाः मौर्वीकर्त्तनानि । (नतु शौर्यादिगुणविच्छेदाः सर्वेषां सदाचारित्वात्) । गुणानां छेदा इति ते । गवाक्षेषु वातायनेषु । गवामक्षीवेतिगवाक्षस्तद्बहुवचने । अक्ष्णो दर्शनात्—इत्यच् । जालमार्गाः वायुप्रवेश-क्षुद्रपथाः (नतु कपटव्यापाराः) । शशिकृपाणकवचेषु चन्द्रखड्गवर्म्मसु । कलङ्काः चिह्नानि (नतु प्रजासु कुलमालिन्यादिहेतुकव्यभिचारादिदोषाः) । शशी च कृपाणश्च कवचं चेति तेषु । रतिकलहेषु रमणविवादेषु । रतौ कलहास्तेषु । दूतप्रेषणानि सञ्चारकगमनानि । (नतु युद्धेषु तद्राज्ये युद्धाभावात् शूद्रकस्य महाबलशालित्वात्) । सार्यक्षेषु गुटिकाक्षेत्रेषु । शून्यगृहाः गुटिकाशून्यस्थानानि । नतु ग्रामनगरेषु निर्जनानि गृहाणि । प्रजानाम् लोकानाम् । आसन् अभवन् । राजदेयद्रव्यजन्यपीडाभावात् । यस्य शूद्रकस्य । परलोकात् जन्मान्तरात् न तु रिपुवर्गात् । भयम् भीतिः । अभूत् अभवत् । अन्तःपुरिकाकुन्तलेषु अन्तर्गृहनिवासिन्यलकेषु । भङ्गः वक्रता नान्यत्र । नूपुरेषु मञ्जीरेषु । मुखरता शब्दायमानता । मुखमस्यास्तीति मुखरः । मुखशब्दात् 'रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानमिति' रप्रत्ययः । मुखरस्य भावो

मुखरता । नतु प्रजासु वाचालता । विवाहेषु परिणयेषु । करग्रहणम् पाणिग्रहणम् । नतु राजदेयद्रव्यग्रहः । 'वलिहस्तांशवः कराः'—इत्यमरः । करस्य ग्रहणन्तत् । अनवरतमखाग्निधूमेन निरन्तरयागवह्निधूम्रेण । अश्रुपातः नयननीरनिपातः । नतु शोकाग्निना अकालमृत्योरभावात् । तुरङ्गेषु तुरगेषु । कशाभिघातः चर्मदण्डप्रहारः । कशानामभिघातः सः । नतु चौरादिषु राज्ये चौर्यादेरभावात् । मकरध्वजे कामे । चापध्वनिः धनुष्टङ्कारः । नतु लोके भयादेरभावात् । आसीत् अभूत् ।।

३—उसकी (शब्दतः जिसकी) प्रतापाग्नि विरहिणी शत्रु-सुन्दरियों के हृदय में संताप उत्पन्न करके रात-दिन जला करती थी, अतएव ऐसा प्रतीत होता था मानो वह (प्रतापाग्नि) उनके हृदय में स्थित उनके पतियों को जलाना चाहती हो। (उस) जिस विश्वजित् राजा के पृथ्वी का पालन करने पर प्रजावर्ग में वर्ण-संकर (रंगों का संमिश्रण) चित्र बनाने के कर्म में ही पाया जाता था (समाज में वर्णसंकर मनुष्य नहीं पाये जाते थे); केशग्रह रतिक्रिया के अवसर पर ही होता था (न कि पारस्परिक विद्वेष के कारण, क्योंकि उसका सर्वथा अभाव था); दृढ़-बन्धन (सामासिकपदों से युक्त विलष्ट रचना) काव्यरचना में ही पाया जाता था (दण्ड-व्यवस्था में दृढ़-बन्धन — कठोरबन्धन— का कोई उल्लेख ही नहीं था क्योंकि अपराधों के अभाव में उसकी आवश्यकता ही नहीं होती थी); शास्त्रों की ही चिन्ता (चिन्तन, मनन) की जाती थी (उदरपोषणादि की चिन्ता थी ही नहीं); विप्रलम्भ (वियोग अथवा वञ्चना) केवल स्वप्न-दशा में ही होता था, वास्तविक जीवन में नहीं; स्वर्ण-दण्ड (सोने का दण्ड) केवल छत्रों में ही होता था; किसी को स्वर्ण-दण्ड (अर्थ-दण्ड) नहीं दिया जाता था; पताकाओं में ही कम्पन होता था (मनुष्यों के हृदयों में नहीं); गीतों में ही वसन्तादि रागों का व्यवहार होता था (मनुष्यों में परस्पर एक दूसरे के प्रति राग-द्वेष की

भावनाएँ नहीं थीं); हाथियों में ही मदविकार पाया जाता था [किसी के हृदय में मद (अहंकार) आदि दोष नहीं थे]; धनुषों में ही रज्जु (डोर) का छेद (कटना) पाया जाता (किसी के हृदय से दया-दाक्षिण्यादि गुणों का लोप नहीं होता था); वातायनों में ही जालमार्ग (वायु-प्रवेश के लिए छोटे-छोटे छेद) होते थे (पारस्परिक व्यवहार में वञ्चकता का व्यवहार नहीं पाया जाता था); चन्द्रमा, कृपाण और कवच केवल इनमें ही कलंक पाया जाता था (मनुष्यों का चरित्र निष्कलंक रहता था); केवल प्रणय-कलह हो जाने पर ही दूत भेजे जाते थे (क्योंकि युद्ध होते ही नहीं थे, अतः युद्ध-काल में दूत-प्रेषण का प्रश्न ही नहीं उठता था) और शतरंज के खेल में ही (गोटों के न होने पर) गोटों के घर शून्य रहते थे (संकट-हीन जीवन होने के कारण मनुष्यों के घर शून्य नहीं रहते थे); –जिस राजा के राज्य में भय केवल परलोक से ही था, कुटिलता केवल अन्तःपुर में रहने वाली स्त्रियों के केशों में थी, (व्यक्तियों के व्यवहार में नहीं); मुखरता (बजने की ध्वनि, वाचालता) नूपुरों में ही थी (प्रजावर्ग में नहीं); कर-ग्रहण (पाणिग्रहण) विवाह-काल में होता था (प्रजा से किसी प्रकार का कर टैक्स नहीं लिया जाता था); अश्रुपात निरन्तर होने वाले यज्ञों की अग्नि के धूम के ही कारण होता था (किसी दुःख के कारण नहीं); कशा (चाबुक, कोड़ा) का आघात घोड़ों के लिए ही किया जाता था (क्योंकि कोई अपराधी होता ही नहीं था); धनुष्टंकार केवल कामदेव (के धनुष) में ही होती थी (युद्ध होते ही नहीं थे, अतएव अन्यत्र धनुष्टंकार भी नहीं होती थी ।

२. शब्दार्थ :—दिधक्षु—जलाने की इच्छा वाला; दृढबन्धाः—वह रचना जिसमें समासादि का प्रगाढ सन्निवेश हो; विप्रलम्भः—वियोग, वञ्चना; गवाक्ष—झरोखा; सार्यक्षेषु—शतरंज आदि के खेल में; भङ्गः—वक्रता; कशा—चाबुक ।

3. And the fire of whose greatness or valorous spirit, which caused (an ever fresh) burning (sensation) within

the hearts of the beautiful wives of his enemies, even though they were (long) separated from their husbands, burnt day and night, as if wishing to reduce completely to ashes, their husbands, who lived but in their hearts alone (*i. e.*, with a view to remove from their minds, even a mental picture of their husbands, as it were). And during the rule of which king (*i. e.*, while that king was ruling), who had conquered the (whole) world, and was governing the (whole) earth, there were, among the subjects, 'mixtures or combinations of colours' (only) in paintings and not elsewhere in the shape of the 'mixed-caste people,' brought into existence by the inter-mixing of the various castes); 'the draggings by the hair' (occurred only) in amorous sexual sports (and not in strifes or quarrels); the ' firm-bindings,' *i. e.*, the closely interwoven and well arranged literary compositions, (were to be found) in poetical works (alone), (and not anywhere in the shape of 'tightsecuring' or 'severe punishment'; (*i. e.*, people committed no offences, and so there was no occasion to punish them); (there was) 'anxiety' (only) in (regard to the study of) the Shastras or the sacred religious books, (and not as regards any other matter (*i. e.*, people were free from the ordinary 'worries of life'); (there were) 'separations' (which had their being) in dreams alone,—*i. e.*, there were no actual heartrending separations or sad bereavements of any kind); (there were) 'golden rods or handles' attached to umbrellas (alone,—and not elsewhere in the shape of 'fines paid in gold' as punishment; *i. e.*, there being no breach of law any-where, no punishment in the shape of 'fine in gold' was necessary); (there were) 'tremblings', (*i. e.*, 'flutterings in the wind') in banners (alone,—and not anywhere else among

the people ('through any sort of fear'); the 'undulatory motions of the various tones of melody' (existed only) in songs, (and not elsewhere in the from of improper 'manifestations of love'); the 'effects of mad intoxication' (were noticeable) in elephants (alone,—and nowhere else in the shape of 'pride or arrogance'; *i. e.*, the people were polite, gentle and well behaved, and not puffed up with any rude arrogance); the 'breakings of the strings' (took place) in bows (alone,—and did not appear in the shape of any 'shortcomings in merits' or 'loss of virtues' anywhere else); (there were) 'latticed openings' in windows (alone,—and no 'methods of fraud or deceit' were practised anywhere); (there were) 'stains' (of rust) or 'dark spots' (visible) in the moon and on the swords and armours (alone,—and not anywhere else in the shape of any 'disgraceful conduct' on the part of any member); the 'despatches of messengers or embassies' (in the forms of 'go-betweens'), (took place only) in (connection with) love disputes, (and not in the shape of 'ambassadors' in the course of warfare between different nations) and (lastly, there were) 'empty spaces or squares'(lit. 'houses') on the dice or chess board (alone, and not in the shape of actually 'vacant houses'; *i. e.*, there was no sort of oppression or any other cause, which might make the people migrate and desert their houses). And (during) whose (rule, people entertained) fear as regards (lit. 'from') the other world (alone, or, who himself was afraid of the other world alone, and not as regards any of the enemies); (when) there was 'crookedness' (only) in the curly locks of hair of the ladies of the inner apartment or harem, (and not anywhere else, in the shape of 'discomfiture' or 'defeat' of anyone);

'loquaciousness or the 'resounding of sounds' in the anklets (alone, and not anywhere else among the people) ; the 'holding or grasping of the hand' (only) in marriages, (and not anywhere else in the shape of any 'levying of taxes') ; the 'falling or shedding of tears' (was caused, only) by the smoke, issuing from the fire of the constantly performed sacrifices (and not by any separation or bereavement) ; the 'striking with the lash' (took place only) in (the case of) horses, (and nowhere in that of the people) ; and (lastly) the 'twanging sound of the bow' was confined to Cupid, the god of love (lit. 'one having the sign of fish on his banner') alone, and did not exist anywhere else among any actually fighting warriors —(*i. e.*, there was complete peace established everywhere).

४—तस्य च राज्ञः कलिकालभयपुञ्जीभूतकृतयुगानुकारिणी त्रिभुवनप्रसवभूमिरिव विस्तीर्णा मज्जन्मालवविलासिनीकुचतटास्फालनजर्जरितोर्मिमालया जलावगाहनायातजयकुञ्जरकुम्भसिन्दूरसंध्यायमानसलिलयोन्मदकलहंसकुलकोलाहलमुखरितकूलया वेत्रवत्या सरिता परिगता विदिशाभिधाना नगरी राजधान्यासीत् ।

४—तस्य शूद्रकस्य । राज्ञो नरेशस्य । विदिशाभिधाना—विदिशानाम्नी । विदिशेत्यभिधानं यस्याः सा । नगरी पुरी । राजधानी नृपनिवासपुरी । आसीत् अभूत् । कलिकालभयपुञ्जीभूतकृतयुगानुकारिणी, कलियुगभीत्येकत्रितसत्ययुगानुसारिणी । कलिकालात् भयं तेन पुञ्जीभूतं यत् कृतयुगं तदनुकर्त्तुं शीलमस्याः सा । अपुञ्जः पुञ्जः सम्पद्यते तथाभूतः इति पुञ्जीभूतः । अभूततद्भावे च्विः ।

त्रिभुवनप्रसवभूमिरिव जगत्त्रयोत्पत्तिस्थानमिव । त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनं तस्य प्रसवभूमिः सा । 'पाचाद्यन्तस्य न' इति निषेधात् त्रिभुवनशब्दस्य स्त्रीत्वाभावात् 'द्विगो'रिति न ङीप् । विस्तीर्णा विस्तृता । मज्जन्मालवविलासिनीकुचतटास्फालनजर्जरितोर्मिमालया गाहमानमालवदेशवनितापयोधरस्थलाघातजीर्णवीचिपङ्क्त्या, मज्जन्तीनां मालवविलासिनीनां कुचतटानामास्फालनेन जर्जरिता ऊर्मीणां माला यस्यास्तया । जलावगाहनागातजयकुञ्जरकुम्भसिन्दूरसन्ध्यायमानसलिलया नीरावलोडनसमुपेतविजयगजशिरःपिण्डनागजारक्तजलया । जलावगाहनागता ये जयकुञ्जरास्तेषां कुम्भेषु यत् सिन्दूरं तेन सन्ध्यायमानं सलिलं यस्यास्तया । सन्ध्येवाचरतीति सन्ध्यायते । कर्तुः क्यङ सलोपश्चेत्याचारेऽर्थे कर्त्तरि क्यङ । ततः कर्तरि शानच् । उन्मदकलहंसकुलकोलाहलमुखरीकृतकूलया प्रमत्तकादम्बकदम्बकुलकलाकुलीकृततीरया । उन्मदं यत् कलहंसकुलं तस्य कोलाहलेन मुखरीकृतं कूलं यस्यास्तया । वेत्रवत्या तदाख्यसरिता । वेत्राणि सन्त्यस्यामिति तया । परिगता परिवृता । राजधानी ।।

४—उस (शूद्रक नामक) राजा की राजधानी विदिशा नामक नगरी थी। (इस नगरी के निवासी इतने धर्मपरायण थे कि ऐसा प्रतीत होता था मानो) कलियुग के भय से सत्युग ही (उस नगरी में) पुञ्जीभूत हो गया हो; विस्तीर्ण वह इतनी थी कि जैसे तीनों भुवन उसी से उत्पन्न हुए हों। वह नगरी चारों ओर वेत्रवती (बेतवा) नामक नदी से घिरी हुई थी। इस नदी में स्नान करने वाली मालव प्रदेश की सुन्दरियों के (कठोर) स्तनों पर टकराने के कारण उसकी तरंगमालाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती थीं; जल में स्नान करने के लिए आये हुए जयकुंजरों (विपक्षियों

को पराजित करने में समर्थ हाथियों) के कुम्भस्थल (मस्तक) में लगे हुए सिन्दूर के कारण उसका जल सन्ध्याकाल के समान (रक्तवर्ण) प्रतीत होने लगता था। उसका तट प्रमत्त हंसों के समूह के कोलाहल से प्रतिध्वनित रहता था।

४. शब्दार्थ :—स्फालनम्—आघात, ऊर्मिमाला—लहरें, कुंजर-हाथी; सन्ध्यायमानम्—सन्ध्या के समान लाल होना।

4. And the capital of that King was a city bearing the name of *Vidisha*, which seemed as though it imitated (in the unstinted practice of all religious virtues) the *Krita-yuga* or the Golden Age of virtue (the first of the four main divisions of time of the Aryans, when the observance of all religious and other virtues is at its highest, the other three divisions being respectively *Treta*, *Dvapara* and *Kali-yuga* when that practice is proportionately decreased), being contracted or collected together with fear, as it were, of *Kali-kala* or the Iron Age (*i. e.*, that city was so much devoted to the practice of all religious and other virtues, that it seemed as though the *Golden Age* had, out of fear of the prevailing *Iron Age*, as it were, concentrated itself upon it to the fullest extent); which was wide in extent as though it were the source or birth-place of the three worlds; and which was surrounded on all sides by the river *Vetra-vati* (the modern Betwa) the numerous (lit. the 'rows' or 'wreath-like') waves of which were shattered as it were, by the breasts of the sportive or beautiful ladies of Malwa bathing therein, dashing or striking against them (*i. e.*, the waves dashed against them—the breasts—as though they were the rocky shores thereof); the waters of which were made scarlet or tinged red with the vermilion on the foreheads of 'victory-elephants'

i. e., those elephants, who were so excellent in all respects that they were considered sure to bring about victory in battle to their master), come to bathe in its waters; and the banks of which were made to resound with the bustling noise or sounds proceeding from the flocks of ducks or geese which were maddened (with sportive joy).

५—स तस्यामवजिताशेषभुवनमण्डलतया विगतराज्यचिन्ताभारनिर्वृतो द्वीपान्तरागतानेकभूमिपालमौलिमालालालितचरणयुगलो वलयमिव लीलया भुजेन भुवनभारमुद्वहन्नमरगुरुमपि प्रज्ञयोपहसद्भिरनेककुलक्रमागतैरसकृदालोचितनीतिशास्त्रनिर्मलमनोभिरलुब्धैः स्निग्धैः प्रबुद्धैश्चामात्यैः परिवृतः, समानवयोविद्यालंकारैरनेकमूर्धाभिषिक्तपार्थिवकुलोद्गतैरखिलकलाकलापालोचनकठोरमतिभिरतिप्रगल्भैः कालविद्भिः प्रभावानुरक्तहृदयैरग्राम्यपरिहासकुशलैरिङ्गिताकारवेदिभिः काव्यनाटकाख्यानकाख्यायिकालेख्यव्याख्यानादिक्रियानिपुणैरतिकठिनपीवरस्कन्धोरुबाहुभिरसकृदवदलितसमदरिपुगजघटापीठबन्धैः केसरिकिशोरकैरिव, विक्रमैकरसैरपि विनयव्यवहारिभिरात्मनः प्रतिबिम्बैरिव राजपुत्रैः सह रममाणः प्रथमे वयसि सुखमतिचिरमुवास । तस्य चातिविजिगीषुतया महासत्त्वतया च तृणमिव लघुवृत्ति स्त्रैणमाकलयतः प्रथमे वयसि वर्तमानस्यापि रूपवतोऽपि सन्तानार्थिभिरमात्यैरपेक्षितस्यापि सुरतसुखस्योपरि द्वेष इवासीत् । सत्यपि रूपविलासोपहसितरतिविभ्रमे लावण्यवति विनयवत्यन्वयवति हृदय-

हारिणि चावरोधजने, स कदाचिदनवरतदोलायमानरत्नवलयो घर्घरिकास्फालनप्रकम्पमानझणझणायमानमणिकर्णपूरः स्वयमारब्धमृदङ्गवाद्यः संगीतकप्रसङ्गेन कदाचिदविरलविमुक्तशरासारशून्यीकृतकाननो मृगयाव्यापारेण, कदाचिदाबद्धविदग्धमण्डलः काव्यप्रबन्धरचनेन, कदाचिच्छास्त्रालापेन कदाचिदाख्यानकाख्यायिकेतिहासपुराणाकर्णनेन, कदाचिदालेख्यविनोदेन, कदाचिद्वीणया, कदाचिद्दर्शनागतमुनिजनचरणशुश्रूषया कदाचिदक्षरच्युतकमात्राच्युतकबिन्दुमतीगूढचतुर्थपादप्रहेलिकाप्रदानादिभिर्वनितासंभोगसुखपराङ्मुखः सुहृत्परिवृतो दिवसमनयत् । यथैव च दिवसमेवमारब्धविविधक्रीडापरिहासचतुरैः सुहृद्भिरुपेतो निशामनैषीत् ।

५—सः शूद्रकः । तस्यां विदिशायाम् । प्रथमे वयसि शैशवे । अतिचिरम् बहुकालम् । सुखम् सुखेन । 'शर्मशातसुखानि च'त्यमरः । उवास वसतिस्मेत्युत्तरेण सम्बन्धः । अवजिताशेषभुवनमण्डलतया निर्जितनिखिललोकसमूहतया । अवजितमशेषाणां भुवनानां मण्डलं येन सः तस्य भावस्तत्ता तया । विगतराज्यचिन्ताभारनिर्वृत्तः दूरीभूतराजकर्म्मश्रमातिशयसुखोपेतः । विगतो यो राज्य-चिन्ता-भारस्तेन निर्वृतः सः । द्वीपान्तरागतानेक-भूमिपाल-मौलि-माला-लालित-चरण-युगलः विविधदेशविशेषायातबहुमहीपतिशिरःश्रेणिसेवितपदयुगः । अन्ये द्वीपा द्वीपान्तराणि तेभ्य आगता ये अनेके भूमिपालास्तेषां मौलयस्तेषां मालयाभिलालितं चरणयुगलं यस्य सः ।]
वलयमिव कङ्कणमिव । लीलया क्रीडया । भुजेन बाहुना । भुवन

भारम् लोकधुरम् । उद्वहन् धारयन् । अमरगुरुमपि बृहस्पतिमपि प्रज्ञया मत्या । उपहसद्भिः तिरस्कुर्वद्भिः । अनेककुलक्रमागतैः वंशपरम्परायातैः । नत्वाधुनिकैः । असकृदालोचित-नीति-शास्त्र-निर्मल-मनोभिः निरन्तरध्यात-नयागम-विमल-मानसैः । असकृदालोचितानि यानि नीतिशास्त्राणि तैर्निर्मलानि मनांसि येषान्तैः । अलुब्धैः अलोलुपैः । स्निग्धैः वात्सल्य-युक्तैः । 'स्निग्धैस्तु वत्सलः' —इति त्रिकाण्डशेषः । प्रबुद्धैः विद्वद्भिः । प्रकृष्टं बुद्धं ज्ञानं येषां तैः । अलुब्धैः अलोलुपैः । बुधेर्भावे क्तः । अमात्यैः सचिवैः । 'अमात्यः सचिवो मन्त्री' इत्यमरः । अमा सह वर्तन्ते इत्यमात्याः 'अव्ययात्त्यप्' —इति सूत्रात्, अमेह क्वतसित्रेभ्यः—इति पविगणनात् त्यप् । परिवृतः परिवेष्टितः । समानवयोभिः तुल्यायुष्कैः । समानं वयो येषां तैः । अनेकमूर्द्धाभिषिक्तपार्थिवकुलोद्गतैः बहुकृताभिषेकनृपवंश-प्रभवैः । अनेके ये मूर्धाभिषिक्ताः पार्थिवास्तेषां कुलेभ्य उद्गतास्तैः । अखिलकलाकलापालोचनकठोरमतिभिः अविकलविज्ञानवृन्दविमर्श-दृढबुद्धिभिः । मन्त्रदार्ढ्यमस्तीति भावः । अखिलानां कलानां कलापस्यालोचनेन कठोरा मतयो येषान्तैः । अतिप्रगल्भैः अतिशय-प्रतिभायुतैः । अतिशयाः प्रगल्भास्तैः; 'प्रगल्भः प्रतिभान्विते' इति कोशः । कालविद्भिः अवसरज्ञातृभिः । कालं विदन्तीति तैः । प्रभावानुरक्तहृदयैः माहात्म्यासक्तमानसैः । प्रभावेणानुरक्तानि हृदयानि येषां तैः । अग्राम्योपहासकुशलैः नागरिकनर्मवचोविलास-चतुरैः । अग्राम्यो य उपहासस्तत्र कुशलास्तैः । 'कुशलश्चतुरोऽभिज्ञ' इत्यमरः । इङ्गिताकारवेदिभिः चेष्टाकृतिज्ञातृभिः । काव्यनाटकाख्यानाख्यायिकालेख्यव्याख्यानादिक्रियानिपुणैः कविता-

प्रेक्षणक-चूर्णक-गद्यकाव्य-विशेष-चित्र-कर्म-विवृति-प्रभृति-कृतिदक्षैः । काव्यं च नाटकं चाख्यानं चाख्यायिका चालेख्यं च व्याख्यानं च एतान्यादीनि यासां ताः क्रियास्तासु निपुणास्तैः । 'निष्णातो निपुणो दक्षः'—इत्यमरः । अतिकठिनपीवरस्कन्धोरुबाहुभिः महादृढ-पुष्ट-बाहुमूल-जानु-प्रान्तभुजैः । अतिकठिनाः पीवराश्च स्कन्धोरुबाहवो येषान्तैः । असकृदवदलितसमदगजघटापीठबन्धैः निरन्तर-मर्दित-मत्त-विपक्ष-हस्ति-समूह-पृष्ठस्थितासनैः, असकृदवदलिताः समदानां रिपुगजघटानां पीठबन्धा यैस्तैः । केसरिकिशोरकैः सिंह-शिशुभिरिव । केसरिणां किशोरकास्तैः । विक्रमैकरसैरपि पराक्रम-मुख्यासक्तिभिरपि । विक्रम एव एको रसो येषान्तैः । विनय-व्यवहारिभिः प्रश्रयव्यवहरणैः । विनयेन व्यवहर्तुं शीलं येषान्तैः । सामर्थ्ये सत्यपि विनयप्राचुर्यमिति भावः । आत्मनः स्वस्य । प्रतिबिम्बैः मूर्त्तिभिरिव । राजपुत्रैः नृपसूनुभिः । राज्ञां पुत्रास्तैः । सह सार्धम् । रममाणः विहरन् । शूद्रक नृप इति । अतिविजिगीषु-तया नितान्तविजयैषितया । अतिशयेन विजिगीषुस्तस्य भावस्तत्ता तया । महासत्त्वतया परमबलशालितया । महत्सत्त्वं यस्य तस्य भावस्तत्ता तया । लघुवृत्ति तुच्छवर्तनम् । लघ्वी वृत्तिर्यस्य तत् । स्त्रैणम् स्त्रीणां समूहः । 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्'—इति नञ् । तृणमिव यवसमिव । आकलयतः सम्भावयतः । प्रथमे वयसि शैशवे । वर्तमानस्यापि स्थितस्यापि । रूपवतोऽपि सुन्दर-स्यापि । तस्य शूद्रकस्य । सन्तानार्थिभिः नृपसन्ततिसमीहकैः । सन्तानमर्थो येषां तैः । अमात्यैः सचिवैः । अपेक्षितस्यापि वाञ्छित-स्यापि । सुरतसुखस्य इति महोत्सवस्य । उपरि उपरिष्टात् ।

द्वेषो मत्सर इव । आसीत् अभूत् । रूपविलासोपहसितरतिविभ्रमे सौन्दर्य-विभ्रम-न्यक्कृत-मदन-वधूविलासे । रूपं च विलासश्चेति ताभ्यामुपहसिता रते विभ्रमा येन तस्मिन् । लावण्यवति सौन्दर्यवति । 'मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा, प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्य-मिहोच्यते' । विनयवति नम्रतोपेते । अन्वयवति कुलीने । हृदय-हारिणि मनोहरे । हृदयं हर्तुं शीलं यस्येति तस्मिन् । सर्वहृदय-स्पृहणीये इति भावः । अवरोधजने अन्तःपुरजने । सत्यपि भवत्यपि । रतौ अनपेक्षा प्रभूताऽऽसीत्—इत्यर्थः । स वक्ष्यमाणविशेषण-विशिष्टः । दिवसमनैषीत् इत्यन्वयः । कदाचित् जातु । अनवरत-दोलायमानरत्नवलयः निरन्तर-कम्पमान-मणिमय-कटकः । अनवरतं दोलायमानं रत्नवलयं यस्य सः । घर्घरिकास्फालनझणझणायमान-मणिकर्णपूरः । वाद्यविशेषवादनचलनझणझणेति शब्दायमानरत्न-रचितकर्णभूषणः । घर्घरिकाया आस्फलनेन यः वप्रकम्पस्तेन झण-झणायमानो मणिकर्णपूरो यस्य सः । सङ्गीतकप्रसङ्गेन गीतनृत्य-वाद्यत्रयसम्बन्धेन । गीतनृत्यवाद्यमयं सङ्गीतकमुच्यते । सङ्गीतकस्य प्रसङ्गस्तेन । स्वयमारब्धमृदङ्गवाद्यः । स्वयमारब्धमृदङ्गवाद्यं येन सः । आत्मविहितमुरजवादनः । कदाचित् जातु । मृगयाव्यापारेण आखेटव्यवहारेण । मृगयाया व्यापारस्तेन । अविरलविमुक्तशरा-सारशून्यीकृतकाननः । अविच्छिन्न-क्षिप्त-बाणवेग-वर्षरिक्ती-कृत-वनः । अविरलं विमुक्ता ये शरास्तेषामासारेण शून्यीकृतं काननं येन सः । कदाचित् कदाचन । काव्यप्रबन्ध-रचनेन कवि-कर्म्म-कथाग्रथनेन । आबद्धविदग्धमण्डलः रचितविद्वद्वलयः । आबद्धं विद-ग्धानां मण्डलं येन सः । कदाचित् । शास्त्रालापेन न्यायाद्या-

पृच्छनेन । शास्त्राणामालापस्तेन । 'आपृच्छालापसम्भाषः'— इति त्रिकाण्डशेषः । कदाचित् । आख्यानकाख्यायिकेतिहासपुराणाकर्णनेन । चूर्णक-कथापुरावृत्त-वंशकीर्तन-श्रवणेन । आख्यानकं चाख्यायिका चेतिहासश्च पुराणं च तेषामाकर्णनेन । कदाचित् । आलेख्य-विनोदेन चित्रकर्म्मक्रीडया । आलेख्येन विनोदस्तेन । कदाचित् । वीणया विपञ्च्या । कदाचित् । दर्शनागतमुनिजन-चरण-शुश्रूषया अवलोकनायातर्षिजन-पद-पूजया । दर्शनायागता ये मुनिजनास्तेषां चरणानां शुश्रूषा तया । कदाचित् । अक्षरच्युतकमात्राच्युतकबिन्दुमतीगूढचतुर्थपादप्रहेलिकाप्रदानादिभिः । कदापि । वर्णत्यागह्रस्वादिमात्रात्याग-बिन्दुमतीगुप्तान्तिम-चरण - शाब्द्यार्थी-प्रवल्हिकासमर्पण-प्रभृतिभिः । अक्षरच्युतकं च मात्रा-च्युतकं च बिन्दुमती च गूढचतुर्थपादं च प्रहेलिका च तासां प्रदानमादिः येषान्तैः । अक्षरस्य च्युतकं यत्र तत् मात्रायाः च्युतकं यत्र तत् । गूढश्चतुर्थः पादो यत्र तत् । अक्षरच्युतकं यथा—देवयौष्माकसेनायाः करेणुः प्रसरत्यसौ—इति ककारत्यागे रेण्वर्थं प्रतीतिः । मात्राच्युतकं यथा—विटः सेव्यः कुलीनस्य तिष्ठतः पथिकस्य सः —इति विटे इकारत्यागे वटार्थप्रतीतिः । बिन्दुमती यथा—ि ः॰॰॰ ॰ ॰ा॰॰ ः—इति संकेतेन त्रिनयनचूडारत्नमित्याद्यर्थप्रत्ययः बिन्द्वनुसारेण भवति । गूढचतुर्थपादः श्लोको यथा—न मज्जति क्वचिद्द्वेषे प्रीणाति जगतो मनः । य एकः स परं श्रीमांश्चिरं जयति सज्जनः—इति । प्रहेलिका यथा—पयस्विनीनां धेनूनां ब्राह्मणः प्राप्य विंशतिम् । अत्र धेन्वा ऊना ताम् इत्यर्थप्रत्ययः । व्यक्तीकृत्य कमप्यर्थं स्वरूपार्थस्य गोपनात् । यत्र बाह्यान्तरावर्थौ

कथ्येते सा प्रहेलिका । इति प्रहेलिकालक्षणम् । सा प्रहेलिका द्विधा शाब्दी आर्थी च । आद्योदाहरणमुक्तम् । अथवा—सदारिमध्याऽपि न वैरियुक्ता, नितान्तरक्ताऽप्यसितैव नित्यम् । यथोक्तवादिन्यपि नैव दूती का नाम कान्तेति निवेदयाशु । इति । अत्र सारिकेत्युत्तरम् । आर्थी उदाहरणम्—नरनारी समुत्पन्ना सा स्त्रीदेहविवर्जिता । अमुखी कुरुते शब्दं जातमात्रा विनश्यति । अत्र छोटिकेत्युत्तरम् । अर्थात् अङ्गुल्यङ्गुष्ठजनितः शब्दः—चुटकीति भाषायां प्रसिद्धः । वनितासम्भोगसुख पराङ्मुखः योषित्संयोगानन्दविमुखः । वनितानां सम्भोगेन जातं यत्सुखं तस्मात् पराङ्मुखः सः । सुहृत्परिवृतः सखिसमेतः । सुहृद्भिः परिवृत्तः सः । दिवसम् दिनम् । अनैषीत् नीतवान् । यथैव येन प्रकारेणैव । दिवसमहः । एवम् इत्थम् । आरब्धविविधक्रीडापरिहासचतुरैः विहितानेक-विहारोपहासदक्षैः । सुहृद्भिः मित्रैः । उपेतः परिवेष्टितः । निशाम् रात्रिम् । अनैषीत् । अतएव । सुरतसुखस्योपरि शूद्रकनृपस्य द्वेष इव बभूव समयाभावादन्यव्यापारैरिति भावः ।

५—समस्त भुवन-मण्डल जीत लेने के कारण उस पर राज्य-चिन्ता का भार नहीं रहा था और वह पूर्ण निश्चिन्त था । देश-देशान्तर से आये हुए अनेक राजाओं के मस्तकों की मालाओं (अथवा पंक्तियों) से उसके चरण-युगल की सादर पूजा होती थी । वह समस्त संसार का भार अपनी भुजाओं पर इस प्रकार लीला में ही धारण किये हुए था मानो कंकण धारण किये हुए हो । अपनी बुद्धि के कारण सुरगुरु (बृहस्पति) का भी उपहास करने वाले, वंश-परम्परा से अमात्य पद पर आरूढ़, लोभ से रहित तथा स्नेह से युक्त मन्त्रियों से वह परिवेष्टित रहता था । निरन्तर नीति-शास्त्र का अनुशीलन करने के कारण इन मन्त्रियों का हृदय निर्मल हो गया था । यह

राजा वय, विद्या, आभूषण (वैभव, अलंकरण सामग्री आदि) में समान, विधिपूर्वक अभिषिक्त राजकुलों में उत्पन्न, समस्त कलाओं के अभ्यास के कारण तीक्ष्ण बुद्धि वाले तथा अत्यन्त प्रतिभाशाली राजकुमारों के साथ क्रीड़ा तथा विहार करता हुआ अपने यौवनकाल (प्रथम वय) में बहुत समय तक अत्यन्त आनन्दपूर्वक रहा। ये राजकुमार अवसर के अनुसार उपयुक्त कार्य करना जानते थे। उनका हृदय उसके प्रताप के कारण उसमें अनुरक्त था; वे शिष्ट परिहास करने में कुशल थे; इशारों तथा मुख की मुद्रा से ही मन के भाव को जान लिया करते थे; काव्य, नाटक, छोटी-छोटी कहानियों, आख्यायिकाओं (विस्तृत कथाओं) आदि के लिखने की कला में तथा चित्रकर्म एवं व्याख्यानादि की कलाओं में अत्यन्त प्रवीण थे। उनके कन्धे, जंघाएँ तथा भुजाएँ अत्यन्त दृढ़ तथा पुष्ट थीं। उन्होंने अनेक वार सिंह-शावकों के समान, विपक्षियों के मदमत्त हाथियों के समूह के कुम्भस्थल विदीर्ण कर डाले थे, और यद्यपि ये लोग मुख्य रूप से एकमात्र वीररस की भावनाओं से ही ओत-प्रोत थे, तथापि व्यवहार में अत्यन्त नम्र थे। इस प्रकार ये राजपुत्र (राजा शूद्रक के लिए) उसके प्रतिबिम्ब के समान ही थे। यद्यपि उस समय वह (राजा शूद्रक) अपनी यौवनावस्था में था, रूपवान् था, उसके मन्त्री चाहते थे कि (राज्य के उत्तराधिकारी के रूप में) उसकी संतान उत्पन्न हो, तब भी विजय की उत्कट अभिलाषा और अत्यन्त शक्ति और धैर्य के कारण वह स्त्री-समाज को अत्यन्त तुच्छ वृत्ति वाला और (इस कारण) तृण के समान (निस्सार) समझता था; और सम्भोग-सुख के प्रति उसे कुछ द्वेष-सा था। अन्तःपुर में, सौन्दर्य और विलास में रति (काम-पत्नी) की विलास-चेष्टाओं का उपहास उड़ाने वाली, लावण्यमयी, विनयशील, कुलीन तथा हृदयहारिणी रमणियों के होने पर भी (स्त्री-सम्भोग से पराङ्मुख हो कर), वह कभी तो संगीत (गाने-बजाने) के प्रसंग में स्वयं ही मृदङ्ग बजाने लगता जिससे उसके रत्नजटित कंकण बार-बार ऊपर-नीचे हिलने लगते और कभी घर्घरिका (वाद्य-विशेष) को बजाने के

कारण उसका सिर झूमने लगता और उसके मणिजटित कर्ण-भूषण भी हिलने के कारण झनझनाने लगते । कभी वह शिकार में अविरल बाण-वर्षा करके वनों को (हिंस्र जन्तुओं से) रहित कर देता, तो कभी विद्वानों की सभा बुलाकर काव्य-ग्रन्थों की रचना में, कभी शास्त्रालाप में,--कभी छोटी-छोटी कहानियों, विस्तृत कथाओं तथा इतिहास और पुराणों के सुनने में,--कभी चित्रकला के आनन्द में, कभी वीणा सुनने में, कभी दर्शनार्थ आये हुए मुनियों की चरण-सेवा में,--कभी अक्षरच्युतक (वह छन्द जिसका एक अक्षर हटाने से अर्थ बदल जाय), मात्राच्युतक (वह छन्द जिसकी एक मात्रा हटा देने से अर्थ परिवर्तित हो जाय), बिन्दुमती (वह पद्य अथवा गद्य जिसमें अक्षरों के स्थान पर बिन्दु रखे गये हों और उनकी पूर्ति करनी हो), गूढ़ चतुर्थपाद (वह श्लोक जिसके चतुर्थ पाद के अक्षर प्रथम तीन पादों में छिपे हों) तथा (बूझने के लिए) पहेली आदि उपस्थित करने में लग जाता । इस प्रकार वह स्त्री-सम्भोग-सुख से पराङ्मुख होकर अपने मित्रों के मध्य में अपने दिन व्यतीत करता था;--और जिस प्रकार वह दिन व्यतीत करता था उसी प्रकार नाना प्रकार की क्रीड़ाओं और परिहास में चतुर मित्रों के साथ रात्रि भी व्यतीत करता था ।

शब्दार्थः—स्निग्धैः—वत्सलैः, प्रगल्भैः—प्रतिभान्वितैः । अग्राम्य—शिष्ट । इङ्गितम्--इशारा । पीवरैः--पुष्टैः । विजिगीषुता—विजय की इच्छा । महासत्त्वता—अत्यन्त धैर्य और शक्ति का होना । स्त्रैणम्—स्त्री-समाज को । अवरोधजने--अन्तःपुरजने । घर्घरिका—वाद्य-विशेष । आसारः--वर्षा, वर्षा की झड़ी ।

5. He,—who had attained the position of having completely conquered or brought under his subjugation the entire sphere of the world; who was happy or satisfied inasmuch as he had the burden of the cares of looking after the kingdom fully removed; who had the couple of his feet tenderly caressed or served by the rows of heads

of many kings come from the (various) other islands or countries ; who bore the burden of the earth (*i. e.*, protected it) on his arm sportively (*i. e.*, very lightly or with ease), as if it were (but) a bracelet ; who was surrounded (*i. e.*, attended) by ministers, who derided or ridiculed, as it were, even (Brihaspati) the preceptor of the gods, on account of their (superior) wisdom or intelligence (*i. e.*, who were intellectually so highly advanced that they easily threw into the shade even Brihaspati, (who, as the preceptor of the gods is traditionally known or reputed for his extraordinary and unsurpassable wisdom and intelligence), who came from many hereditary families (of ministers, and did not spring from or belong to any new or upstart family thereof), whose minds were purified or clarified by the frequent or constant (lit. 'more often than once') study of the political science, who were not greedy or avaricious, who were full of love or affection (towards their King), and who were (thoroughly) enlightened or mentally awakened ;—and who, while playing or amusing himself in the company of royal princes, who were of the same age, learning and decorations (as the young king himself), who had sprung from the various or numerous families of crowned kings (lit. those 'having had their heads sprinkled over' referring to the royal inauguration ceremony of kings, and indicating their due and full installation to regal state), who had their intellect or views well-developed or matured, on account of their having reviewed or looked well into the whole body of all the arts and sciences, who were extremely bold or ready-witted, who knew what was the proper time or opportune moment for doing a thing (*i. e.*, who understood well the proverb of 'catching time by the

forelock'), who had their hearts (well) attached (to the king) on account of (his majestic) valour or greatness, who were clever or well-up in jokes that were not low or vulgar (*i. e.*, they were so well-bred and clever, that they could easily indulge in jokes without transgressing any limits of civility or decency), who knew or understood (well) as to what was exactly indicated by gestures that were suggestive of internal feelings and outward or external appearances, who were well-versed (*i. e.*, thoroughly adept or proficient) in the arts of poetic composition or versification, of dramatic representation, of reciting or writing tales in an easy and charming style, and also of elaborate stories, divided up into various chapters or sections, and consisting mainly of prose, and endowed with a high sense of literary worth, of painting, and of lecturing or expounding etc., whose shoulders, thighs, and arms were quite plump or rounded, and were very strongly or firmly built (lit. were 'very hard or stout'), who were, as it were, like the young cubs or whelps of lions that had often or repeatedly (lit. 'more than once') shattered or torn to pieces the broad temples or foreheads of the herds or arrays of the enemies' elephants that were intoxicated or in rut, who, though possessed (or dominated by the sentiment) of valour as their sole passion, acted nevertheless, with humility or politeness and courtesy, and who (lastly) were like his own reflected selves, as it were,—lived happily in the prime of his life, in that (city) for a very long time. And it seemed as though he had an aversion or strong dislike, as it were, towards (all) sexual pleasures, although he was (at the time) in the prime of his youth (lit. 'in the first or early part of his age or life'), was possessed of (great) personal beauty,

and was expected(to indulge in youthful pleasures of life) by his ministers who desired him to have children or offspring (with a view to continue the line), because he considered or looked upon all women with their light or frivolous thoughts or ideas, (as being worthless) like straw as it were, on account of his excessive ambition or desire to become a great conqueror, and also the possession of great power or might. And although he had (at his sweet will and command) the ladies of his inner-apartments (*i. e.*, in spite of the fact that he had a harem, consisting of ladies of high birth or rank and exquisite beauty in every way) who, on account of their (superior) beauty and graceful dalliance, laughed as it were, at the amorous gestures of *Rati* (the wife of Cupid, the god of love, representing the highest type of feminine grace and beauty), who were possessed of (great) personal charms or loveliness, and of (highly becoming) modesty, who came or were descended from (lit. 'were possessed of') a noble or high family, and who were heart-captivating (*i. e.*, were so higly charming in their beauty that they allured or fascinated—lit. 'stoleaway'—the heart, as it were), yet he, being (entirely) averse to (lit. 'having his face turned away from') the sexual pleasures afforded by the company of (such sweet) ladies, passed the (whole) day in the company of (lit. 'being surrounded by') friends or companions, being sometimes engaged in (lit. 'by means of' in the case of all instrumentals throughout the sentence) musical concerts or entertainments consisting of the three-fold union or harmony of singing, dancing and instrumental music, having himself commenced playing upon the '*Mridang* (a kind of drum or tabour), and having (on that account) had his jewelled

bracelet constantly or incessantly moving about to and fro (*i. e.*, swinging backwards and forwards), and his jewelled ear-ornament (*i. e.*, an ornament worn on the ear and hanging from the lobes thereof, and being decked or studded with precious stones etc.) tinkling or making a jingling sound with the trembling produced by the beating or striking of the drum ('चर्चरिका' is a kind of musical instrument), sometimes in hunting expeditions or excursions (lit. 'the act or business of hunting'), having (*i. e.*, when he), by means of an incessant or continual shower of arrows having been discharged, emptied the forest (of all its wild beasts or animals), sometimes in the composition of poetical works, having (*i. e.*, after he had) called together a meeting or assembly of cultured or learned men, sometimes by (being engaged in) conversation or discussion about the *shastras* or the sacred religious works, sometimes (by being engaged) in listening to tales (recited or written in an easy and charming style), elaborate stories (which are divided up into various chapters or sections, and consisting mainly of prose, and endowed with a high sense of literary worth), *Itihasas* or historical accounts of past events, and the *Puranas* or the ancient sacred writings of the Aryans, sometimes by the recreation or pastime (*i. e.*, by practising the art) of painting, sometimes by (means of playing upon) a lute, sometimes by (being engaged in offering) tender hospitality or service to the feet of the holy sages or ascetics (who had) come to see him, sometimes by (being engaged in the pleasure of) offering or putting forward for solution or correct reading and interpretation (*Slokas* or verses characterised by) a figure of speech involving the dropping of some *letter* (*i. e.*, such figures of speech,

that if some intervening or terminal letter were dropped out, it would nevertheless give a full and appropriate meaning in a different manner), a figure of speech involving (likewise) the dropping out of some *vowel*), (slokas or verses) consisting of dots alone (in place of the various consonants, together with the signs of vowels put against them, from which alone the principal or original verse was to be inferred or deduced), (slokas or verses in which, the fourth foot or quarter is concealed or understood in the first three (*i. e.*, the words of the first three quarters are so put together that, when arranged in a particular manner, they will yield the meaning of the fourth), and (slokas or verses which really constituted riddles or enigmas etc. And just as (he passed) the day, so did he the night, being surrounded by (his) friends or comrades, who were clever or well-versed in the (exercise of the) various kinds of sportive amusements and jokes, (that were) thus started (earlier during the day).

६—एकदा तु नातिदूरोदिते नवनलिनदलसंपुटभिदि किञ्चिदुन्मुक्तपाटलिम्नि भगवति सहस्रमरीचिमालिनि राजानमास्थानमण्डपगतमङ्गनाजनविरुद्धेन वामपार्श्वविलम्बिना कौक्षेयकेण संनिहितविषधरेव चन्दनलता भीषणरमणीयाकृतिरविरलचन्दनानुलेपनधवलितस्तनतटोन्मज्जदैराव - तकुम्भमन्डलेव मन्दाकिनी चूडामणिप्रतिबिम्बच्छलेन राजाज्ञेव मूर्तिमती राजभि: शिरोभिरुह्यमाना, शरदिव कलहंसधवलाम्बरा जामदग्न्यपरशुधारेव वशीकृतसकलराजमंडला, विन्ध्यवनभूमिरिव वेत्रलतावती राज्याधिदेवतेव विग्र-

हिणी प्रतीहारी समुपसृत्य क्षितितलनिहितजानुकरकमला सविनयमब्रवीत्—देव ! द्वारस्थिता सुरलोकमारोहतस्त्रिशङ्कोरिव कुपितशतमखहुंकारनिपातिता राजलक्ष्मीर्दक्षिणापथादागता चाण्डालकन्यका पञ्जरस्थं शुकमादाय देवं विज्ञापयति । सकलभुवनतलसर्वरत्नानामुदधिरिवैकभाजनं देवो विहंगमश्चायमाश्चर्यभूतो निखिलभुवनतलरत्नमिति कृत्वा देवपादमूलमादायागताहमिच्छामि देवदर्शनसुखमनुभवितुमिति । एतदाकर्ण्य देवः प्रमाणम् । इत्युक्त्वा विरराम । उपजातकुतूहलस्तु राजा समीपवर्तिनां राज्ञामालोक्य मुखानि, "को दोषः, प्रवेश्यतामि"त्यादिदेश ।

६—एकदा प्रतीहारी समुपसृत्य । राजानं सविनयमब्रवीत् इति सम्बन्धः । नवनलिनदलसम्पुटभिदि नवीननीरजपलाश-मुकुलविदारिणि । नवानि यानि नलिनानि तेषां दलानां सम्पुटं भिनत्तीति तस्मिन् । किञ्चिदुन्मुक्तपाटलिम्नि ईषत्परित्यक्तश्वेतरक्तत्वे । किंचिदुन्मुक्तः पाटलिमा येन तस्मिन् । भगवति प्रभौ । सहस्रमरीचिमालिनि । सहस्रमरीचीनां माला यस्य तस्मिन् । दशशतकिरणमालाधारिणि भानौ । नातिदूरोदिते ईषद्दूरोदिते । नातिदूरमुदितस्तस्मिन् । अङ्गनाजनविरुद्धेन वनितालोकव्यवहारप्रतिकूलेन । अङ्गनाजनस्य विरुद्धस्तेन । वामपार्श्वावलम्बिना सव्यप्रदेशावस्थायिना । वामश्चासौ पार्श्वस्तत्रावलम्बते तेन । कौक्षेयकेण असिना । कुक्षौ भवः सः । कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वास्यलङ्कारेषु—इति कुक्षिशब्दा ड्ढकञ् । सन्निहितविषधरा

संसक्तसर्पा । सन्निहिता विषधरा यस्याः सा । चन्दनलतेव पाटीर-वल्लीव । 'वल्ली तु व्रततिर्लते'त्यमरः । चन्दनस्य लता सा । भीषणरमणीयाकृतिः भयानकमनोहरमूर्त्तिः । सर्पसम्पर्काद् भयदा, चन्दनलतासादृश्यात्तु हृदयप्रियेति भावः । भीषणा रमणीया चासौ आकृतिर्यस्याः सा । विभेतेर्ण्यन्ताल्ल्युः कर्त्तरि भीषणः । ततष्टाप् भीषणा । मुग्धाङ्गापि प्रतीहारी—असिना भयं जनयतिस्म । अविरलमलयजानुलेपनधवलितस्तनतटा सान्द्रतरचन्दनोद्वर्त्तनशुभ्रित-कुचतटा । अविरलं यन्मलयजस्यानुलेपनं तेन धवलितः स्तनतटो यस्याः सा । अतएव उन्मज्जदैरावतकुम्भमण्डला अवगाहमान-शुभ्रवर्णं शक्रगजमस्तकस्थपिण्डफला । उन्मज्जद्य ऐरावतस्तस्य कुम्भः मण्डलं यस्यां सा । ईदृशी । मन्दाकिनीव वियद्गङ्गेव । चूडामणि-प्रतिबिम्बच्छलेन समीपस्थनृपमुकुटरत्नप्रतीहारीप्रतिच्छायव्याजेन । चूडामणिषु यः प्रतिबिम्बस्तस्यच्छलन्तेन । राजभिर्नृपैः । शिरोभिः मस्तकैः । उह्यमाना धार्यमाणा । मूर्त्तिमती सविग्रहा । राजाज्ञेव नृपादेश इव, राज्ञ आज्ञा सा (नृपमुकुटरत्नेषु तस्याः प्रति-बिम्बनात्) । कलहंसधवलाम्बरा कादम्बशुभ्रवस्त्रा अन्यत्र कादम्बशुभ्राकाशा । कलहंसवत् धवलान्यम्बराणि यस्याः, पक्षे कलहंसैर्धवलमम्बरं यस्यां सा । शरदिव घनात्ययकाल इव । वशी-कृतसकलराजमण्डला अधीनीकृतनिखिलनृपसमूहा । वशीकृतं सकलं राजमण्डलं यया सा । जामदग्न्यपरशुधारेव परशुरामकुठार-निशिताग्रभाग इव । जमदग्नेरपत्यं जामदग्न्यः । गर्गादिभ्यो यञिति जमदग्नेर्यञ् । पराञ्शृणातीति परशुः । वेत्रलतावती वेतसवल्लि-मती पक्षे वेतसयष्टिहस्ता । विन्ध्यवनभूमिरिव विन्ध्याटवीधरणिरिव ।

विग्रहिणी शरीरधारिणी । विग्रहोऽस्त्यस्याः सा । राज्याधिदेवतेव । राज्यस्याधिदेवतेति सा । आधिपत्याधिष्ठात्रीव । प्रतीहारी द्वारपालिका । क्षितितलनिहितजानुकरकमला भूतलस्थापितोरुतल-कील-हस्त-सरसिजा सती । क्षितितले निहिते जानुनी करकमले च यया सा । आस्थानमण्डपगतम् सभास्थानस्थितम् । आस्थानस्य मण्डपे गतम् । राजानम् नृपम् । समुपसृत्य उपगम्य । सविनयम् सप्रश्रयम् । अब्रवीत् उवाच । देव स्वामिन्, द्वारस्थिता द्वारे स्थिता सा । प्रवेशमार्गगता । सुरलोकम् स्वर्गम्, सुराणां लोकस्तम् । लोकते इति लोकः पचाद्यच् । आरोहतः आरोहणं कुर्वतः । त्रिशङ्को[1]स्तन्नामकस्य क्षत्रियस्य चाण्डालीभूतस्य । कुपितशतमख-हुङ्कारनिपातिता क्रुद्ध-शक्र-कोप-ध्वन्यधःक्षिप्ता । राजलक्ष्मीः नृपश्रीः । राज्ञो लक्ष्मीः सा । इव । दक्षिणापथात् आगता याम्य-दिङ्मार्गात् प्राप्ता । दक्षिणा चासौ पन्था इति तस्मात् । समासान्तः अ प्रत्ययः । चाण्डालकन्यका अयाज्यसुता । पञ्जरस्थम् पञ्जरे तिष्ठतीति तम् । लौहशलाकामयपक्षिबन्धनस्थितम् । शुकम् कीरम् । आदाय गृहीत्वा । देवम् स्वामिनम् । विज्ञापयति बोधयति । देवः स्वामी । उदधिरिव समुद्र इव । सकलभुवनरत्नानाम् निखिललोकमणीनाम् । सकलानि यानि भुवनतलानि तेषु यानि रत्नानि तेषाम् । एकभाजनम् एकमात्रपात्रम् अस्ति । 'योग्य-

१—पुरा सूर्यवंशीयो नृपः त्रिशंकुनामा सदेहः स्वर्गं गन्तुकामः यज्ञविशेषं याजयितुं कुलगुरुवशिष्ठं प्रार्थितवान् । तेन निषिद्धः स गुरुपुत्रान् प्रत्युपगतः । तैश्च चाण्डालो भवेति शप्तो यतो गुरुवाक्यममत्वाऽस्मान् प्राप्तः । पुनस्सा विश्वामित्रं जगाम । तेन च याजितः स सदेहः स्वर्गं गच्छन् शक्रेण तिरस्कृतो मध्य एव रुद्धः यतो गुरुपुत्रशापादयाज्यतां गतश्चण्डाल आसीत् तेन च देहेन स्वर्गगमनमनुचितम्—इति ।

भाजनयोः पात्रम्'-इत्यमरः । अयं च विहंगमः शुकः । विहायसा गच्छतीति विहंगमः । गमेः खच् । आश्चर्यभूतः विस्मयजनकः । निखिलभुवनतलरत्नम् सकल-लोक-श्रेष्ठम् । 'रत्नः श्रेष्ठे मणावपी'त्यमरः । इति कृत्वा अनेन हेतुना । अहम् चाण्डालकन्या । आदाय गृहीत्वा । देवपादमूलम् स्वामिचरण-सन्निधौ । आयाता आगता । देवदर्शनसुखम् महाराजावलोकनानन्दम् । अनुभवितुम् ज्ञातुम् । एतत् पूर्वोक्तम् । आकर्ण्य श्रुत्वा । देवः स्वामी । प्रमाणम् कर्तव्याकर्तव्यनिदेशकर्त्ता । इत्युक्त्वा एवमभिधाय । विरराम तूष्णीम्बभूव । उपजातकुतूहलः उत्पन्नकौतुकः । राजा शूद्रकः समीपवर्त्तिनाम् सन्निहितानाम् । राज्ञाम् भूभुजाम् । मुखानि आननानि । आलोक्य दृष्ट्वा—अर्थात् वैमत्यं ज्ञातुं नृपाणां मुखावलोकनं कृतम् । अन्यथा चेष्टितेनापि चाण्डालकन्याप्रवेशस्य निषेधबोधात् । को दोषः प्रवेश्यताम्, का हानिः अन्तरानीयताम् । इत्यादिदेश आज्ञापयत् ।

६—एक बार प्रातःकाल का समय था । कमल की नवीन कलियों को खिलाने वाले भगवान् सूर्य आकाश में बहुत ऊँचे नहीं उठे थे (उदय हुए ही थे)। उनकी अरुणाभा कुछ-कुछ कम हो चली थी । महाराज (शूद्रक) सभामंडप में जा चुके थे । (ऐसे ही समय में उनके सम्मुख) प्रतिहारी उपस्थित हुई । उसके वाम पार्श्व में तलवार लटक रही थी, जो कि बिल्कुल स्त्रियोचित नहीं मालूम होती थी । इस तलवार के कारण उसका स्वरूप उस चन्दनलता के समान भीषण एवं रमणीय लग रहा था, जिस पर सर्पलिपटा हो । (यहाँ प्रतिहारी की अङ्गलता पर तलवार को सर्प की भाँति माना गया है ।) वह आकाश-गङ्गा के समान थी, क्योंकि चन्दन के अनुलेप से उसका स्तन-तट शुभ्र हो गया था, जिससे वह ऐसा प्रतीत होता था मानो आकाश-गङ्गा में स्नान करने के लिए प्रविष्ट ऐरावत गज का कुम्भस्थल हो । प्रति-

हारी का प्रतिबिम्ब राजाओं के मुकुट-मणियों पर पड़ रहा था, जिससे ऐसा प्रतीत होता था मानो इसी बहाने से (इसी रूप में) वे मूर्तिमती राजाज्ञा को शिर पर धारण कर रहे हों। वह कलहंसों के समान श्वेत अम्बर (वस्त्र) धारण किये हुए थी, अतएव वह शरद्-ऋतु के समान प्रतीत होती थी, क्योंकि शरद्-ऋतु में भी कलहंसों के कारण अम्बर (आकाश) श्वेत हो जाता है। परशुराम के परशु की धार की भाँति उसने समस्त राजाओं को (अपने सौन्दर्य के द्वारा) वश में कर लिया था। जिस प्रकार विन्ध्याचल की वनभूमि वेत्रलता (बेंत की वेलों) से युक्त है, उसी प्रकार वह भी वेत्र-लता (बेंत की छड़ी) से युक्त थी (अर्थात् हाथ में बेंत की छड़ी लिये हुए थी)। इस प्रकार वह राज्य की मूर्तिमती कुलदेवी के समान प्रतीत होती थी। यह प्रतिहारी (राजा के) समीप जाकर तथा (उसके सम्मुख) भूमि पर अपने घुटने तथा करकमल टेक कर विनय-पूर्वक कहने लगी—"महाराज, दक्षिण देश से एक चाण्डाल-कन्या पिंजड़े में बन्द एक तोते को लेकर आई हुई है। वह कुपित शतक्रतु (इन्द्र) की हुंकार से स्वर्ग से नीचे पतित स्वर्गा-रोहण के इच्छुक त्रिशंकु की राजलक्ष्मी के समान है और देव (महाराज) से (यह) प्रार्थना करती है—'महाराज समुद्र की भाँति पृथ्वीतल के समस्त रत्नों के एकमात्र पात्र हैं और यह आश्चर्यमय पक्षी भी समस्त भुवनों का रत्न है। यही सोच कर मैं उसको (शुक को) लेकर महाराज के चरणों में उपस्थित हुई हूँ और महाराज के दर्शन के आनन्द का अनुभव प्राप्त करना चाहती हूँ (अर्थात् देव के दर्शन करना चाहती हूँ)'।—यह सुनकर (अर्थात् आपने उसकी बात सुन ली) अब देव जैसी आज्ञा दें मैं वैसा ही करूँ"—यह कह कर वह (प्रतिहारी) चुप हो गई। (यह सुनकर) राजा के हृदय में (उसको देखने की) अत्यधिक उत्सुकता उत्पन्न हुई अतएव उसने समीपवर्ती राजाओं के मुख की ओर देखकर (और इस प्रकार उन लोगों की इच्छा भी जान कर) प्रतिहारी को आदेश दिया—"इसमें दोष ही क्या है। उसे अन्दर आनें दो।"

टिप्पणी तथा शब्दार्थ—पाटलिम्नि—पाटलिमन् (श्वेतरक्त) का स० वि०, एक व० का रूप। स्थानमण्डप—सभाभवन; कौक्षेयकेण—तलवार के कारण जामदग्न्य—परशुराम। विग्रहिणी—शरीरधारिणी। शतमख—शतक्रतु अर्थात् इन्द्र जिसने कि सौ यज्ञ किये थे। प्रमाणम्—कर्तव्याकर्तव्य के निदेशकर्ता।

6.—Now once upon a time, when the illustrious or the venerable thousand-rayed god (*i. e.*, the sun 'having a thousand rays around it like a wreath'), which bursts open the fresh buds of lotus, the petals of which are closed (*i. e.*, causes them to blossom or bloom forth), and which had slightly given up its redness or scarlet colour, had not risen very high (lit. 'very far' up, *i. e.*, when it had but slightly risen in the sky), the Portress or the female guard or keeper of the door or gate,—whose form was lovely or attractive, and yet awe-inspiring or terrible (in its aspect), like a sandal creeper inhabited or entwined round by (lit. 'thrown in or together with') a poisonous snake (lit. a 'poison-bearer or carrier') as it were, on account of a sword that hung down at the left side (of her), and (that) was not in keeping with her female kind,—who was like the celestial Ganges, as it were, with her (protuberant) breasts rendered white with the constant or thick application of sandal paste, and formed, as it were, by the round temples (also besmeared with sandal paste) of *Airavata* (Indra's celestial elephant, which is said to be of a white colour) emerging (therefrom above the surface of it) after a bath. [The idea, to be stated simply, is this :—She was like the Ganges; she was fair and the water of the Ganges, too, is white; she had protuberant breasts, that were rendered white on account of the profuse application of sandal paste;

so was the Ganges with the round temples (besmeared with sandal paste) of the elephant *Airavata* bathing in its waters, emerging appreciably above the surface of it],—who was like the royal command personified, as it were, carried or borne by the feudatory kings or princes on their heads, under the guise or pretext of a reflection (of her form) in their bright crest jewels [The impression that is intended to be conveyed appears simply to be this, that she was, as she solemnly approached, reflected in the crest jewels in the crowns of the assembled feudatory princes, and it seemed as though she were but a royal command personified, which they bore or carried on (*i. e.*, obeyed by or with) their heads, as it were],—who was like the autumn season (when the sky is rendered white with the approaching flights of the swans), as it were, having had her garments white like a swan,—who, having fascinated the entire circle of kings (assembled there, by her charms), was, as it were, like the (bright) edge of the axe of *Jamadangya* (*i. e.*, Parashurama, the son of the sage *Jamadagni*), which had subdued or brought under subjugation all the kings,—who, being provided with or having carried a cane-stick (in her hand as a symbol ef authority), was like the forest region of the Vindhyas (which abounds in cane-creepars), as it were,—who was like the presiding deity of the realm or kingdom personified or in bodily form, as it were,—(now that female door-keeper, thus described), having approached or drawn near the king (*i. e.*, Sudraka), who was (sitting) in the hall of audience, and (having) placed her knees and lotus-like hands on the ground or the surface of the earth (*i. e.*, having knelt and bowed down very low), said (to him) with great humility or polite-

ness (thus):—"My Lord, a Chandala (outcast) girl, who has come from the Deccan or the Southern country, and is standing at the gate with (lit. 'having taken') a parrot confined (lit. 'lying') in a cage, and who looks as if she were the *royal fortune or glory* of *Trishanku* (a king of the solar race), who, wishing to ascend heaven in bodily form, approached for help, on being refused by the sage *Bashishtha*, the latter's sons, who cursed him to become a Chandala; whereupon the sage *Vihswamittra*, after having made him perform a sacrifice, sent him to heaven as he wished, but he was ultimately thrown down therefrom by Indra) ascending the heaven or the region of the gods, hurled down (referring to royal fortune or glory) by an angry ejaculation of the enraged Indra (lit. the performer of a '*hundred sacrifices*' by virtue of which Indra is said to have attained his position as such), begs to inform (lit. 'informs') your majesty thus;—'Your majesty is, like the ocean, the sole receptacle (*i. e.*, the solitary or only worthy recipient) of all the jewels or treasures (*i. e.*, all precious or excellent things,—to be found or available) on the surface of the whole world; and 'this bird (lit. a 'goer or traveller of the sky') is (indeed) a thing of marvel, and is, as if it were, a (matchless) jewel (*i e.*, an absolutely rare or excellent thing) throughout the surface of the whole world'—thinking thus, I have come, having brought (lit. 'taken') it near (lit. 'at the root of') your majesty's feet, and wish to have (lit. to 'enjoy or experience') the pleasure of seeing your majesty.' (Now) having heard this, whatever be your majesty's command will be carried out by me (lit. 'your majesty is authority')." Having said this (much, she) stopped or kept quiet. The king, in whom, however, (a certain amount of) curiosity was excited,

having looked at the faces of the princes or kings, who were sitting (lit. 'remaining') near by (with a view probably to know their minds or take their consent, and finding the same favourable), made this order (lit. 'ordered thus'):— 'What harm is there ? Let her be brought or ushered in.'

७—अथ प्रतिहारी नरपतिवचनानन्तरमुत्थाय तां मातङ्गकुमारीं प्रावेशयत् । प्रविश्य च सा नरपतिसहस्रमध्यवर्तिनमशनिभयपुञ्जितकुलशैलमध्यगतमिव कनकशिखरिणमनेकरत्नाभरणकिरणजालकान्तरितावयवमिन्द्रायुधसहस्रसंछादिताष्टदिग्भागमिव जलधरसमयदिवसमवलम्बितस्थूलमुक्ताकलापस्य कनकशृङ्खलानियमितमणिदण्डिकाचतुष्टयस्य गगनसिन्धुफेनपटलपाण्डुरस्य नातिमहतो दुकूलवितानस्याधस्तादिन्दुकान्तमणिपर्यङ्किकानिषण्णमुद्धूयमानकनकदण्डचामरकलापमुन्मयूखमुखकान्तिविजयपराभवप्रणते शशिनीव स्फटिकपादपीठे विन्यस्तवामपादमिन्द्रनीलमणिकुट्टिमप्रभासंपर्कश्यामायमानैः प्रणतरिपुनिश्वासमलिनीकृतैरिव चरणनखमयूखजालैरुपशोभमानमासनोल्लसितपद्मरागकिरणपाटलीकृतेनाचिरमृदितमधुकैटभरुधिरारुणेन हरिमिवोरुयुगलेन विराजमानममृतफेनधवले गोरोचनालिखितहंसमिथुनसनाथपर्यन्ते चारुचामरपवनप्रनर्तितान्तर्देशे दुकूले वसानमतिसुरभिचन्दनानुलेपनधवलितोरःस्थलमुपरिविन्यस्तकुङ्कुमस्थासकमन्तरान्तरानिपतितबालातपच्छेदमिवकैलासशिखरिणमप-

रशशिशङ्कया नक्षत्रमालयेव हारलतया कृतमुखपरिवेषमति-
चपलराजलक्ष्मीबन्धनिगडकटकशङ्कामुपजनयतेन्द्रनीलकेयूरयु-
गलेन मलयजरसगन्धलुब्धेन भुजंगद्वयेनेव वेष्टितबाहुशिखर-
मीषदालम्बिकर्णोत्पलमुन्नतघोणमुत्फुल्लपुण्डरीकलोचनमम-
लकलधौतपट्टायतमष्टमीचन्द्रशकलाकारमशेषभुवनराज्याभि-
षेकसलिलपूतमूर्णासनाथं ललाटदेशमुद्वहन्तमामोदिमालती-
कुसुमशेखरमुषसि शिखरपर्यस्ततारकापुञ्जमिव पश्चि-
माचलमाभरणप्रभापिशङ्गिताङ्गतया लग्नहरहुताशमिव
मकरध्वजमासन्नवर्तिनीभिः सर्वतः सेवार्थमागताभिरिव
दिग्वधूभिर्वारविलासिनीभिः परिवृतममलमणिकुट्टिमसंक्रा-
न्तसकलदेहप्रतिबिम्बतया पतिप्रेम्णा वसुन्धरया हृदयेनेवो-
ह्यमानमशेषजनभोग्यतामुपनीतयाप्यसाधारणया राजलक्ष्म्या
समालिङ्गितदेहमपरिमितपरिवारजनमप्यद्वितीयमनन्तगज-
तुरगसाधनमपि खड्गमात्रसहायमेकदेशस्थितमपि व्याप्तभु-
वनमण्डलमासनगतमपि धनुषि निषण्णमुत्सादिताशेषद्विषदिन्ध-
नमपि ज्वलत्प्रतापानलमायतलोचनमपि सूक्ष्मदर्शनं महादो-
षमपि सकलगुणाधिष्ठानं कुपतिमपि कलत्रवल्लभमविरतप्र-
वृत्तदानमप्यमदमतिशुद्धस्वभावमपि कृष्णचरितमकरमपि
हस्तस्थित सकलभुवनतलं राजानमद्राक्षीत् ।

७—अथ अनन्तरम् । प्रतीहारी द्वारपालिका । नरपतिकथना-
नन्तरम् नरेन्द्रवाक्यपश्चात् । उत्थाय उद्गम्य । तां मातङ्ग-

कुमारीम् चाण्डालसुताम् । प्रावेशयत् अन्तरानाययत् । सा चाण्डाल-कन्या । प्रविश्य अन्तरुपेत्य राजानमद्राक्षीदिति सम्बन्धः । राजानं विशिनष्टि—नरपतिसहस्रमध्यवर्तिनम् दशशतभूपान्तरालस्थितम्, नरपतीनां सहस्रं तस्य मध्ये वर्तितुं शीलमस्य तम् । अशनिभय-पुञ्जितकुलशैलमध्यगतम् वज्रभयराशीभूतसीमाकारिपर्वतान्तःस्थि-तम् । अशनेर्भयात् पुञ्जीभूता ये कुलशैलास्तेषां मध्ये गतस्तम् । कनक-शिखरिणमिव सुमेरुमिव । कनकस्य शिखरी तम् । पुरा शक्रेण पर्वतानां पक्षच्छेद आरब्धः यतस्ते स्वपक्षसाहाय्येनोड्डीय नगरादीन् चूर्णयामासुः । तदेन्द्रभयादुपायं चिन्तयितुमेकत्रिता आसन्निति कथा । अनेकरत्नाभरणकिरणजालकान्तरितावयवम् विविधमणि-खचितभूषणद्युतिवृन्दाच्छादितापघनम् । अनेकानि यानि रत्ना-भरणानि तेषां किरणजालकैरन्तरिता अवयवा यस्य तम् । इन्द्रायुध-सहस्रसंछादिताष्टदिग्भागम् । शक्रधनुर्दशशतावृतदिशाप्रदेशम् । इन्द्रायुधानां सहस्रेण संछादिता अष्टौ दिग्भागाः यस्मिन् तम् । जल-धरदिवसमिव जलधरस्य दिवसः तम् । अवलम्बितस्थूलमुक्ताकलापस्य आश्रितमहामौक्तिकसमूहस्य । अवलम्बितः स्थूलमुक्तानां कलापो येन तस्य । कनकशृङ्खलानियमितमणिदण्डिकाचतुष्टयस्य सुवर्णबन्धन-रश्मिबद्धरत्नचतुर्यष्टिकस्य । कनकस्य शृङ्खलाभिः नियमिता या मणिसहिता दण्डिकाः तासां चतुष्टयं यस्मिन् तस्य । गगनसिन्धु-फेनपटलपाण्डुरस्य स्वर्णदीडिण्डीरसमूहधवलस्य । गगनसिन्धोः फेन-पटलेन पाण्डुरस्तस्य । 'डिण्डीरोऽब्धिकफः फेनः' इति कोशः । नातिमहतः उचितप्रमाणस्य । दुकूलवितानस्य क्षौमोल्लोचस्य । दुकूलस्य वितानन्तस्य । 'वितानमुल्लोचः'—इति चिन्तामणिः ।

अधस्तात् अधोभागे । इन्दुकान्तपर्यङ्किकानिषण्णम् । चन्द्रकान्तमणिमञ्चिकास्थितम् । इन्दुकान्तैर्निर्मिता या पर्यङ्किका तस्यां निषण्णस्तम् । उद्धूयमानसुवर्णदण्डचामरकलापम् व्यज्यमानकाञ्चनावलम्बयष्टिचामरसमूहम् उद्धूयमानः सुवर्णदण्डो येषु तेषां चामराणां कलापो यस्य तम् । उन्मयूखमुखकान्तिविजयपराभवप्रणते ऊर्ध्वकिरणाननदीप्तिजयतिरस्कारनम्रे, उद्गता मयूखा यस्मिन् तादृशं यन्मुखं तस्य या कान्तिः तया । विजयेन यः पराभवः तेन प्रणतस्तस्मिन् । शशिनीव चन्द्र इव । शशोऽस्यास्तीति तस्मिन् । स्फटिकपादपीठे स्वच्छमणिचरणस्थापन-स्थले । स्फटिकानां यत् पादपीठं तस्मिन् । विन्यस्तवामपादम् विन्यस्तो वामः पादो येन तम् । स्थापित-सव्य-चरणम् । इन्द्रनीलमणिकुट्टिमप्रभासम्पर्क-श्यामायमानैः इन्द्रमणि-बद्धभूमि-कान्ति-संसर्ग-हरितैः, इन्द्रनीलमणीनां या कुट्टिमप्रभा तस्याः सम्पर्केण श्यामायमानानि तैः । श्याम इवाचरतीति श्यामायते ततः कर्त्तरि शानच् । प्रणतरिपुनिःश्वासमलिनीकृतैरिव नम्रवैरिश्वासवातमलीमसैरिव । प्रणतानां रिपूणां निःश्वासेन मलिनीकृतानि तैः । 'मलीमसं तु मलिनं कश्वरं मल-दूषितम्' —इत्यमरः । चरण-नख-मयूख-जालैः पदनखरकिरणवृन्दैः । चरणनखानां यानि मयूखजालानि तैः । उपशोभमानम् राजमानम् । आसनोल्लसितपद्मरागकिरणपाटलीकृतेन उपवेशनस्थलविकसल्लोहितमणि-मयूखश्वेतरक्तेन । 'श्वेतरक्तस्तु पाटलः'—इत्यमरः । ऊरुयुगलेन ऊर्वोर्युगलं तेन, जानुप्रान्तभागयुग्मेन अचिरमृदितमधुकैटभरुधिरारुणेन शीघ्रमर्दितमधुकैटभदैत्यरक्तारक्तेन । अचिरं मृदितौ यौ मधु-कैटभौ तयो रुधिरेणारुणं तेन । ऊरु-

युगलेन । हरिमिव विष्णुमिव । विराजमानम् शोभमानम् । अमृतफेनधवलेसुधाडिण्डीरशुभ्रे, अमृतफेनवत् धवले । गोरोचनालिखितहंसमिथुनसनाथपर्यन्ते गोपित्तचित्रितमरालयुगलसहितप्रान्तदेशे । गोरोचनया लिखितानि यानि हंसमिथुनानि तैः सनाथः पर्यन्तो ययोस्ते । चारुचामरवायुप्रनर्त्तितान्तर्देशे । मनोहरचामरव्यजनवातान्दोलितमध्यभागे, चारूणां चामराणां वायुना प्रनर्त्तिता अन्तर्देशा ययोस्ते । दुकूले वाससी । वसानम् परिदधानम् । अतिसुरभिचन्दनानुलेपनधवलितोरःस्थलम् अतिशयसुगन्धिमलयजाङ्गरागशुभ्रितवक्षःस्थलम् । अतिसुरभि यत् चन्दनं तस्यानुलेपनेन धवलितमुरःस्थलं यस्य तम् । उपरिविन्यस्तकुङ्कुमस्थासकम् वक्ष ऊर्ध्वविहितकेशरहस्तबिम्बम् । उपरि विन्यस्ताः कुंकुमस्य स्थासका यस्य तम् । अन्तरान्तरानिपतितबालातपच्छेदम् अन्तरन्तःपर्यस्तनवीनालोकखण्डम्, अन्तरान्तरा निपतिता बालातपस्यच्छेदा यस्मिंस्तम् । कैलासशिखरिणम् रजताद्रिमिव । अपर शशिशङ्कया इतरमृगाङ्कभ्रमेण । नक्षत्रमालयेव तारापङ्क्त्येव । हारलतया मौक्तिकस्रजा, हारस्य लता तया । कृतमुखपरिवेषम् विहिताननपरिवेष्टनम् । कृतो मुखस्य परिवेषो यस्य तम् । अतिचपलराजलक्ष्मीबन्धनिगडकटकशङ्काम् नितान्त-चञ्चल-नृपश्रीनियमनशृङ्खलावलयभ्रमम् । उपजनयता कुर्वता । अति-चपला या राजलक्ष्मीस्तस्या बन्धाय निगडस्तस्य कटकं तस्य शङ्का ताम् । अर्थात् राजलक्ष्मी इतोऽन्यत्र न प्रसरेत् शूद्रकं विहायेति हेतोः सा नियमितेव । इन्द्रमणि-केयूरयुग्मेन इन्द्रनीलाङ्गदयुगलेन । इन्द्रमणिखचितं यत् केयूरयुग्मन्तेन । मध्यमपदलोपी समासः । मलयज-रस-गन्ध-लुब्धेन पाटीर-पङ्क-

सौरभलोलुपेन। मलयज-रसस्य यो गन्धस्तस्मिंल्लुब्धस्तेन। भुजङ्गद्वयेन भुजङ्गयोर्द्वयन्तेन। उरगयुगेन। इव भुजेन गच्छतीति भुजङ्गः गमेः खच्। वेष्टितबाहुयुगलम् व्याप्तभुजयुग्मम्। वेष्टितं बाहुयुगलं यस्य तम्। ईषदालम्बिकर्णोत्पलम् आलम्बमान-श्रवण-कमलम्। ईषदालम्बि कर्णोत्पलं यस्य तम्। उन्नतघोणम् उच्चनासिकम्, उन्नता घोणा यस्य तम्। उत्फुल्लपुण्डरीकनेत्रम् विकसित-सित-सरसिज-नयनम्। उत्फुल्लं यत् पुण्डरीकं तद्वन्नेत्रे यस्य तम्। 'पुण्डरीकं सिताम्भोजमि'त्यमरः। अमलकलधौत-पट्टायतम् निर्मलकाञ्चनफलकविस्तृतम्। अमलं यत् कलधौतं तस्य यः पट्टः स इव आयतः तम्। 'कलधौतं रूप्य-हेम्नोः', इति कोशान्तरम्। अष्टमीचन्द्रशकलाकारम् पक्षमध्यमतिथिशशाङ्क-खण्डाकृतिम्। अष्टम्यां यश्चन्द्रस्तस्य शकलवत् आकारो यस्य तम्। अशेषभुवनराज्याभिषेकपूतम् समस्तलोकाधिपत्यमङ्गल-स्नानपवित्रम्। अशेषाणां भुवनानां यद्राज्यं तस्य अभिषेकस्तेन पूतम्। ऊर्णासनाथम् भ्रूकुटचन्तरालसहितम्, ऊर्णया सनाथस्तम्। 'ऊर्णा मेषादिलोम्नि स्यादावर्त्तस्त्वन्तरा भ्रुवोः'—इत्यमरः। ऊर्णा च चक्रवर्त्तिनो वा तत्सदृशस्यैव भवति नेतरस्य 'भ्रूद्वयमध्ये मृणालतन्तुसूक्ष्मं शुभ्रायतमेकं प्रशस्तावर्तं महापुरुषलक्षणमि'ति वचनात्। ललाटदेशम् भालप्रदेशम्। उद्वहन्तम् दधानम्। आमोदिमालतीकुसुमशेखरम् सुगन्धि-जाती-पुष्प-चूडाभरणम्। उषसि प्रभाते। शिखरपर्यस्ततारकापुञ्जम् सानुपतित-नक्षत्र-समूहम्, शिखरे पर्यस्तस्तारकाणां पुञ्जो यस्य तम्। पश्चिमा-

चलम् अस्तपर्वतमिव । शैलशिखरनृपोत्तमाङ्गयोः पुष्पतारकयोश्चोपमानोपमेयभावः । आभरणप्रभापिशङ्गिताङ्गतया भूषणच्छविपीतरक्तीकृतशरीरतया, आभरणानां प्रभाभिः पिशङ्गितमङ्गं यस्य तस्य भावस्तत्ता तया । लग्नहरहुताशम् सम्बद्धशिवविभावसुम्, लग्नो हरस्य हुताशो यस्य तम् । हुतमश्नातीति सः । कर्मण्यण् । मकरध्वजमिव काममिव, मकरो ध्वजे यस्य तम् । आसन्नवर्तिनीभिः समीपस्थाभिः, आसन्नं वर्तन्ते इति ताभिः । सर्वतः सेवार्थमागताभिः विश्वतः सुश्रूषायै प्राप्ताभिः । दिग्वधूभिरिव, दिश एव वध्वस्ताभिः । आशाङ्गनाभिरिव । वारविलासिनीभिः पण्यस्त्रीभिः, गणिकाभिः । 'वारस्त्रीगणिकावेश्ये'त्यमरः । परिवृतम् परिवेष्टितम् । अमलमणिकुट्टिमसंक्रान्तसकलदेहप्रतिबिम्बतया स्वच्छरत्नमयबद्धभूमिप्रतिफलितसमग्रशरीरप्रतिच्छायतया । प्रतिबिम्बं प्रतिच्छायः । अमलानां मणीनां कुट्टिमे संक्रान्तं सकलदेहस्य प्रतिबिम्बं यस्य सः तस्य भावस्तत्ता तया । पतिप्रेम्णा भर्तृप्रीत्या, पत्यौ प्रेम तेन । वसुन्धरया भूम्या, वसुन्धरतीति तया धरतेः खच्, हृदयेनेव मनसेव । उह्यमानम् ध्रियमाणम्, अशेषजनभोग्यताम् । अशेषाणां जनानां भोग्यताम् । निखिललोकभोगयोग्यताम् । उपनीतयाऽपि प्रापितयाऽपि असाधारणया नान्यजनभोग्ययेति विरोधः सर्वोत्कृष्टयेति तस्य परिहारः । राजलक्ष्म्या नृपश्रिया समालिङ्गितदेहम् आश्लिष्टशरीरम् । समालिङ्गितो देहो यस्य तम् । अपरिमितपरिवारजनमपि असङ्ख्येयपरिच्छदलोकमपि । अपरिमितः परिवारजनो यस्य तम् । अद्वितीयम् एकमिति विरोधस्तस्य सर्वोत्कृष्टमिति परिहारः । अनन्तगजतुरगसाधनम् अपि अपरिमिति

हस्तिवाजिसहायमपि । अनन्तं गजतुरगं साधनं यस्य तम्, गजाश्च तुरगाश्च तेषां समाहारो गजतुरगम् । सेनाङ्गत्वादेकवद्भावः । खड्गमात्रसहायम् कृपाणमात्रसाधनम् इति विरोधः, युद्धे तदन्यानपेक्षेति परिहारः । खड्गमात्रं सहायो यस्य तम् । एकदेशस्थितमपि सभामण्डपादिस्थायिनमपि । एकदेशे स्थितस्तम् । व्याप्तभुवनमण्डलम् आक्रान्त-लोक-समूहम् इति विरोधः, ख्यातजगन्मण्डलमिति तत्परिहारः । व्याप्तं भुवनमण्डलं येन तम् । 'व्याप्तं ख्याते समाक्रान्ते'—इति विश्वः । आसने स्थितमपि विष्टरे निषण्णमपि, धनुषि कार्म्मुके, निषण्णम् स्थितम्, इति विरोधः, धनुषि विजयविश्वासिनमिति तत्परिहारः । अथवा धनुषि संज्ञायां नाम्नि स्थितम् । अर्थात् तन्नामश्रवणादेव भयोत्पत्तेः, शत्रवः पराभवन्निति परिहारः । 'धनुः संज्ञा प्रियालद्रुरिति' विश्वः । उत्सादितद्विषदिन्धनमपि व्यापादितशत्रुकाष्ठभारमपि । उत्सादितं द्विषन्तः एवेन्धनं येन तम् । ज्वलत्प्रतापानलम् दहत्तेजोवह्निमिति विरोधः, इन्धनाभावात् दीप्यमानतेजोवह्निमिति तत्परिहारः । ज्वलन् प्रताप इवानलो यस्य तम् । आयतलोचनमपि दीर्घनेत्रमपि । सूक्ष्मदर्शनम् क्षुद्रनयनम् इति विरोधः, अध्यात्मज्ञमिति तत्परिहारः । आयते लोचने यस्य तम् । सूक्ष्मं दर्शनं यस्य तम्, अन्यत्र सूक्ष्मे दर्शने यस्य तम् । 'सूक्ष्मं स्यात्कैतवेऽध्यात्मे पुंस्यणौ त्रिषु चाल्पके' इति; 'दर्शनं नयनस्वप्नबुद्धिधर्मोपलब्धिषु' इति च विश्वः । महादोषमपि बृहदवगुणमपि । सकलगुणाधिष्ठानम् निखिलप्रशंसनीय धर्मस्थानम् इति विरोधः महाभुजम् इति विरोधपरिहारः । 'दोर्दोषा च भुजो बाहुरिति' धनञ्जयः । महान् दोषो यस्येति तम्, परिहारपक्षे महान्तौदोषौ यस्य तम् । सकलानां

गुणानामधिष्ठानं तत् । कुपतिमपि कुत्सितभर्तारमपि । कलत्र-वल्लभम् वनिताप्रियम् इति विरोधः, परिहारस्तु कोः भूमेः पतिस्तम् भूमिपतिम् इति विज्ञेयः । कलत्राणां वल्लभस्तम् । अविरतप्रवृत्तदानमपि निरन्तरच्यवमानमदमपि, अमदम्—दानवारिरहितमिति विरोधः; सततकृतहिरण्यादि-वितरणम् अपि गर्वरहितमिति तत्परिहारः। 'दानं गजमदे त्यागे'—इति विश्वः। 'मदो दर्पेभदानयोः'—इत्यमरः। दान-मदयोः समानार्थत्वात् हस्तिसाम्ये विरोधः समापतितः इति भावः। अत्यन्तशुद्धस्वभावमपि अतिनिर्म्मलप्रकृतिमपि कृष्णचरितम् मलिना-चारमिति विरोधः, वासुदेवसदृशाचरणमिति परिहारः; अत्यन्तं शुद्धस्वभावो यस्य तम्। कृष्णं चरितं यस्य तम्, परिहारपक्षे कृष्णस्य चरितमिव चरितं यस्य तम्। अकरमपि हस्तरहितमपि। अविद्यमानः करो यस्य तम्। परिहारपक्षे अविद्यमानराजग्राह्यधनादिदानम्। हस्तस्थितभुवनतलम् करगत-निखिल-लोकम्। हस्ते स्थितं भुवन-तलं यस्य तम्। राजानम् शूद्रकम्। अद्राक्षीत् दृष्टवान्।

७—फिर राजा के (ऐसा) कहने के अनन्तर प्रतिहारी उठकर उस चाण्डाल-कन्या को अन्दर लिवा लाई। अन्दर प्रविष्ट होने पर उसने सहस्रों नरपतियों के बीच में (विराजमान) राजा को देखा। (नरपतियों से घिरा हुआ वह राजा ऐसा प्रतीत होता था) मानो वज्र के भय से (एक स्थान पर) एकत्रित कुल पर्वतों के बीच में स्वर्ण-शिखरों वाला सुमेरु पर्वत स्थित हो। अनेक रत्न-जटित आभूषणों के किरण-जाल से (आठों) अङ्गों के आच्छादित होने के कारण वह (मेघवर्ण राजा) इस प्रकार सुशोभित हो रहा था मानों (वर्षा-ऋतु का) मेघाच्छन्न दिवस हो, जब कि आठों दिग्भाग सहस्रों इन्द्र-धनुषों से व्याप्त हो जाते हैं। वह एक ऐसे रेशमी मण्डप के नीचे, जो बहुत बड़ा नहीं था, जिसमें बड़े-बड़े मोतियों के समूह (पंक्तियाँ) या झालर

लटक रही थीं, जिसके मणियों के बने हुए चारों दण्ड (अर्थात् चारों कोनों पर चार मणि-दण्ड थे और उन्हीं से चँदोवा बँधा हुआ था) सोने की जंजीरों से (एक दूसरे से) बँधे हुए थे और जो आकाशगङ्गा के फेन-समूह के समान धवल था, बैठा हुआ था। उस पर सुवर्ण-दंड वाले चँवर डुलाये जा रहे थे। वह अपना बाँया पैर स्फटिक के पादपीठ (पैर रखने के पीढ़े) पर रखे हुए था, अतएव ऐसा प्रतीत होता था मानो उसकी मुखकान्ति से, जिसकी किरणें चारों ओर फैल रहीं थी, पराभूत होकर चन्द्रमा उसके चरणों पर पड़ा हुआ हो। वह अपने चरणों के नखों की किरणों के समूह से सुशोभित हो रहा था। ये किरणें नीलमणि (मरकतमणि)—निर्मित फर्श की प्रभा के संपर्क से कुछ श्यामवर्ण की हो गई थीं इसलिए ऐसा प्रतीत होता था मानो वे (राजा के चरणों में) विनत और (उसके) शत्रुओं के निःश्वास से मलिन हो गयी हों। सिंहासन में लगी (चमकती) हुई पद्मराग मणियों की किरणों से उसकी दोनों जंघाएँ कुछ लाल हो गई थीं, इस कारण वह हाल ही में मारे गये मधु-कैटभ दैत्य के रक्त से लाल जंघाओं वाले (भगवान्) विष्णु के समान प्रतीत होता था। वह अमृत के फेन के समान उज्ज्वल दो रेशमी वस्त्र धारण किये हुए था। उनके किनारों पर गोरोचन से हंस-मिथुन अंकित थे और उनका मध्यभाग सुन्दर चँवर की हवा से हिल रहा था। अत्यन्त सुगन्धित चन्दन के लेप से उसका वक्षःस्थल शुभ्रवर्ण का हो रहा था। उस पर केशर का हस्तविम्ब (छापा) लगा हुआ था (अथवा केशर छिड़का हुआ था)। इस कारण वह बीच-बीच में (कहीं-कहीं) पड़ने वाली प्रातःकालीन (लाल) धूप से युक्त (हिमधवल) कैलाश के समान प्रतीत हो रहा था। उसने अपने (चन्द्र के समान सुन्दर) मुख के चारों ओर मोतियों की माला धारण कर रखी थी जो ऐसी प्रतीत होती थी मानों नक्षत्रमाला ने (उसके मुख को) दूसरा चन्द्र समझकर घेर रखा हो। वह बाहुओं के अग्रभाग में नीलकान्तिमणि-रचित केयूर (बाजूबन्द) धारण किये हुए था जो चन्दन-रस की सुगन्धि के लोभ से (चन्दन-चर्चित-

भुजलता में) लिपटे हुए सर्प के समान प्रतीत होते थे। उन्हें देखकर यह शंका होती थी मानो वे अत्यन्त चंचल राजलक्ष्मी को बाँधकर रखने के लिये गोल शृंखलाएँ (अथवा शृंखला की कड़ियाँ) हों। उसके कानों पर (आभूषण रूप से धारण किये हुए) कमल (अथवा कमल के आकार के कर्णाभूषण) कुछ लटक-से रहे थे। उसकी नाक (कुछ) ऊँची थी। पूर्ण-विकसित श्वेत कमल के समान (विशाल और सुन्दर) उसके नेत्र थे। उसका मस्तक भौंहों के मध्य की रोमावली से युक्त था, स्वच्छ सुवर्ण के पट्ट के समान विस्तीर्ण (चौड़ा) था, अष्टमी के अर्ध-चन्द्र (चन्द्र के आधे टुकड़े) के आकार का था और समस्त भुवनों के राज्य के अभिषेक जल से पवित्र हो चुका था। वह सिर पर मालती के सुगन्धित (श्वेत) पुष्पों की माला धारण किये हुए था अतएव वह ऐसा प्रतीत होता था मानो प्रातःकाल शिखर पर चारों ओर फैले हुए तारों के समूह से युक्त अस्ताचल पर्वत हो। (शरीर में धारण किये हुए) आभूषणों की प्रभा से उसके अङ्ग पीले हो रहे थे अतएव वह शंकर के (तृतीय नेत्र से निकलने वाली) अग्नि की लपटों से जलते हुए कामदेव के समान प्रतीत होता था। वह चारों ओर निकट-वर्ती वाराङ्गनाओं से इस प्रकार घिरा रहता था मानो उसकी सेवा के लिए (साक्षात्) दिग्वधुएँ ही उपस्थित हों। उसके सम्पूर्ण शरीर का प्रतिबिम्ब मणिरचित स्वच्छ फर्श पर पड़ रहा था अतएव ऐसा प्रतीत होता था मानो पृथ्वी पति-प्रेम के कारण राजा (भूपति अथवा पृथ्वीपति की मूर्ति) को हृदय में धारण किये हो। उसकी राजलक्ष्मी समस्त लोक या जनता से उपभुक्त होने पर भी (अर्थात् यद्यपि उसकी राजलक्ष्मी का समस्त समाज के कल्याण में उपयोग होता था) अपनी असाधारणता के कारण उस राजा को आलिङ्गित किये हुए थी। उसका परिवार यद्यपि अपरिमित था तब भी वह अद्वितीय था (यहाँ अद्वितीय पद में श्लेष अलंकार है। अद्वितीय शब्द के दो अर्थ हो सकते ह—'अकेला, जिसके साथ कोई दूसरा न हो' और 'जिसके समान कोई दूसरा न हो'। पहले अर्थ को लेने में विरोध

है इसलिए विरोध-परिहार के लिए दूसरा अर्थ लिया जायगा। भाव यह है कि उसके सदृश और कोई नहीं था। आगे के पदों में भी इसी प्रकार विरोध और उसका परिहार है)। हाथी, घोड़े आदि (विजय के) असंख्य साधनों अथवा उपकरणों के होने पर भी एकमात्र तलवार उसकी सहायक थी (भाव यह है कि युद्ध में विजय-प्राप्ति के लिए अपनी तलवार के अतिरिक्त वह किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं करता था)। एक देश (स्थान) पर स्थित होने पर भी (मानों अपने पराक्रम के द्वारा) वह समस्त भुवन-मण्डल में व्याप्त था। आसन पर स्थित होने पर भी वह (वस्तुतः) धनुष पर बैठा हुआ था (अर्थात् धनुष के द्वारा उसने शत्रुओं को हराकर राज्य की स्थिति सुदृढ़ कर ली थी)। समस्त शत्रुरूपी ईंधन को नष्ट (जलाकर भस्म) कर देने पर भी उसका प्रतापरूपी अनल जल रहा था (दीप्त था)। यद्यपि उसके नेत्र विशाल थे तब भी वह सूक्ष्म-दर्शन था (अर्थात् उसमें सूक्ष्म विषयों अथवा आध्यात्मिक विषयों को हृदयङ्गम करने की शक्ति थी)। महादोष (विरोध-परिहार के लिए यहाँ महादोष का अर्थ 'महान् दुर्गुणों वाला' न लेकर 'विशाल भुजाओं वाला' लिया जायगा) होने पर भी वह समस्त गुणों का आश्रय था। कुपति [विरोध-परिहारार्थ यहाँ कुपति का अर्थ होगा कु (पृथ्वी) + पति = पृथ्वीपति] होने पर भी वह स्त्रियों का प्रिय था। निरन्तर दान (मदजल) के बहने (या होने) पर भी वह अमद (मद-जल-रहित) था। (यहाँ दान और अमद दोनों पदों में श्लेष है। दान का दूसरा अर्थ होता है सुवर्णादि का वितरण और अमद का गर्वरहित। विरोध का परिहार करने के लिए इसका अर्थ इस प्रकार करना होगा—'निरन्तर दान देते रहने पर भी उसको अहंकार नहीं था'।) अत्यन्त पवित्र आचरणों वाला होने पर भी वह कृष्ण-चरित (मलिनचरित्र) था; (विरोध दूर करने के लिए कृष्ण चरित का अर्थ करना होगा 'कृष्ण के समान आचरणों वाला'।) अकर (हस्त-रहित) होने पर भी समस्त पृथ्वीतल उसके हाथ में था (अर्थ में विरोध है अतएव इसका अर्थ यह होगा कि

यद्यपि वह अकर था (अर्थात् वह अपनी प्रजा पर कर—टैक्स—नहीं लगाता था) तब भी समस्त संसार उसके वश में था।

शब्दार्थ—मातङ्गः—चाण्डाल। अशनिः—वज्र। कुलशैलाः—कुलपर्वत; पुराणों के अनुसार ये भूमण्डल की सीमा पर स्थित सात प्रसिद्ध पर्वत हैं। सुमेरु पर्वत पृथ्वी के मध्य में स्थित है। कनकशिखरिणम्—सुमेरुम्। इन्द्रायुधं—इन्द्रधनुष। जलधरदिवसम्—मेघावृत दिन। पाण्डुरम्—शुभ्र-वर्ण। कुट्टिमप्रभा—फर्श की प्रभा। स्थासकम्—हाथ से लगाया गया छापा अथवा शरीर में चन्दनादि का लेप। बालातपच्छेदः—प्रातःकालीन धूप। परिवेषः—परिधि, परिवेष्टन। घोणा—नासिका। ऊर्णा—भौहों के मध्य में रहने वाली रोमावलियों की भँवर। साधनम्—उपकरण।

7. Thereupon, when the king had uttered these words (lit. after the words of the king), the portress or female door-keeper, having risen up (she seems to have been bending down her knees on the ground so far before the king), brought that *Matanga* or *Chandala* girl in (lit. 'caused her to enter,' *i. e.*, introduced or ushered her in). And as soon as she entered (lit. 'having entered'), she saw the king, who was sitting (lit. 'remaining') in the midst of thousands of (feudatory) kings or princes, and (who) was like the golden mountain (Meru, lit. 'one having a golden peak or summit'), as it were, standing in the midst of the principal terrestrial mountains (called the '*Kula-Parvatas*', which are seven in number, and are enumenated in the '*Vayu-Purana*' as being the Mahendra, Malaya, Sahya, Shuktimana, Riksha, Vindhya and the Pariyattra. According to the ancient Aryan Geography, the mountain Meru is said to be in the centre of the world, while the other mountains are all around it) contracted or shrunk togethe- with fear of the thunder-bolt; who, having

had his limbs or body screened (from view) on account of a net-work of rays of light, emanating from the various (or many) jewelled ornaments (that he was wearing or putting on), was like a cloudy or rainy day, as it were, when (or on which) the eight directions are enveloped or covered over by thousands of rain-bows (lit. 'Indra's weapons.' The idea is simply this : The king was wearing bright jewelled ornaments from which brilliant rays of light of different shades or colours shot forth in all directions, with the result that his face could not, in the dazzle thereof, be distinctly perceived, and from this the poet seems to think that in this respect the king resembled a cloudy or rainy day, when there are rain-bows of various colours visible in all the directions); who was seated on a bed or couch of moon-stones beneath or under a silken canopy, which was not very spacious or large, from which rows or wreaths (lit. lumps, masses or collections) of large pearls were suspended or hanging down (on all sides), the four jewelled pillars (*i. e.*, those ornamented or set in with jewels or precious stones) of which were fastened together with chains of gold, and which (canopy) was white like heap of (the) foam of the heavenly river Ganges (lit. 'the river of the sky.' *i. e.*, the celestial Ganges) ; who had a number (lit. a heap or collection) of *Chowries* having golden handles to them, being waved (over his head) ; who had his left foot resting or placed upon a crystal foot-stool, which was (bright) like the moon prostrated as it were, with the disgrace or humiliation of being defeated by the (superior) splendour of his face from which rays of light were flashing forth or shooting upwards; who was looking bright or graceful (lit. 'shining') on account of a net-work or collection

of rays of light, emanating from the nails of his feet or toes which (nails), presenting, as they did, a dusky appearance on account of their contact with the dark reflection (lit. splendour or brightness) of the floor or pavement, that was made up of sapphires or blue coloured gems or jewels, looked as though (or if) they were being soiled or darkened with the sighs of the humbled or prostrate enemies bent low (at his feet) ; who looked beautiful (that is, was possessed of or endowed with—lit. 'shining to a degree') with a couple of thighs, that were made red by the rays of rubies (gems or precious stones of a red colour) shooting forth from his seat or throne (that was studded or set in with the same), and (as such looked like or) resembled the god Vishnu, as it were, (with his two thighs rendered) red with the gore or blood of the recently killed (or 'crushed,' demons) Madhu and Kaitabha ; who was wearing or putting on two silken garments, which were white like the foam of nectar, the borders of which were endowed with (*i. e.*, had) pairs of swans drawn or painted upon them with yellow pigment, and the hems or fringes of which were made to dance in the (slight) breeze of the beautiful Chowries ; who had his (broad) chest whitened with the application (lit. 'besmearing') of the highly fragrant sandal-paste, and had hand impressions or marks of spriklings of saffron ointment over the same, and (as such looked like or) resembled the Kailash mountain (which is white with snow), as it were, having patches of the morning (lit. young) sun-light (which is of a yellowish red colour, and thus resembles that of saffron) falling upon it at intervals who had his face encircled (lit. 'who had the circumference of his face made up') by a string or necklace of pearls,

which seemed as if it were a cluster or galaxy of stars (encircling the moon) on account of mistaking or suspecting it (*i. e.*, the face of the king) for another moon (the plain sense is, that the face of the king was beautiful like the moon, and the pearls of his necklace, which formed a sort of circumference round his face, were bright like stars ; from this the poet fancies that the pearls of his necklace resembled, or were nothing else than, the cluster of bright stars, as it were, which mistook his face for another moon, and so happened or came down to cluster around it) ; the front portions (lit. 'the tops,' *i. e.* the fore-arms) of whose hands or arms were encircled by (lit. 'surrounded,'—*i. e*, who was wearing or putting on) a pair of sapphire (which is of a dark colour) bracelets, which produced the impression (or gave rise to the fear or suspicion) as if they were the circular fetters for binding or holding fast the *Royal Fortune* that is so very fickle, and which was like (*i. e.*, appeared as if it were) a couple of snakes, as it were, greedily or covetously attracted by the fragrance of the sandal-paste (that was applied thereto, *i. e.*, the hand or arm. The pair of the dark coloured sapphire armlets, that the king was wearing on his arms, besmeared with fragrant sandal-paste, has given rise to the poet's fancy as though it were a couple of snakes, attracted by the sweet smelling fragrance of a sandal.wood tree, and so coiling round it) ; the lotus flowers on whose ears (worn as an ornament) were slightly hanging down ; whose nose was (somewhat) high or elevated ; whose eyes were (large) like a fully-blown lotus ; who had (lit. 'bore or carried') a forehead, which was possessed of or endowed with a curved thin line or arch of fine hair between the eye-brows, which

was broad like a band or tablet of pure gold, which resembled or was in form like the disc (lit. a part, portion or fragment) of the moon on the eighth day (of the bright half of a month, after the new moon), and which was purified (*i. e.*, sanctified or made holy) by the water (sprinkled over his head at the time) of his installation (or royal inauguration ceremony as sovereign) over the kingdom of the whole world; who wore (like an ornament, a wreath or garland of extremely) fragrant jasmine flowers on his head, and (as such looked like or) resembled the western mountain (*i. e.*, the mountain of the setting sun), as it were, with a cluster of stars scattered over on its peak at dawn; who, on account of his body being rendered tawny with the splendour or brilliance of his ornaments, was (extremely handsome) like (or appeared as though he were) Cupid, the god of love (lit. 'one having the mark or sign of a fish on his banner'), as it were, being enveloped or caught into the fire (lit. 'that which feeds upon the sacrificial offerings or oblations'; here the fire emanating from the third eye) of the God Shiva; who was surrounded on all sides by the dancing girls standing near him, who (as the poet fancies, were no other than or) were like the (personified) 'damsels of the directions,' as it were, come to serve or attend upon (lit. 'with the object of serving') him from all sides or directions; who, on account of (the fact of) his whole body being reflected in the bright or spotless jewelled floor or pavement, seemed as though (or if) he were being in her heart (*i. e.*, being clasped or held fast to her bosom, as it were) by the Earth out of love for her lord (the king was the lord or husband of the earth, as the poet is fancying him); who had his body (deeply) embraced by royal fortune (that is, royal grace or majesty) which was

uncommon or extraordinary, though it (*i. e.*, राजलक्ष्मी or his riches or prosperity) was made the object of enjoyment by all men (The idea is, that his *'royal fortune'* was *'common'*,— *i. e.*, open to enjoyment by all, in the sense of his riches and prosperity. and was yet *'uncommon'*, in the sense of his extraordinary or unusual majesty and royal grace. In this and the following expressions there is a pun or play upon words, which, though apparently contradictory, is explained away by the different meanings, of which they are manifestly susceptible. Here the pun is on the words *' royal fortune '* and *' common '*); who, though he had innumerable attendants (lit. ' immeasurable ', *i. e.*, an unlimited retinue of attendants or servants about him), was yet without a second (in the sense that he had no equal); who, though he had means (of accomplishing his objects or securing his victories in battle) in the form of an endless number of elephants and horses, had yet the sword alone as his helper or ally (*i. e.*, was solely dependent upon the strength and skill of his sword in time of need, and not upon all these various means for success in battle etc.); who, though remaining in one place, yet pervaded (*i. e.*, was known over or throughout) the whole world (by means of his valour or prowess); who, though occupying his seat, yet remained seated (as it were) on his bow (alone, *i. e.*, depended entirely upon his bow for victory in any cause, or counted upon his name alone, which struck terror in the hearts of his enemies, and thereby accomplished his purpose); the fire of whose valour or greatness continued to burn brightly, although he had destroyed all his enemies in the shape of fuel (*i. e.*, although it had consumed all the fuel in the shape of his enemies. The plain sense is this : Fire, after having consumed everything, cannot continue to

burn ; but in this instance it did, and it was in the shape of his great valour or glory ; and thus the apparent contradiction is explained away) ; who, though endowed with large or elongated eyes, was yet possessed of small or minute eyes or vision (*i. e.*, had yet a subtle intellect or insight, which was capable of perceiving things very minutely) ; who was the home or receptacle (*i e.*, repository) of all good qualities or virtues, although he had in him serious or great blemishes (in the shape of '*large arms*,' as it were ; the word meaning '*great blemishes*' also means '*large arms*', and this explains away the contradiction) ; who was (a great) beloved of his wife, although he was a bad husband or lord of the earth (Here the pun is on the word कुपति which means both, a 'bad hushand' and 'lord of the earth'; the latter explains away the apparent contradiction, involved in the former meaning) ; who was free from (any sort of) arrogance or pride, although he was constantly engaged in making gifts. [The pun, in this instance, is on the words दानं, which bears the double meaning of 'gift' and 'ichor', and अमदस्, which also bears the two-fold meaning of 'free from rut or ichor' and 'free from or devoid of arrogance or pride.' The विरोध or apparent contradiction in the two expressions, both arises and is explained away, very plainly, thus :—Ichor (in the shape of gifts) constantly flowed from him ; yet he was free from ichor or rut (in the shape of any pride or arrogance)] ; who, though possessed of a very pure character or disposition, was yet a man of '*dark deeds*' [in the sense that his 'life career was (grand or lofty) like that of Sri Krishna Himself'] ; (and lastly) who had the surface of the whole world lying '*on his hand*'. (*i. e.*, who had the entire world

under his absolute control), although he was '*possessed of no hands*' (in the sense, that he '*levied no taxes,*'—*i. e.*, in spite of the fact that he levied no taxes, he was [yet] the complete master of the whole world).

८—आलोक्य च सा दूरस्थितैव प्रचलितरत्नवलयेन रक्तकुवलयदलकोमलेन पाणिना जर्जरितमुखभागां वेणुलता-मादाय नरपतिप्रबोधनार्थं सकृत्सभाकुट्टिममाजघान । येन सकलमेव तद्राजकमेकपदे वनकरियूथमिव तालशब्देन तेन वेणुलताध्वनिना युगपदावलितवदनमवनिपालमुखादाकृष्य चक्षुस्तदभिमुखमासीत् ।

८—अवलोक्य च नृपं दृष्टवा च । दूरस्थितैव विप्रकृष्टस्था दूरस्थिता सा । चाण्डालजातेरस्पृश्यतया दूर एव स्थितिर्योग्या । सा चाण्डालकन्या । प्रचलितरत्नवलयेन प्रकम्पितमणिखचित-कङ्कणेन । प्रचलितं रत्नवलयं यस्मात् तेन । रक्तकुवलयदल-कोमलेन अरुणाम्बुजपलाशसुकुमारेण । रक्तं यत् कुवलयं तस्य दलवत् कोमलस्तेन । पाणिना हस्तेन । जर्जरितमुखभागाम् जीर्णाग्रप्रदेशाम् । जर्जरितो मुखभागो यस्यास्ताम् । वेणुलताम् वंशयष्टिम् । वेणोर्लता ताम् । आदाय गृहीत्वा । नरपति-प्रबोधनार्थम् नृपाभिनिवेशकरणार्थम् । नरपतेः प्रबोधनायेदं तत् सभाकुट्टिमम् समितिबद्धभूमिम् । सभायाः कुट्टिमस्तम् । सकृत् एकवारम् । आजघान ताडयामास । येन आघातेन । सकलमेव निखिलमेव । तत्तत्रत्यं राजकम् नृपसमूहः । राज्ञां समहः—इत्यर्थे गोत्रो क्षेति वुञ् । एकपदे सपदि । तालशब्देन

वाद्यविशेषोत्थितध्वनिना । तालस्य शब्दस्तेन । वनकरियूथमिव अरण्यगजवृन्दमिव । वनस्य करिणस्तेषां यूथः सः । युगपदावलितवदनम् त्वरितपरावर्त्तितमुखम् । चक्षुः लोचनम् । आकृष्य परिहार्य । तदभिमुखम् चाण्डालसुतासम्मुखम् । आसीत् अभूत् । यथा तालशब्देन वन्यगजाकर्षणम् तथा वेणुलताघातेन नृपचक्षुः समाकर्षः ।

८—उसने (चाण्डाल कन्या ने) महाराज को देखकर दूर से ही अपने लाल कमल के पत्ते के समान कोमल तथा हिलते हुए रत्नजटित कंकण से युक्त हाथ में एक ऐसी बाँस की छड़ी लेकर, जिसका अग्रभाग फटा हुआ था, राजा को (अपनी उपस्थिति की) सूचना देने के लिए (उस छड़ी से) फर्श पर एक बार आघात किया । परिणाम-स्वरूप वह समस्त राजसमूह उस बाँस की छड़ी के शब्द से सहसा अपना मुख उसकी ओर घुमाकर तथा अपने नेत्रों को महाराज के मुख की ओर से (आकृष्ट होकर) हटा कर, उसकी ओर इस प्रकार देखने लगा जैसे ताल वृक्ष के (गिरने के) अथवा ताल नामक वाद्य के शब्द से (आकृष्ट) गजयूथ ।

शब्दार्थ—सकृत्—एक बार । आजघान—मारा, चोट की । युगपत्—एक साथ ।

8. And having seen or looked at him, she, while yet standing at a distance, having taken up a bamboo stick that was shattered at the end, with (or in) her hand, that was delicate like the petal of a red lotus, and the jewelled bracelets on which were (thereby) set in motion, once' struck the floor or pavement of the assemblyhall. with the object of arousing (*i. e.*, with a view to attracting the attention of) the king. As a result of which (incident), the whole of that group or assemblage of (feuda-

tory) kings or princes, having, all of a sudden, had their faces turned or attracted by that sound of the bamboo stick, like a herd of wild elephants (having their attention drawn or attracted) by the sound of a musical instrument or the falling of a *Tala* tree, had after having withdrawn their eyes from the side (lit. 'face') of the king, their faces at once turned towards her.

९—अवनिपतिस्तु दूरादालोकयेत्यभिधाय प्रतीहार्या निर्दिश्यमानां तां वयःपरिणामशुभ्रशिरसा रक्तराजीवेक्षणापाङ्गेनानवरतकृतव्यायामतया यौवनापगमेप्यशिथिलशरीरसंधिना सत्यपि मातङ्गत्वेनातिनृशंसाकृतिनानुगृहीतार्यवेषेण धवलवाससा पुरुषेणाधिष्ठितपुरोभागामाकुलाकुलकाकपक्षधारिणा कनकशलाकानिर्मितमप्यन्तर्गतशुकप्रभाश्यामायमानं मरकतमयमिवपञ्जरमुद्वहता चाण्डालदारकेणानुगम्यमानामसुरगृहीतामृतापहरणकृतकपटपटुविलासिनीवेषस्य श्यामतया भगवतो हरेरिवानुकुर्वतीं सञ्चारिणीमिवेन्द्रनीलमणिपुत्रिकामागुल्फावलम्बिना नीलकञ्चुकेनावच्छन्नशरीरामुपरि रक्तांशुकरचितावगुण्ठनां नीलोत्पलस्थलीमिव निपतितसंध्यातपामेककर्णविसक्तदन्तपत्रप्रभाधवलितकपोलमण्डलामुद्यदिन्दुकिरणच्छुरितमुखीमिव विभावरीमाकपिलगोरोचनारचिततिलकतृतीयलोचनामीशानरचितानुरचितकिरातवेषामिव भवानीमुरःस्थलनिवाससंक्रान्तनारायणदेहप्रभाश्यामलितामिव श्रियं कुपितहरहुताशनदह्यमानमदनधूममलिनीकृतामिव रति-

मुन्मदहलिहलापकर्षणभयपलायितामिव यमुनामतिबहल-पिण्डालक्तकरसरागपल्लवितपादपङ्कजामचिरमृदितमहिषा-सुररुधिररक्तचरणामिव कात्यायनीमालोहताङ्गुलिप्रभापाटलितनखमयूखामतिकठिनमणिकुट्टिमस्पर्शमसहमानां क्षितितले पल्लवभङ्गानिव निधाय सञ्चरन्तीमापिञ्जरेणोत्सर्पिणा नूपुरमणीनां प्रभाजालेन रञ्जितशरीरतया पावकेनेव भगवता रूप एव पक्षपातिना प्रजापतिमप्रमाणीकुर्वता जातिसंशोधनार्थमालिङ्गितदेहामनङ्गवारणशिरोनक्षत्रमालायमानेन रोमराजिलतालवालकेन मेखलादाम्ना परिगतजघनस्थलामतिस्थूलमुक्ताफलघटितेनशुचिना हारेणगंगास्रोतसेव कालिन्दीशङ्कया कृतकण्ठग्रहां शरदमिव विकसितपुण्डरीकलोचनां, प्रावृषमिव घनकेशजालां मलयमेखलामिव चन्दनपल्लवावतंसां, नक्षत्रमालामिव चित्रश्रवणीभरणभूषितां श्रियमिव हस्तस्थितकमलशोभां मूर्छामिव मनोहारिणीमरण्यभूमिमिवाक्षतरूपसंपन्नां दिव्ययोषितमिवाकुलीनां निद्रामिव लोचनग्राहिणीमरण्यकमलिनीमिव मातङ्गकुलदूषितामभूर्तामिव स्पर्शवर्जितामालेख्यगतामिव दर्शनमात्रफलां मधुमासकुसुमसमृद्धिमि व विजातिमनङ्गकुसुमचापलेखामिव मुष्टिग्राह्यमध्यां यक्षाधिपलक्ष्मीमिवालकोद्भासिनीमचिरोपरूढयौवनामतिशयरूपाकृतिमनिमेषलोचनो ददर्श ।

९—अवनिपतिस्तु शूद्रकस्तु। दूरादालोकय विप्रकृष्टात् पश्य। इत्यभिधाय इत्युक्त्वा। प्रतीहार्या द्वारपालिकया। निर्दिश्यमानाम् बोध्यमानाम्। ताम् चाण्डालकन्यकाम्। अनिमेषलोचनः निमेषोन्मेषरहितनयनः सन्। ददर्शेत्यन्वयः। वयःपरिणाम-शुभ्रशिरसा आयुराधिक्यधवलमस्तकेन। वयसः परिणामेन शुभ्रशिरो यस्य तेन। रक्तराजीवनेत्रापाङ्गेन लोहित-कमल-लोचन-प्रान्तेन, रक्तं यद्राजीवं तद्वन्नेत्रापाङ्गो यस्य तेन। अन-वरतकृतव्यायामतया, निरन्तरविहितपरिश्रमतया, अनवरतं कृतो व्यायामो येन तस्य भावस्तत्ता तया। यौवनापगमेऽपि तारुण्यनिवृत्तावपि, यौवनस्यापगमस्तस्मिन्। यूनो भावो यौवनम् 'हायनान्तयुवादिभ्योऽण्' इत्यण्। अशिथिलशरीरसन्धिना दृढदेहबन्धेन। अशिथिलाः शरीरस्य सन्धयो यस्य तेन। मातङ्गत्वे चाण्डालत्वे। सत्यपि भवत्यपि। नातिनृशंसाकृतिना अभीषणाकारेण। नातिनृशंसा आकृतिर्यस्य तेन। अनुगृहीतार्य्य-वेषेण स्वीकृतसभ्यपरिधानेन, अनुगृहीत आर्यवेषो येन तेन। शुभ्रवाससा धवलवस्त्रेण, शुभ्राणि वासांसि यस्य तेन। पुरुषेण पुंसा। अधिष्ठितपुरोभागाम् आश्रिताग्रप्रदेशाम्, अधिष्ठितः पुरोभागो यस्यास्ताम्। आकुलाकुलकाकपक्षधारिणा सर्वतो-लुलितशिखण्डवता, आकुलादाकुलश्चासौ काकपक्षस्तं धरतीति तेन। कनकशलाका-निर्मितमपि सुवर्णेषीकारचितमपि। अन्तर्गतशुकप्रभा-श्यामायमानम् मध्यस्थकीरकान्तिकृष्णितम्। अन्तर्गतो यः शुकस्तस्य प्रभया श्यामायमानस्तम्। मरकतमयमिव नीलमणिनिर्मितमिव। पञ्जरम् पक्षिबन्धनम्, उद्वहता धारयता।

चाण्डाल-दारकेण मातङ्गकुमारेण । अनुगम्यमानाम् अनुस्रियमाणाम् । असुरगृहीतामृताहरणकृतकपटपटुविलासिनीवेषस्य दानवायत्तसुधापहृतिविहितकैतवकुशलवरवर्णिन्याकारस्य । असुरैर्गृहीत यदमृतं तस्यापहरणे कृतं यत् कपटं तत्र पटुर्विलासिन्याः वेषो यस्य तस्येति तथोक्तस्य । भगवतो नारायणस्य । हरेः विष्णोः । श्यामतया नीलिम्ना । अनुकुर्वतीम् अनुकुर्वाणाम् । सञ्चारिणीम् गमनशीलाम् । सञ्चरितुं शीलमस्यास्ताम् । इन्द्रनीलमणिपुत्रिकाम् । इन्द्रमणिपञ्चालिकाम इव । इन्द्रनीलमणीनां पुत्रिका ताम् । आगुल्फावलम्बिनीलकञ्चुकेन आघुटिकलम्बमानहरितवारबाणेन । 'कञ्चुको वारवाणोऽस्त्री'—इत्यमरः । गुल्फावलम्बी यो नीलः कञ्चुकस्तेन । आच्छन्नशरीराम् आवृतदेहाम् । उपरिरक्तांशुकरचितावगुण्ठनाम् उपरिष्टाल्लोहितवासोनिर्मितमुखाच्छादनाम् । रक्तांशुकेन रचितमवगुण्ठनं यया ताम् । निपतितसन्ध्यातपाम् उपरिप्राप्तसायंकालिकघर्माम्, निपतितः सन्ध्यातपो यस्यान्ताम् । नीलोत्पलस्थलीम् इन्दीवराकृत्रिमभूमिमिव । स्थलशब्दात्-जानपदेति-सूत्रात् अकृत्रिमभूमावर्थे ङीष् । एक-कर्णावसक्त-दन्तपत्रप्रभा-धवलित-कपोल-मण्डलाम् एक-श्रोत्र लग्न-कर्णभूषणविशेषकान्ति-शुभ्रगण्ड-प्रदेशाम् । एकस्मिन् कर्णेऽवसक्तं यद्दन्तपत्रं तस्य प्रभया धवलितं कपोलमण्डलं यस्यास्ताम् । उद्यदिन्दुकिरणच्छुरितमुखीम् उदयमानरजनीपति-रश्मिसम्बद्ध-प्रारम्भाम् । विभावरीम् निशाम् । आकपिलगोरोचनारचिततिलक-तृतीयलोचनाम् ईषत्-पीतरक्तगोपित्त-निर्मित-पुण्ड्रक-तृतीयनेत्राम्, आकपिला या गोरोचना तया रचितं यत् तिलकन्तदेव तृतीयं लोचनं यस्यास्ताम् ।

ईशानरचितानुरचितकिरातवेषाम् शिवविहितानुविहितव्याध-नेपथ्याम्, ईशानेन रचितस्तमनुरचितः किरातस्य वेषो यया ताम् । भवानीम् गौरीमिव । इन्द्रवरुणभवेति भवशब्दात् आनुगागमे ङीष् भवानी । 'पुरा किलार्जुने पाशुपतास्त्र-लाभाय तपश्चरति वराहरूपधारिणमर्जुनं हन्तुकामं प्रयान्त-मर्जुनमभि मूकदानवं दृष्ट्वा कृतकिरातवेषः पिनाकी तं हन्तुमभिगतवान् तमनुकुर्वाणा विहित-व्याधवेषा भवान्यपि तम-नुगतवती' इति महाभारतीया कथा । उरःस्थलनिवास-संक्रान्त-नारायणदेहप्रभाश्यामलिताम् वक्षःस्थल-निवसन-प्रतिबिम्बित-हरि-शरीर-कान्तिनीलाम्, उरःस्थलनिवासेन संक्रान्तो यो नारायणदेह-स्तस्य प्रभातया श्यामलिताम् । श्रियम् लक्ष्मीमिव । कुपित-हरहुताशनदह्यमानमदनधूममलिनीकृताम् क्रुद्धपशुपतिज्वलनज्वल्य-मानमन्मथधूम्रमलीमसाम्, कुपितो यो हरस्तस्य हुताशनेन दह्यमानो यो मदनस्तस्य धूमेन मलिनीकृताम् । रतिमिव मदनवनितामिव । 'तपस्यतः शिवस्य तपः खण्डयितुं देवप्रहितस्य मदनस्य विनाशः कुपितेन शिवेन तृतीयलोचन-वह्निपुञ्जेन । विहितः' तदनु आकीर्ण-शोकाकुला कामवधू विललापेति पौराणिकी वार्ता । उन्मदहलिहला-पकर्षणभयपलायिताम् प्रमत्तबलभद्र-लाङ्गलाकृष्टि-भीति-प्रनष्टाम् कालिन्दीम् यमुनाम् । कलिन्दस्यापत्यं स्त्रीति कालिन्दी । अति-बहलपिण्डालक्तकरसरागपल्लवितपादपङ्कजाम् अतिसान्द्रपिण्डीभूत-यावकद्रवरक्तिमजातपत्रचरणकमलाम् । अतिबहलो यः पिण्डालक्तकः तस्य रसस्य यो रागस्तेन पल्लवितं पादपङ्कजं यस्यास्ताम् । अचिर-मृदित-महिषासुर-रुधिररक्तचरणम् तत्काल-क्षोदित-महिषा-

सुर-रक्तलोहित-पदाम्, अचिरमृदितो यो महिषासुरस्तस्य रुधिरेण रक्तौ चरणौ यस्यास्ताम् । कात्यायनीम् भवानीमिव । आलोहिताङ्गुलि-प्रभापाटलित-नख-मयूखाम् आरक्तकरशाखा-कान्तिश्वेत-रक्तीभूत-पुनर्भव-दीधितिम् । आलोहितानामंगुलीनां प्रभया पाटलिता नखमयूखा यस्यास्ताम्, नखानामारुण्यात् स्वत एव पाटलत्वेऽपि तथा मिश्रीभाव एव पाटलताऽत्र बोध्या । अतिकठिन-मणि-कुट्टिमस्पर्शम् अतिशय-रत्नखचित-बद्ध-भूमिच्छुरणम् । अतिकठिनो यो मणिकुट्टिमस्तस्य स्पर्शस्तम् । असहमानाम् अक्षममाणाम् । (अतएव चरणयोः पल्लवितत्ववर्णनम्) । क्षितितले भूतले । पल्लवभङ्गान् पत्रखण्डान् । पल्लवानां खण्डास्तान् । निधाय स्थापयित्वा । संचरन्तीम् चलन्तीमिव । आपिञ्जरेण ईषत्पीत-रक्तेन । 'पीतरक्तस्तु पिञ्जरः' इति चिन्तामणिः । उत्सर्पिणा सर्वतः प्रसारिणा । नूपुर-मणीनां मञ्जीर-रत्नानाम्, नूपुराणां मणयस्तेषाम् । प्रभाजालेन कान्तिपुञ्जेन । प्रभाणां जालन्तेन । रञ्जित-शरीरतया अनुरञ्जित-देहतया, रञ्जितं शरीरं यस्यास्तस्या भावस्तत्ता तया । रूप एव पक्षपातिना सौन्दर्यं एव साग्रहेण । प्रजापतिम् अप्रमाणीकुर्वता, विधातारं प्रमाणतयाऽनङ्गीकृतवता । ईदृशरमणीयरूपवत्या अस्या उपभोगयोग्यजातौ जन्म कुतो न कृत-मिति भावः । भगवता माहात्म्यवता । पावकेन वह्निना । जाति-संशोधनार्थम् चाण्डालत्वजातिनिवृत्तये, स्पृश्यत्वसम्पादनार्थम्, यतोऽग्नौ सर्वमपि अशुचिवस्तु विशुध्यतीति भावः । आलिङ्गित-देहामिव आश्लिष्टशरीरामिव । अनङ्गवारण-शिरोनक्षत्रमालायमा-नेन मदनगजमस्तकं सप्तविंशति-संख्यक-मौक्तिक-माल्यवदाचरता, अनङ्गस्य वारणस्तस्य शिरसि नक्षत्रमालिव माला तद्वदाचरता ।

आचारार्थे क्यङ् । ततः कर्त्तरि शानच् । सप्तविंशति-मुक्ताभिर्निमिते हारभेदे नक्षत्रमाला । रोमराजिलतालवालकेन नाभेरूर्ध्वङ्गामिन्या लोमपङ्क्तया लतायाः स्वल्पजलाधारस्वरूपेण, रोमराजिरेव लता तस्य आलवालकस्तेन । रसनादाम्ना मेखलागुणेन। परिगतजघनाम् परिवेष्टितकटिपुरोभागाम् । 'कटचाः क्लीवे तु जघनंपुरः'—इत्यमरः । परिगतं जघनं यस्यास्ताम् । अतिस्थूलमुक्ताफलघटितेन स्थविष्ठ-मौक्तिक-निष्पादितेन । अतिस्थूलैर्मुक्ताफलैर्घटितस्तेन । शुचिना विशदेन । हारेण चतुःषष्टिलतेन । 'चतुःषष्टिलतो हारः'—इत्यमरः । कालिन्दीशङ्कया यमुनाभ्रमेण, कालिन्द्याः शङ्का तया । गङ्गास्रोतसा जान्हवीप्रवाहेणेव, गङ्गायाः स्रोतः तेन । कृतकण्ठग्रहाम् आश्लिष्टगलाम् । चाण्डालकन्याया असितवर्णत्वात् यमुनासाम्यम् । विकसितपुण्डरीकलोचनाम् प्रफुल्लपङ्कजनेत्राम् । विकसितानि पुण्डरीकाणि तद्वल्लोचने यस्यास्ताम्; शरत्पक्षे विकसितानि पुण्डरीकाणि एव लोचनानि यस्यास्ताम् । शरदमिव घनात्ययवेलामिव । घनकेशजालाम् सान्द्रकचसमूहाम्, प्रावृट्पक्षे मेघकचसमूहाम्; घनानां केशानां जालानि यस्यास्ताम्, पक्षे घना एव केशास्तेषां जालानि यस्याम् ताम् । प्रावृषमिव वर्षावेलामिव । चन्दनपल्लवावतंसाम् पाटीरपलाशभूषणाम्, चन्दनस्य पल्लवानामवलम्बो यस्यास्ताम्; पक्षे चन्दनस्य पल्लवा एव अवतंसो यस्यास्ताम् । मलयमेखलामिव मलयाचलमध्यभागभूमिमिव चित्रश्रवणाभरणभूषिताम् विविधश्रोत्रालङ्कारालङ्कृताम्, पक्षे चित्राश्रवणनामकनक्षत्रभूषणभूषिताम् । चित्राणि श्रवणे आभरणानि तैः भूषिता ताम्, पक्षे चित्राश्रवणनामके नक्षत्रे एवाभरणं तेन भूषिता ताम् । नक्षत्रमालामिव तारकराशिमिव,

नक्षत्राणां माला ताम् । हस्तस्थितकमलशोभाम् करगतसरोजकान्तिम् । हस्ते स्थिता कमलस्य शोभा यस्यास्ताम् । श्रीपक्षे हस्ते स्थितं यत्कमलं तेन शोभा यस्यास्ताम् । श्रियमिव पद्मामिव । मनोहारिणीम् मनोहराकृतिम्, पक्षे नष्टचेतनस्वरूपतया मानसहारिकाम्, मनो हर्त्तुं शीलमस्यास्ताम् । मूर्च्छाम् मोहावस्थाम् । रूपसम्पन्नाम् सौन्दर्यवतीम्, अन्यत्र पशु-विशेषसङ्गताम्, 'रूपं तु श्लोकशब्दयोः । पशावाकारे सौन्दर्ये च'—इत्यनेकार्थः; रूपेण सम्पन्ना, पक्षे रूपैः सम्पन्ना ताम् । अरण्यभूमिमिव वनस्थलीमिव । अकुलीनाम् दुष्कुलोत्पन्नाम्, पक्षे पृथिव्यामस्थिताम् । कुले जातेति कुलीना सा न भवतीत्यकुलीना । अन्यत्र कौलीनेति कुलीना न सा ताम् 'गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी'—इत्यमरः । लोचनग्राहिणीम् नेत्राकर्षिणीम्, पक्षे सनिमेषोन्मेषनेत्रग्राहिणीम् । निद्रामिव स्वापावस्थामिव । मातङ्गकुलदूषिताम् चाण्डालवंश-मलिनाम्, अन्यत्र गजवृन्दोपमर्दिताम् मातङ्गस्य कुलेन दूषिताम्, पक्षे मातङ्गानां कुलैर्दूषिताम् । अरण्यकमलिनीम् वनसरोजिनीमिव । स्पर्शवर्जिताम् अस्पृश्याम्, पक्षान्तरे स्पर्शगुणरहिताम् । अमूर्त्ताम् इयत्तावच्छिन्नपरिमाणरहितां बुद्धिमिव । दर्शनमात्र-फलाम् अवलोकनैकप्रयोजनाम् दर्शनमात्रं फलं यस्यास्ताम्, चाण्डालत्वात् न तूपभोगयोग्यामिति तात्पर्यम् । आलेख्यगताम् चित्रगतपुत्रिकामिव, आलेख्यं गता ताम् । द्वितीया श्रितेत्यादिना समासः । अजातिम् ब्राह्मणत्वादिजातिवर्जिताम् । पक्षे मालतीरहिताम् मधुमासकुसुमसमृद्धिम् चैत्रपुष्पसम्पदमिव । मधुमासे या कुसुमस्य समृद्धिस्ताम् । 'न स्याज्जाती वसन्ते'—इति कविसमयप्रसिद्धेः । मुष्टि-

ग्राह्यमध्याम् कृशोदरीम्, पक्षे मुष्टिमेयमध्यभागाम्, मुष्टिना ग्राह्यो मध्यो यस्यास्ताम् । अनङ्गकुसुमचापलेखामिव कन्दर्पपुष्पधनूरेखामिव, अनङ्गस्य यः कुसुमचापस्तस्य लेखा ताम् । अलकोद्भासिनीम् चूर्णकुन्तलशोभिनीम्, पक्षे अलकापुरीभूषिताम् । अलकैः पक्षे अलकया उद्भासितुं शीलं यस्यास्ताम् । यक्षाधिपलक्ष्मीम् कुबेरश्रियमिव । अचिरोपरूढयौवनाम् त्वरितप्राप्ततारुण्याम्, अचिरमुपरूढं यौवनं यस्यास्ताम् । अतिशयरूपाकृतिर्यस्यास्ताम् । चाण्डालदुहितरम् । अनिमेषलोचनः सन् । शूद्रको ददर्श दृष्टवान् ।

९—'दूर से ही देखो' (अर्थात् अभिवादन करो, क्योंकि चाण्डालकन्या का राजा के निकट जाना उचित नहीं है)—यह कहकर प्रतिहारी ने (उस चाण्डाल-कन्या को) राजा के सम्मुख उपस्थित किया (अथवा राजा को दिखाया)। राजा ने उस अत्यन्त रूपवती (कन्या को), जिसके शरीर में नवयौवन ने अभी पादार्पण ही किया था, अपलक-दृष्टि से देखा। उसके आगे एक (वृद्ध) पुरुष था। वृद्धावस्था के कारण उसका सिर (संकेत सिर के बालों की ओर है) सफेद था। उसके नेत्रों के कोने रक्त कमल के समान (लाल) थे। निरन्तर व्यायाम करने के कारण, यौवन के चले जाने पर भी, उसके शरीर के बन्ध शिथिल नहीं हुए थे; चाण्डाल होने पर भी उसकी आकृति क्रूर (अथवा भयंकर) नहीं थी, वह सभ्य जनों के वेष में था और शुभ्र वस्त्र धारण किए हुए था। उस चाण्डाल-कन्या के पीछे एक चाण्डाल जाति का बालक था। उसकी लटें इधर-उधर बिखर रही थीं और वह हाथ में एक (ऐसा) पिंजड़ा लिए हुये था, जो कि स्वर्ण शलाकाओं से निर्मित होने पर भी अन्दर बन्द किये गये तोते की प्रभा से (कुछ-कुछ) श्याम-वर्ण होकर, मरकतमणि (पन्ने) का बना हुआ प्रतीत होता था। वह चाण्डाल-कन्या अपने श्यामवर्ण के कारण राक्षसों के द्वारा गृहीत अमृत को छीनने के लिए माया द्वारा मोहिनी रूप धारण

करने वाले भगवान विष्णु के समान लगती थी। श्यामता के कारण ही वह इन्द्रनील मणि की बनी हुई चलने वाली पुतली-सी मालूम पड़ती थी। उसका शरीर नीलवर्ण के कंचुक (वस्त्र-विशेष) के द्वारा, जो कि उसके टखनों या पर की गाँठों तक लटक रहा था, ढका हुआ था और उसके ऊपर वह लाल रंग की रेशमी ओढ़नी ओढ़े हुई थी। इस कारण वह ऐसी प्रतीत होती थी मानो नील कमल की स्थली (कृत्रिम-भूमि) हो और उस पर सन्ध्याकालीन लाल धूप पड़ रही हो (उसका नील कंचुक नीलोत्पल के समान था और लाल ओढ़नी सन्ध्या समय की लाल किरणों के समान)। वह एक कान में हाथीदाँत का बना हुआ कर्णाभूषण धारण किये हुए थी। उसकी प्रभा से उसका कपोल-स्थल धवल (श्वेत) हो गया था, इससे प्रतीत होता था मानो वह (अपने श्यामवर्ण के कारण) रात्रि हो और उसका मुख (रात्रिपक्ष में प्रारम्भ का याम) उदय होते हुए चन्द्रमा की किरणों से प्रकाशित हो रहा हो। (महाभारत के अनुसार एक बार पाशुपतास्त्र के लिए तपस्या करते हुए अर्जुन की परीक्षा लेने के लिए भगवान् शंकर किरात अथवा भील का वेष धारण करके उसके पास गये)। शिवजी के समान ही किरात-वेष धारण करके पार्वती भी उनके पीछे गयीं। (यह चाण्डाल-कन्या भी) कुछ-कुछ कपिल (पीत-रक्त) रंग का तिलक रूपी तृतीय नेत्र धारण किये हुए थी, अतएव (किरातवेषा) भवानी के समान प्रतीत होती थी। वह भगवान् विष्णु के वक्षस्थल में निवास करने के कारण उनके शरीर के प्रतिबिम्ब की प्रभा से श्यामता को प्राप्त, लक्ष्मी के समान थी, (अपने लावण्य और श्याम-वर्ण के कारण) वह ऐसी मालूम पड़ती थी मानो (कामपत्नी) रति ही क्रुद्ध हुए शंकर के (तृतीय लोचन की) अग्नि से जलते हुए कामदेव के धुएँ से काली पड़ गयी हो। वह मदमत्त बलराम जी के हल से खींचे जाने के भय से भाग कर आई हुई (श्यामवर्णा) यमुना के समान प्रतीत होती थी। उसके चरण-कमल (कमल के समान सुन्दर चरण) लाख-पिण्ड के गाढ़े लाल रंग से रँगे होने के कारण (लाल-लाल) किसलयों से युक्त प्रतीत होते थे और इस कारण ऐसा मालूम

होता था कि मानो वह (भगवती) दुर्गा, जिनके चरण हाल के मारे हुए (कुचले हुए) महिषासुर के रक्त से लाल हो गये हों, उसकी अत्यन्त लाल-लाल अंगुलियों की प्रभा से उसके नखों की किरणें अथवा कान्ति गुलाबी-सी हो गयी थी, मानो मणियों के अत्यन्त कठोर फर्श के स्पर्श को न सह सकने के कारण वह (नखों की लाल कान्ति के रूप में) पृथ्वी पर कोमल किसलय-खण्डों को बिछा कर चल रही हो। उसके नूपुरों के मणियों की ऊपर की ओर फैलती हुई (किरणों के) कुछ पीले-से प्रभा-जाल से उसका शरीर रंजित हो गया था, जिससे ऐसा मालूम पड़ता था मानो सौन्दर्य को ही अधिक महत्त्व और आदर देने वाले अग्निदेव ने (उसके रूप में अनुरक्त होकर) और प्रजापति (ब्रह्मा) की व्यवस्था अथवा आदेश को उपेक्षा करके--, (भाव यह है कि ब्रह्मा ने उसे चाण्डाल कुल में उत्पन्न करके अस्पृश्य बनाया था, परन्तु अग्निदेव ने उनके इस विधान को स्वीकार नहीं किया)--उसकी जाति को शुद्ध करने के लिए उसके शरीर का आलिङ्गन कर लिया हो। कामदेव के हाथी के मस्तक की नक्षत्र-माला (२७ मुक्ताओं की माला क्योंकि नक्षत्र २७ माने गये हैं) तथा नाभिप्रदेश के समीप स्थित रोमावली रूपी लता के आलवाल (थाले) के समान (दिखाई पड़ने वाली) करधनी उसके कटि प्रदेश में पड़ी हुई थी। [भाव यह है कि कटि में पड़ी हुई मेखला थाले के समान थी और नाभि के पास स्थित रोमपंक्ति (रोमराजि) उस थाले में से निकलने वाली लता के समान थी। पुनः उसका कटि-प्रदेश कामदेव के हाथी के मस्तक के समान था, अतएव मुक्ताओं की माला कामदेव के हाथी के मस्तक की मुक्ताओं के समान प्रतीत होती थी।] बड़े-बड़े मोतियों का श्वेत-वर्ण हार उसके कण्ठ में था, जिससे ऐसा प्रतीत होता था मानो (श्यामता के कारण) उसे (श्याम-वर्ण) यमुना समझकर (मुक्ताओं के समान श्वेत जलवाली) गंगा उससे गले मिल रही हो। खिले हुए कमल के समान नेत्रों के कारण वह विकसित कमल रूपी नेत्रोंवाली शरद् (ऋतु) के समान थी। अपने घने केशों के समूह (अर्थात् घनी कुन्तलराशि) के कारण घन (मेघ) रूपी बालों से युक्त

वर्षा (ऋतु) सी जान पड़ती थी । वह चन्दन के (वृक्ष के) पत्तों के आभूषण धारण किये हुए थी, अतएव चन्दन के वृक्षों के पत्तों से (आभूषणों के समान) शोभित मलयपर्वत के मध्यभाग की भूमि की तरह थी । जिस प्रकार नक्षत्रमाला चित्रा, श्रवण तथा भरणी नामक नक्षत्रों से सुशोभित (युक्त) रहती है, उसी प्रकार वह भी चित्र-विचित्र (अथवा विविध प्रकार के) श्रवण (कान) के आभरणों (अभूषणों) से अलंकृत थी । उसके हाथ कमल के समान सुन्दर (कमल की शोभा से युक्त) थे, अतएव वह हाथ में लिये हुए कमल से सुशोभित लक्ष्मी के समान दिखाई दे रही थी। मूर्च्छा जिस प्रकार मन (चेतना) को हर लेती है, उसी प्रकार वह (अपनी सुन्दरता से) मन को हरने वाली (मनोहारिणी) थी । जिस प्रकार वनभूमि अक्ष-तरुओं (अक्ष के वृक्षों) से उपसंपन्न (युक्त) होती है, उसी प्रकार वह (चाण्डाल-कन्या) भी अक्षत रूप (निर्दोष सौन्दर्य) से संपन्न (युक्त) थी । जिस प्रकार देवाङ्गना अ--कु--लीना (कु--पृथ्वी--में लीन -- स्थित नहीं) होती है, (अर्थात् स्वर्ग में रहती है अथवा उसके चरण भूमितल का स्पर्श नहीं करते हैं), उसी प्रकार वह भी अ-कुलीना (कुलीन नहीं, अर्थात् चाण्डाल कुल में उत्पन्न) थी । जिस प्रकार निद्रा नेत्रों के व्यापार (निमेषोन्मेष) को रोक देती है उसी प्रकार वह (अपने सौंदर्य से) नेत्रों को आकर्षित कर लेती थी (अर्थात् देखने वाला उसे अनिमेष दृष्टि से देखने लगता था) । मातङ्गकुल (चाण्डाल-कुल) में उत्पन्न होने से दूषित होने के कारण वह मातङ्गकुल (हस्ति-समह) से दूषित (मर्दित) वन-कमलिनी की भाँति थी । अस्पृश्य होने के कारण मानो वह अमूर्त-सी थी (क्योंकि अमूर्त अथवा निराकार का भी स्पर्श संभव नहीं है । (चाण्डाल कुल मे उत्पन्न होने के कारण) केवल दूर से उसका दर्शन ही सम्भव था (उपभोगादि नहीं), अतएव मानो वह केवल चित्र में अंकित हो । (सौन्दर्य और यौवन से युक्त होने पर भी) वह अ-जाति (जातिहीन, मनु आदि स्मृति-कारों के अनुसार अन्त्यजों की कोई जाति नहीं होती) होने के कारण मानो अ-जाति (जाति—चमेली के पुष्पों से रहित) चैत्रमास की पुष्प समृद्धि थी । कामदेव के पुष्पधनुष की डोरी के समान (पतली) होने के कारण

उसकी कमर भी (धनुष की डोरी के समान) मुट्ठी में आ सकती थी। अलकोद्भासिनी (अलकों--बालों--से सुशोभित) होने के कारण वह अलकोद्भासिनी (अलका नगरी को सुशोभित करने वाली), यक्षाधिप कुबेर की लक्ष्मी-सी प्रतीत होती थी।

शब्दार्थ--अपाङ्गः—आँखों का कोना; मातङ्गत्व—चाण्डालत्व; आकुलाकुलः—इतस्ततः संलग्नः; काकपक्षः—बालों की लट; आगुल्फावलम्बिना—घुटनों तक लटकने वाला; छुरितं--रंजितम्; हुताशनः—अग्नि; हली—हल धारण करने वाला अर्थात् बलराम जी; मृदितः--कुचला हुआ अथवा मारा हुआ; कात्यायनी—दुर्गा; पल्लवभङ्गान्—पल्लवखण्डान्; आपिंजरेण—पीतरक्तेन; अनङ्गः--कामदेव, नक्षत्रमाला—नक्षत्रों का समूह अथवा २७ मुक्ताओं की माला, क्योंकि नक्षत्र २७ माने जाते हैं; आलवालं--थाला।

9. The king (lit. the 'lord of the earth'), on his part (or however), looked with unwinking eyes at her, who was being pointed out (to him) by the portress or the female door-keeper, after having said this (to her). 'Address your words of salutation (lit. 'see', *i.e.*, express your greetings) from a distance', who was being preceded (*i. e.*, led or escorted by being 'placed in front of her') by a man, whose head was grey on account of his old or advanced age (lit. 'maturity of age', *i. e.*, whose head had turned grey or hoary as a result of his ripe age) the corners of whose eyes were (red) like a red lotus-flower, the joints of whose body had not become loose (*i. e.*, were still firm) even though his youth had departed (*i. e.*, in spite of the decline or passing away of his youth), on account of the fact that he constantly or incessantly took physical exercise, whose external appearance was not very harsh or cruel-looking, although he was a '*Chandala*' or outcast (lit.

in spite of the 'existence of the state of his Chandala-hood'), who had adopted the dress of (*i. e.*, was dressed like) a respectable person, and was putting on a white garment, and who (*i. e.*, the Chandala girl) was being followed by a Chandala lad, who (*i. e.*, the lad) had locks of hair that were moving or hanging very irregularly (about the sides of his head), and who was carrying a cage, which, though made of bars of gold, yet appeared or looked as if it were made of emeralds (which are precious stones of a green colour), owing to the fact that it was made to present a darkish (or greenish) appearance (*i. e.*, was rendered darkish) on account of the splendour or lustre of the (green-coloured) parrot that was confined inside it ;—who (*i. e.*, the Chandala girl), on account of her dark features or colour (lit. 'darkness'), seemed to imitate the Venerable or Illustrious Vishnu, as it were, who had fraudulently assumed the clever form or guise of a beautiful lady at the time (or on the occasion) of snatching away the nectar seized or carried off by the demons; who (being of a dark complexion) looked as if she were a walking or moving doll of sapphire: who had her body covered with a blue garment, that reached or hung down up to her knees or ankles, who, in the upper part whereof (lit. 'over which' blue garment), was putting on a veil made of red silk, and (as such) looked as if she were a bed of blue lotuses, covered over with or enveloped in (lit. 'over which had fallen') the evening sunshine (lit. the 'evening heat of the sun', which is of a reddish colour); who had her rounded cheeks or the region of her temples rendered white with the bright splendour or lustre of the ear-ornament made of ivory (lit. 'ivory leaf') attached to

(lit. 'clung to', *i.e.*, hanging from) one of her ears, and (as such) looked like a night, as it were, having its face (*i. e.*, the earlier or opening part of it) spread over with the rays of the rising moon ; who was like *Bhavani* or *Parvati* (the Consort of Shiva), as it were, having assumed or put on the form (*i. e.*, the guise or dress) of a *Kirāta* woman (*i. e.*, one belonging to a mountaineer or wild hunting class of people) following or in imitation of (that put on by) her Lord (the god Shiva), and having her third eye constituted, as it were, by the round sacred sectarial mark, made with the pigment of a slightly tawny colour, on her forehead ; who (with her dark complexion) was like *Shri or Lakshmi* (the fair-looking goddess of wealth or prosperity) as it were having been rendered dark by the (reflected) lustre of the (dark) body of *Narayana or Vishnu*, transmitted (lit. clinging or remaining attached) to her (own body) on account of her reclining (lit. 'dwelling or residing') on His bosom or chest; who was like *Rati* (the fair-looking wife of Cupid, the god of love), as it were, having been darkened by the smoke arising out of (the body of) Cupid in the process of being burnt by the fire (proceeding or issuing from the third eye) of the angry Shiva; who (with her dark complexion—to be understood throughout these comparisons) was like the river Jamuna as it were, having been made to run or flee away (lit. 'put to precipitate flight') on account of the fear of being drawn in by the plough of the intoxicated Balarama (lit. 'one possessed of a plough', the wielder of the plough, the weapon peculiar to him and with which he is always represented as being armed); who, with her lotus-like feet appearing (reddish) like fresh tender leaves, on account of the colour or very thick

dye of a ball of lac painted on them, was like (the goddess) Katyayini or Durga, as it were having her feet rendered red with the blood of the demon *Mahishasura* (lit. 'Buffalo-demon') recently killed or crushed(under her feet); who, with the rays of light emanating from the nails (of her toes), having been rendered red with the lustre or splendour of her somewhat or slightly red toes, appeared to be walking on the floor or ground (lit. the 'surface of the earth') after having strewn it over with pieces of tender leaves, as it were, being (so delicate and hence) unable to endure the touch of the pavement made up of very hard jewels or precious stones. [The idea intended to be conveyed is simply this:—The pavement was made of very hard jewels which she, being so delicate, was unable to bear to tread upon; the poet therefore, with the aid of his rich fancy, has provided that pavement with pieces of fresh tender leaves (which are of a reddish colour) strewn over it, in the shape of the bright rays of light proceeding from the nails of her slightly red toes, as it were; the poet, in his imagination, regards the rays of light from the nails of her toes, as being nothing but fresh foliage scattered over the floor, in order to make it soft for her to walk upon]; who, on account of the fact her body being coloured by the excessive (lit. 'a heap of') lustre of the jewels of her anklets, which (lustre) was of a somewhat yellowish red colour, and had spread all over it (*i. e.*, the body), seemed as if she had had her body embraced, with a view to purify or remove the stain of her (low untouchable) caste, by the illustrious or venerable (god of) fire, who had a partiality for beauty alone, and who (as such) was (thereby) setting at naught or disregarding the authority of *Praja-Pati* or the Creator

(in the shape of the latter's injunction that a Chandala was not to be touched [The impression that is intended to be conveyed is simply this : The excessive brightness or splendour of her jewelled anklets, which (splendour) was of a yellowish red colour, and had spread all over her body, gave her (or her body) the appearance of being enveloped on all sides in the bright flames of fire. From this the poet seems, in his imagination, to infer that she was being embraced, as it were, by (the personified god of) fire, who seemed to care for her beauty alone, and didnot mind at all the authority of the creator in regard to her caste or low birth, and that he did so with a view to purify her low '*untouchable*' caste ; for is it not the business of fire to purify all that it touches ?]; who had the region of her thighs (*i. e.*, the buttocks or hips) encircled or surrounded by the chain (lit. rope) of her girdle, which was like a basin (as it were) from which sprang up a creeper in the shape of a line of thin hair, and which assumed the form (lit. 'seemed to be playing the role') of a necklace of twenty-seven pearls on the head of the cupid-like elephant [The नक्षत्रs are 27 in number. and hence a नक्षत्रमाला means a necklace or circlet of pearls of that number ; lit. 'the garland or circle of stars': The idea is simply this : She was putting on a girdle on her waist; there was also a line of thin hair growing on her abdomen, and it seemed as though the girdle were a basin from which a creeper sprang up in the shape of that line of fine hair. This girdle, combined with the thin line of hair growing about the region of her navel, which in itself constitutes a sign of beauty, made her look exceedingly inviting, and the poet regards this as the '*crowning act*' of her beauty inasmuch as

it appeared, to his fanciful imagination, like a nacklace of 27 pearls, worn on the '*head*' of an elephant, which again was no other than '*Cupid*', the god of love, himself]; who had her neck encircled or embraced (lit. 'grasped') by a pure necklace, made of very large (lit. 'gross') pearls, (and it seemed) as if it were (so encircled) by the stream of the Ganges suspecting her (on account of her dark complexion) to be the river Jamuna [The plain sense is, that the girl was dark like the river Jamuna and the necklace of pearls round her neck, was pure like the Ganges, and so the poet seems to fancy that the necklace appeared there like the fair-looking stream of the Ganges clasping round her neck, as it were, suspecting her to be the (dark) Jamuna]; who, with her (large or expanded eyes like fully blown lotuses was like the autumn season (having fully blown lotuses for, her eyes), as it were; who, with the dense or thick masses of hair (on her head, was like the rainy season (having clouds for her hair), as it were; who, with her ear-ornaments made of sandal leaves, was like the sloping sides of the Malaya Mountain (having sandal foliage for its adornment), as it were; who, being adorned or decked with various or wonderful ear-ornaments, was like a cluster or circle of stars [set off or adorned with the constellations named *Chittra*, *Shravana* (and also probably *Bharni*, as implied in the word '*Eharana*' with a slight change in form)], as it were; who, with the grace or beauty of a lotus (remaining — lit. 'standing or located') on her hands, was like Sri or Lakshmi, the goddess of wealth or prosperity looking beautiful with the lotus held in her hand), as it were; who (being highly charming or fascinating), captivated or stole away the

(heart or) mind, and (as such) was like a swoon or fainting fit (which—*likewise*—takes away or deprives one of all mental consciousness), as it were; who, being possessed of unimpaired or undiminished beauty, was like a forest or wild tract of land (which is—likewise—possessed of '*Aksha*' trees or full of wild beasts), as it were; who (being a Chandala girl) was not nobly or highly born, and (as such) was like a goddess or celes tial damsel (who—likewise—never comes down or treads upon the earth), as it were [Here the pun is on the word 'अकुलीन' which ordinarily means 'not nobly born' or 'not possessed of (good) birth or family', and applies as such directly to the Chandala girl: it, however, also means 'not touching or attached to the earth' (अ being negative, कु meaning 'the earth' and लीन being='attached'), and this indirectly and in the other sense applies to the दिव्ययोषित्, *i. e.*, a goddess or celestial nymph, who remains in heaven, and does not generally come down upon the earth. From the Mahabharat we learn, and the fact is also proverbially represented, that the feet of a god or goddess never touch or tread upon the earth. It is to this circumstance that the poet is referring by means of the aforesaid equivocal ex-pression अकुलीन । Such equivocal expressions form a special feature of his work and style]; who riveted or attracted (lit. 'took hold or possession of' or 'arrested') the eyes (on account of her charming beauty), and as such was like sleep (which—likewise—seizes or takes hold of the eyes, *i.e.*, closes or shuts them up), as it were; who, being tainted with (the 'stain or blot of being born or birth in) a Matanga or Chan-dala family, was like a forest lake of lotuses (being crushed, injured or spoiled, by a herd of elephants), as it were; whose

touch was prohibited like that of something formless, as it were (She was untouchable, and the poet in his fancy, attributes her untouchability not apparently so much to her low birth, as to her being something above or superior to a tangible human form); who could simply be seen (from a distance. (lit. 'who had—the display of—her sight or view alone as the fruit or ultimate fulfilment of one's object'), as if she were but existing in a painting or picture (*i. e.*, like one committed to a painting, she could only be looked at from a distance; but would not, on account of her being a Chandala girl, be touched or embraced by any one); who (though possessed of abundant beauty) was devoid of (good) birth or (high) caste, and as such) was like the plenitude or superabundance (*i. e*, plenteousness, fulness or repletion) of flowers in the month of '*Chaittra*' (in the spring season, which, though full of other flowers, is yet without the '*Jati*' or jasmine flowers), as it were; whose waist (was so thin or slender that it) could be (easily) held or grasped in one's fist or closed hand, and (as such) was like the handle or line of the flowery bow of Cupid (the middle part of which is—likewise—held by the fist or closed hand), as it were; who looked splendent (lit. 'shining or brilliant,' *i. e.*, splendid or beautiful) with (or on account of) the locks of hair on her head, and (as such) was like the royal fortune, or the goddess of wealth and prosperity, of the lord or king of the Yakshas, (presenting a highly graceful appearance on occount of—her connection with the city of—'*Alaka*', the capital of the king of the Yakshas, *i. e.*, of Kuber, the god of wealth), as it were; in whom youth had but recently set in (lit. '‘who had become '*youth-ridden*', *i. e.*,

pervaded by youth, not long ago"); and (lastly) who was possessed of an excessively beautiful form or external appearance (the king saw her, as thus described, with unwinking eyes).

१०—समुपजातविस्मयस्य चाभून्मनसि महीपतेः। अहो विधातुरस्थाने रूपनिष्पादनप्रयत्नः। तथा हि। यदि नामेयमात्मरूपोपहसिताशेषरूपसम्पदुत्पादिता किमर्थमपगतस्पर्शसंभोगसुखे कृतं कुले जन्म। मन्ये च मातङ्गजातिस्पर्शदोषभयादस्पृशतेयमुत्पादिता प्रजापतिना, अन्यथा कथमियमक्लिष्टता लावण्यस्य। नहि करतलस्पर्शक्लेशितानामवयवानामीदृशी भवति कान्तिः। सर्वथा धिग्विधातारमसदृशसंयोगकारिणमतिमनोहराकृतिरपि क्रूरजातितया येनेयमसुरश्रीरिव सततनिन्दितसुरता रमणीयाप्युद्वेजयति। इत्येवमादि चिन्तयन्तमेव राजानमीषदवगलितकर्णपल्लवावतंसा प्रगल्भवनितेव कन्यका प्रणनाम। कृतप्रणामायाञ्च तस्यां मणिकुट्टिमोपविष्टायां स पुरुषस्तं विहङ्गमादाय पञ्जरगतमेव किंचिदुपसृत्य राज्ञे न्यवेदयदब्रवीच्च—देव ! विदितसकलशास्त्रार्थो राजनीतिप्रयोगकुशलः पुराणेतिहासकथालापनिपुणो वेदिता गीतश्रुतीनां काव्यनाटकाख्यायिकाख्यानकप्रभृतीनामपरिमितानां सुभाषितानामध्येता स्वयञ्च कर्ता परिहासालापपेशलो वीणावेणुमुरजप्रभृतीनां वाद्यविशेषाणामसमः श्रोता नृत्यप्रयोगदर्शननिपुणश्चित्रकर्मणि प्रवीणो द्यूतव्यापारे प्रगल्भः

प्रणयकलहकुपितकामिनीप्रसादनोपायचतुरो गजतुरगपुरुषस्त्रीलक्षणाभिज्ञः सकलभूतलरत्नभूतोऽयं वैशम्पायनो नाम शुकः सर्वरत्नानां चोदधिरिव देवो भाजनमिति कृत्वैनमादायास्मत्स्वामिदुहिता देवपादमूलमायाता। तदयमात्मीयः क्रियताम् इत्युक्त्वा नरपतेः पुरो निधाय पञ्जरमसावपससार ।

१०—जातविस्मयस्य साश्चर्य्यस्य, जातो विस्मयो यस्य तस्य । महीपतेः शूद्रकभूपतेः । मनसि मानसे । अभूत् इत्थमासीत् । अहो ! अहह ! विधातुः ब्रह्मणः । सौन्दर्यनिष्पादनप्रयत्नः अद्भुतरूपनिर्माणपरिश्रमः । अस्थाने अयोग्यः । तथाहि तदेव दर्शयति । यदि चेत् । नाम अये । इयम् चाण्डालदारिका । आत्मरूपोपहसिताशेषरूपसम्पत्—स्वीयसौन्दर्य्यतिरस्कृतसकलरमणीयतासम्पत्तिः, आत्मनो रूपेण उपहसिताऽशेषाणां रूपाणां सम्पद्यया सा । उत्पादिता—निर्मिता । (तर्हि) किमर्थम्—(तदा) किन्निमित्तम् । अपगतस्पर्शसम्भोगसुखे—दूरीभूतालिङ्गनसङ्गमानन्दे । कुले वंशे । जन्म—उत्पत्ति । कृतम्—विहितम् । मातङ्गजातिस्पर्शदोषभयात्—चाण्डालश्लेषदूषणभीतेः । अस्पृशता—स्पर्शमकुर्वता । प्रजापतिना—चतुराननेन । इयम्—एषा । उत्पादिता—जनिता । इत्यहम्मन्ये—जानामि । अनेनास्या सर्वाङ्गेषु समानाकारता व्यज्यते, अन्यस्पृष्टास्पृष्टेषु निम्नोन्नतता स्यात् । अन्यथा–पूर्वोक्तवैपरीत्ये । लावण्यस्य–रुचिरतायाः । इयम् अक्लिष्टता—कोमलता । कथम्—कस्माद् भवेत् । करतलस्पर्शक्लेशितानाम्—हस्ततलस्पर्शमर्दितानाम् करतलस्य स्पर्शेन क्लेशितास्तेषाम् । अवयवानाम्—कुचप्रभृत्यङ्गानाम् । ईदृशी—

एतादृशी । कान्तिः—कमनीयता । नहि—नो । भवति—जायते । सर्वथा—सर्वप्रकारेण । असदृशसंयोगकारिणम् अनुचितसंबन्धविधायिनम् । असदृशं संयोगं कर्त्तुं शीलमस्य तम् । विधातारम्—ब्रह्माणम् । धिक् धिक् अतिधिक्कारः । यतः—येनेयम् मनोहराकृतिरपि—रमणीयापि । रमणीयापि—मनोहरापि । सततनिन्दितसुरता अनवरतगर्हितरमणा—पक्षे अनवरतावधीरितदेववृन्दा । सुष्ठुरतं सुरतम्, रमेर्भावे क्तः रतम्; पक्षे सुराणां समूहः सुरता । समूहार्थे तल् । असुरश्रीरिव दैत्यलक्ष्मीरिव । क्रूरजातितया—घातुककुलोत्पत्त्या । 'नृशंसो घातुकः क्रूरः' इत्यमरः । उद्वेजयति—मोहयति । इत्थं राज्ञो मनसि वितर्क आसीदित्यर्थः । एवमादि—पूर्वविधया । चिन्तयन्तम्—विमृशन्तम् । राजानम् भूपतिम् । ईषदवगलितकर्णपल्लवावतंसा—अल्पमधः—प्रसृतश्रवणदलशेखरा, ईषदवगलितः कर्णे पल्लव एवावतंसो यस्याः सा । अत्रावतंसपदमेव श्रोत्रालंकारवाचकम् कर्णपदोपादानं सर्वदा तत्सान्निध्यबोधाय यथा कटिमेखलाशब्दे कटिपदोपादानम्, तदुक्तं काव्यप्रकाशे सप्तमोल्लासे कर्णावतंसादिपदं स्थितेष्वेतत्समर्थनम् इति । कन्यका—मातङ्गसुता । प्रगल्भवनितेव—धृष्टयोषिदिव । प्रणनाम—प्रणतवती । कृतप्रणामायाम् विहितनमस्कारायाम्, कृतः प्रणामो यया तस्याम् । मणिकुट्टिमोपविष्टायाम्—रत्नमयबद्धभूमिस्थितायाम् । मणिमयो यः कुट्टिमस्तत्रोपविष्टा तस्याम् । च । तस्याम्—चाण्डालसुतायाम् । सः पुरुषः—पूर्वोक्तधवलवासा जनः । तम्— तादृशम् । विहङ्गमम् खगम् शुकम् कीरम् । पञ्जरगतमेव-पक्षिरक्षणबंधनस्थितमेव । आदाय-

गृहीत्वा । किञ्चिदुपसृत्य—अल्पसमीपं गत्वा । राज्ञे—नृपाय । न्यवेदयत् प्रदर्शितवान् । अब्रवीच्च उवाचापि । देव—देवतासमान-प्रभाव । विदितसकलशास्त्रार्थः—अवगतधर्माध्यात्मज्ञानग्रंथवाच्यः,–विदितः सकलानां शास्त्राणामर्थो येन सः । राजनीतिप्रयोगकुशलः कामन्दकप्रभृतिकृतनयशिक्षादक्षः, राजनीतेः प्रयोगे कुशलः सः, पुराणेतिहासकथालापनिपुणः पुराणग्रंथपुरावृत्तवार्त्ताभाषणनिष्णातः, पुराणं चेतिहासश्च कथा च तेषामालापे निपुणः सः । 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च । वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्' । गीतश्रुतीनाम्—गानद्वाविंशतिश्रवणविशेषाणाम् । गीतं च श्रुतयश्च तासाम् । 'रूपं स्वरास्त्रयो ग्रामाः मूर्छाश्चैकोन-विंशतिः । ताना एकोनपञ्चाशत् द्वयधिकाविंशतिः श्रुतिः ।' वेदिता—ज्ञाता । काव्यनाटकाख्यायिकाख्यानकप्रभृतीनाम् । कविता-प्रेक्षणकथा राजवृत्तादीनाम् । अपरिमितानाम्—असंख्यकानाम् । सुभाषितनाम्—शृङ्गारादिवाचकवचसाम् । अध्येता पाठकः । स्वयं च आत्मना च । कर्त्ता—निर्माता । परिहासालापपेशलः—नर्म-वाक्यव्याहरणविदग्धः । वीणावेणुमुरजादीनाम् विपञ्चीवंशी-मृदङ्गप्रभृतीनाम्, वीणा च वेणुश्च मुरजश्च तेषां समाहारः वीणावेणुमुरजम् आदि येषान्तेषाम् । 'द्वंद्वश्च प्राणितूर्य्यसेनाङ्गा-नाम्' इति एकवद्भावः । असमः—असाधारणः । श्रोता—आकर्ण-यिता । नृत्तप्रयोगदर्शननिपुणः—काललयाश्रितनृत्यावलोकन-कुशलः । चित्रकर्मणि—आलेख्य-क्रियायाम् । प्रवीणः—पटुः । द्यूत-व्यापारे—दुरोदरव्यवहारे । प्रगल्भः प्रतिभान्वितः । प्रणयकलह-कुपितकामिनीप्रसादनोपायचतुरः । स्नेहविवादक्रुद्धकान्तासान्त्व-

सान्त्वनप्रतीकारनदीष्णः । प्रणयेन यः कलहः तेन कुपितायाः, कामिन्याः प्रसादने य उपायः तस्मिन् चतुरः सः । गजतुरग-पुरुषस्त्रीलक्षणाभिज्ञ हस्त्यश्वनरनारीचिह्नविज्ञः । सकलभूतल-रत्नभूतः निखिलभूमिवलयमणिरूपः । वैशम्पायनः—तन्नामा अयं शुकः । उदधिरिव—सागर इव । देवः स्वामी । सर्वरत्ना-नाम्—निखिलश्रेष्ठवस्तूनाम् । भाजनम्—पात्रम् । इति कृत्वा—इतिमत्त्वा । अस्मत्स्वामिदुहिता अस्मदीयनृपनन्दिनी । एन-मादाय—शुकं गृहीत्वा । देवपादमूलम्—भवच्चरणा संविधे । आयता—आगता । तत्—तस्मात् । अयम्—एषः । आत्मीयः स्व-कीयः । क्रियताम् । इत्युक्त्वा । एवमभिधाय असौ पुरुषः । नरपतेः नरेन्द्रस्य । पुरोऽग्रे । पञ्जरम् पक्षिबन्धनम् निधाय संस्थाप्य । अपससार अपसृतवानिति ।

१०—(उस चाण्डालकन्या को देखकर) राजा बहुत विस्मित हुआ और उसके मन में ऐसा विचार उठा—'अहो ! ब्रह्मा ने भी क्या अनुपयुक्त स्थान (अथवा पात्र) में सौन्दर्य को उत्पन्न करने का परिश्रम किया है ! यदि उसने ।(ब्रह्मा ने) इस (चाण्डालकन्या), को जो अपने सौन्दर्य से समग्र रमणीयता की समृद्धि का (अर्थात् अतिशय सौन्दर्य से युक्त वस्तुओं का) उपहास-सा उड़ाती है, उत्पन्न ही किया था तो उसे ऐसे कुल में क्यों जन्म दिया कि उसके स्पर्श तथा सम्भोग का सुख प्राप्त होना भी सम्भव नहीं है (क्योंकि चाण्डाल जाति में उत्पन्न होने के कारण उसका स्पर्श वर्जित है) । मेरे विचार से तो ब्रह्मा ने चाण्डाल जाति के स्पर्श-दोष के डर से इसे बिना छुए हुए ही बना दिया है (अर्थात् संकल्पमात्र से बनाया है) अन्यथा (यदि छुआ होता तो) उसके लावण्य में इतनी कोमलता अथवा स्वाभाविकता कैसे सम्भव थी । (क्योंकि) हाथ के स्पर्श से दूषित

अवयवों में ऐसी कमनीयता नहीं होती । (कवि यहाँ यह कल्पना करता है कि मानो स्पर्श की कठोरता से वस्तु की स्वाभाविक कमनीयता में कुछ कमी पड़ जाती हो) । उस विधाता को सर्वथा धिक्कार है, जिसने ऐसा अनुचित (अर्थात् परस्पर-विरोधी बातोंका) संयोग किया कि उसके (असदृश संयोग के) कारण सततनिन्दित-सुरता (जिसके साथ सुरत—सम्भोग करना—शास्त्रों द्वारा निन्दित है) यह चाण्डाल-कन्या अत्यन्त सुन्दर स्वरूप वाली और रमण करने योग्य होने पर भी सतत-निन्दित-सुरता (सुरता—देवतासमूह—से सदैव तिरस्कृत) असुर (दैत्य)-लक्ष्मी के समान मन में क्षोभ मात्र उत्पन्न करती है। राजा इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि कन्या ने एक निर्भीक प्रौढ़ा (स्त्री) के समान उसे प्रणाम किया, जिससे (अर्थात् प्रणाम करने के समय झुकने से) उसके कान के पत्तों के बने आभूषण कुछ झुक गये । प्रणाम करके मणियों के बने हुए फर्श पर उसके बैठने पर उस (वृद्ध) पुरुष ने (जो उस कन्या के साथ आया था) पिंजड़े में बन्द उस पक्षी (तोते) को, निकट लाकर, राजा की सेवा में उपस्थित किया और कहा—

'महाराज, वैशम्पायन नाम का यह तोता समस्त शास्त्रों का अर्थ जाननेवाला है, राजनीति की शिक्षा में निपुण है, पुराण और इतिहास की कथा कहने में अत्यन्त कुशल है, संगीत तथा श्रुतियों (सप्तक के बाईस भागों में से एक भाग को श्रुति कहते हैं। इन श्रुतियों की संख्या बाईस है) का ज्ञाता है; काव्य, नाटक, आख्यायिका (कथाओं), आख्यानक (प्राचीन राजवृत्त) आदि अपरिमित सुन्दर रचनाओं का पाठक ही नहीं अपितु रचयिता भी है, परिहास करने में कुशल है; वीणा, वंशी, मृदङ्ग आदि वाद्यों को सुनकर उनके गुणदोष का विवेचन करने में अद्वितीय है; नृत्यकला के सूक्ष्म निरीक्षण में दक्ष है, चित्रकला में प्रवीण है, द्यूतक्रिया (जुए) में चतुर है, प्रणय-कलह में कुपित स्त्रियों को प्रसन्न करने की कला में दक्ष है; हाथी, घोड़े, पुरुष और स्त्रियाँ के लक्षणों को जानता है (और इस प्रकार) समस्त भूतल का एक रत्न है । 'आप समुद्र की भाँति समस्त रत्नों

के पात्र हैं'—यह सोचकर हमारे स्वामी की पुत्री इसे (तोते को) लेकर देव के (आपके) चरणों में उपस्थित हुई है, अतएव आप इसे स्वीकार करें। यह कहकर और पिंजड़े को राजा के सामने रखकर वह दूर हट गया।

शब्दार्थ—अस्थाने—अनुपयुक्त पात्र में; अक्लिष्टता—कोमलता; प्रगल्भ वनिता—धृष्ट नायिका अर्थात् लज्जा न करनेवाली प्रौढ़ स्त्री; वेदिता—जाननेवाला; श्रुति—संगीत शास्त्र में सप्तक के बाईस भागों में से एक भाग को श्रुति कहते हैं; अध्येता—पाठक; पेशलः—दक्ष; असमः—असाधारण; आत्मीयः क्रियताम्—अपना कीजिए अर्थात् स्वीकार कीजिए।

10. And this (namely, the following idea) occurred to the mind of the king, who was struck with wonder (lit. 'one having wonderfully produced or aroused in him'): 'Oh! The attempt on the part of the Creator in creating beauty in (such) an improper place or situation (i. e, how purely out of place has been the effort of the Creator in creating such marvellous beauty)! For if, indeed or verily, this (lady), who has had the entire (lit. 'that without any remainder') fullness or perfection (lit. plenitude or abundance, the entire wealth) of beauty laughed at (as it were), by her own (superior) charms, was at all created, why was she given birth in a family, which rendered her devoid of the pleasures of touch and enjoyment (lit 'from which the pleasures of touch and enjoyment,' such as embracing, etc, 'had departed.' *i. e.*, if she was created or made so exquisitely beautiful, why should she have been given birth in a family in which nobody could have the pleasure of touching and enjoying her person)! I think, indeed, this (lady) was produced or created by Praja-pati or Brahma, the Creator, without touching her (lit. by the 'untouching' Creator), on

account of the fear of incurring the blame or sin of touching (a person belonging to) the Chandala caste, (as it were). [This fancy merely indicates how perfectly unimpaired on all sides, her personal form was; for, whatever is touched by the hand, surely leaves some traces of the touch, etc : hence the author, in his fanciful anxiety, guards jealously against any such '*tangible*' corruption of her perfectly formed figure, even though it be at the hands of the Creator himself, and he does so under the very appropriate pretext of her own untouchability]; otherwise how could there be this naturalness (lit. 'state of being *unafflicted* or *unimpaired*') of grace or loveliness (*i. e.*, such perfection of beauty in her) ? For surely, such graceful beauty is not (possible to exist or be found) in the limbs, which are impaired or spoiled by the touch of the palm of the hand (The meaning is simply this: Her beauty is so perfect that it does not seem compatible with the fact of her various limbs having been created with the touch of the hand. The expression, on the one hand, seems to have some reference to the beauty of the limbs of the body, such as the breasts, etc., which are subject to enjoyment by the touch of the hand; and on the other, to the marring or spoiling effect necessarily produced by the touch of the palms of the hand in creating them). By all means fie upon the Creator, who has brought about the combination of (these) incongruities or dissimilar things (in her, namely, exquisite beauty on the one hand, and her birth in a low untouchalle family on the other), since this (Chandala girl), though possessed of a very charming appearance, yet, on account of the fact of (her belonging to a) cruel or low caste, and inasmuch as sexual intercourse with

her is always or for ever (to be held or regarded as being) censurable, causes or excites disgust (in one), like the royal glory or fortune of the demons, which, though charming, is yet (no less) disgusting, being always averse to or censuriously incompatible with the entire body or class of the gods'. Now while the King was still engaged in thinking in this strain) etc., the girl, whose ear-ornament, consisting or made up of tender leaves, was slightly removed or fallen from its proper place (due probably to her gesture in bowing), saluted him, like a bold lady of mature years, as it were. And when she had (lit. 'on having') made her obeisance or salutation, and taken her seat on the jewelled floor or pavement, that man (who had preceded or was escorting her as mentioned above), having taken up that bird (*i. e.*, the parrot), while it was still confined in the cage, and having approached or gone nearer a little, offered or presented the same to the King and said : "My Lord ! This is the parrot named Vaishampayana, who is (fully) acquainted with the meaning or subject-matter of all the *Shastras* or the various sciences (such as religion, philosophy, grammar, logic, etc.), who is an adept in the use or practical application of statecraft or the science of politics, who is extremely clever or well-versed in narrating (or conversing about) the stories contained in the '*Puranas*' or the ancient sacred religious works or writings, and the '*Itihasas*' or the accounts of the past events, who knows or is (fully) conversant with (lit. 'is a knower of') the songs and their (particular) musical tones or sounds (The श्रुतिस are twenty-two in number, and as a technical term in music, indicate a particular division of the octave, a quarter tone

or interval, etc), who has studied (lit. 'is a reader or student of') innumerable or an infinite number of (lit. 'unlimited', 'unmeasured') fine or eloquent speeches (*i. e.*, books containing excellent and useful literature, (lit. 'good sayings or speeches'), such as poetry or poetic compositions, dramas or stage-plays, elaborate stories with sections or chapters, and tales told in a simple and charming style or language, etc. (of other authors), and has himself composed (lit. 'is the author or maker of'—many of—) them, who is skilful or an expert in witty or humorous (*i. e.*, amusing or jocular) talk or conversation, who is an unequalled or matchless critic or connoisseur (lit. 'a hearer or listener', 'a pupil',—hence, 'a critical hearer'; the word implies 'one who is well versed in any subject, especially one who knows well the details, technique or principles of a fine art; hence one competent to '*hear*' or act as a critical judge of an art, or in a matter of taste') of the particular varieties of musical instruments, such as the Indian lute or guitar (which is a stringed instrument), reed or flute (*i. e.*, fife or pipe, which is a wind or hollow instrument) and tambourine (which is a variety of instruments of the drum-kind) etc., who is well-skilled or dexterous in the practical demonstration as well as the appreciation (lit. 'seeing', *i. e.*, 'in himself exhibiting, and reviewing or criticising the same in others) of (the art of) dancing, who is thoroughly skilled or proficient in the art of painting, who is well-advanced or mature in the art or business of gambling, who is clever or skilful as regards the (proper) expedients (*i. e.*, the means or stratagems) to be applied or resorted to in reconciling or appeasing ladies (lit. 'a loving or affectionate woman'), offended or provoked

to anger in a love-quarrel or an amorous dispute, who is well-versed in, or knows all about, the peculiar marks (*i. e.*, the lucky or unlucy characteristic signs) of elephants, horses, men and women, who is (as it were), a gem or jewel (*i. e.*, the best or most excellent thing in the whole world, or) throughout the surface of the whole earth, and (that or as) Your Majesty is, like the ocean as it were, the (sole) receptacle of all jewels or excellent things',—so thinking or with this thought in her mind, the daughter of my master, having brought or taken this (parrot with her), has come near to (lit. 'at the root of') Your Majesty's feet. Let it therefore be accepted (lit. 'made your own') by Your Majesty." Having said this and placed the cage before the king, he withdrew (*i. e.*, retired, moved aside or went away)

११—अपसृते च तस्मिन् स विहङ्गराजो राजाभिमुखो भूत्वा समुन्नमय्य दक्षिणं चरणमतिस्पष्टवर्णस्वरसंस्कारया गिरा कृतजयशब्दो राजानमुद्दिश्यार्यामिमां पपाठ—

स्तनयुगमश्रुस्नातं समीपतरवर्त्ति हृदयशोकाग्नेः ।
चरति विमुक्ताहारं व्रतमिव भवतो रिपुस्त्रीणाम् ।।

११—तस्मिन् वृद्धपुरुषे । अपसृते दूरीभूते । सः असौ । विहङ्गराजः कीरः, विहङ्गानां राजेति सः । राजाभिमुखो नरेन्द्रसम्मुखो भूत्वा वर्तित्वा । दक्षिणम् सव्येतरम् । चरणम् पादम् । उन्नमय्य ऊर्ध्वीकृत्वा । अतिस्पष्टवर्णस्वराणाम् संस्कारो यस्यां तया गिरा वाचा । कृतजयशब्दः इमाम् विवक्षमाणाम् । आर्याम् तदाख्यं छन्दः । राजानम् नृपम् शूद्रकम् उद्दिश्य । पपाठ पठितवान् । स्तनयुगमश्रुस्नातं समीपतरवर्तिं हृदयशोकाग्नेः

चरति विमुक्ताहारं, वृतमिव भवतो रिपुस्त्रीणामिति । अश्रुस्नातम् हृदयशोकाग्नेः समीपतरवर्ति भवतः रिपुस्त्रीणाम् स्तनयुगं विमुक्ताहारं व्रतमिव चरति । इत्यन्वयः । अश्रुस्नातम् वाष्पाभिषिक्तम् । हृदयशोकाग्नेः स्वकीयनायकवियोगजन्यमानसदुःखवह्नेः । समीपतरवर्तिनिकटतरस्थितम् । तव भवतः । वैरिवनितानाम् रिपुस्त्रीणाम् स्तनयुगम् कुचयुग्म् । विमुक्ताहारम् विगतमौक्तिाभरणम् । पक्षे त्यक्तभोजनम् । व्रतमिव नियममिव । चरति सेवते ।

अन्योऽपि व्रती आहारं त्यक्ता स्नात्वा च वह्निनिकटस्थितस्तपश्चरितुं भवति; एवम् रिपुपत्नी स्तनद्वयमपि नयननीरकृतस्नानम् भर्तृवियोगवह्निनिकटे स्थित्वा नियममिव पालयति । इति कवेराशयः । अर्थात् शूद्रकराज्यं शत्रुरहितम् इतिव्यज्यते ।

स्तनयोर्युगं तत् । अश्रुभिः स्नातं तत् । अतिशयेन समीपं समीपतरन्तत्र वर्तते तत् । हृदयस्य शोक एव अग्निस्तस्य विमुक्तः आहारो यस्मिन्निति व्रतपक्षे अन्यत्र विगता मुक्तानां हारा यस्मात् तत् । रिपूणां स्त्रियस्तासाम् । इत्यार्या कार्यम् ।

११—उस (वृद्ध पुरुष) के हट जाने पर उस 'पक्षिराज' ने राजा की ओर अभिमुख होकर और अपना दाहिना पैर उठा कर अत्यन्त स्पष्ट वर्णों और स्वरों से सुसंस्कृत वाणी से जय शब्द (अर्थात् आपकी जय हो) कहा और राजा को उद्देश्य कर यह आर्या छन्द पढ़ा—

(आपके द्वारा रण में निहत) आपके शत्रुओं की (वियोगाकुल) स्त्रियों के दोनों स्तन (आँखों से निरन्तर बहने वाले) अश्रु-जल में (बार-बार) स्नान करके, हृदय की शोकाग्नि के निकट स्थित होकर तथा विमुक्ताहार

छोकर (अर्थात् मुक्ता के हारों का त्याग कर) व्रत अथवा तपस्या-सी कर रहे हैं (क्योंकि व्रत करनेवाला भी बार-बार स्नान करता है, अग्नि के समीप रहता है और (विमुक्त-आहार)–भोजनादि छोड़ देता है । भाव यह है कि आपने समस्त शत्रुओं का विनाश कर दिया है अतएव शत्रु-स्त्रियाँ हमेशा शोक में विलाप किया करती हैं ।

शब्दार्थ—अतिस्पष्टवर्ण-स्वर-संस्कार :—वर्णों और स्वरों का संस्कार जिसमें भली-भाँति स्पष्ट है ।

11. And on his having departed or gone away, that noble bird [lit. 'the king (or best) of birds'], having turned or addressed itself towards the King, raised or lifted up its right foot, and uttered its words of greeting (lit 'having uttered the word victory' –*viz.*, victory be to Your Majesty!) in a speech, which was quite distinct or clear as regards its letters, accents or tone, and its refinement or grammatical purity, and read out or recited this (namely, the following) verse, having (its pointed) reference to the king, in the Arya metre :

'The couple of breasts of the wives (or widows) of your (vanquished) enemies, being (constantly) bathed in tears, and remaining nearer or in closer proximity to the fire of grief or sorrow (ever burning a-fresh) in their hearts (at the death of their beloved husbands), and being devoid or bereft of pearl-necklaces (thrown away in grievous bereavement), is observing a vow or undergoing a penance as it were.' [The idea intended to be conveyed is simply this: A person who is undergoing a penance or observing a vow, takes to regular bathing, keeps always close to fire, and has to observe fasts or go without food. The coup les of

breasts of these ladies are seen; as pointed out in the couplet, to be doing the same in their own way. Hence the poet fancies them to be observing a vow, as it were].

१२—राजा तु तां श्रुत्वा संजातविस्मयः सहर्षमासन्नवर्त्तिनमतिमहार्हहेमासनोपविष्टममरगुरुमिवाशेषनीतिशास्त्रपारगमतिवयसमग्रजन्मानमखिलमन्त्रिमण्डले प्रधानममात्यं कुमारपालितनामानमब्रवीत्—"श्रुता भवद्भिरस्य विहङ्गमस्य स्पष्टता वर्णोच्चारणे स्वरे च मधुरता! प्रथमं तावदिदमेव महदाश्चर्य्यमसंकीर्णवर्णप्रविभागामभिव्यक्तमात्रानुस्वारस्वरसंस्कारयोगां विशेषसंयुक्तां यदयमतिपरिस्फुटाक्षरां गिरमुदीरयति। तत्र पुनरपरमभिमतविषये तिरश्चोऽपि मनुजस्येव संस्कारवतो बुद्धिपूर्वा प्रवृत्तिः। तथा हि। अनेन समुत्क्षिप्तदक्षिणचरणेनोच्चार्य जयशब्दमियमार्या मामुद्दिश्यातिस्फुटाक्षरं गीता। प्रायेण हि पक्षिणः पशवश्च भयाहारमैथुननिद्रासंज्ञामात्रवेदिनो भवन्ति। इदं तु महच्चित्रम्।' इत्युक्तवति भूभुजि कुमारपालितः किञ्चित्स्मितवदनो नृपमवादीत्। देव किमत्र चित्रम्। एते हि शुकसारिकाप्रभृतयो विहंगमविशेषा यथाश्रुतां वाचमुच्चारयन्तीत्यधिगतमेव देवेन! तत्राप्यन्यजन्मोपात्तसंस्कारानुबन्धेन वा पुरुषप्रयत्नेन वा संस्कारातिशय उपजायत इति नातिचित्रम्। अन्यदेतेषामपि पुरा पुरुषाणामिवातिपरिस्फुटाभिधाना वागासीत्। अग्निशापात्त्वपरिस्फुटालापता शुकानामुपजाता करिणां च जिह्वा-

परिवृत्तिः। इत्येवमुच्चारयत्येव तस्मिन्नशिशिरकिरणमम्बरतलस्य मध्यमारूढमावेदयन्नाडिकाच्छेदप्रहतपटुपटहनादानुसारी मध्याह्नशङ्खध्वनिरुदतिष्ठत्। तमाकर्ण्य च समासन्नस्नानसमयो विसर्जितराजलोकः क्षितिपतिरास्थानमण्डपादुत्तस्थौ।

१२—राजा तु भूपालोऽपि। ताम् पूर्वोक्ताम्। आर्याम् तन्नामकच्छन्द पद्यम्। श्रुत्वा आकर्ण्य। संजातविस्मयः प्राप्ताश्चर्यः। सहर्षम् सानन्दम् यथा स्यात्तथा। क्रियाविशेषणो द्विति। यथा फलाश्रयं कर्म तथा व्यपदेशिवद्भावेन फलमपि कर्मैवेति मत्वा कर्मणिद्वितीयेति द्वितीया भवति।

आसन्नवर्त्तिनम् समीपस्थम्। आसन्नं वर्त्तितुं शीलं यस्य तम्। अतिमहार्घहेमासनोपविष्टम् बहुमूल्यसुवर्णमयविष्टरस्थितम्। अतिमहार्घं यत् हेमासनन्तत्रोपविष्टम्। अमरगुरुमिव बृहस्पतिमिव, अमराणां गुरुः तम्। अशेषनीतिशास्त्रपारगम् निखिललौकिककर्त्तव्याकर्तव्यबोधकग्रंथरहस्यवेदिनम्, अशेषाणान्नीतिशास्त्राणां पारगस्तम्। पारं गच्छतीति सः अन्तात्त्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्ते षड् इति गमेर्ड् प्रत्ययः। अतिवयसम् वृद्धम्, अतिशयं वयो यस्य तम्। अग्रजन्मानम् द्विजम्, अग्रे अर्थात् शेषवर्णेभ्यः पूर्वजन्म यस्य तम्। अखिले सकले। मंत्रिमण्डले सचिवसमुदाये। प्रधानम् मुख्यम्। अमात्यं मंत्रिणम्, कुमारपालितनामानम्। एतन्नामधेयम्। अब्रवीत्—उवाच। भवद्भिः युष्माभिः। अस्य पुरःस्थितस्य एतस्य। विहंगमस्य खगस्य। वर्णोच्चारणे अक्षरवचने स्पष्टता स्फुटता श्रुता आकर्णिता। स्वरे स्वरविषये। मधुरता मधुरिमा। प्रथमं

त्तावदिदमेव पूर्वमेवैतद् एव महत् प्रचुरम् आश्चर्यम् विस्मयः। यदयम् यदसौ शुकः। असंकीर्णवर्णप्रविभागाम् स्फुटाक्षरविभाग-संयुक्ताम्, असंकीर्णः वर्णानां प्रविभागो यस्यास्ताम्। अभिव्यक्त-मात्रानुस्वारसंस्कारयोगाम् प्रकटेकारादिशिरोविंद्वनुनासिकव्याकरण-शुद्धिसम्बन्धाम्, अभिव्यक्तः मात्रानुस्वाराणां संस्कारस्य योगो अस्यां ताम्। विशेषसंयुक्तां श्लेषादिविशेषसहिताम्। विशेषेण-संयुक्ता ताम्। गिरम् वाचमुदीरयति वक्ति। तत्र तस्मिन् पुनः भूयः अपरम् अधिकम् कारणमस्ति यत् अभिमतविषये इष्टे अस्य तिरश्चोऽपि पक्षिणोऽपि, तिरोऽञ्चतीति तिर्य्यङः अञ्चेः क्विन्। संस्कारवतः अनुभवज्ञानजन्यमानाख्यगुणवतः। मनुजस्येव मानव-स्येव। बुद्धिपूर्वा प्रतिभाहेतुका। प्रवृत्तिः कथनम्। तथाहि तदेव दर्शयति। समुत्क्षिप्तदक्षिणचरणेन उन्नतापसव्यपादेन। समुत्क्षिप्तो दक्षिणश्चरणो येन तेन। अनेन शुकेन। जयशब्दम् आलोकध्वनिम्। उच्चार्य उदीर्य। माम् शूद्रकम्। उद्दिश्य आश्रित्य। इयम् एषा। आर्या तदाख्य छन्दः पद्यम्। अतिस्फुटाक्षरम् अत्यभिव्यक्तवर्णाम्। अतिस्फुटानि अक्षराणि यस्मिंस्तद्यथा स्यात्तथा। गीता उदीरिता। प्रायेण वाहुल्येन। पक्षिणः पतत्रिणः। पशवो मृगादयः। भयाहार-मैथुननिद्रासंज्ञामात्रवेदिनः भीतिबुभुक्षाव्यवायाजागरणनाममात्र-ज्ञातारः। भवन्ति जायन्ते। इदन्तु एतत्तु। महत् बृहत्। चित्रम् आश्चर्यम्। इत्युक्त्वा एवं कथितवति। भूभुजि नृपतौ।, भुवं भुनक्ति इति। तस्मिन् कुमारपालितः तन्नामासचिवः। किञ्चित् स्मितवदनः नृपमवादीत्। देव किमत्र कतमदिहाश्चर्यम्। एते हि इमे हि। शुकसारिकाप्रभृतयः कीरकीराङ्गनादयः विहङ्गम-विशेषाः विशिष्ट-

पक्षिणः, विहङ्गमेषु विशेषास्ते । यथाश्रुतां यथाकर्णितां्। वाचम् गिरम् । उच्चारयन्ति उत्कथयन्ति । इति एतत् । अधिगतमेव ज्ञातमेव । देवेन स्वामिना । तत्रापि तस्मिन्नपि । अन्यजन्मोपात्त-संस्काराऽनुवन्धेन पूर्वजन्मजातसंस्कारविशेषसम्वन्धेन, अन्यजन्मनि उपात्तो यः संस्कारस्तस्यानुवन्धस्तेन । वा अथवा पुरुषप्रयत्नेन जनप्रयासेन । वा यद्वा । संस्कारातिशयः भावनाख्यसंस्कारप्राचुर्य्यम् । उपजायते उत्पद्यते । नातिचित्रम् नात्याश्चर्य्यमयम् । अन्यत् इतरदपि कारणम् । पुरा पूर्वम् एतेषामपि शुकादीनामपि । पुरुषाणामिव मनुष्याणामिव । अति परिस्फुटाभिधाना अतिशय-विशदशब्दा वाक् गीः । आसीत् अभवत् । अग्निशापात्त्वपरि-स्फुटालापता हुतभुगाक्रोशात्तु अव्यक्तभाषित्वम् । शुकानां कीराणाम् । उपजाता भूता । करिणाञ्च, हस्तिनान्तु । जिह्वापरिवृतिः रसनापरिव-र्त्तनम् । इति । पुरा खलु तारकासुरत्रासितास्सुरा ब्रह्मणः शरणं ययु-स्ततो रक्षार्थम् । विधाता चाग्निमन्विष्य प्रार्थयध्वम्, तत्सुतः षडाननस्तं हनिष्यतीत्युवाच । ततस्तेऽन्विष्यन्तो वह्निं बहुखिन्ना न कुत्राप्यापुस्तम्पुनस्ते वनगजं पप्रच्छुः । तेनोत्तरीतम् शमिवृक्षे स्थितो वह्निरिति । ततः कोपित्वा वह्निर्निसृत्य जिह्वापरिवर्तनशापं तस्मै दत्वा पुनस्तत्रैवान्तर्दधे वह्निः । पुनर्देवैः पृष्टः शुकोऽभिदधौ । शमिवृक्षे एवास्ति स इति । ततोऽपि निःसृत्य रसनाविहीनताशापः शुकेभ्यः दत्तः इति महाभारतकथा । एवम् इत्थम् उच्चारयति वदति एव सति तस्मिन् सचिवे कुमार-पालिते । अशिशिरकिरणम् भानुम् । अम्बरतलस्य आकाशस्य । मध्यम् अन्तर्देशम् । अध्यारूढम् प्राप्तम् । आवेदयन् सूचयन् । नाडिकाच्छेदप्रहतपटुपटहनादानुसारी घटिका-

समाप्तिताडितस्फुटदुन्दुभिध्वानानुकारी नाडिकायाश्छेदे प्रहन्ते यः पटुपटहस्तस्य यो नादस्तमनुसरतीति सः। मध्याह्नशंखध्वनिः समुद्रजपदार्थध्वानः। उदतिष्ठत् उत्पन्नः। तमाकर्ण्य शंखध्वनिं श्रुत्वा च समासन्नस्नानसमयः प्राप्ताभिषेकवेलः समासन्नः स्नानस्य समयो यस्य सः। विसर्जितराजलोकः निर्वर्तितनृपसमूहः अथवा विसृष्टराजकर्मचारिसमुदायः। विसर्जितः राजलोको येन सः क्षितिपतिः भूपतिः। आस्थानमण्डपात् सभास्थानात्। उत्तस्थौ उत्थितवान्। अथवहुस्फुटेप्ररोगविहीने च। पटहोवाद्य प्रारम्भे इति हैमः।

१२—राजा को उस (आर्या) को सुनकर अत्यन्त विस्मय हुआ। उसने बड़े हर्ष के साथ पास ही एक बहुमूल्य आसन पर बैठे हुए, समस्त मन्त्रियों में प्रधान, कुमारपालित नामक अमात्य (मन्त्री) से, जो कि बृहस्पति के समान समस्त नीति-शास्त्रों में पारङ्गत, और अत्यन्त वृद्ध थे तथा ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे, कहा—"आपने सुना, यह पक्षी वर्णों का उच्चारण कितनी स्पष्टता से करता है और इसके स्वर में कितनी मधुरता है! पहले तो यही एक बड़े आश्चर्य की बात है कि यह (तोता) ऐसी वाणी (में) बोल रहा है जिसमें वर्णों का विभाग स्पष्ट रूप से अलग-अलग मालूम होता है, मात्राओं, अनुस्वार तथा (व्याकरण की दृष्टि से) परिमार्जित (वाक्य-विन्यास) का प्रयोग प्रकट रूप से परिलक्षित होता है तथा जो विशेष (अलंकरण-सामग्री) से युक्त है। फिर दूसरी (आश्चर्य की) बात यह है कि अपने अभीष्ट के प्रति इस तिर्यग् योनि में उत्पन्न पक्षी की (कार्य करने की) प्रवृत्ति भी एक सुसंस्कृत मनुष्य के समान बुद्धि से प्रेरित-सी मालूम पड़ती है, क्योंकि इसने अपना दाहिना चरण उठा कर 'जय शब्द' कहने के पश्चात् मेरे सम्बन्ध में स्पष्ट अक्षरों में यह (आर्या छन्द) गाया है। (वैसे) प्रायः पशु-पक्षियों को भय, आहार, मैथुन, निद्रा के संवेदन (अथवा संकेत) मात्र

का ज्ञान होता है । अतः यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है ।" राजा के ऐसा कहने पर, कुछ मुसकराते हुए (मन्त्री) कुमारपालित ने राजा से कहा—"महाराज, इसमें आश्चर्य की क्या बात ! यह तो श्रीमान् जानते ही हैं कि तोता-मैना आदि पक्षी-विशेष तो सुनी हुई बातों को बोल ही लेते हैं । फिर यदि अन्य (पूर्व) जन्म में प्राप्त संस्कार के अथवा मनुष्य के (बोलने की शिक्षा देने के प्रति) किये गये प्रयत्नों के कारण यह (मनुष्यों की वाणी बोलने का) संस्कार अत्यन्त प्रबल हो जाता है, तो यह कोई बहुत आश्चर्य की बात नहीं । दूसरी बात यह है कि पहले ये भी (अर्थात् पक्षी भी) मनुष्यों के समान ही अत्यन्त स्पष्ट रूप से बोल सकते थे । अग्निदेव के शाप से तोतों की वाणी में अस्पष्टता आ गयी और हाथियों की जीभ उलटी हो गयी ।"—वह (मन्त्री) इस प्रकार कह ही रहे थे कि सूर्य के आकाश के मध्य में पहुँचने की सूचना देने के लिए, घटिका की समाप्ति पर बजाये जानेवाले नगाड़े के घोर नाद के साथ-साथ (अथवा उसके ठीक बाद) मध्याह्न की सूचना दनेवाले शङ्ख की ध्वनि हुई (गूँज उठी) । उसे सुनकर महाराजा ने सोचा कि स्नान का समय हो गया है अतः सब राजाओं को बिदा कर वह सभामण्डप से उठ खड़ा हुआ ।

शब्दार्थ—अमरगुरु—देवताओं के गुरु बृहस्पति; असंकीर्ण—स्पष्ट; गिरम्—वाणीम्; तिरश्चः—तिर्यग् योनि में उत्पन्न होनेवालों का; संस्कारवतः—अच्छे संस्कारवाले का, प्रवृत्तिः—कार्य करने की प्रवृत्ति, संज्ञा—टीकाकारों ने इसका अर्थ किया है 'लोक-व्यवहार जानकर' यहाँ इसका अर्थ संवेदना लेना अधिक उपयुक्त होगा; चित्रम्—विचित्र, आश्चर्यजनक, अनुबन्धेन—अनुवृत्ति, क्रमागत सम्बन्ध; अग्निशापात् अग्नि के शाप से, महाभारत के अनुसार एक बार तारकासुर से पीड़ित देवगण ब्रह्मा के आदेश से अग्निदेव को ढूँढ़ रहे थे । एक हाथी ने, पूछने पर, उनको बताया कि अग्नि अश्वत्थ वृक्ष में अन्तर्हित हैं । इस पर अग्नि ने प्रकट होकर हाथी को शाप दे दिया कि जाओ, तुम्हारी जीभ उल्टी हो जाय । इसी प्रकार तोते ने, पूछे जाने पर, बताया कि अग्नि शमी

वृक्ष में हैं। अग्नि ने तोते को भी शाप दे दिया कि तुम लोगों की बोली अस्पष्ट हो जायगी। अशिशिरकिरणः—सूर्य; नाडिका—घटिका, कुछ लोगों के मतानुसार एक घटिका २४ मिनट के बराबर होती है।

12. The King, on his part (or however), having been struck with wonder, on hearing (lit. 'having wonder produced in him on having heard') that (verse in the Arya metre), spoke with pleasure or delight to his minister or counsellor, named Kumara-Palita, the chief or foremost among the whole group or circle of his ministers, who was very near him seated on a very costly seat of gold, who had, like (Brihaspati) the preceptor of the gods, acquired complete mastery over (lit. 'gone across') the entire body of the political science or statecraft, and who was a Brahmana of a very old or advanced age, (thus): 'Have you marked or noticed (lit. 'heard') the distinctness as regards (or in regard to) the pronunciation of letters by this bird, and the sweetness of his (or its) tone. In the first place, it is in itself a great wonder that it utters or pronounces a speech, in which the distinction between (or the division of) the various letters is not confused or contracted together (i. e., in which they are fully and properly pronounced), in which the coincidence of the (long or short) vowels, the nasal sounds and the (correct) grammatical formations or constructions is quite distinct or manifestly clear, which is possessed of (or endowed with) special features (*i.e.*, which is better or superior to the average run of its kind) and has got very distinct letters in it. Then there is again this other (or additional wonder) that the direction of the activities (lit. 'proceeding', 'inclination' or active exertion) of this (parrot), in spite of the fact of its being a bird (lit. 'even of this bird'), is characterised by (lit. 'preceded by' or 'based

on') reason or intelligance (*i. e.*, is guided by intellect or thoughtful deliberation), like that of a cultured or refined human being, as regards the matter or objectdesired by it. For this (verse in the) Arya metre, having had its reference to me, has been recited by this (parrot) having raised or lifted up its right foot, in very distinct letters, after having uttered the words of greeting (lit. the 'word victory',—to me). Surely birds and beasts do generally or for the most part know only (*i. e.*, are consciously aware only of, or are alive to a sense alone of) fear, food or eating, copulation (*i. e.*, coupling or pairing), sleep and conventional words or signs (lit. 'names'). This however (or indeed), is a (very) great wonder'. On the King having *i. e.*, when the King had) said or spoken these words (or in this manner or strain), Kumara-Palita, with a little smile (playing) on his face, said to the King: 'My Lord! What wonder is there in it ? These particular kinds of birds, such as the parrots, the *mynas*, etc., do only (or indeed) utter or repeat the sounds or words as heard by them. as is already known to Your Majesty. Then again there is or may, in addition to this, be, produced an excessive refinement or cultural improvement (in these parrots, etc.,) either by the persisting continuance of the culture or training (or of the impressions of experiences), acquired in a former or some previous (lit. 'another') birth or by (or as a result of) the (particular) efforts or exertion of a man (in thus training them) : hence it is not very wonderful (*i. e.*, is not a matter of very great wonder or surprise). There is also another reason (for it, and it is this) that formerly even these (birds, like parrots, etc. of the lower creation) had or were endowed like men or the human beings, with (the faculty of) speech, consisting of a very distinct utterance (of words). It was, however, on account of

a curse pronounced by the god of fire, that the indistinctness of speech (on the part) of the parrots, and the change or turning backward (lit. 'turning backwards of the front part and *vice versa*') of the tongue (in the case) of elephants, was produced or brought about.' Now, while he was yet or still speaking or uttering these words in this manner (lit. 'on his still speaking or uttering words in this manner'), there arose the sound of the conch-shell (indicative of the arrival of the hour) of midday, announcing or making it known that the hot-rayed (sun,—lit. 'not having, or having no, cool rays') had reached the meridian point (*i. e.*, the zenith or the highest point,—lit. 'had ascended the middle' (of the sky, and following (close upon) the deep sound of the huge drum, beaten or struck at the end or termination of a *Ghatika* or period of twenty-four minutes (according to one calculation). And on hearing (*i. e.*, as soon as he heard,—lit. 'having heard') that (sound), the King (lit. the 'lord of the earth'), thinking that the time of his bath had approached or arrived near (lit. 'the time of whose bath was or had drawn near'), rose after having dismissed or taken leave of all the princes or feudatory chiefs, from the hall of audience

१३—अथ चलति महीपतावन्योन्यमतिरभससंचलनचालिताङ्गदपत्रभङ्गमकरकोटिपाटितांशुकपटानामाक्षेपदोलायमानकण्ठदाम्नामंसस्थलोल्लसितकुङ्कुमपटवासधूलिपिञ्जरितदिशामालोलमालतीकुसुमशेखरोत्पतदलिकदम्बकानामर्धावलम्बिभिः कर्णोत्पलैश्चुम्ब्यमानगण्डस्थलानां गमनप्रणामलालसानामहमहमिकया वक्षःस्थलप्रेङ्खोलितहारलतानामुत्तिष्ठ-

तामासीदतिमहान्संभ्रमो महीपतीनाम् । इतश्चेतश्च निष्पतन्तीनां स्कन्धदेशावसक्तचामरणां चामरग्राहिणीनां कमलमधुपनिमत्तजरत्कलहंसनादजर्जरेण पदे पदे रणितमणीनां मणिनूपुराणां निनादेन वारविलासिनीजनस्य संचरतो जघनस्थलास्फालनरसितरत्नमालिकानां मेखलानां मनोहारिणा झङ्कारेण नूपुररवाकृष्टानाञ्च धवलितास्थानमण्डपसोपानफलकानां भवनदीर्घिकाकलहंसकानां कोलाहलेन रसनारसितोत्सुकितानाञ्च तारतरविराविणामुल्लिख्यमानकांस्यक्रेङ्कारदीर्घेण गृहसारसानां कूजितेन सरभसप्रचलितसामन्तशतचरणतलाभिहतस्य चास्थानमण्डपस्य निर्घातनिर्घोषगम्भीरेण कम्पयतेव वसुमतीं ध्वनिना प्रतीहारिणाञ्च पुरः ससंभ्रमं समुत्सारितजनानां दण्डिनां समारब्धहेलमुच्चैरुच्चारयतामालोकयतालोकयतेति तारतरदीर्घेण भवनप्रासादकुञ्जेषूच्चरितप्रतिशब्दतया दीर्घतामुपगतेनालोकशब्देन राज्ञां च ससंभ्रमावर्जितमौलिलोलचूडामणीनां प्रणमतामलमणिशलाकादन्तुराभिः किरीटकोटिभिरुल्लिख्यमानस्य मणिकुट्टिमस्य स्वनेन प्रणामपर्यस्तानामतिकठिनमणिकुट्टिमनिपतितरणरणायितानां च मणिकर्णपूराणां निनादेन मङ्गलपाठकानां च पुरोयायिनां जय जीवेति मधुरवचनानुयातेन पठतां दिगन्तव्यापिना कलकलेन प्रचलितजनचरणशतसंक्षोभभयादपहाय कुसुमप्रकरमुत्पतताञ्च मधुलिहां हुंकृतेन संक्षो-

भादतित्वरितपदप्रवृत्तैरवनिपतिभिः केयूरकोटिताडितानां क्वणितमुखररत्नदाम्नां च मणिस्तम्भानां रणितेन सर्वतः क्षुभितमिव तदास्थानभवनमभवत् ।

१३—अथ उत्थानानन्तरम् । महीपतौ भूपाले । चलति गच्छति सति । उत्तिष्ठताम् महीपतीनाम् नरेशाणाम् । संभ्रमः सम्मर्दः । आसीदिति परेण संबन्धः । अन्योन्यम् परस्परम् । अतिरभससञ्चलनचालिताङ्गदपत्रभंगमकरकोटिपाटितांशुकपटानां अतिवेगगमनकम्पितकेयूरपत्रत्रुटिमकराकृतिवक्रप्रदेशच्छिन्नदुकूलवाससाम् । अतिरभसेन यत्संचलनं तेन चलितानि यान्यगंदपत्राणि तेषां भङ्गः तस्य मकरकोटिभिः पाटितानि अंशुकान्येव पटा येषान्तेषाम् । आक्षेपदोलायमानकण्ठदाम्नाम् संल्लग्नताचंचलगलस्रजाम्, आक्षेपेण दोलायमानानि कण्ठदामानि येषान्तेषाम् । अंसस्थलोल्लसितकुङ्कुमपटवासधूलिपिञ्जरितदिशाम् अंसस्थले उल्लसितानि यानि कुङ्कुमानि पटवासश्च तयोर्धूलिः तेन पिञ्जरिता दिशो यैस्तेषाम् । आलोलमालतीकुसुमशेखरोत्पतदलिकदम्बकानाम् चपलजातीपुष्पशिरोभूषणोपरिउड्डीयमानद्विरेफनिकुरम्बाणाम् । आलोलमालतीकुसुमानां शेखरः तस्मिन् उत्पतत् अलीनां कदम्बकं येषान्तेषाम् । निकुरम्बं कदम्बकम् इत्यधर्वालम्बिभिः कर्णोत्पलैः अवरक्तकमलैः । चुम्ब्यमानगण्डस्थलानाम् संयुक्त-कपोलानाम् । चुम्ब्यमानानि गण्डस्थलानि येषान्तेषाम् । गमनप्रणामलालसानाम् व्रजननमनसमुत्सुकानाम् । अहमहमिकया अहं शक्तोऽहंशक्त आदौ प्रणमितुं इति भावेन । अहमहम्भाव इत्यहमहमिका मयूरव्यंसकादयश्चेति समासः, वुन्प्रत्ययः । वक्षःस्थलप्रेङ्खोलितहार-

लतानाम् भुजान्तरतरलमौक्तिकस्रजाम् । वक्षःस्थले प्रङ्खोलितहार-लता येषान्तेषाम् । उत्तिष्ठताम् उद्गच्छताम् । महीपतीनाम् धराधीशानाम् । अतिमहान् अतिदीर्घः । सम्भ्रमः सम्मर्दः । आसीत् बभूव । इतश्चेतश्च समन्ततः । निष्पतन्तीनाम् स्खलन्तीनाम् । स्कन्धावसक्तचामराणाम् अंसदेशस्थापितबालव्यजनानाम् । चामर-ग्राहिणीनाम् तद्रहस्यनियुक्तानाम् योषिताम् । कमलमधुपानमत्त-जरत्कलहंसनादजर्जरेण नलिनमकरन्दास्वादक्षीवजरठकादम्ब-ध्वानसमुन्नतेन । पदे पदे प्रतिपदे । प्रणितमणीनाम् शिञ्जित-रत्नानाम् । मणिनूपुराणाम् रत्नखंचितमञ्जीराणाम् निनादेन ध्वानेन सञ्चरतः परिभ्रमतः । वारविलासिनीजनस्य गणिकागणस्य । जघनस्थलास्फालनरसितरत्नमालिकानाम् जघनस्थलनांआस्फालनेन रसिता रत्नमालिका यासान्तासाम् । जङ्घास्थलीताडनशब्दायमान-मणिस्रजाम् । मेखलानाम् मणिनिर्मितकांचीनाम् मनोहारिणा सुन्दरेण । झङ्कारेण झणितिशब्देन । नूपुररवाकृष्टानाम् मंजीर-शिंजिताकर्षितानाम् । धवलितास्थानमण्डपसोपानफलकानाम् श्वेतीकृतसभास्थानश्रेणिखण्डानाम् । भवनदीर्घिकाकलहंसकानाम् प्रासादह्लदकादम्बकानाम् । कोलाहलेन कलकलेन । 'कोलाहलः कलकलः' इत्यमरः । रसना रसितोत्सुकितानाम् कटिमेखलाशब्दो-त्कण्ठितानाम् । रसनाया रसिते उत्सुकितास्तेषाम् । तारतर-विराविणाम् अत्युच्चैः शब्दायमानानाम् गृहसारसानाम् भवनचक्रा-ङ्गानाम् उल्लिख्यमानकांस्यक्रेङ्कारदीर्घेण कृष्यमाणाविद्युत्प्रिया-व्यक्तकूजितायतेन । कूजितेन रसितेन । सरभसप्रचलितसामन्त-शतचरणतलाभिहतस्य ससम्भ्रमगमनोद्गतनृपशतपादतलभागताडि-तस्य । सरभसं प्रचलिता ये सामन्तास्तेषां शतस्य चरणतलैरभि-

तस्तस्य । आस्थानमण्डपस्य सभास्थानस्य । वसुमतीम् भूमिम् । कम्पयतेव चालयतेव । निर्घातनिर्घोषगम्भीरेण अव्यक्तवायुसंकर्षणध्वनिगम्भीरेण । ध्वनिना । शब्देन पुरः ससम्भ्रमम् समुत्सारितजनानाम् अग्रे सत्वरं दूरीकृतलोकानाम् । दण्डिनाम् दण्डधारिणाम् । प्रतिहारिणां च । समारब्धहेलम् प्रारब्धक्रीडम् । उच्चैः तारस्वरेण । उच्चारयताम् कथयताम् (प्रतिहारिणां) । आलोकयत आलोकयत इति तारतरः दीर्घेण अत्युच्चशब्दायतेन । भवनप्रासादकुंजेषु राजप्रासादलतागृहेषु । भवनानि च प्रासादश्च तेषां कुंजास्तेषु उच्चरितप्रतिशब्दतया उक्तप्रतिध्वनितया । दीर्घताम् । उपगतेन प्राप्तेन । आलोकशब्देन जयध्वनिना । ससम्भ्रमावर्जितमौलिलोलचूडामणीनाम् सरभसनमितशिरचपलशिरोरत्नानाम् । प्रणमताम् नमस्कुर्वताम् । राज्ञाम् भूभुजाम् । अमलमणिशलाकादन्तुराभिः निर्मलरत्नेषिकाविषमाभिः । किरीटकोटिभिः मुकुटाग्रमणिभिः । उल्लिख्यमानस्य संघर्षितस्य । मणिकुट्टिमस्य रत्नखचितवद्धभूमेः । स्वानेन निनादेन । प्रणामपर्यस्तानाम् नमस्कारपतितानाम् । प्रणामेन पर्यस्तास्तेषाम् । अतिकठिनमणिकुट्टिमनिपतितरणरणायितानाम् अतिशयकठोररत्नबद्धभूमिनिपातसञ्जातरणरणेति शब्दायमानानाम् । अतिकठिने मणिकुट्टिमे निपतितेन रणरणयितास्तेषाम् । मणिकर्णपूराणाम् रत्नखचितकर्णाभरणानाम् निनादेन स्वनेन । पुरोयायिनाम् अग्रयायिनाम् । मङ्गलपाठकानाम् स्तुतिवाचकानाम् । जयजीवेति विजयस्व पुरुषायुर्लभस्वेति । मधुरवचनानुयातेन मञ्जुलवाक्यप्रवृत्तेन । पठताम् उच्चारयताम् । वन्दिनाम् स्तुतिपाठकानाम् । दिगन्तव्यापिना आशा व्याप्तेन ।

दिगन्तेषु व्याप्तुं शीलं यस्य तेन । कलकलेन कोलाहलेन । प्रचलित-जनचरणशतसङ्क्षोभभयात् सञ्चरन्मानवपदविन्याससशतसञ्चल-नभयात् । प्रचलितानां जनानां चरणशतेन सङ्क्षोभस्तस्य तेन वा भयं तस्मात् । कुसुमप्रकरम् पुष्पसमूहम् । अपहाय उत्सृज्य । उत्पतताम् उड्डयमानानाम् । मधुलिहाम् भ्रमराणाम्, मधु लेढीति मधुलिट् तेषाम् । हुङ्कृतेन हुङ्कारशब्देन । संक्षोभात् सम्मर्दात् । अतित्वरित-पद-प्रवृत्तैः अतिशय-शीघ्र-गमनरतैः । अवनिपतिभिः भूपैः । केयूरकोटिताडितानाम् अङ्गदाग्रभागाहतानाम् । मणि-क्वणितमुखररत्नदाम्नाम् शब्दशब्दायमानमणिमालानाम् । मणि-स्तम्भानाम् रत्नस्थूणानाम् । रणितेन स्वनेन । पूर्वोक्तैर्विवि-धशब्दैस्तदास्थानभवनं शूद्रकसभागृहम् । क्षुभितम् सञ्चलितम् इव । अभवत् अभूत् ।

१३ —इसके पश्चात् महाराजा के चलते ही अन्य (अधीनस्थ) राजाओं में, जो कि (उस समय) उठ चुके थे, बड़ी खलबली मच गयी । अत्यन्त तेजी से चलने के कारण उनके हिलते हुए, केयूरों (बाजूबन्दों) पर उत्कीर्ण मछलियों की नोक में, (फँस कर) उनके वस्त्र आपस में ही एक दूसरे से फट गये । परस्पर धक्कम-धक्के से उनके गले के हार हिलने लगे । उनके कन्धों से उड़ी हुई कुंकुम (केसर) तथा पटवास (सुगन्धित चूर्ण-विशेष) की धूलि से सब दिशाएँ पीत-रक्त वर्ण की हो गयीं । मालती-पुष्प से निर्मित शिरोभूषण हिलने लगे, जिससे (उन पर बैठा हुआ) भ्रमर समूह भी उड़ने लगा । कमल-पुष्प के बने हुए उनके कानों के आभूषण, जो आधे लटक रहे थे, उनके कपोलों का चुम्बन-सा (अर्थात् स्पर्श) करने लगे । उन सबों के हृदय में राजा के जाने के अवसर पर उसको (राजा को) प्रणाम करने की बड़ी लालसा थी अतएव 'मैं पहले, मैं पहले, (प्रणाम करूँ, की चेष्टा में उनके वक्षः-स्थल के हार हिलने लगे । (इस प्रकार उनमें बड़ी खलबली मच-गयी) । कन्धे

पर चमर रख कर इधर-उधर से निकलने का प्रयत्न करती हुईं चमर डुलाने वाली स्त्रियों के मणियों के बने हुए उन नूपुरों के,—जिनके मणि (पादक्षेप के समय) बज उठते—थे, उस शब्द से, जो कि कमल के मधु का पान करने के कारण मत्त वृद्ध हंस को वाणी से मिलकर गूँज रहा था; इधर-उधर डोलती हुई वेश्याओं की, जघन-स्थल पर टकराने के कारण बजती हुई रत्नों की लड़ियों वाली करधनी (मेखला) की मनोहर झंकार से; नूपुरों की झंकार से आकर्षित (होकर वहाँ आये हुए) महल के सरोवर के उन हंसों के,—जिनकी उपस्थिति के कारण सभामण्डप की सीढ़ियाँ श्वेत हो गयी थीं (श्वेत मालूम होती थीं),—कोलाहल से; (स्त्रियों की) करधनियों के शब्द से उत्कण्ठित (अर्थात् कटि-मेखलाओं की ध्वनि सुनकर जिनकी बोलने की लालसा बढ़ गयी थी) और जोर से चिल्लानेवाले पालतू सारसों के,—काँसे के घिसे जाने से उत्पन्न होने वाली 'कें कें' के समान तेज, कूजन से; वेग से चलते हुए सैकड़ों सामन्तों के चरणतल से रौंदे जाते हुए सभा-मण्डप में होनेवाली पृथ्वी को कँपानेवाली और वज्र के घोर घोष के समान ध्वनि से; हाथ में दण्ड लिये हुए, शीघ्रता से लोगों को हटाते हुए तथा क्रीड़ा भाव का प्रदर्शन करके जोर से—'देखो-देखो' की आवाज लगाते हुए प्रतिहारियों के, 'देखो-देखो' के उस अत्यन्त उच्च शब्द से,—जो (शब्द) महल तथा राजप्रासाद के कुञ्जों में प्रतिध्वनित होकर और भी ऊँचा हो गया था—; 'जल्दी में (नमस्कार करने के लिए) मस्तक झुकाने के कारण जिनके चूड़ामणि हिल रहे थे और जो (महाराज शूद्रक को) प्रणाम कर रहे थे, ऐसे राजाओं के मणियों की शलाका (नुकीली तीली) के कारण दन्तुर (विषम) मुकुटों से रगड़ खाने के कारण मणियों के बने हुए (कठोर) फर्श से होनेवाले शब्द से (भाव यह है कि राजाओं के मुकुटों पर नुकीली मणियाँ जड़ी हुई थीं। इन उठी हुई नुकीली मणियों के कारण मुकुट खुरदुरे हो गये थे। जब वे अपना मस्तक मणियों के फर्श पर प्रणाम करने के लिए टिकाते तो आवाज होती थी); प्रणाम करने के समय स्खलित होकर अत्यन्त कठोर

मणियों के फर्श पर गिरने के कारण (उन राजाओं के) कर्णाभूषणों के शब्द से; 'महाराज की जय हो, महाराज चिरंजीवी हों, आदि कहते हुए (राजा के) आगे-आगे चलनेवाले प्रशस्ति-पाठकों के मङ्गलवाचक मधुर शब्दों से होने वाले दिगन्तव्यापी कोलाहल से; जाते हुए मनुष्यों के सैकड़ों पैरों के नीचे कुचल जाने के भय से पुष्प-समूह से उड़ते हुए भौरों की गुंजार से; रेल-पेल के कारण अत्यन्त शीघ्रता से जाने के लिए प्रवृत्त राजाओं के बाजूबन्दों के मणिस्तम्भों से संघर्ष हो जाने के कारण होनेवाली उस खनखनाहट से,—जिससे रत्नों की बनी (स्तम्भों में लगी) रत्नों की जंजीरों से भी गूंज उठने लगती थी;—सभाभवन उस समय चारों ओर से क्षुभित-सा (काँपने-सा) लगा।

शब्दार्थ—अतिरभसेन—अत्यन्तवेग से, अंगदम्—बाजूबन्द, पत्रभङ्गः—आभूषणों पर बनी हुई पुष्प, मकर आदि की आकृति, अहमहमिका—'अहमहमिका तु सा स्यात् यः परस्परं भवत्यहंकारः' इत्यमरः, अर्थात् मैं पहले, मैं पहले, की भावना से, सम्भ्रमः—खलबली, भवनदीर्घिका—महल की बावड़ी, तारतरः—बहुत जोर से, कांस्यं—काँसा, दन्तुरा—जो समतल या चिकनी न हो (दाँतो वाली); मङ्गलपाठकाः—वन्दीजन, मधुलिहाम्—भ्रमराणाम् ।

13. Now, while the King was about to start or go away (lit. 'on the King being about to move'), there was a very great bustle or commotion (*i. e.*, a tumultuous agitation) among the feudatory princes (lit. 'kings'), whose upper garments of silk were torn asunder, as against one another, by the pointed ends of the figure of a fish carved out in wavy lines on their arm-ornaments. which were set in motion by their extremely hurried movements, whose necklaces (lit. 'neck-chains') began to swing to and fro on account of their sudden movements, who rendered the (various) quarters or directions tawny or yellowish red with the dust of saffron and fragrant powder raised up or scattered about from (the

region of) their shoulders, who had a swarm or cluster of black bees, rising up from the quivering or tremulous wreaths of jasmine flowers adorning their heads, who had the region of their temples or cheeks being kissed or caressed, by the ornaments on their ears made of lotus-flowers that were half hanging down, who were vying with one another in theisr eagerness to bow to or salute (*i. e.* to offer their obeisance to) the King at the time of his departure, and who, as they rose or got up, had their necklaces swinging to and fro on (the region of) their chests. The hall of audience became, at that time, agitated as it were, on all sides, by the jingling or tinkling sound,—which was mixed up with the cackling of old or grown-up swans, intoxicated with the drinking of lotus honey.—of the jewelled anklets.—the jewels of which tinkled at every step,—of the female *chowrie-bearers*, who struggled to get out of the hall from various directions (lit. 'flew out here and there'), and who had there *chowries* placed on their shoulders; by the sweet or attractive jingling sound of the girdles of the dancing girls who were moving about, which (girdles) had rows of jewels or precious stones resounding on account of (their) being struck against the region of their thighs; by the tumultuous sound or noise of the geese or swans of palace lakes, which were attracted by the tinkling sound of the anklets (of those dancing girls), and which (being of a white colour) rendered the steps or boards of the staircase of the hall of audience white (by their presence); by the crying of the tame or domestic cranes, which were eager to hear, or were thrilled with, the sound of the girdles (*i. e.*, the sound produced by the 'bells in the girdles' of those ladies), and which

(in consequence) screamed more loudly or in a very shrill tone, and which (crying) was loud or prolonged, like the peculiarly jingling sound of bell-metal, when it is being struck by something) ; by the sound or noise—which was as deep or profound as the sound of clashing or noisily dashing winds in the sky, and which made the earth shake or tremble as it were,—made by (or in) the hall of audience, as it was being trodden (lit. 'being struck' by the trampling) by the soles of the feet of hundreds of princes or feudatory chiefs, who moved hurriedly about ; by the words of greeting (or by the uttering of the words 'look here') on the part of the door-keepers, who drove away the (common) people in front of them in great confusion or agitation, who carried or were provided with staves (as the symbol of their authority), who loudly and in a sportive manner uttered or pronounced the words, 'Please see, please see' (or it may mean : 'offer your greetings' to the King), which (words of greeting, etc.) were rendered deeper and more prolonged on account of their being re-echoed or reverberated in the bowers of the royal palace ; by the ringing sound of the jewelled-floor or pavement, as it was scratched by the pointed ends of diadems, appearing toothed or bristled with pointed lines of pure or spotless gems, of the feudatory princes (lit. 'kings'), who bent (their heads) or bowed low in rendering their obeisance, and whose crest-jewels were agitated as they bent their heads in a hurry (in so doing) ; by the sound of the jewelled ear-ornaments that were displaced in the act of salutation or bowing (on the part of the princes), and that produced a ringing noise as they fell down on the floor, which was made of jewels or precious stones and was very hard ; by the

uproarious din or noise, pervading the ends of all directions (*i. e*, 'reaching to the farthest ends of the various quarters, —hence, 'space-pervading'), of the bards or panegyrists (lit. 'auspicious reciters', *i. e.*, those who either recite the auspicious verses, or repeat the panegyrics of Sovereigns or high-placed personages), who marched or went in front, reciting, 'Victory (to the king), Long live (our king),' which (noise) proceeded from their sweet or harmonious words (uttered by them confusedly together); by the humming sound of the bees (lit. the 'honey suckers or lickers'), as they flew up after having left the heaps or bunches of flowers, on account of the fear produced by the agitation or disturbance caused by the hundreds of feet of men (who were) moving about to depart; and (lastly) by the ringing sound of the jewelled pillars, the strings or chains of which being made up of jewels or precious stones, were made to resound with the ringing sound thereof (*i. e.*, of those very pillars), and which were struck with 'the pointed ends of their arm-ornaments by the princes (lit. 'the kings') or feudatory chiefs, who were in the act of (lit. 'were engaged in') departing with extremely hastened steps on account of the great bustle or commotion (prevailing all around them on that occasion).

१४—अथ विसर्जितराजलोको विश्रम्यतामिति स्वयमेवाभिधाय तां चाण्डालकन्यकां वैशम्पायनः प्रवेश्यतामभ्यन्तरमिति ताम्बूलकरङ्कवाहिनीमादिश्य कतिपयाप्तराजपुत्रपरिवृतो नरपतिरभ्यन्तरं प्राविशत् । अपनीताशेषभूषणश्च दिवसकर इव विगलितकिरणजालश्चन्द्रतारकासमूहशून्य इव

गगनाभोगः समुपाहृतसमुचितव्यायामोपकरणां व्यायामभूमिमयासीत् । स तस्याञ्च समानवयोभिः सह राजपुत्रैः कृतमधुरव्यायामः, श्रमवशादुन्मिषन्तीभिः कपोलयोरीषदवदलितसिन्धुवारकुसुममञ्जरीविभ्रमाभिरुरसि निर्दयश्रमच्छिन्नहारविगलितमुक्ताफलप्रकरानुकारिणीभिर्ललाटपट्टकेऽष्टमीचन्द्रशकलतलोल्लसदमृतविन्दुविडम्बिनीभिः स्वेदजलकणिकासंततिभिरलंक्रियमाणमूर्तिरितस्ततः स्नानोपकरणसंपादनसत्वरेण पुरः प्रधावता परिजनेन तत्कालं विरलजनेऽपि राजकुले समुत्सारणाधिकारमुचितमाचरद्भिर्दण्डिभिरुपदिश्यमानमार्गो विततसितवितानामनेकचारणगणाबध्यमानमण्डलां गन्धोदकपूर्णकनकमयजलद्रोणीसनाथमध्यामुपस्थापितस्फाटिकस्नानपीठामेकान्तनिहितैरतिसुरभिगन्धसलिलपूर्णैः परिमलावकृष्टमधुकरकुलान्धकारितमुखैरातपभयान्नीलकर्पटावगुण्ठितमुखैरिव स्नानकलशैरुपशोभितां स्नानभूमिमगच्छत् । अवतीर्णस्य जलद्रोणीं वारविलासिनीकरमृदितसुगन्धामलकोपलिप्तशिरसो राज्ञः समन्तात्समुपतस्थुरंशुकनिविडनिबद्धस्तनपरिकरा दूरसमुत्सारितवलयबाहुलताः समुत्क्षिप्तकर्णाभरणाः कर्णोत्सङ्गोत्सारितालका गृहीतजलकलशाः स्नानार्थमभिषेकदेवता इव वारयोषितः । ताभिश्च समुन्नतकुचकुम्भमण्डलाभिर्वारिमध्यप्रविष्टः करिणीभिरिव वनकरी परीवृतस्तत्क्षणं राजा रराज । जलद्रोणीसलिलादुत्थाय च

स्नानपीठममलस्फटिकधवलं वरुण इव राजहंसमारुरोह । ततस्ताः काश्चिन्मरकतकलशप्रभाश्यामायमाना नलिन्य इव मूर्त्तिमत्यः पत्रपुटैः काश्चिद्रजतकलशहस्ता रजन्य इव पूर्णचन्द्रमण्डलविनिर्गतेव ज्योत्स्नाप्रवाहेण काश्चित्कलशोत्क्षेप-श्रमस्वेदार्द्रशरीरा जलदेवता इव स्फाटिकैः कलशैस्तीर्थजलेन काश्चिन्मलयसरित इव चन्दनरसमिश्रेण सलिलेन काश्चि-दुत्क्षिप्तकलशपार्श्वविन्यस्तहस्तपल्लवाः प्रकीर्यमाणनखमयूख-जालकाः प्रत्यङ्गुलिविवरविनिर्गतजलधाराः सलिलयन्त्रदेवता इव काश्चिज्जाड्यमपनेतुमाक्षिप्तबालातपेनेव दिवसश्रिय इव कनककलशहस्ताः कुङ्कमजलेन वाराङ्गनाः क्रमेण राजानमभिषिषिचुः । अनन्तरमुदपादि च स्फोटयन्निव श्रुतिपथमनेकप्रहतपटुपटहझल्लरीमृदङ्गवेणुवीणागीतनिनादा-नुरागम्यमानो वन्दिवृन्दकोलाहलाकुलो भुवनविवरव्यापी स्नानशङ्खानामापूर्यमाणानामतिमुखरो ध्वनिः ।

१४—अथ अनन्तरम् । विसर्जितराजलोकः विसृष्टनृपजनः । विसर्जितो राज्ञां लोको येन सः । विश्रम्यताम् विश्रामः क्रियताम् । इति एवम् । स्वयमेव आत्मनैव । ताम् चाण्डालकन्यकाम् मातङ्ग-दारिकाम् । अभिधाय उक्त्वा । वैशम्पायनस्तदाख्यशुकः । अभ्यन्त-रम् अन्तःपुरे । प्रवेश्यताम् आनीयताम् । इति एवम् ताम्बूल-करङ्कवाहिनीम् नागवल्लीकरण्डनेत्रीम् । इति यथोक्तम् । आदिश्य आज्ञाप्य । कतिपयाप्तराजपुत्रपरिवृत्तः परिमितहितैषिनृप-सुत-परिवेष्टितः । कतिपयैः आप्तैः राजपुत्रैः परिवृतः । नरपतिः राजा-

शूद्रकः। अभ्यन्तरम् अन्तःपुरे। प्राविशत् प्रविष्टः। अपनीताशेषभूषणश्च दूरीकृतालङ्कारश्च। दिवसकर इव सूर्य इव। दिवसं करोतीति सः 'कृत्रोहेतु'..इति ताच्छवीलोट्। विगलितकिरणजालः अपगतरश्मिसमूहः विगलितं किरणजालं यस्य सः। चन्द्रतारका-समूहशून्यः इन्दुनक्षत्रसमुदायरहितः। गगनाभोग इव नभोमण्डलमिव। चन्द्रश्च तारकाश्च तासां समूहस्तेनशून्यः। समुपाहृतसुमुचितव्यायामोपकरणाम् एकत्रितयोग्यव्यायामसाधनाम्। समुपाहृतानि समुचितानि व्यायामोपकरणानि यस्याम् ताम्। व्यायामभूमिम् व्यायामस्थलीम्। अयासीत् गतवान्। सः शूद्रकः। तस्याम् व्यायामभूमौ। समानवयोभिः तुल्यवयस्कैः समानानि वयांसि येषान्तैः। राजपुत्रैः नृपसूनुभिः सह। कृतमधुरव्यायामः विहितमञ्जुलव्यायामः। श्रमवशात् परिश्रमकारणात्। उन्मिषन्तीभिः स्फुरन्तीभिः। ईषदवदलितसिन्धुवारकुसुममञ्जरीविभ्रमाभिः किञ्चिन्मर्दितनिर्गुण्डीपुष्पवल्लरीसदृशाभिः। ईषदवदलितं यत् सिन्धुवारकुसुमन्तस्य मञ्जर्या विभ्रमो यासु ताभिः। उरसि वक्षःस्थले। निर्दयश्रमछिन्नहारविगलितमुक्ताफलप्रकरानुकारिणीभिः निर्दयश्रमेन छिन्नो यो हारस्तस्माद् विगलितो मुक्ताफलानां यः पुष्करस्तमनुकर्तुं शीलमासान्ताभिः। ललाटपट्टके स्थले। अष्टमीचन्द्रशकलस्य तलोल्लसदमृतविविडम्बिनीभिः पक्षमव्यतिथिः मृगाङ्कखण्डोन्नतस्थलदीप्यमानसुधासिकरानुकारिभिः। अष्टम्याश्चन्द्रस्य यत् शकलतलं तत्र उल्लसतोऽमृतबिन्दून् विडम्बयितुं शीलमासान्ताभिः। कपोलयोः गण्डयोः। स्वेदजलकणिकासन्ततिभिः श्रमजप्रस्वेदसूक्ष्मबिन्दुपरम्पराभिः। स्वेदजलस्य कणिकानां सन्ततयस्ताभिः अलङ्क्यमाणमूर्तिः दीप्यमानाकारः।

अलङ्क्रियमाणा मूर्तिर्यस्य सः। इतस्ततः समन्तात्। स्नानोपकरण-सम्पादनसत्वरेण आप्लवसाधनविधानशीघ्रेण। स्नानस्योपकरणानां सम्पादने सत्वरस्तेन। त्वरया सहितः इति सत्वरः। पुरः प्रधावता अग्रे सत्वरं गच्छता। परिजननसेवकलोकेन। तत्कालम् तदैव। विरलजनेऽपि विरला जना यस्मिंस्तस्मिन्। अल्पलोकेऽपि। समुत्सा-रणाधिकारम् निवारणनियोगम्। उचितमाचरद्भिः योग्यरीत्या कु-र्वद्भिः। दण्डिभिः दण्डपाणिभिः जनैः। उपदिश्यमानमार्गः प्रदर्शित-पथाः। विततसितवितानाम् विस्तृत-शुभ्रोल्लोचनाम्। 'वितानमुल्लोच' इत्यमरः। विततः सितो वितानो यस्यान्ताम्। अनेकचारणगणावब-ध्यमानमण्डलं बहुकुशीलवसमुदायविरच्यमानपरिवृत्तिम्। अनेकै-श्चारणगणैः अवबध्यमानं मडण्लं यस्यान्ताम्। गन्धोदकपूर्णकनकमय-जलद्रोणीसनाथमध्याम्। सुरभिजलसम्भृतसुवर्णमयवारिकुण्डिका-सहितमध्यभागाम्। गन्धोदकेन पूर्णा कनकमयी चासौ जलद्रोणी तया सनाथो मध्यो यस्यास्ताम्। उपस्थापितस्फटिकस्नानपीठाम् उपन्यस्तस्फटिकम णिमयावगाहचतुष्किकाम्। उपस्थापितः स्फाटिकं स्नानपीठं यस्यान्ताम्। एकान्तनिहितैः रहसि स्थितैः। एकान्ते निहितास्तैः अति सुरभिगन्धसलिलपूर्णैः अत्यन्त सुगंधितजलभृतैः अतिशयेन सुरभिर्गन्धो यस्य तत् सलिलं तेन पूर्णैः। परिमलाकृष्ट-मधुकरकुलान्धकारितमुखैः गन्धसमाहृतभ्रमरवृन्दक्कणित—वदनैः। परिमलेनावकृष्टानि यानि मधुकरकुलानि तैरन्धकारितानि मुखानि येषान्तैः। आतपभयात् निदाघभयात्। नीलकर्पटावगुण्ठित-मुखैः क्षितिभस्माच्छादिताननैरिव। स्नानकलशैः स्नानस्य कल-शास्तैः। उपशोभिताम् सञ्जातशोभाम्। स्नानभूमिम् अभिषेक-

स्थलीम् । अगच्छत् गतवान् । जलद्रोणीम् वारिकुण्डिकाम् । अवतीर्णस्य प्रविष्टस्य । वारविलासिनीकरमृदितसुगन्धामलकोपलिप्तशिरसः गणिकाहस्तक्षुण्णसुरभिधात्रीफलोपदिग्धमूर्ध्नः । वारविलासिनीनां करैर्मृदितानि सुगन्धानि यान्यामलकानि तैरुपलिप्तं शिरो यस्य तस्य । राज्ञो नृपस्य । समन्तात् परितः समन्ततः । अंशुकनिविडनिबद्धस्तनपरिकराः वासोदृढसंयतकुचाभोगाः । अंशुकैर्निविडं निबद्धाः स्तनपरिकराः यासान्ताः । दूरसमुत्सारितानि वलयानि यासु तथाविधा बाहुलता, बाहव एव लता यासान्ताः । समुत्क्षिप्तकर्णाभरणाः उपरिगृहीतश्रवणालङ्काराः । समुत्क्षिप्तानि कर्णाभरणानि याभिस्ताः । कर्णोत्सङ्गोत्सारितालकाः श्रवणसमीपोपरिन्यस्तकुन्तलाः । कर्णोत्सङ्गोत्सारिता अलका याभिस्ताः । अत्र पूर्वोक्तविशेषणत्रयेण शोभातिशयो ध्वन्यते । गृहीतजलकलशाः आत्तसलिलघटाः । वारयोषितः वारस्त्रियः । स्नानार्थम् अभिषेकार्थम् । अभिषेकदेवता इव स्नानाधिष्ठात्री देवा इव । समुपतस्थुः समुपस्थिताः । ताभिश्च समुन्नतकुचकुम्भमण्डलाभिः उत्तुङ्गस्तनकलशाभोगाभिः । समुन्नतं कुचकुम्भमण्डलं यासान्ताभिः । परिवृतः परिवेष्टितः । वारिमध्यप्रविष्टः जलान्तरगतः । राजा शूद्रकः । करिणीभिः हस्तिनीभिः । परिवृतः परिवेष्टितः । वनकरीव वनस्य करी स इव । अरण्यगज इव । तत्क्षणम् तदा । रराज शुशुभे । द्रोणीसलिलात् कुण्डिकाजलात् । उत्थाय निस्सृत्य । अमलस्फटिकधवलम् निर्मलस्फटिकमणिसितम् । स्नानपीठम् अभिषेकासनम् । वरुणः प्रचेता । राजहंसं कलहंसमिव । आरुरोह आरूढवान् । हंसानां राजा राजहंसः, राजदन्तादिषु परम् इति निपातनाद्धंसशब्दस्य परनिपातः ।

ततः। ताः वाराङ्गनाः वारयोषितः। काश्चित् कतिपयाः। मरकत-कलशप्रभाश्यामायमानाः हरिन्मकुम्भकान्तिकृष्णिताः। मरकत-मया ये कलशास्तेषां प्रभाभिः श्यामायमानास्ताः। नलिन्य इव। मूर्तिमत्यो देहधारिण्यः। पत्रपुटैः पर्णसम्पुटैः। अभिषिषिचुः। काश्चित्। रजतकलशहस्ताः रजतकुम्भकराः। रजतकलशा हस्तेषु यासान्ताः। रजन्यो रात्रय इव। पूर्णचन्द्रमण्डलविनिर्गतेन अवि-कलसुधांशुबिम्बनिर्यातेन। पूर्णचन्द्रमण्डलात् विनिर्गतस्तेन। जोत्स्नाप्रवाहेण कौमुदीप्रस्रवेण। काश्चित् कलशोत्क्षेपश्रमस्वेदार्द्र-शरीराः कुम्भोन्नयन्ताभासघर्मवारिस्विन्नदेहाः। जलदेवता इव। स्फाटिकैः कलशैः स्फटिकनिर्मितै घटैः। तीर्थजलेन तीर्थवारिणा। अत्र सर्वैस्तृतीयान्तैः पदैः सह अभिषिषिचुरित्यग्रमं क्रियापदं समन्वेति। काश्चित् मलयसरित इव मलयाचलनिर्झरिणा इव चन्दनरसमिश्रेण मलयजसनाथेन। सलिलेन जलेन। काश्चित् उत्क्षिप्तकलशपार्श्वविन्यस्तहस्तपल्लवाः उन्नीतघटमध्यस्थापितकर-किसलयाः। उत्क्षिप्तानां कलशानां पार्श्वे विन्यस्ता हस्तपल्लवाः याभि-स्ताः। प्रकीर्यमाणनखमयूखजालकाः निक्षिप्यमाणकरजकिरणकदम्बाः प्रकीर्यमाणानि नखमयूखानां जालकानि यासां ताः। प्रत्यङ्गुलि-विवरविनिर्गतजलधारा प्रतिकरशाखच्छिद्रनिस्सृतसलिलसम्पाताः। यन्त्रदेवता इव जलयन्त्राधिष्ठातृदेव्य इव। काश्चित् कनककलश-हस्ताः हेमकुम्भकराः वाराङ्गनाः। दिवसश्रिय इव दिनप्रभा इव। जाड्यम् शैत्यम्। अपनेतुम् निवारयितुम्। आक्षिप्तबालातपेन आक-र्षितनवीनावलोकेन इव। कुङ्कुमजलेन किञ्जल्कवारिणा। क्रमेण यथाक्रमम्। राजानम शूद्रकम् अभिषिषिचुः अभिषेचयाञ्चक्रुः।

अनन्तरम् ततः । श्रुतिपथम् कर्णपदवीम् । स्फोटयन्निव भिन्दन्निव । अनेकप्रहतपटुपटहझल्लरीमृदङ्गवेणुवीणागीतनिनादानुगम्यमानः विविधवादितसमर्थदुन्दुभिझर्झरीमुरजवंशविपञ्चीगानस्वनप्रवर्त्तमानः । अनेकं यथास्यात्तथा प्रहताः पटवः पटहझल्लरीमृदङ्गवेणुवीणास्तासां गीतस्य निनादमनुगम्यमानः सः । वन्दिवृन्दकोलाहलाकुलः वैतालिककुलकलकलसङ्कुलः, वन्दिवृन्दस्य कोलाहलेन आकुलः सः । भुवनविवरव्यापी लोकमध्यव्याप्तः भुवनानां विवरेषु व्याप्नोतीति सः । स्नानशङ्खानाम् अभिषेक-कम्बूनाम् । आपूर्यमाणानाम् आध्मायमानानाम् अतिमुखरस्तारतरः । ध्वनिः रवः उदपादि उद्भूतः ।

१४—इसके पश्चात् समस्त राजाओं को विदा करके महाराज शूद्रक ने स्वयं ही उस चाण्डाल-कन्या से कहा कि 'तुम विश्राम करो,' और ताम्बूलवाहिनी (साथ में पान लेकर चलनेवाली दासी) को आदेश दिया कि वैशम्पायन को अन्दर ले जाओ । इसके पश्चात् वह स्वयं कुछ प्रिय एवं विश्वस्त राजपुत्रों के साथ अन्दर गया । वहाँ अपने सब आभूषणों को उतार कर व्यायाम करने के स्थान पर गया । उस व्यायाम-भूमि में व्यायाम करने के समस्त समुचित उपकरण (साधन) रखे थे । आभूषण उतार देने के कारण वह किरणों से रहित सूर्य तथा चन्द्रमा और तारों से शून्य आकाश के समान दिखाई पड़ रहा था । उस (व्यायाम-स्थल) में उसने समवयस्क राजपुत्रों के साथ कुछ मधुर (हलकी) कसरत की । परिश्रम के कारण निकली हुई पसीने की बूँदों की पंक्तियों से उसका शरीर शोभायमान हो रहा था । पसीने की बूँदें उसके कपोलों पर कुछ-कुछ खिले हुए सिन्धुवार (निर्गुण्डी) के पुष्पों की मंजरी के समान शोभायमान हो रही थीं । वे उसके वक्षःस्थल पर ऐसी प्रतीत होती थीं मानों कठोर श्रम करने में हार टूट गया हो और मुक्ता-समूह (उसके वक्षस्थल पर) बिखरा हुआ हो और माथे पर

ऐसी दिखाई देती थीं मानों अष्टमी के चन्द्रखंड (अर्ध-चन्द्र, अर्थात् ललाट अर्धचन्द्र के समान था) पर अमृत की बूँदें हों। इसके पश्चात् इधर-उधर से बहुत शीघ्रता से स्नान की सामग्री जुटाने में लगे हुए और आगे-आगे दौड़ते हुए परिचारकों के साथ वह स्नानभूमि में गया। यद्यपि उस समय राजभवन में बहुत कम लोग थे, तब भी लोगों को मार्ग से हटाने का कार्य उचित रूप से (नियमपूर्वक) करते हुए दंडधारी सेवक उसके आगे-आगे मार्ग प्रदर्शित करते हुए चल रहे थे। स्नानभूमि में सफेद कपड़े का चँदोवा बँधा हुआ था; अनेक चारणगण उसके चारों ओर मंडल-सा बनाये खड़े हुए थे। उसके बीच में सुगन्धित जल से पूर्ण एक सोने का टब या कंडाल रखा हुआ था। पास ही में स्फटिक मणि की स्नान करने की चौकी (या पीढ़ा) रखी थी; एक ओर (कोने में) स्नान करने के लिए अत्यन्त सुगन्धित जल से भरे हुए घड़े रखे थे। (जल की सुगन्धि से) आकृष्ट भौंरों के समूह उनके मुख पर बैठे हुए थे, जिनसे उनके मुख काले हो रहे थे और ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो धूप के डर से (अर्थात् पानी के गरम हो जाने के डर से) उन पर काले कपड़े बाँध दिये गये हों। जब राजा, जिसके शिर पर वेश्याओं ने अपने हाथों से मल-मल कर सुगन्धित आँवले लगाये थे, जल से भरे टब (या नाँद) में उतरा, उस समय उसको स्नान कराने के लिए हाथ में जल से भरे घड़े लिये हुई अनेक वेश्याएँ उसके चारों ओर खड़ी हुई थीं। उन्होंने अपने रेशमी वस्त्र (ओढ़नी अथवा आँचल) से अपने स्तनों को (स्तनों के सम्पूर्ण विस्तार को) कसकर बांध लिया था, अपनी बाहुलताओं पर कंकण बहुत ऊपर तक चढ़ा लिये थे, अपने कर्णभूषण खूब ऊपर उठा कर बांध लिये थे, अपनी अलकें कान के पास से उठाकर ऊपर कर लीं थीं, अतएव ऐसा प्रतीत होता था मानों राजा को स्नान कराने के लिए अभिषेक-देवियाँ खड़ी हों। उनके (बड़े और गोल) स्तन कुम्भ (कलश) के समान थे; इसलिए जिस समय राजा (द्रोणी के) जल में प्रविष्ट हुआ, उस समय वह उन वेश्याओं के बीच म (कुम्भमंडल से युक्त) हथिनियों से घिरे हुए जङ्गली

हाथी के समान सुशोभित हो रहा था। द्रोणी (कंडाल अथवा नाँद) के जल से निकल कर वह शुभ्र स्फटिक की वनी हुई सफेद, स्नान करने की, चौकी पर चढ़ा। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो (श्वेत) राजहंस पर वरुण देव चढ़े हों। तब उन सुन्दर रमणियों ने क्रम से राजा को स्नान कराया। उनमें से कुछ मरकत मणि-जटित कलशों की प्रभा के कारण कुछ श्याम हो गयीं थीं, जिससे ऐसा प्रतीत होता था मानो मूर्तिमान् होकर कमलिनियाँ ही (कलशरूपी) पत्रपुटों (पत्तों के दोनों) से स्नान करा रही हों; कुछ हाथ में चाँदी के कलश धारण करने के कारण, पूर्ण चन्द्रमंडल से निकलते हुए चन्द्रिका के प्रवाह से स्नान कराती हुई चाँदनी रात के समान प्रतीत होती थीं। कुछ ने स्फटिक के कलशों में भरे हुए तीर्थों के जल से स्नान कराया। उनके शरीर (भारी) कलशों के उठाने के श्रम से पसीने में तर हो गये थे, जिससे वे जल-देवियों के समान प्रतीत होती थीं। कुछ ने मलयाचल की (जहाँ चन्दन के वृक्ष होते हैं) नदियों के समान चन्दन-मिश्रित जल से स्नान कराया। कुछ ने कलशों को दोनों पार्श्व (ओर) से, पल्लवों के समान सुन्दर हाथों से थामकर उन्हें (राजा के ऊपर जल छोड़ने के लिए) ऊपर उठा लिया था; उनके (हाथों के) नखों से किरण-जाल फैल रहा था और अँगुलियों के वीच (विवर) से जलधाराएँ बह रही थीं अतएव वे जलयन्त्र (फौवारों) की (अधिष्ठात्री) देवी-सी प्रतीत होती थीं। कुछ हाथों में सोने के कलश लेकर केसर-मिश्रित जल से उसका अभिषेक करती हुई ऐसी प्रतीत होती थीं मानो (मूर्तिमती) दिवस-श्री (दिन की शोभा) शीतलता दूर करने के लिए प्रातः-कालीन (लाल-लाल) धूप फैला रही हो। इसके वाद यह सूचित करने के लिए कि राजा स्नान कर चुके हैं, बड़े जोर से शंख वजाये गये। उनकी ध्वनि सम्पूर्ण संसार में व्याप्त हो रही थी और ऐसा प्रतीत होता था कि वह कान (के पर्दे) फाड़ डालेगी। उसी के साथ-साथ अनेक तीव्र घोष करने वाले नगाड़े, झाँझ, मृदंग, वेणु और वीणा (आदि वाद्यों) के बजन के नाद और बन्दीजनों के गाने के कोलाहल से वह (ध्वनि) और गूँजने लगी।

शब्दार्थ—प्रकरं—समूह; विडम्बिनी—समान; समुत्सारणाधिकारम्—लोगों को मार्ग से हटाने का कार्य; द्रोणी—बड़ी नाँद या टब; निविडम्—दृढ़ता से; वारयोषित:—वाराङ्गनाएँ, वेश्याएँ; पत्रपुटे:—पत्तों के सम्पुट या दोनों से; सलिल-यन्त्रम्—फौवारा; सलिलयन्त्रदेवता—सलिलयन्त्र की अधिष्ठात्री देवी; दिवसश्रिय:—दिवस की शोभा; स्फोटयन्निव—स्फोटयन्+इव, मानो फाड़ रहा हो; स्नानशङ्खानाम्—राजा स्नान कर चुका, यह सूचित करनेवाले शंखों की।

14. Afterwards having dismissed (or taken leave of) all the princes or feudatory chiefs, addressed the words, 'Please take rest' to the Chandala girl himself, and ordered the lady, carrying the box of betel-leaves along with its accessories, thus or in these words: 'Let Vaishampayana (the parrot) be introduced or brought into the inner apartment or harem,' the king, being surrounded or escroted (*i. e*, accompanied or attended on all sides) by a few trustworthy or intimate princes, entered the harem or the inner apartment. And having taken off (*i. e*.. removed or put off) all the ornaments, and (as such appearing or looking) like the Sun when devoid of the cluster of its rays, or like the (vast) expanse of the sky when it is without the moon and the clusters of stars, as it were, he went to the gymnasium (or the 'place of exercise'), which had the (various) appropriate instruments or necessary apparatus for physical exercise collected together in it. And having taken a light or mild (lit. 'sweet,' *i. e*., not very excessive or fatiguing) exercise in that (gymnasium) along with or in the company of princes, who were of an equal age with him, he,—with his body being adorned or decorated with the rows or lines of the drops of perspiration, which (rows) began to appear (on his body) on account of the exertion (caused by

the exercise), which (drops of sweat or perspiration) possessed the beauty (*i. e.*, displayed or presented the appearance) on his cheeks of a bunch of slightly opened *sindhu-vara* flowers (which are of a white colour), which (drops) resembled or appeared on his chest like a mass or cluster of pearls, fallen or scattered about from his necklace broken or torn asunder by (the pressure of) hard (lit. 'cruel or pitiless') exercise, which (drops of perspiration) on his broad forehead looked like or seemed to imitate, as it were, the drops of nectar, appearing bright or beautiful on the surface of the crescent moon on the eighth day of a month—,and having his way being shown or pointed out by the staff-bearers, who were discharging their duty of dispersing or driving away (the peaple or crowd) as was proper or instinctively usual for them, although, the royal palace had very few people about it at that time, and by the attendants, who were very quick (*i. e.*, acted with briskness) in getting the requisite materials ready for his bath and who were running hither and thither in front (of him in connection therewith),—proceeded or went to the bath-room, which was spread over with a white canopy, which had a cricle formed around it by groups of many or innumerable bards, which had in the centre of it (or the centre of which was endowed or provided with) a water tub or vessel made of gold and filled with scented water, which had a stool or tablet made of crystal for bathing or taking one's bath upon provided (lit. 'placed near,) in it, and which was adorned (*i. e.*, was looking beautiful or decorated, as it were) with jars meant for ablution or bathing, which (jars) were placed in one part or corner of it, and were ull of very sweetly scented waters, the mouths of which (jars)were darkened with the swarms

of (black) bees, that were attracted by the sweet fragrance (of the water therein), and which (in that state) seemed as though they had their faces covered, as it were, with a blue piece of cloth, for fear of the heat (of the sun). When the king, who had his head besmeared with scented myrobalans [आमलक is the fruit of the *Emblic Myrobalan*] crushed by the hands of young ladies, had descended or entered into the tub or reservoir of water, there waited or attended on him on all sides beautiful damsels (for the purpose of pouring water on him), who had the expanse or circumference of their breasts (*i. e.*, theire expansive breasts) bound tightly with their silken garments, who had their bracelets pushed or driven high up (lit. 'far away') on their creeper-like(*i. e.*, delicate) arms (which was with a view to enable them to do their duty of rubbing the king's body uninterruptedly,—*i. e.*, whose delicate creeper-like arms had their bracelets pushed or driven high up), who had their ear-ornaments well pulled up (or pulled up high, so as to be fixed up in a place on the ears, and not dangle about below them, as they usually did), who had the locks or curls of their hair thrown up or removed away from the vicinity of their ears, who had the jars of water held (in their hands for affording a bath, and who looked like the goddesses or presiding deities of ablution or coronation (one of the chief ingredients or principal ceremonies of which consists of pouring sacred water over the head of the king to be crowned), as it were. And the king, being surrounded on all sides by those (young ladies or beautiful damsels), who had very protuberant (lit. lofty) breasts, that were round like a jar, and appearing, when he had descended or entered into the water (lit. 'into the centre of the water' tub or reservoir), like a wild or forest

elephant, as it were, surrounded by (his mates) the female elephants (possessed of the round elevated temples of their forehead), shone or looked beautiful at that time or moment. Then rising from or getting out of the tub or reservoir of water (lit. 'from the water of or in the water-tub'), he stood or took his seat upon (lit. 'ascended') the bathing stool or tablet, which was white, being made of pure crystal, (and as such looked) like *Varuna*, as it were, ascending (*i. e*, mounting or riding upon) a swan or gander, which was white like pure crystal. Afterwards those young ladies or damsels bathed (*i. e.*, poured or sprinkled water over) the king in due order or succession, some of them, being darkned with the (green) lustre of the emerald jars (held in their hands), and (as such) looking like personified lotus,plants with their (green) leafy cups. as it were; some of them, having or holding (white) silver jars in their hands, and (as such) looking like (moon-lit) nights, with a flood of moonlight flowing or oozing out of the disc of the full-moon, as it were. [The idea, to be put simply, is this: Some of these ladies poured water over the head of the king from their silver jars, and this has given rise to the poet's fancy, which he expresses by saying that these ladies looked as if they were like so many moon-lit nights in person, pouring out water in the shape of a flood of moon-light, as it were, from their jar-like full moon. Here the ladies are compared to the moon-lit nights in person, their white silver jars to the disc of the full-moon, and the flow of water from them, to the shedding of the flood of moon-light]; Some of them, having had their bodies rendered wet with sweat or drops of persipration, caused by the exertion in lifting or raising up the jars, and (as such) looking like the goddesses or presiding deities of

water(with water dripping from their bodies), with the water of sacred or holy places from their crystal jars, as it were; some of them, like rivers from the Malaya Mountain (which overgrows with sandalwood trees), with water mixed up or scented with sandalwood paste or fluid, as it were; some of them, having had their delicate or fresh-and-tender-leaf-like hands, placed (round) on the sides of the jars that were lifted or raised up (for pouring water on the king's head), with the clusters of rays (issuing) from their (finger) nails, being scattered about or spread on all sides, and having streams of water issuing forth from the interstices (*i. e.*, the intervening spaces or hollows, lit. 'from every one') of their fingers, looked like figures on water fountains (or it may mean, like the presiding deities or goddesses of water fountains, pouring out water from them), as it were; and some of them, holding golden jars in their hands, bathed or sprinkled the king over with saffron water (which is of a reddish colour), and (as such) looked like the (personified) glories or splendours of the day, pouring out the morning (reddish) sun-shine from the morning sun, as it were, with a view to remove the cold (produced by the bath at the time). [Here the reddish coloured saffron water from the golden jars of these damsels is fancied by the poet (respectively) to be nothing else but the reddish glow of the morning sun-shine being poured forth from the yellowish red morning sun by the personified '*glories*' of the day]. Then afterwards there arose a very resonant or reverberating sound of the conches, which were being blown to indicate or announce that the king has finished his ablutions,—a sound, which seemed to be splitting or breaking up the ears, as it were, which was followed or accompanied by the din or noisy sound of numerous or

many shrill-sounding tabors or kettle-drums when beaten or struck (with sticks), of cymbals [झल्लरी is a kind of musical instrument, a sort of drum or cymbal], of drums or tabors, flutes, lutes and songs, which was mixed up (lit. 'confounded or filled', with the tumultuous noise made by the groups or multitudes of bards or panegyrists, and which pervaded the intervening spaces or hollows of the (various) worldly regions (*i. e.,* which seemed to fill up the entire atmosphere of the world).

१५—एवं च क्रमेण निर्वर्तिताभिषेको विषधरनिर्मोकपरिलघुनी धवले परिधाय धौतवाससी शरदम्बरैकदेश इव जलक्षालनविमलतनुरतिधवलजलधरच्छेदशुचिना दुकूलपटपल्लवेन तुहिनगिरिरिव गगनसरित्स्रोतसा कृतशिरोवेष्टनः संपादितपितृजलक्रियो मन्त्रपूतेन तोयाञ्जलिना दिवसकरमभिप्रणम्य देवगृहमगमत् । उपरचितपशुपतिपूजनश्च निष्क्रम्य देवगृहान्निर्वर्तिताग्निकार्यो विलेपनभूमौ झङ्कारिभिरलिकदम्बकैरनुबध्यमानपरिमलेन मृगमदकर्पूरकुङ्कुमवाससुरभिणा चन्दनेनानुलिप्तसर्वाङ्गो विरचितामोदिमालतीकुसुमशेखरः कृताम्बरपरिवर्तो रत्नकर्णपूरमात्राभरणः समुचितभोजनैः सह भूपतिभिराहारमभिमतरसास्वादजातप्रीतिरवनिपो निर्वर्तयामास ।

१५—एवं च अनेनैव प्रकारेण क्रमेण क्रमशः । निर्वर्तिताभिषेकः विहितस्नानः । निर्वर्तितोऽभिषेको येन सः । अभि-सिच्+भावे घञ् । विषधरनिर्मोकपरिलघुनी सर्पकंचुकातिसूक्ष्मे ।

विषधरस्य निर्मोकः तद्वत् परिलघुनी ते । धवले शुक्ले । धौते प्रक्षालिते वाससी वस्त्रे । अन्तरीयं उत्तरीयञ्च वसनद्वयम् । परिधाय धारयित्वा । शरदम्बरैकदेश इव घनापगमसमयगगनैकभाग इव । शरदि अम्बरं तस्य एकदेशः स । जलक्षालनविमलतनुः वारिस्नानीयप्रमार्जनस्वच्छदेहः । जलक्षालनेन विमला तनुर्यस्य सः । अतिधवलजलधरच्छेदशुचिना अतिशयशुभ्रमेघखण्डनिर्मलेन अतिधवलो योजलधरच्छेदः तद्वत् शुचिः तेन । धरति इति धरः पचाद्यच् जलानां धरः जलधरः । न तु कर्मण्यण् अन्यथा वृद्धौ जलधार इतिस्यात् । दुकूलपल्लवेन क्षौमवस्त्रविस्तारेण, 'पल्लवो विस्तरे खड्गे किसले विटपे वने' इत्यमरः । दुकूलो यः पटः तस्य पल्लवः तेन । गगनसरित्स्रोतसा कृतशिरोवेष्टनः विहितोष्णीषः हवनार्थं उष्णीषधारणं राज्ञा कृतम् । तदुक्तं स्मृतौ 'उष्णीषेण विना राजन् होमं चेत् कुरुते नरः । होतुश्चक्षुर्विनाशः स्यात् होता च विकलो भवेत्' । गगनसरित्स्रोतसा मन्दाकिनीप्रवाहेण । 'मन्दाकिनी वियति गङ्गा' इत्यमरः । गगनसरितः स्रोतः तेन कृतशिरोवेष्टनः तुहिनगिरिरिव हिमालय इव । 'तुषारस्तुहिनं हिमं' इत्यमरः । अत्र हिमालयनृपयोः उपमोपमेयभावः प्रदर्शितः । सम्पादितपितृजलक्रियः । कृतपितृतर्पणः । सम्पादिता पितृनिमित्तजलक्रिया येन सः । (मध्यमपदलोपीसं) मन्त्रपूतेन जप्यपवित्रेण । मंत्रेण गायत्र्यादिना पूतः तेन । तोयाञ्जलिना जलाञ्जलिना । आर्घं अथवा अर्घ्यरूपेण । तोययुक्तोऽञ्जलिः तेन (मध्यमपदलोपी) । दिवसकरम्—दिनकर्तारम् सूर्यम्; दिवसस्य करः तम् । अभिप्रणम्य अभिवाद्य । देवगृहं शिवालयम् । अगमत् अगच्छत् । तदुक्तं ब्रह्मपुराणे 'यावन्न दीयते

चार्घ्यं भास्कराय महात्मने, तावन्न पूजयेत् विष्णुं शंकरं वा महेश्वरीम् ।' उपरचितपशुपतिपूजनश्च कृतशिवार्चनः । उपरचितं पशुपतेः पूजनं येन सः । 'वरं प्राणपरित्यागः छेदनं शिरसोऽपि वा । नानभ्यर्च्य भुंजीत भगवन्तं त्रिलोचनम्' इति भविष्यपुराणवचनात् शिवपूजायाः नित्यकर्मता अस्ति । देवगृहात् शिवालयात् निष्क्रम्य वहिरागत्य निर्वर्तिताग्निकार्यः विहिताग्निहोत्रः । निर्वर्तितं अग्निकार्यं येन सः । यावन्नैव अग्निहोत्रं कुर्यातादीतिश्रुतेः—अग्निहोत्रमिति नित्यकर्म । विलेपनभूमौ सुगन्धितद्रव्यलेपस्थाने । विलेपनस्य भूमौ यत्र स्थाने च चन्दनादि गंधद्रव्यं घाटितमिति भावः । झङ्कारिभिः झङ्मिति शब्दं कुर्वद्भिः । झङ्+क—वर्णात्कारः इतिकारप्रत्ययः । उच्चैस्तरां वा वषट्कारः इति निर्देशात् क्वचित् वर्णसमुदायादिभिर्भवति । ततो मत्वर्थीये इन् अन्यवा क्रम+क्त+ताच्छिल्ये । अलिकदम्बकैः भ्रमरसमूहैः अलिनां कदम्बकास्तैः । अनुवध्यमानपरिमलेन अनुस्त्रियमाणविमर्दगन्धेन, अनुवध्यमानः परिमलो यस्य तेन । मृगमदकर्पूरकुङ्कुमवाससुरभिणा कस्तूरीघनसारकिंजल्कगन्धघ्राणातर्पणेन, मृगमदश्च कर्पूरश्च कुङ्कुमी च तेषां वासेन सुरभी तेन चन्दनेन परिपङ्केन । अनुलिप्तसर्वाङ्गः उपदिग्धसकलदेहः । अनुलिप्तानि सर्वाङ्गाणि यस्य सः । विरचितामोदिमालतीकसुमशेखरः विहितसुरभिमालतीपुष्पशिरोभूषणः, विरचितः आमोदिभिः मालतीकुसुमैः शेखरो येन सः । कृताम्बरपरिवर्तः सम्पादितपूर्वधृतवसनपरिवर्तनः । कृतः अम्बरस्य परिवर्तो येन सः । पूजावस्त्रपरित्यागः कृतः इतिभावः । रत्नकर्णपूर्णमात्राभरणः मणिमयकुण्डलमात्रभूषणः, रत्नखचितं यत् कर्णपूरं तन्मात्रमाभरणं यस्य सः । समुचितभोजनैः योग्यैकसङ्गभोजनकैः । समुचितं

भोजनं येषां तैः । भूपतिभिः भूमिपालैः सह । अभिमतरसास्वादजातप्रीतिः अभिलषितमधुरादिरसालास्वादसमुत्पन्नानुरागः अभिमतानां रसानां आस्वादेन जाता प्रीतिर्यस्य सः । अवनिपः भूपतिः अवनिं पातीति सः अवनि+पा+क । आहारं भोजनं निर्वर्तयामास सम्पादयामास । आ+हृ+घञ् ।

१५—इस प्रकार उसने क्रम से स्नान किया । जल से स्नान करने के कारण उसका शरीर निर्मल हो गया जिससे वह ऐसा प्रतीत होने लगा मानो शरद्कालीन (स्वच्छ एवं निर्मल) आकाश का एक भाग हो । (स्नान करके) उसने सर्प की केंचुल के समान महीन एवं धवल (दो) धुले हुए वस्त्र धारण किये । शिर पर अत्यन्त धवल मेघ-खण्ड के समान स्वच्छ एक लम्बे रेशमी वस्त्र का साफा बाँधा । इससे वह इस प्रकार शोभायमान होने लगा जैसे आकाशगङ्गा के शुभ्र प्रवाह से (धवल हिम से आच्छादित) हिमालय हो । इसके बाद पितृ-तर्पण करके तथा मन्त्रों (के उच्चारण) द्वारा पवित्र जलाञ्जलि से सूर्यनारायण को नमस्कार कर देवमन्दिर में गया । शंकर भगवान् की पूजा करके मन्दिर से बाहर आया और होमादि किया तथा फिर विलेपन-भवन में जाकर कस्तूरी, कपूर तथा केसर की सुवास से सुरभित चन्दन से अपने सम्पूर्ण शरीर का आलेप कराया । चन्दन की सुगन्धि के कारण उसके चारों ओर भौंरे गुंजार करते हुए उड़ रहे थे । तत्पश्चात् मस्तक पर सुगन्धित मालती के पुष्पों की माला धारण की । कपड़े बदल कर आभूषणरूप में केवल रत्नों के कर्णफूल धारण कर, उन राजाओं के साथ जो कि उसके साथ बैठ कर खा सकते थे, अपनी पसन्द की सुस्वादु भोज्य वस्तुओं का आनन्द लेते हुए, भोजन किया ।

शब्दार्थ—विषधर... लघुनी—विषधरस्य (साँप की) निर्मोकः (केंचुल) तद्वत् परिलघुनी (सूक्ष्म); धौतं—धुला हुआ, गगन-सरित् —स्वर्गङ्गा,

15. **And (now) having in this manner finished his bath or performed his ablutions in due order, (he. *i. e.*, the king) proceeded or went to the temple (lit. the 'house of a deity'),**

having put on a pair of white and (well) washed (upper and lower) garments, which were as light or fine as the slough of a snake, and, with his body being (absolutely) clean (or stainless) on account of his bath (lit. 'being washed with water'), looking like a portion of the (clear) autumnal sky (after the rains are over), as it were, having put on a turban on his head (lit. 'having donned the head-covering') which was made of a fresh-and-tender-leaf-like (*i. e.*, very fine or delicate) piece of silk cloth—that was pure like a patch of very white cloud, and (as such) looking like the Himalaya Mountain (lit. the 'snow-mountain') having had its head or peak covered up with the (gentle) stream of the celestial river (*i. e*, the heavenly Ganges), as it were, having performed the (religious or sacred) ceremony of offering libations of water to the manes (*i. e.*, his departed ancestors or forefathers), and having made his obeisance or bow to the Sun-god (lit. the 'causer or producer of the day') with a handful or palmful of water sanctified with the (recitation of the) Vedic *Mantras* or sacred syllables. After he had performed the worship of the God Shiva (lit. the Lord of the Beast', *i. e.*, the Bull, which is his vehicle or conveyance), and come out of the temple,—finished or performed the ceremony of offering oblations to the Fire [lit. 'the fire business';—referring to the offering to *all deities* (वैश्व देव) made by presenting oblations to Fire before meals],—had in the chamber of (sweet-smelling) ointment, had his whole body besmeared with sandalwood paste, which was perfumed or scented with the fragrance or sweet odour of musk, camphor and saffron, and the perfume or fragrance of which was being closely pursued or sought after by the humming swarms of black bees—had his head adorned or

decorated with a chaplet of very fragrant jasmine flowers,—had got his garments changed, and had a jewelled ear-ring alone on as his ornament (*i. e.*, retaining or continuing to put on the jewelled ear-ring alone as his sole ornament or decoration for the time being),—the king, who was well pleased with (lit 'had his pleasure caused by') the enjoyment or relish of the (various) tastes which were after his liking (lit. the 'desired tastes', *i. e.*, those which were quite agreeable to his palate), finished his meal (*i. e.*, took it) with or in the company of princes (lit. 'kings'), who were fit (in rank or social position, etc.) to take their food with him or who were usually in the habit of dining with him (lit. 'whose dining was proper' with him).

१६——परिपीतधूपधूमवर्तिरुपस्पृश्य च गृहीतताम्बूलस्तस्मात्प्रमृष्टमणिकुट्टिमात्प्रदेशादुत्थाय नातिदूरवर्तिन्या ससंभ्रमप्रधावितया प्रतीहार्या प्रसारितं बाहुमवलम्ब्यानवरतवेत्रलताग्रहणप्रसङ्गादतिजरठकिसलयानुकारिकरतलं करेणाभ्यन्तरसंचारसमुचितेन परिजनेनानुगम्यमानो धवलांशुकजवनिकापरिगतपर्यन्ततया स्फटिकमणिमयभित्तिबद्धमिवोपलक्ष्यमाणमतिसुरभिणा मृगनाभिपरिगतेनामोदिना चन्दनवारिणा सिक्तशिशिरमणिभूमिमविरलविप्रकीर्णेन विमलमणिकुट्टिमगगनतलतारागणेनेव कुसुमोपहारेण निरन्तरनिचितमुत्कीर्णशालभञ्जिकानिवहेन संनिहितगृहदेवतेनेव गन्धसलिलक्षालितेन कलधौतमयेन स्तम्भसंचयेन विराजमानमतिबहलागुरुधूपपरिमलमखिलविगलितजलनिवहधवल-

जलधरशकलानुकारिणा कुसुमामोदवासितप्रच्छदपटेन पट्टोपधानाध्यासितशिरोधाम्ना मणिमयप्रतिपादुकाप्रतिष्ठितपादेन पार्श्वस्थरत्नपादपीठेन तुहिनगिरिशिलातलसदृशशयनेन सनाथीकृतवेदिकं भुक्त्वास्थानमण्डपमयासीत् । तत्र च शयनतलनिषण्णः क्षितितलोपविष्टया शनैः शनैरुत्सङ्गनिहितासिलतया खड्गवाहिन्या नवनलिनदलकोमलेन करसंपुटेन संवाह्यमानचरणस्तत्कालोचितदर्शनैरवनिपतिभिरमात्यैर्मित्रैश्च सह तास्ताः कथाः कुर्वन्मुहूर्तमिवासांचक्रे । ततो नातिदूरवर्तिनीमन्तःपुराद्वैशम्पायनमादायागच्छेति समुपजातद्वृत्ता न्तप्रश्नकुतूहलो राजा प्रतीहारीमादिदेश । सा क्षिततलनि हितजानुकरतला "यथाज्ञापयति देव" इति शिरसि कृत्वाज्ञां यथादिष्टमकरोत् ।

१६—उपस्पृश्य आचम्य । आस्थानमण्डपं अयासीत् इति क्रिययान्वयः । परिपीतधूपधूमवर्त्तिः परिपीता धूपधूमवर्तिर्येन, गृहीतधूम्रसंयुक्तताम्रकूटादिविहितवर्तिकः । गृहीतताम्बूलः धृतमुखाभ्यन्तरताम्बूलीदलः । तस्मात् पूर्वोक्तात् । प्रमृष्टमणिकुट्टिमात् प्रदेशात् जलपरिपूतमणिमयाबद्धभूमिस्थलात् । उत्थाय उत्क्रम्य । नातिदूरवर्तिन्या समीपस्थितया, नातिदूरं वर्तितुं शीलमस्याः तया । ससम्भ्रमप्रधावितया शीघ्रगतिकया । प्रतीहार्या सन्देशहारिण्या । ससम्भ्रमं यथास्यात् तथा प्रधाविता तया । प्रसारितं विस्तारितं । अनवरतवेत्रलताग्रहणप्रसङ्गात् अतिजरठकिसलयानुकारिकरतलम् निरन्तरवेत्रसमीपधारणात् नितान्तपरिणतप-

ल्लवसदृशकठिनपाणितलम्, वेत्रलतायाः ग्रहणं तस्य प्रसङ्गः तस्मात् अतिजरठः यः किसलयः तदनुकारि करतलं यस्य तम्। बाहुं भुजम्। करेण बाहुना। अवलम्ब्य धृत्वा। अभ्यन्तरसञ्चारसमुचितेन अन्तःपुरमध्यगमनागमनयोग्येन, अभ्यन्तरे यः संचारः तस्मिन् समुचितः तेन। परिजनेन परिचारकलोकेन। अनुगम्यमानः अनुसृत्यमाणः। धवलांशुकजवनिकापरिगतपर्यन्ततया शुभ्रवसनजालिकापरिवेष्टितप्रान्तदेशतया, धवलांशुकैः निर्मिताः जवनिकाः ताभिः परिगता पर्यन्ता यस्य तस्य भावः तया। स्फटिकमणिनिर्मितभित्तिदेशमिव। स्फटिकमणिमयी या भित्तिः तया बद्धस्तम्। उपलक्ष्यमाणं दृश्यमाणं। अतिसुरभिणा अतिशय घ्राणातर्पणेन। मृगनाभिपरिमलेन कस्तूरीगन्धेन। आमोदिना परमसुगन्धितेन। चन्दनवारिणा पाटीरमिश्रितसलिलेन। सिक्तशिशिरमणिभूमिम् धौतशीतलमणिमयाधःप्रदेशम्। सिक्ता अतएव शिशिरा मणिभूमिः यस्मिन् तम्। अविरलविप्रकीर्णेन सान्द्रनिक्षिप्तेन, अविरलं विप्रकीर्णम् तेन। विमलमणिकुट्टिमगगनतलतारागणेन इव स्वच्छमणिमयबद्धभूमिप्रदेशाकाशतलनक्षत्रसमूहेन, विमलं मणिकुट्टिमं गगनतलमिव तस्य तारागणास्तेन कुसुमोपहारेण पुष्पसमूहेन कुसुमानां उपहारस्तेन। निरन्तरं निचितं सततं व्याप्तम्, निरन्तरं निचितः तम्। उत्कीर्णशालभञ्जिकानिवहेन उत्क्षोदित पुत्तलिकासमूहेन, उत्कीर्णः शालभञ्जिकानां निवहो यस्मिन् तेन। अतएव सन्निहितगृहदेवतेन आसन्नगृहदेवेन। देव एव देवता स्वार्थे तल्प्रत्ययः। सन्निहिता गृहदेवता यस्मिन् तेन इव। गन्धसलिलक्षालितेन सुगन्धिजल-

धौतेन, गन्धयुक्त-सलिलैः क्षालितः तेन । कलधौतमयेन सुवर्णनिर्मितेन । स्तम्भसञ्चयेन स्तम्भसमूहेन । विराजमानम् शोभितम् अतिबहलागुरुधूपपरिमलम् नितान्तप्रचुरागुरुधूपसौरभम् । अतिबहलः अगुरुधूपयोः परिमलो यस्मिन् तम् । अखिलविगलितजलनिवहधवलजलधरशकलानुकारिणा समस्तनिसृतवारिसमूहश्वेतमेघखण्डानुयायिना, अखिलं विगलितः जलनिवहो यस्मात् स अतएव धवलः यो जलधरः तस्य शकलं अनुकर्तुम् शीलमस्य तेन । कुसुमामोदवासितप्रच्छदपटेन पुष्पसौरभसुरभीयकृतप्रसारणवसनेन । कुसुमानामामोदेन वासितः प्रच्छदपटः यस्य तेन । पट्टोपधानाध्यासितशिरोधाम्ना पट्टवसनोपाश्रितमस्तकस्थापनप्रदेशेन, पट्टस्योपधानं तेनाध्यासितम् शिरोधाम यस्य तेन । मणिमयप्रतिपादुकाप्रतिष्ठितपादेन मणिनिर्मिताधारपीठस्थितपदेन, मणिमयीषु प्रतिपादुकासु प्रतिष्ठिताः पादाः यस्य तेन । पर्यङ्कस्य चत्वारः पादाः चतुर्मणिनिर्मितेषु उच्चस्थलेषु इष्टकारनतेषु स्थिता आसन् इति भावः । पार्श्वस्थरत्नपादपीठेन समीपस्थमणिमयपादधारणालयस्थलेन । पार्श्वस्थं रत्नपादपीठं यस्य तेन । तुहिनगिरिशिलातलसदृशशयनेन हिमालयशिलातलश्वेतप्रस्तरतुल्यतल्पेन, तुहिनगिरेः शिलातलेन सदृशं तेन । शयनेन तल्पेन । सनाथीकृतवेदिकम् सहितपरिष्कृतभूमिकम् । सनाथीकृता वेदिका यस्य तम् आस्थानमण्डपम् सभागृहम्, आस्थानस्य मण्डपः तम्, आसमन्तात् तिष्ठन्ति अस्मिन् इति आस्थानम्—अधिकरणे ल्युट् । अयासीत् अगच्छत् । तत्र च शयनतले

तस्यां शय्यायाम् निषण्ण उपविष्टः नि+सत्+कर्तरि, क्त गत्यर्थाकर्म-कत्यादि सूत्रेण । क्षितितलोपविष्टया भूतलस्थितया, क्षितितले उपविष्टा तया । उत्सङ्गनिहितासिलतयाक्रोडस्थापितसरल-कृपाणया, उत्सङ्गे निहितासिलता तया खड्गवाहिन्या । खड्गं वोढुं शीलमस्यां तया । असिधारिण्या कृपाणधारिण्या वनितया । नवनलिनदलकोमलेन नूतनकमलपलाशमृदुलेन, नवं यत् नलिनदलं तद्वत् कोमलस्तेन । करसम्पुटेन पाणियुगलेन । शनैः शनैः मन्दं-मन्दम् । संवाह्यमानचरणः आमृष्यमाणपदयुगलः । संवाह्यमानौ चरणौ यस्य सः । सम्+वह्+कर्मणि शानच् । तत्कालोचित-दर्शनैः तदायोग्यनृपसाक्षात्कारैः, तत्काले उचितं दर्शनं येषां तैः । अवनिपतिभिः भूपैः । अमात्यैः मन्त्रिभिः । मित्रैश्च सुहृद्भि-श्च । सह साकं तास्ताः प्राग्बोधिताः विविधा । कथाः वार्त्ताः । कुर्वन् विदधत् । मुहूर्तमिव कतिपयं कालम् । आसाञ्चक्रे तस्थौ । आस्+कर्तरि+लिट् । ततः तदनन्तरम् । समुपजा-ततद्वृत्तान्तप्रश्नकुतूहलो उद्भूतशुकवृत्तप्रच्छालोलुपः समुपजातं तद्वृत्तान्तप्रश्ने कुतूहलं यस्य सः । राजा शूद्रकः । अन्तःपुरात् अवरोधात् । वैशम्पायनम् तन्नामकशुकं । आदाय गृहीत्वा । आगच्छ । इति इत्थं । नातिदूरवर्तिनीम् समीपस्थायिनीम् । प्रतीहारीम् सन्देशहारिणीम् । आदिदेश आज्ञापयामास । सा प्रतिहारी । क्षितितलनिहितजानुकरतला—भूमितलस्था-पितोरुपाणितला, क्षितितले निहिते जानुनी करतले च यया सा । नृपः भवान् । यथा येन प्रकारेण आज्ञापयति आदिशति देवः स्वामी इति । एवं आज्ञाम् आज्ञप्तिम् । शिरसि

मस्तके । कृत्वा धारयित्वा । यथादिष्टम् आज्ञानुसारम् आदिष्टमनतिक्रम्यवर्तने इति यथादिष्टं यथार्थे असाहय्ये अव्ययीभाव सः । अकरोत् अवदधीत ।

१६—(भोजन करने के पश्चात्) सुगन्धित धूपादि का धूम्रपान तथा (जल से) आचमन कर राजा ने पान ग्रहण किया और मणियों के धोकर साफ़ किये गये, फर्श से उठकर सभामण्डप की ओर प्रस्थान किया। उसके चलते ही पास खड़ी हुई प्रतिहारी हड़बड़ा कर दौड़ी हुई आई और उसने अपनी भुजा (राजा के सम्मुख) बढ़ा दी (कि राजा उसका सहारा ले ले)। उसकी भुजा की हथेली निरन्तर बेंत पकड़ने के कारण अत्यन्त कठोर (सूखे) पत्ते के समान हो गई थी। राजा ने उसकी उस (फैलाई हुई) भुजा का अपने हाथ से सहारा ले लिया। उसके (राजा के) पीछे-पीछे अन्तःपुर में जाने का अधिकार रखने वाले सेवक चल रहे थे। सभामण्डप में चारों ओर श्वेत वर्ण के परदे लटक रहे थे, जिनके कारण ऐसा प्रतीत होता था मानो वह (सभामण्डप) (शुभ्रवर्ण की) स्फटिक मणियों से निर्मित हो। मणियों का बना हुआ उसका फर्श अत्यन्त सुगन्धित कस्तूरी से युक्त चन्दन के जल से सिञ्चित होने के कारण अत्यन्त शीतल था। उसमें सदैव पुष्पों के ढेर के ढेर बिखरे रहते थे। वे ऐसे प्रतीत होते थे मानों निर्मल मणि-निर्मित फर्श रूपी आकाश में तारे छिटके हुए हों। वह अनेक स्वर्ण स्तम्भों से सुशोभित हो रहा था। (ये स्वर्ण स्तम्भ) सुगन्धित जल से धोए गये थे और उनमें अनेक पुतलियाँ उत्कीर्ण थीं जिससे ऐसा मालूम होता था मानो उनमें गृहदवियाँ स्थित हों। वह अत्यन्त प्रचुर अगरु की धूप के सुगन्धित धुएँ से सुवासित हो रहा था। सभाभवन की वेदिका (चबूतरे) पर हिमालय पर्वत की शिला के समान (विस्तृत एवं शुभ्र) एक पलंग (बिछा हुआ) था। वह (पलंग) उस बादल के टुकड़े के समान (श्वेत) था जिसकी सम्पूर्ण जलराशि बरस चुकी हो। उसकी चादर पुष्पों की सुवास से सुवासित थी। सिरहाने की ओर रेशमी वस्त्र का तकिया रखा था। उसके (चारों) पाये मणिमय पादपीठ

पर स्थित थे और दोनों ओर रत्नों के पादपीठ रखे थे। वहाँ पलंग पर बैठकर उसने थोड़ी देर (मुहूर्त भर) आराम किया (अथवा वहाँ रहा)। (उस समय) भूमितल पर बैठी हुई खड्गवाहिनी (खड्ग धारण करनेवाली सेविका) खड्ग को गोद में रख कर अपने कमल के समान नये पत्तों (किसलय) के समान कोमल हाथों से धीरे-धीरे उसका चरण दबाती रही और जो राजा, मन्त्री, और मित्र उस अवसर पर उसके दर्शन पाने (उससे मिलने) के अधिकारी थे उनके साथ वह नाना प्रकार की (इधर-उधर की) बातें करता रहा। तब (तोते से उसके) वृत्तान्त के विषय में प्रश्न पूछने की उत्सुकता से उसने पास ही खड़ी हुई प्रतिहारी को आदेश दिया कि अन्तःपुर से वैशम्पायन को ले आओ। उसने पृथ्वी पर घुटने और हथेली टेक कर कहा—'जैसी महाराज की आज्ञा,' और (राजा की) आज्ञा शिरोधार्य कर उसके आदेशानुसार ही किया।

शब्दार्थ—उपस्पृश्य— आचमन करके अथवा कुल्ला करके; प्रमृष्टः— पानी आदि से साफ किया हुआ; अनवरत...करतलम्—यहाँ शिथिल वाक्य विन्यास के कारण अर्थ में कुछ अस्पष्टता आ गई है। अनवरत...करतलं को बाहुम् का विशेषण मान कर अन्वय करना ठीक होगा; मृगनाभिपरिमलेन— कस्तूरी की सुगन्धि से; प्रतिपादुका—आधारपीठ।

16. Having smoked (or taken in the smoke of) the aromatic vapour of some fragrant drugs (or sticks of ointment), and sipped a little water with a view to rinse his mouth,—having taken or chewed betel-leaves, and risen or got up from that place after its jewelled pavement had been washed or made clean (by the removal from it of the leaf on which the food was taken and besmearing it with cow-dung etc.), having rested or reclined (*i. e.* supported) his hand on

or against the palm* of hand which seemed to imitate or resemble a tender leaf grown very old (or rendered rather hard) on account of the constant practice of holding or handling a cane-stick and which was extended by the portress or female door-keeper who was present or standing not very far (from him), and who ran up to him with great hurry,—and being followed by (a retinue of) attendants, who were fit to move about(freely) in the inner apartments*, he, after having taken his (mid-day) meal or food, proceeded or went (*i. e.*, returned to the hall of audience, which, on account of its ends or borders being (fully) provided with (lit. surrounded by) curtains of white silk, appeared as if it had (or was bounded on all sides by) walls made of crystal jewels, as it were;—the jewelled pavement or floor, made of precious stones of which was cool having been sprinkled over with very fragrant sandalwood water, the sweet odour or perfume of which (water was blended (lit., surrounded on all sides) with (that of) musk; —which was thickly strewn with heaps of flowers profusely (lit., 'not sparsely') scattered about, (and looked) as if (it were so strewn) with clusters of stars on the surface of the sky (in the shape) of the pure jewelled pavement, as it were;—which was

*NOTE.—The reading प्रसारितबाहु in this context, is neither proper nor strictly correct grammatically; as some very reasonable commentators have rightly pointed out. The compound अनवरतवेत्रलता...करतलकरेण, as qualifying परिजनेन, also does not give us any suitable or elegant meaning either, when our attention is drawn to the word अतिजरठकिसलय, which might be more appropriately applicable to the प्रतिहारी than to the परिजन। The readings in both cases, as translated above, without the word बाहु and with the compound, reading as अनवरत.... करतल,

looking splendid or gorgeous (*i. e.*, shining forth) on account of (its being provided with) a large number (lit. collection or multitude) of pillars, which were made of gold, and were sprinkled over (lit. washed) with fragrant water, and which had a multitude of dolls or puppets (*i. e.*. figures) carved on them and (which as such) looked as if they had (so many) household gods (Chich are also made of gold and are bathed with fragrant water every day), fixed or laid up (lit. placed near together) on them, as it were,—which was rendered fragrant with a very thick aromatic vapour or smoke of the (sweet-smelling) aloe wood;—and the dais or raised platform of which (hall) was provided (or endowed) with a bed or couch, which was (broad and white) like a flat slab of stone of (or on) the *Himalaya* (or 'snow'—) mountain, which (bed) resembled (or imitated as it were) a patch or piece of white cloud from which the (whole) mass or quantity of water had entirely flowed or trickled away (*i e.*, oozed out, drained off or dropped away), which had its coverlet or covering sheet perfumed or scented with the sweet fragrance of flowers, the head-side of which (bed) was occupied by (*i. e.*, contained) a pillow made of fine silk cloth, the (four) feet of which had every one of them been made to rest on stands or pedestals

---

as the object of अवलं'ब्य, are therefore to be preferred by all means. But if however, the ungrammatica l and the inelegant readings (प्रसारितबाहुं and अनवरत.....करतलकरेण) be retained, the translation would run thus: "Having rested his hand on the *arm extended by the portress* etc:........and being followed by his *attendants (or retinue) who had hands the palms of which* seemed to imitate or resemble etc."

made of jewels or precious stones, and near or at the side of which there stood a jewelled foot-stool. And (then) lying down there on the surface of the bed, with his feet being gently shampooed with the hollows of her hands, which were soft like a leaf or petal of a fresh lotus, by the female sword-bearer, who was seated close by on the floor or the surface of the earth, and had her sword placed or thrown into her lap, and conversing or talking about the various (lit. 'those and those') matters (*i. e.*, subjects or topics) with princes or feudatory chiefs (lit. kings or lords of the earth), ministers or counsellors and friends or comrades whose interview with him at that time was proper or usual, he reposed (lit. 'sat or remained'—in that state) for a very short while (lit. a moment or any short space of time). Thereafter the king, who had his curiosity aroused for asking a question relating to his account of story, ordered the portress, who was standing not very far (from him), thus: 'Come after having taken (*i. e.*, go and fetch) Vaishampayana from the inner apartment., She, having bent down her knees, and placed the palms of her hands, on the ground, and having bowed to (lit. having placed on her head) his command (*i. e.*, received it by bowing down her head to it), saying, 'Your Majesty's command will be obeyed (or as Your Majesty commands)', did as she had been ordered to.

१७—अथ मुहूर्त्तादिव वैशम्पायनः प्रतीहार्या गृहीतपञ्जरः कनकवेत्रलतावलम्बिना किंचिदवनतपूर्वकायेन सितकञ्चुकावच्छन्नवपुषा जराधवलितमौलिना गद्गदस्वरेण मन्दमन्दसंचारिणा विहङ्गजातिप्रीत्या जरत्कलहंसेनेव कञ्चुकिनानुगम्यमानो राजान्तिकमाजगाम । क्षितितलनिहितकरतलस्तु कञ्चुकी राजानं व्यज्ञापयत्“देव देव्यो विज्ञा-

पयन्ति, देवादेशादेष वैशम्पायनः स्नातः कृताहारश्च देवपादमूलं प्रतीहार्यानीतः" इत्यभिधाय गते च तस्मिन् राजा वैशम्पायनमपृच्छत्—कच्चिदभिमतमास्वादितमभ्यन्तरे भवता किंचिदशनजातमिति । स प्रत्युवाच—देव ! किं वा नास्वादितम् ? आमत्तकोकिललोचनच्छविर्नीलपाटलः कषायमधुरः प्रकाममापीतो जम्बूफलरसः । हरिनखरभिन्नमत्तमातङ्गकुम्भमुक्तरक्तार्द्रमुक्ताफलत्विषि खण्डितानि दाडिमबीजानि । नलिनीदलहरिन्ति द्राक्षाफलस्वादूनि च दलितानि स्वेच्छया प्राचीनामलकीफलानि । किं वा प्रलपितेन बहुना । सर्वमेव देवीभिः स्वयं करतलोपनीयमानममृतायते । इत्येवंवादिनो वचनमाक्षिप्य नरपतिरब्रवीत् । आस्तां तावत्सर्वमेवेदम् । अपनयतु नः कुतूहलम् । आवेदयतु भवानादितः प्रभृति कात्स्न्येनात्मनो जन्म कस्मिन्देशे भवान्कथं जातः ? केन वा नाम कृतम् ? का माता ? कस्ते पिता ? कथं वेदानामागमः ? कथं शास्त्राणां परिचयः ? कुतः कलाः समासादिताः? किं जन्मान्तरानुस्मरणमुत वरप्रदानम् ? अथवा विहङ्गवेषधारी कश्चिच्छन्नं निवससि ? क्व वा पूर्वमुषितम्? कियद्वा वयः? कथं पञ्जरबन्धः? कथं चाण्डालहस्तगमनम्? इह वा कथमागमनमिति ? वैशम्पायनस्तु स्वयमुपजातकुतूहलेन सबहुमानमवनिपतिना पृष्टो मुहूर्तमिव ध्यात्वा सादरमब्रवीत् । देव! महतीयं कथा, यदि कौतुकमाकर्ण्यताम् ।

१७—अथ प्रतिहार्या—सन्देशहारिण्या । गृहीतपञ्जरः धृत-शलाकागारः, गृहीतः पञ्जरो यस्य सः । वैशम्पायनः शुकः । कनकवेत्रलतावलम्बिना सुवर्णखचितवेतसयष्टिधारिणा, कनक-खचितां वेत्रलतां अवलम्बितुं शीलमस्य तेन । किंञ्चिदवनतपूर्वकायेन वार्धक्यवशादीषन्नम्र अग्रशरीरभागेन । किंचिदवनतः पूर्वकायो यस्य तेन । पूर्वंकायस्य स पूर्वकायः पूर्वापराधरोत्तरमित्यादि सूत्रेण एकदेशी तत्पुरुषः । सितकंचुकावच्छन्नवपुषा धवलकूर्पासका-वृतशरीरेण, सितकंचुकेनावच्छन्नं वपुर्यस्य तेन । जराधवलित-मौलिना वार्धक्यश्वेतीकृतकेशपाशेन । जरया धवलितः मौलिर्यस्य तेन । गद्गदस्वरेण अस्पष्टकण्ठरवेण, गद्गदः स्वरो यस्य तेन । मन्दमन्दसंचारिणा शनैः शनैर्गामिना, मन्दं मन्दं संचरितुं शीलम-स्य तेन । (वृद्धपुरुषः कलहंसेन तुल्य इति तद्धर्मवशात्) कंचु-किना अन्तःपुरचारिणा, तदुक्तं भारते, "अन्तःपुरचरः सोऽतिवृद्धो गुणगुणाचितः । सर्वकार्यार्थकुशलः कंचुकीत्यभिधीयते" । विहङ्गजाति-प्रीत्या पक्षिजातिप्रणयेन, विहायसा गच्छतीतिविहङ्गः तस्य जातौ प्रीतिः तया—विहायस्+गम्+खच् डितवत् । जरत्कलहंसेनेव वृद्ध-कादम्बकेन इव जरत् चासौ कलहंसः तेन । जीर्यतेरत्रिन् । अनु-गम्यमानः अनुवृज्यमानः । वैशम्पायनशुकः । मुहूर्तादिव ईषत् कालानन्तरमेव । राजान्तिकं नृपसमीपम् । आजगाम प्राप्तवान् । क्षितितलनिहितकरतलस्तु भूमितलस्थापितपाणितलस्तु कंचुकी—अन्तः-पुरचारी राजानम् शुद्रकम् व्यज्ञापयत् बोधितवान् । देव नृप । देव्यः महिष्यः । विज्ञापयन्ति बोधयन्ति । देवादेशात् भवदाज्ञया । देवस्या-देशस्तस्मात् एषः अयम् । वैशम्पायनः शुकः । स्नातः सिक्तः ।

न्कृताहारः भुक्तः कृतभोजनो वा कृत आहारः येन सः प्रतीहार्या सन्देशहारिण्या। देवपादमूलं—नृपचरणसमीपम्। आनीतः प्रापितः। इति एवम् अभिधाय उक्त अभिपूर्वस्यधा धातोर्भाषणार्थः। तस्मिन् गते च कंचुकिनिपाते प्रस्थिते च वा। राजा नृपः। वैशम्पायनम् शुकम् अपृच्छत् प्रष्टवान्। भवता त्वया। अभ्यन्तरे अन्तःपुरे। किंचित् किमपि। अशनजातम् आहार्यवस्तुसमूहः। अभिमतम् यथेष्टम्। आस्वादितम् भुक्तम्। इति कच्चित् इष्टप्रश्ने। सः शुकशावकः। प्रत्युवाच उत्तरं दत्तवान्। देव नृप। किम् किंचित्। न—नो। आस्वादितम् भुक्तम्। इति न किन्तु सर्वमेव भुक्तम्। आमत्तकोकिललोचनच्छविः मद्यपानमत्तपिकनयनद्युतिः। आमत्तस्य कोकिलस्य लोचनच्छविरिव च्छविर्यस्य सः। नीलपाटलः श्यामश्वेतरक्तः। नीलश्चासौ पाटलः सः। वर्णोवर्णेनेतिकर्मधारयः अन्यथा द्वयोरपि विशेषणवाचकयोः विशेषणसमासो न स्यात्। कषायमधुरः कषायरसमिष्टरसः। कषायश्चासौ मधुरः सः। मधुरस्य विशेष्यत्वविशेष्यत्वविवक्षणात् कर्मधारयः। जम्बूफलरसः जम्बूफलजन्यनिर्यासः। प्रकामं पर्य्याप्तम्। आपीतः पीतः। हरिनखरभिन्नमत्तमातंगकुम्भमुक्तरक्तार्द्रमुक्ताफलत्वींषि सिंहपुनर्भू विदारितक्षीवगजमस्तकस्थमांसपिण्डफलबहिर्गतरुधिरक्लिन्नमौक्तिकप्रभावन्ति; हरेः नखरैः भिन्नाः ये मत्तमातंगाः तेषां कुम्भेभ्यः मुक्तानि रक्तेन आर्द्राणि च मुक्ताफलानि तेषां त्विडिव त्विड् येषां तानि। दाडिमबीजानि दाडिमफलकारणकणाः खण्डितानि चंचुपुटेन खण्डयित्वा भक्षितानि। नलिनीदलहरिन्ति कमलिनीपत्रहरितवर्णानि, नलिन्याः दलवत् हरिन्ति तानि। द्राक्षाफलस्वा-

ढूनि द्राक्षावत् सुरसानि । प्राचीनामलकीफलानि प्राच्यक्षीरधात्री प्रसवान् । प्राचीनानि आमलक्याः फलानि तानि । स्वेच्छया—यथेष्टम् । दलितानि आमर्द्य भक्षितानि । किंवा किं प्रयोजनम् । बहुना—अधिकेन । प्रलपितेन—वृथाकथनेन । देवीभिः राज्ञीभिः । स्वयम्—आत्मना । करतलेन—पाणिकमलेन । उपनीयमानम्—दीयमानम् । सर्वमेव—निखिलमेव वस्तुजातम् । अमृतायते—पीयूषवदाचरति । कर्त्तुःक्यङ् सलोपश्चेति आचारार्थे क्यङ् । 'पीयूषममृतं सुधेत्यमरः ।' एवंवादिनः पूर्वोक्तभाषिणः । शुकस्य । वचनम्—वचः । आक्षिप्य असमाप्तमेव निवार्य्य नृपतिः—शूद्रकः । अब्रवीत्—उक्तवान् इदम्-एतत्त्वदुक्तम् । सर्वमेव-सकलमपि । आस्ताम्-तिष्ठतु तावत् । सर्वथा-साकल्येन । नः अस्माकम् । कुतूहलम् श्रवणलोलुपत्वम् । अपनयतु निवारयतु । कुतूं चर्ममयभाण्डं हलति अनेन तत् कुतूहलम् । 'रम्यं वस्तु समालोक्य लोलुपत्वं कुतूहलम्' इति दर्पकारः । भवान् त्वम् । आदितः प्रभृति-जन्मनः आरभ्य । कात्स्न्येन साकल्येन । आत्मनः स्वस्य । वृत्तम् । आवेदयतु कथयतु । अत्र साकल्येनेत्येव पाठः साधुः, कात्स्न्येंनेति पाठे तु परुषवर्णत्वात् दुःश्रवत्वदोषः सकलकविनिषिद्धः प्रसज्येत । कस्मिन् कतमे देशे जन्म-उत्पत्तिः भवान् त्वम् । कथम् केन प्रकारेण । जातः उद्भूतः । केन च-कतमेन च । नाम-वैशम्पायनेत्यात्मकन्नामधेयम् । कृतम् । विहितम् । का-कतमा । माता जननी । कः । किन्नामा । पिता जनकः । कथम् वेदानाम्—श्रुतीनाम् । आगमः प्राप्तिः । कथम् । शास्त्राणाम्-आगमानाम् । परिचय—विशेषज्ञानम् । कुतः कस्मात् । कलाः-चतुःषष्ठिप्रकाराः नृत्यगीतादयः गुणाः । समासादिताः प्राप्ताः । सम्+आ+सद्+

कृताहारः भुक्तः कृतभोजनो वा कृत आहारः येन सः प्रतीहार्या सन्देशहारिण्या। देवपादमूलं—नृपचरणसमीपम्। आनीतः प्रापितः। इति एवम् अभिधाय उक्त अभिपूर्वस्यधा धातोर्भाषणार्थः। तस्मिन् गते च कंचुकिनिपाते प्रस्थिते च वा। राजा नृपः। वैशम्पायनम् शुकम् अपृच्छत् प्रष्टवान्। भवता त्वया। अभ्यन्तरे अन्तःपुरे। किंचित् किमपि। अशनजातम् आहार्यवस्तुसमूहः। अभिमतम् यथेष्टम्। आस्वादितम् भुक्तम्। इति कच्चित् इष्टप्रश्ने। सः शुकशावकः। प्रत्युवाच उत्तरं दत्तवान्। देव नृप। किम् किंचित्। न—नो। आस्वादितम् भुक्तम्। इति न किन्तु सर्वमेव भुक्तम्। आमत्तकोकिललोचनच्छविः मद्यपानमत्तपिकनयनद्युतिः। आमत्तस्य कोकिलस्य लोचनच्छविरिव च्छविर्यस्य सः। नीलपाटलः श्यामश्वेतरक्तः। नीलश्चासौ पाटलः सः। वर्णोवर्णेनेतिकर्मधारयः अन्यथा द्वयोरपि विशेषणवाचकयोः विशेषणसमासो न स्यात्। कषायमधुरः कषायरसमिष्टरसः। कषायश्चासौ मधुरः सः। मधुरस्य विशेष्यत्वविशेष्यत्वविवक्षणात् कर्मधारयः। जम्बूफलरसः जम्बूफलजन्यनिर्यासः। प्रकामं पर्य्याप्तम्। आपीतः पीतः। हरिनखरभिन्नमत्तमातंगकुम्भमुक्तरक्तार्द्रमुक्ताफलत्वींषि सिंहपुनर्भू विदारितक्षीवगजमस्तकस्थमांसपिण्डफलबहिर्गतरुधिरक्लिन्नमौक्तिकप्रभावन्ति; हरेः नखरैः भिन्नाः ये मत्तमातंगाः तेषां कुम्भेभ्यः मुक्तानि रक्तेन आर्द्राणि च मुक्ताफलानि तेषां त्विडिव त्विड् येषां तानि। दाडिमबीजानि दाडिमफलकारणकणाः खण्डितानि चंचुपुटेन खण्डयित्वा भक्षितानि। नलिनीदलहरिन्ति कमलिनीपत्रहरितवर्णानि, नलिन्याः दलवत् हरिन्ति तानि। द्राक्षाफलस्वा-

द्गूनि द्राक्षावत् सुरसानि । प्राचीनामलकीफलानि प्राच्यक्षीरधात्री-प्रसवान् । प्राचीनानि आमलक्याः फलानि तानि । स्वेच्छया—यथेष्टम् । दलितानि आमर्द्य भक्षितानि । किंवा किं प्रयोजनम् । बहुना—अधिकेन । प्रलपितेन—वृथाकथनेन । देवीभिः राज्ञीभिः । स्वयम्—आत्मना । करतलेन—पाणिकमलेन । उपनीयमानम्—दीयमानम् । सर्वमेव—निखिलमेव वस्तुजातम् । अमृतायते—पीयूषवदाचरति । कर्तुःक्यङ् सलोपश्चेति आचारार्थे क्यङ् । 'पीयूषममृतं सुधेत्यमरः ।' एवंवादिनः पूर्वोक्तभाषिणः । शुकस्य । वचनम्—वचः । आक्षिप्य असमाप्तमेव निवार्य्य नृपतिः—शूद्रकः । अब्रवीत्—उक्तवान् इदम्-एतत्त्वदुक्तम् । सर्वमेव-सकलमपि । आस्ताम्-तिष्ठतु तावत् । सर्वथा-साकल्येन । नः अस्माकम् । कुतूहलम् श्रवणलोलुपत्वम् । अपनयतु निवारयतु । कुतूं चर्ममयभाण्डं हलति अनेन तत् कुतूहलम् । 'रम्यं वस्तु समालोक्य लोलुपत्वं कुतूहलम्' इति दर्पकारः । भवान् त्वम् । आदितः प्रभृति-जन्मनः आरभ्य । कात्स्न्येंन साकल्येन । आत्मनः स्वस्य । वृत्तम् । आवेदयतु कथयतु । अत्र साकल्येनेत्येव पाठः साधुः, कात्स्न्येंनेति पाठे तु परुषवर्णत्वात् दुःश्रवत्वदोषः सकलकविनिषिद्धः प्रसज्येत । कस्मिन् कतमे देशे जन्म-उत्पत्तिः भवान् त्वम् । कथम् केन प्रकारेण । जातः उद्भूतः । केन च-कतमेनच । नाम-वैशम्पायनेत्यात्मकन्नामधेयम् । कृतम् । विहितम् । का-कतमा । माता जननी । कः । किन्नामा । पिता जनकः । कथम् वेदानाम्—श्रुतीनाम् । आगमः प्राप्तिः । कथम् । शास्त्राणाम्-आगमानाम् । परिचय—विशेषज्ञानम् । कुतः कस्मात् । कलाः-चतुःषष्ठिप्रकाराः नृत्यगीतादयः गुणाः । समासादिताः प्राप्ताः । सम्+आ+सद्+

णिच्+क्तः। किं-कथम्। जन्मान्तरानुस्मरणम्—पूर्वजन्मवृत्तस्मृतिः। अन्यज्जन्म—जन्मान्तरम्। तद्वृत्तस्यानुस्मरणम् तत् (मध्यमपदलोपि-समासः)। (नच राज्ञः शुकेन सहाधुनावधि आलापाभावेन कथं नृपेण विज्ञातं यत् शुकः जन्मान्तरवृत्तं स्मरति इति वाच्यम्। शुकस्य स्नानभोजनसमये परिचारिकाणां वा देवीनां द्वारा नृपशूद्रकस्य तदवगमात्)। उत अथवा। वरप्रदानम् अभिलषितसमर्पणम्। कस्यचित् सिद्धस्य। अथवा। विहंगवेषधारी-खगाकारधारणशाली। विहंगस्य वेषं धर्तुं शीलमस्य सः। विहायसोविह इति वार्त्तिकेन—विहायस्+गम्+डः विहादेशः च। कश्चित्—कतमः। महात्मा। छन्नं अन्तर्हितरूपेण। निवससि आस्ते। क्व-कुत्र वा। पूर्वम्-प्राक्। उषितम् अवस्थितम्। वस्+क्तः वसतिक्षुधोरिट् इति इट्। कियत् वा किम्प-रिमाणं च। वयः-आयुः। कथम्। पञ्जरबन्धः-शलाकामयपक्षि-बन्धनबन्धनम्। पंजरे बंधः सः। सिद्धशुष्कपक्वबंधैश्चेति तत्पुरुषः। बंध्+घञ् वन्धः। कथम्। चाण्डालहस्तगमनम्। श्वपाककरगतिः। चाण्डालस्य हस्ते गमनम् तत्। षष्ठीतत्पुरुषगर्भितः सप्तमीतत्पुरुषः सप्तमीशौण्डैरितियोगविभागात्। चण्डि कोपे इति धातोर्भावेघञ् चण्डनं चण्डः। चण्डेनालतीति चण्डालः। क्रोधभूषण इत्यर्थः। अथवा चण्डमासमंतात् लाति गृणतीति चंडालः चंडाल एव चाण्डालः स्वार्थेऽण् प्रज्ञादिभ्यश्चेति। इह वा-अत्र च। कथम्। आगमनम् प्राप्तिः। इति। वैशम्पायनस्तु—शुकशिशुरपि। उपजात-कुतूहलेन—उत्पन्नवृत्तश्रवणलोलुपत्वेन। अवनिपतिना—शूद्रकेण। सबहुमानम्—सादरम्। बहुअधिकं मानम् तेन सहितम् तत्। क्रिया-विशेषणम्। तेन सहेतितुल्ययोगे इति बहुब्रीहिः समानस्य सादेशः-

चोपसर्जनस्येत्यनेन—सूत्रेण। स्वयम्—आत्मना। पृष्टः—जिज्ञासितः। मुहूर्तमिव—ईषत्कालमिव। ध्यात्वा—स्मृत्वा। सादरम्—अधिकमान-पूर्वकम्। अब्रवीत्—अवोचत्। देव—नृप। इयम्—एषा। कथा—वार्त्ता। महती वृहती। अस्ति—वर्तते। यदि—चेत्। कौतुकम—श्रवणोत्कटोत्कण्ठा। आकर्ण्यताम्—श्रूयताम्।

१७—क्षण भर में (शुक) वैशम्पायन, जिसके पिंजड़े को प्रतिहारी लिये हुए थी, राजा के पास आया (या लाया गया)। प्रतिहारी के पीछे-पीछे स्वर्ण-खचित छड़ी लिये हुए एक कञ्चुकी भी आया। उसके शरीर के ऊपर का भाग कुछ झुक गया था और वह शरीर पर श्वेत वर्ण का कञ्चुक (अंगरखा) धारण किये हुए था। वृद्धावस्था के कारण उसके शिर के बाल सफेद हो चुके थे, उसका स्वर गद्गद हो रहा था और वह बहुत धीरे-धीरे चल रहा था, अतएव वह (कञ्चुकी) ऐसा मालूम हो रहा था मानों वृद्ध कलहंस ही, पक्षि जाति के प्रेम के कारण उसके (तोते के) पीछे-पीछे आ रहा हो। कंचुकी ने भूमि पर अपने करतल टेक कर (अभिवादन करते हुए) कहा—'महाराज! देवियों (रानियों) ने निवेदन किया है कि महाराज की आज्ञा से इस (तोते) वैशम्पायन को स्नान और भोजन करा दिया गया है (और अब) प्रतिहारी महाराज के चरणों में उसे लाई है।' यह कह कर उसके (कंचुकी के) चले जाने पर राजा ने वैशम्पायन से पूछा—'क्या आपने अन्तःपुर में कुछ (अपनी) रुचि का भोजन चखा'? उसने कहा—'महाराज, मैंने वहाँ क्या नहीं खाया' मदमत्त कोकिल के नेत्र की कान्ति के समान नीला और गुलावी (अर्थात् वैगनी रंग का) जामुन का खट-मिट्ठा रस मन भर खूब पिया, सिंह के नखों से विदीर्ण मतवाले हाथी के कुम्भस्थल से निकले हुए रक्त से सने हुए (शुभ्र) मोतियों की आभावाले (अर्थात् श्वेत-रक्त) अनार के बीज (दाने) कुतरे, कमल के पत्तों के समान हरे तथा अंगूर के समान स्वादिष्ट पुराने आंवले (के फल) इच्छानुसार (चोंच से चवा चवाकर)

खाये; अधिक कहने की आवश्यकता ही क्या, (वस्तुत:) देवियाँ जो कुछ भी स्वयं अपने हाथों से देती थीं, सब अमृत के समान लगता था। इस प्रकार वैशम्पायन कह ही रहा था कि राजा ने उसके कथन को बीच ही में काट कर कहा—"अच्छा, यह सब तो रहने दें, (पहले) आप हमारा कुतूहल दूर करें। आप आदि से लेकर (अपने विषय में) पूर्ण रूप से बताएँ कि आपका जन्म किस देश में हुआ? किस प्रकार आपने जन्म लिया? किसने आपका नाम रखा? कौन आपकी माता हैं और कौन पिता? किस प्रकार आपको वेदों का ज्ञान हुआ? किस प्रकार आप शास्त्रों में पारङ्गत हुए और कहाँ से आपको कलाओं का ज्ञान प्राप्त हुआ? क्या (यह ज्ञान) पूर्वजन्मों के स्मरण (का परिणाम) है अथवा किसी से वरदान (प्राप्त होने का फल) है? अथवा आप पक्षी के वेष में छिप कर निवास करनेवाले कोई (महात्मा) हैं? आप इसके पहले कहाँ रहते थे? आपकी आयु क्या है? आप इस पिंजड़े में कैसे बन्द हुए? चाण्डाल के हाथ में आप कैसे पड़े? और फिर यहाँ किस प्रकार आपका आगमन हुआ?" जब राजा ने कुतूहल से भरकर अत्यंत आदरपूर्वक स्वयं वैशम्पायन से (इस प्रकार) पूछा तो उसने क्षण भर सोचकर सादर कहा—"महाराज, यह लम्बी कथा है। यदि आपको उत्सुकता है तो सुनिये।

शब्दार्थ—क्षितितलनिहितकरतल:—पृथ्वी पर हाथ टेक कर प्रणाम किया; मातङ्ग—हाथी; त्विष्—कान्ति; अमृतायते—अमृत के समान प्रतीत होता है; कात्स्न्येंन—पूर्ण रूप से; छन्न:—गुप्त; उषितम्—वस्+क्त, रहे, निवास किया; सबहुमानम्—अत्यन्त आदर के साथ।

17. Thereafter in a very short while (lit. only in a moment's time, as it were), Vaishampayana, having his cage held by the portress or the female door-keeper, and being followed by the Chamberlain, who was resting or supporting himself on a cane-stick mounted with gold

(or on a golden staff), the front portion of whose body was slightly bent (in consequence of his advanced age), whose body was covered or clad with a white close-fitting jacket (कंचुक is a garment or dress fitting close to the upper part of the body; a jacket etc), whose head had been rendered grey or white with old age, whose voice was faltering (*i e.*, who had an indistinct or stammering utterance due to advanced age), and who walked very slowly, and who (as such or in that state, namely, with a white jacket and grey hair) looked like an old swan, following him on account of his (natural) love or affection for the *bird class* (to which *as a swan* he would himself belong), as it were,—came near to or into the presence of the king. The Chamberlain, then, having placed the palms of his hands on the ground or 'the surface of the earth', made a representation or request in a respectful manner to the king (thus or in these words): "My Lord! Their Majesties the queens inform (you thus): 'In obedience to the command of Your Majesty, this Vaishampayana, having been bathed (or given bath), and having taken his food, has been brought near (lit. at the root of) Your Majesty's feet by the portress". On his having gone away (or moved to a side) after having said so, the king enquired of Vaishampayana (saying): 'I hope or trust that you have taken (*i. e.*, eaten or tasted) something to your liking, out of all the varieties (lit. multitude or collection) of food in the inner apartment'. He said in reply: 'My Lord! What (indeed is there that) I have not tasted ? I have had to my heart's content or satisfaction (*i. e.*, drunk profusely of) the juice of the *Jambu* or Jamun fruits (*i. e.*, the rose apple or *Eugenia Jambolana*), having the lustre or bright appearance of the eyes of an intoxicated

or inebriated cuckoo, looking purple or reddish blue (in colour), and being astringent and sweet (in taste); I have had broken to pieces (with my bill or beak, *i. e.*, I have eaten after breaking them to pieces) the seeds of pomegranate, having the lustre or external appearance of (*i. e.*, looking like) pearls, wet or smeared with blood and dropped down or fallen (being disengaged) from the temples or frontal globes on the upper part of the forehead of an elephant in rut, on their being torn asunder with the nails or claws of a lion; I have had broken or shattered to pieces (with my beak, *i. e.*, chewed or eaten after breaking them) the old *Amalaka* or myrobalan fruits, just as I wanted (*i. e.*, in accordance with my free-will or sweet choice),—(those fruits) which were green like the leaves of the lotus plant, and tasted (sweet) like (*i. e.*, had the taste of) grapes: in short or to be brief (lit. 'Or what is the use of talking much'),—everything that was being presented or given (to me) by Their Majesties the Queens with their own hands tasted (sweet) like nectar'. Thereupon having interrupted or cut short the speech or words of him (*i. e.*, the parrot) who had been speaking in that strain, the king said: 'Let all this, however, remain alone for the time being; (first of all, be so good as to) remove or satisfy our curiosity. You please let us know or tell us in full detail from the very beginning (as to all this, namely);—In what country were you born (lit. tell us 'your birth in what country')? How were you born? By whom were you christened or named? Who (was your) mother? Who (was) your father? How did you (happen to) learn or acquire the (knowledge of the) Vedas? How came you to be acquainted with the *Shastras* or the various religious or scientific works? Whence did you

obtain the (knowledge of the various) arts? Is it the recollection of (any of) your past or previous lives (*i. e.*, your former existences or births; that is, is all this knowledge of yours due to the persisting memory of your former lives), or (is it due to) the gift (to you) of a boon (by some supernatural being)? Or are you somebody (*i. e*; some great soul or personage) living concealed or secretly in the disguise of a bird? Where again did you live or remain formerly or before? Or what (lit. how much) is your age? How came you to be confined into a cage? How did you happen to fall into the hands of a Chandala? Or how did you happen to arrive or come here (lit. 'Or how your arrival here)'? Vaishampayana, however or on his part, being (thus) questioned with great regard or honour by the king, who had himself or personally had a curiosity aroused in him, respectfully said, after having for a short while only revolved or thought over in his mind: 'My Lord! The (lit. 'this') tale is a long one; if (however, you have) a curiosity, (then) be pleased to listen:—

१८—अस्ति पूर्वापरजलनिधिवेलावनलग्ना मध्यदेशालङ्कारभूता मेखलेव भुवो वनकरिकुलमदजलसेकसंवर्धितैरतिविकचधवलकुसुमनिकरमत्युच्चतया तारागणमिव शिखरदेशलग्नमुद्वहद्भिः पादपैरुपशोभिता मदकलकुररकुलदृश्यमानमरिचपल्लवा करिकलभकरमृदिततमालकिसलयामोदिनी मधुमदोपरक्तकेरलीकपोलकोमलच्छविना संचरद्वनदेवताचरणालक्तकरसरञ्जितेनेव पल्लवप्रचयेन संछादिता शुककुलदलितदाडिमीफलद्रवार्द्रीकृततलैरतिचपलकपिकम्पितकक्कोल-

च्युतपल्लवफलशबलैरनवरतनिपतितकुसुमरेणुपांसुलैः पथिकजनरचितलवङ्गपल्लवस्रस्तरैरतिकठोरनालिकेरकेतकीकरीरकेसरपरिगतप्रान्तैस्ताम्बूलीलतावनद्धपूगखण्डमण्डितैर्वनलक्ष्मी - वासभवनैरिव विराजिता लतामण्डपैरुन्मदमातङ्गकपोलस्थलगलितमदसलिलसिक्तेनेव निरन्तरमेलालतावनेन मदगन्धिनान्धकारिता नखमुखलग्नेभकुम्भमुक्ताफललुब्धैः शबरसेनापतिभिरभिहन्यमानकेसरिशता प्रेताधिपनगरीव सदासंनिहितमृत्युभीषणा महिषाधिष्ठिता च समरोद्यतपताकिनीव बाणासनारोपितशिलीमुखा विमुक्तसिंहनादा च कात्यायनीव प्रचलितखड्गभीषणा रक्तचन्दनालंकृता च कर्णीसुतकथेव संनिहितविपुलाचला शशोपगता च कल्पान्तप्रदोषसंध्येव प्रनृत्तनीलकण्ठा पल्लवारुणा चामृतमथनवेलेव श्रीद्रुमोपशोभिता वारुणीपरिगता च प्रावृडिव घनश्यामलानेकशतह्रदालंकृता च चन्द्रमूर्तिरिव सततमृक्षसार्थानुगता हरिणाध्यासिता च राज्यस्थितिरिव चमरमृगबालव्यजनोपशोभिता समदगजघटापरिपालिता च गिरितनयेव स्थाणुसंगता मृगपतिसेविता च जानकीव प्रसूतकुशलवा निशाचरपरिगृहीता च, कामिनीव चन्दनमृगमदपरिमलवाहिनी रुचिरागुरुतिलकभूषिता च सोत्कण्ठेव विविधपल्लवानिलवीजिता समदना च बालग्रीवेव व्याघ्रनखपङ्क्तिमण्डिता गण्डकाभरणा च पानभूमिरिव प्रकटितमधुकोशकशता प्रकीर्णविविधकुसुमा च क्वचित्प्रलयवे-

लेव महावराहदंष्ट्रासमुत्खातधरणिमण्डला क्वचिद्दशमुखनगरीव चटुलवानरवृन्दभज्यमानतुङ्गशालाकुला क्वचिदचिरनिर्वृत्तविवाहभूमिरिव हरितकुशसमित्कुसुमशमीपलाशशोभिता क्वचिदुद्वृत्तमृगपतिनादभीतेव कण्टकिता क्वचिन्मत्तेव कोकिलकुलप्रलापिनी क्वचिदुन्मत्तेव वायुवेगकृततालशब्दा क्वचिद्विधवेवोन्मुक्ततालपत्रा क्वचित्समरभूमिरिव शरशतनिचिता क्वचिदमरपतितनुरिव नेत्रसहस्रसंकुला क्वचिन्नारायणमूर्तिरिव तमालनीला, क्वचित्पार्थरथपताकेव वानरांक्रान्ता क्वचिदवनिपतिद्वारभूमिरिव वेत्रलताशतदुष्प्रवेशाक्वचिद्विराटनगरीव कीचकशतावृता क्वचिदम्बरश्रीरिव व्याधानुगम्यमानतरलतारकमृगा क्वचिद्गृहीतव्रतेव दर्भचीरजटावल्कलधारिण्यपरिमितबहुलपत्रसंचयापि सप्तपर्णभूषिता क्रूरसत्त्वापि मुनिजनसेविता पुष्पवत्यपि पवित्रा विन्ध्याटवी नाम ।

विन्ध्याटवीवर्णनम्

१८—अस्तीतिक्रियया विन्ध्याटवीनामेति दूरवर्त्तिना कर्त्तृपदेन संबन्धः । अतः आरम्भ प्रथमान्तानि विन्ध्याटवीविशेषणानि सन्ति । पूर्वापरजलनिधिवेलावनलग्ना प्राक्पश्चिमदिग्वर्त्तिसागरतीरारण्यसंयुक्ता । पूर्वापरौ यौ जलनिधी तयोः वेलयोः यत वनं तत् लग्ना सा । जलानि निधीयन्तेऽस्मिन् स जलनिधिः । करणाधिकरणयोरिति अधिकरणे किः प्रत्ययः मध्य-

देशालंकारभूता । हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत् प्राग्विनशनादपि । 'प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्त्तितः' इति मनुः । कुरुक्षेत्रमध्यवर्त्तिस्थलालंकृतिः । मध्यदेशस्यालंकारभूता सा । भुवः भूमेः । मेखलेव कांचीदामेव । वनकरिकुलमदजलसेकसम्बर्धितैः अरण्यगजसमूहदानवारिसेचनसंवृद्धैः । वनकरिकुलस्य मदजलसेकेन संवर्धितास्तैः । पादपैरित्यर्थः । अतिविकचधवलकुसुमनिकरम् अतिशयस्फुटितश्वेतपुष्पपुञ्जम् । अतिविकचानां धवलानां कुसुमानां निकरस्तम् । अत्युच्चतया प्रकृष्टौन्नत्येन । शिखरदेशलग्नम्—स्वोर्ध्वतमदेशसम्बद्धम् । शिखरदेशे लग्नस्तम् । तारागणमिव नक्षत्रपुञ्जमिव । उद्वहद्भिः धारयद्भिः । पादपैः वृक्षैः । पादैः पिबन्ति तैः । पाद+पा+कः । उपशोभिताः मण्डिताः । मदकलकुररकुलदश्यमानमरीचिपल्लवा मदमत्तोत्क्रोशखगसमूहचंचूपुटास्वाद्यमानमरीचिवृक्षपत्रा । मदकलैः कुररकुलैः दश्यमानाः मरिचपल्लवाः यस्यां सा । करिकलभकरमृदिततमालकिसलयामोदिनी हस्तिशावकशुण्डामर्दिततापिच्छवृक्षसौरभवती । करिकलभानां करैः मर्दितैः—तमालकिसलयैः आमोदिनी सा अथवा किसलया नामामोदोऽस्ति अस्याः सा । मत्वर्थीय इनिः ततो ङीप् । कलभपदस्य हस्तिशावकरूपार्थत्वात् करिपदोपादानन्निरर्थकम् इति तु न वाच्यम् । विशिष्टवाचकानां पदानां विशेषणपदसमवधाने विशेष्यमात्रपरत्वम् इतिन्यायात् कलभपदस्य शावकमात्रार्थत्वम् । विशेषणवाचकस्य करिपदस्य सान्निध्यात् । यथा 'सकीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम् ।' इति रघुवंशेऽपि कीचकपदस्य वंशमात्रार्थकता नतु ध्वनिमद्वंशवाचकत्वम् । मारुतपूर्णरंध्ररूपस्य विशेषणस्य सामी-

प्यात् । मधुमदोपरक्तकेरलीकपोलकोमलच्छविना मद्यपानमत्तेष-ल्लोहितकेरलदेशीयरमणीगण्डदेशमृदुलद्युतिना । मधुमदेनोपरक्ताः ये केरलीनां कपोलाः तेषां कोमलच्छविरिवच्छविर्यस्य तेन । संचरद्-वनदेवताचरणालक्तकरसरञ्जितेनेव भ्रमदरण्यदेवीपादस्थितलाक्षाद्र-वरक्तीकृतेनेव । संचरन्तीनां [वनदेवतानां चरणालक्तकरसैः रंजितः तेन । पल्लवप्रचयेन किसलयसमूहेन । संछादिता आवृता । शुककुलदलितदाडिमीफलद्रवार्द्रीकृततलैः कीरसमूहखण्डितदाडिम-रसक्लिन्ननिम्नभूमिभागैः । शुककुलेन दलितानां दाडिमीफलानां द्रवैः आर्द्रीकृतानि तलानि येषां तैः । अतिचपलकपिकम्पितकक्को-लच्युतपल्लवफलशबलः नितान्तचञ्चलवानरगणसंचालितकक्को-लाख्यवृक्षविशेषपतितपत्रप्रसवचित्रवर्णः अतिचपलैः कपिभिः कम्पिताः ये कक्कोलाः तेभ्यः च्युतानि फलशकलानि येषु तैः । अनवरतनिपतितकुसुमरेणुपांसुलैः—निरन्तरावशीर्णपुष्पपरागसधूलिकैः अनवरतं निपतितानां कुसुमानां रेणुभिः पांसुलाः तैः, पांसु+मत्वर्थीयः लच् । पथिकजनरचितलवंगपल्लवसंस्तरैः पान्थसमूहनिर्मित-लवंगपत्रासनैः । पद्लूयंते—पल्लवाः । पाद+लू+अय । पथिकजनैः रचिताः लवंगपल्लवानां संस्तराः येषु तैः । अतिकठोरनारिकेल-केतकीकरीरवकुलपरिगतप्रान्तैः नितान्तकठिनश्रीफलकेतकीपत्रविही नसकण्टकत्रकुलवृक्षविशेषपरिवेष्टितपर्य्यन्तदेशैः । अतिकठोरैः नारिकेलकेतकीकरीरवकुलैः परिगताः प्रान्ता येषु तैः । ताम्बूलीलता-वनद्धपूगखण्डमण्डितैः । नागवल्लीपरिवेष्ठितक्रमुकतरुसमूहभूषितैः । ताम्बूलीलताभिः अवनद्धं पूगखण्डं तेन मण्डिताः तैः वनलक्ष्मीवास-भवनैरिव काननश्रीनिवासगृहैरिव । वनलक्ष्म्याः वासभवनानि तैः

लक्षेर्मुट्चेति लक्ष्+ईः मध्ये मुट्। बाणासनेषु आरोपिता शिलीमुखा लतामण्डपैः निकुंजैः विराजिता यस्यां वा यया सा शोभिता। उन्मदमातङ्गकपोलस्थलगलितसलिलसिक्तेनेव—उन्मत्तगजगण्डदेशविशीर्णमदजलक्षालितेनेव। उन्मदानां मात ङ्गानां कपोलस्थलेभ्यः गलितानि यानि सलिलानि तैः सिक्तं तेन। अतएव मदगंधिना दानसौरभवता। मदस्य गंध इव गंधो यस्य तेन। उपमानाच्चेति गंधस्येकारः। एलालतावनेन—एलावल्लीकाननेन। निरन्तरम्—सान्द्रम्। अंधकारिता-परिवृता वा कृतांधकारा। नखमुखलग्नेभकुम्भ मुक्ताफललुब्धैः—करजाग्रभागस्थितहस्तिकपोलमौक्तिकलोलुपैः नखमुखेषु लग्नानि इभकुम्भानां मुक्ताफलानि तेषु लुब्धाः तैः। शबरसेनापतिभिः—व्याधबलाध्यक्षैः। शबराणां सेनानां पतयः तैः। अभिहन्यमानकेशरिशता—व्यापाद्यमानसिंहसमूहा अभिहन्यमानं केशरिशतं यस्यां सा। प्रेताधिपनगरीव—संयमिनीनामकयमपुरीव। प्रेतानामधिपः तस्य नगरी सा। सदासन्निहितमृत्युभीषणा—निरन्तरावस्थितहिंसकजन्तुभयानकाः। अथवा सततस्थितसर्पभीतिदा—नगरी पक्षे तु निरन्तरावस्थितयमभयावहा—सदासन्निहिताः ये मृत्यवः वा यो मृत्युः तैः वा तेन भीषणा सा। लक्षणया मृत्युपदेन मृत्युदा जन्तवः पक्षे मृत्युदो यमः ग्राह्यः। महिषाधिष्ठिता च वन्यसैरिभसहिता—नगरीपक्षे यमवाहनगवलसमाश्रिता। समरोद्यतपताकिनीव—युद्धप्रवृत्तसेनेव—समरायोद्यता या पताकिनी सा। बाणासनसमारोपितशिलीमुखा—पीतशालतरुसमाधिष्ठितभ्रमरा। सेनापक्षे—शरासनस्थितबाणा। विमुक्तसिंहनादा च प्रचरितकेसरिगर्जिता। पक्षे त्यक्तमृगेन्द्रध्वनिः। विमुक्ताः सिंहनादाः यस्यां पक्षे

सिंहवत् नादाः यस्यां सा । कात्यायनीव दुर्गेव । प्रचलितखड्गभीषणा—संचलितगंडकभीतिदा । दुर्गापक्षे तु—चंचलीभूतकृपाणभयानका । रक्तचन्दनालंकृता च रक्तचन्दनतरुमण्डिता । पक्षे रक्तचन्दनानुलेपनशोभिता । रक्तचन्दनैः वा रक्तचन्दनेनालंकृता सा । कर्णीसुतकथेव—चौर्य्यशास्त्र संचालकक्षत्रियविशेषवार्त्तेव, कर्णीसुतस्य कथा सा । सन्निहितविपुलाचला—आसन्नविशालपर्वता, पक्षे समीपवर्त्तिविपुलाचलाख्यमित्रयुक्ता । सन्निहिताः विपुलाचलाः यस्याः सा, पक्षे सन्निहितौ विपुलाचलौ यस्याः सा । शशोपगता च क्षुद्रमृगविशेषव्याप्ता । कथापक्षे शशनामसचिवविशिष्टा । शशैरुपगता सा, पक्षे तु शशेनोपगता सा । तदुक्तम् बृहत्कथायाम् 'कर्णीसुतः करटकः स्तेयशास्त्रप्रवर्त्तकः । ख्यातौ तस्य सखायौ द्वौ विपुलाचलसंज्ञकौ' शशो मंत्रिवरस्तस्य ।। इति । कादम्बरीकथा बृहत्कथात् उद्धृत्य निर्मिता इति तदीयैकोनषष्ठितरङ्गस्थितेन पूर्वोक्तपद्येनावगम्यते । कल्पान्तप्रदोषसंध्येव—प्रलयकालरजमुखवेलेव, कल्पान्ते प्रदोषस्य संध्या सा । प्रनृत्यन्नीलकण्ठा नटन्मयूरा, पक्षे नटन्महादेवा । प्रनृत्यन्तः नीलकंठाः, पक्षे प्रनृत्यन् नीलकंठः यस्यां सा । पल्लवारुणा च पत्ररक्तवर्णा । पल्लवैः पक्षे पल्लववदरुणा सा । अमृतमथनवेलेव—पीयूषनिमित्तक्षीरसागरमंथनसमय इव । अमृताय मथनं तस्य वेला सा । श्रीद्रुमोपशोभिता विल्ववृक्षमण्डिता पक्षे, कल्पतरुभूषिता, श्रीद्रुमैः पक्षे श्रीद्रुमेण च शोभिता सा । वारुणीम् पश्चिमाशाम् । वरुणो देवताऽस्याः सा वारुणी—वरुण+अण्वारुण: सास्य देवतेतिसूत्रेण ततो ङीप वारुणी । परिगता—प्राप्ता । पक्षे वारुणीं सुराम् प्राप्ता तस्या अपि मथ्यमानसमुद्राज्जातत्वात् । प्रावृडिव—

वर्षावेलेव । प्रकर्षेण वर्षन्ति मेघाः यस्यां सा प्रावृट् प्र+वृष्+क्विप् । अन्येषामपि दृश्यते इतिपूर्वपदस्य दीर्घः । घनश्यामला वृक्षादिसान्द्रश्यामवर्णा । घना चासौ श्यामला सा । ऋतुपक्षे मेघ-कृष्णवर्णा—घनैः श्यामला सा । अनेकशतह्रदालंकृता च शतसंख्या-कगर्त्तविभूषिता । पक्षे विविधविद्युन्मण्डिता । अनेकैः शतह्रदैर-लंकृता सा । पक्षे अनेकाभिः शतह्रदाभिः अलंकृता सा । चन्द्रमूर्ति-रिव—हिमांशुतनुरिव, 'हिमांशुश्चन्द्रमाश्चंद्र इत्यमरः । सततमृ-क्षसार्थानुगता—निरन्तरं भल्लुकसमूहव्याप्ता । पक्षे नक्षत्रपुञ्ज-परिवेष्ठिता । ऋक्षाणां सार्थेनानुगता सा । नक्षमृत्रक्षभं तारा तारकाप्यडु वास्त्रियामित्मरः ।' हरिणाध्यासिता—मृगसमाश्रिता—पक्षे कृष्णमृगचिह्नसहिता । हरिणैरध्यासिता सा पक्षे हरिणेनाध्या-सिता सा । राज्यस्थितिरिव—राजकर्ममर्य्यादेव । राज्ञः कर्म राज्यम् राजन्+ष्यञ् गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि इति ।। चमर-मृगवालव्यजनोपशोभिता—चमरजातिहरिणलोमतालवृन्तालंकृता । पक्षे चमरहरिणकेशतालवृन्तमण्डिता । चमराः मृगबालाः च व्यजनानि च तैः शोभिता सा वा चमरमृगाणां बाला व्यजनानि च तैः शोभिता । राज्यस्थितिपक्षे चमरमृगाणां बाला एव व्यजनानि तैः शोभिता सा । समदगजघटापरिपालिता च—मत्तकरिकुलरक्षिता उभयत्रापि समदाभिः गजघटाभिः परिपालिता सा । गिरितनयेव—पार्वतीव । गिरेः हिमालयस्य तनया सा । स्थाणुसंगता—शाखा- किसलयादिरहिततरुसहिता । पक्षे शिवसंगतियुता । स्थाणुभिः पक्षे स्थाणुना संगता सा । 'स्थाणुरुद्र उमापतिः' इत्यमरः । मृगपतिसेविता च सिंहसहिता पक्षे वाहनीभूतमृगेन्द्रसमाश्रिता ।

मृगपतिभिः पक्षे मृगपतिना सेविता सा। जानकीव—सीतेव।
जनकस्यापत्यं स्त्री सा जनक+इञ् जानकि ततो ङीष् इतो मनुष्य-
जातेरिति सूत्रेण।। प्रसूतकुशलवा—उत्पादितदर्भांकुरा पक्षे गर्भ-
मुक्तकुशलवाख्यसुता। प्रसूताः कुशानां लवाः यया सा पक्षे तु प्रसूतौ
कुशलवौ यया सा। निशाचरपरिगृहीता च—पेचकादिरात्रिञ्चर-
प्राणिव्याप्ता। पक्षे रावणचोरिता। निशाचरैः पक्षे निशाचरेण
परिगृहीता सा। कामिनीव—कामयमानशृंगारनायिकेव। चन्दन-
मृगमदपरिमलवाहिनी—पाटीरतरुकस्तूरीमृगसौरभधारिणी। पक्षे
मलयजलेपमृगनाभिलेपगंधवती। चन्दनानि च मृगमदश्च तेषां
परिमलं वोढुं शीलमस्याः सा। रुचिरागुरुतिलकभूषिता च मनो-
हरागुरुनामकतिलकसंज्ञकतरुमण्डिता। पक्षे हृदयप्रियागुरुधूपसौरभ-
ललाटस्थसिन्दूरादिचित्रकशोभिता। रुचिरैः अगुरुतिलकैः पक्षे
रुचिराभ्यामगुरुतिलकाभ्यां भूषिता सा। सोत्कण्ठेव—नायकसमा-
गमोत्सुकनायिकेव। विविधपल्लवानिलवीजिता—अनेककिसलय-
वायुस्पृष्टा। पक्षे बहुप्रकारसरोजादिपत्रमरुता कामं शमयितुं
सखीभिः स्पर्शिता। विविधानां पल्लवानामनिलैः वीजिता सा।
समदना च—मदनवृक्षसहिता। पक्षे, मन्मथवती। मदनैः मदनेन च
सहिता सा। 'मदनो मन्मथो मारः' इत्यमरः। बालग्रीवेव—बालकगल-
प्रदेश इव। व्याघ्रनखपंक्तिमंडिता—गमनकालिकवृककरजचिह्न-
श्रेणिभूषिता। पक्षे दैवोत्पातविनाशाय वास्तविकवृककररुहश्रेणि-
शोभिता। व्याघ्राणां नखपंक्तिभिः मण्डिता सा। गण्डकाभरणा च—
द्वीपिभूषणा पक्षे यंत्रविशेषभूषिता। गण्डकाः च गण्डकं आभरणं
यस्याः सा। पानभूमिरिव—मद्यपानभूरिव। पाननिमित्तं

भूमिः सा । प्रकटितमधुकोषशता—आविष्कृतक्षौद्रस्थान-समूहा । प्रकाशितमद्यपात्रसमूहा । प्रकटितं मधुकोषशतं यस्यां सा मधूनां कोषास्तेषां शतं पक्षे मधु च कोषशतं च तत् । प्रकीर्णं-विविधकुसुमा च—प्रक्षिप्तनानाप्रकारपुष्पा । प्रकीर्णानि विविधानि कुसुमानि यस्यां सा । क्वचित्—कस्मिंश्चिद्देशे । प्रलयवेलेव—युगान्तकाल इव । प्रलयस्य वेला सा । महावराहदंष्ट्रास-मुत्खातधरणिमण्डला—प्रौढसूकरदन्तविदारितसकलभूचक्रवाला पक्षे तु नारायणतृतीयावतारजम्भोद्धृतनिखिलभूमिभागा । प्रलय-काले हरिर्वराहमूर्त्तिमाश्रित्य जलनिमग्नां भूमिमुद्धृतवानिति पौराणिकी कथा । क्वचित् कुत्रचित् । दशमुखनगरीव—लङ्केव । चटुलवानरवृन्दभज्यमानतुङ्गशालाकुला—चपलमर्कट-समूहत्रोटयमानोन्नतशालवृक्षसंकीर्णा । पक्षे—चंचलशाखा-मृगपुंजच्छिद्यमानोच्चतरहर्म्यव्याप्ता । चटुलानां वानराणां वृन्देन भज्यमानाः या तुङ्गा शालाः ताभिराकुला सा । पक्षे—चटु-लैर्वानरवृन्दैः भज्यमानाः तुंगाः शाला तैराकुला सा । राम-रावणयुद्धे वानरसमूहेन लंकागृहपुंजः भग्न आसीत् इति रामा-यणकथा ॥ क्वचित् । अचिरनिर्वृत्तविवाहभूमिरिव—सद्यः सम्पन्नपरिणयभूरिव । अचिरं निर्वृत्तो विवाहो यस्यां सा चासौ भूमिः सा । हरितकुशसमित्कुसुमशमीपलाशशोभिता—हरिद्वर्णदर्भयज्ञदारुपुष्पवन्हितरुकिंशुकतरुविभषिता, पक्षे हरि-द्वर्णवर्हिःयज्ञकाष्ठप्रसूनपावककिंशुकवृक्षकाष्ठमण्डिता । क्वचित् । उन्मत्तमृगपतिनादभीतेव मदोत्कटसिंहगर्जनभीषिता । रमणीव—कामिनीव । उन्मत्तस्य मृगपतेर्नादात् भीता सा ।

कण्टकिता—संजातविविधवृक्षकण्टका पक्षे रोमांचिता । क्वचित् । मत्तेव—मधुपानमादिता नारीव कोकिलकुलकलप्रलापिनी—पिकपुञ्जमधुरध्वनिमती पक्षे परभृतनिकराव्यक्तभाषिणी । क्वचित् । उन्मत्तेव—उन्मादरोगग्रस्तस्त्रीव । वायुवेगकृततालशब्दा—वातजवविहिततालवृक्षध्वनिः । पक्षे वायुरुपरोगमङ्त्वसम्पादितकरतलध्वनिः। वायुवेगेन कृताः तालवृक्षाणां शब्दाः च तालशब्दाः यस्यां च यया सा । क्वचित् । विधवेव—मृतभर्तृकेव । उन्मुक्ततालपत्रा—प्रखरवायुत्यक्ततालवृक्षदला । पक्षे वैधव्यपरित्यक्तताटंकाभूषणा उन्मुक्ताः तालपत्राः यस्यां च यया सा । क्वचित् समरभूमिरिव—युद्धस्थलीव । शरशतनिचिता—मुंजसमूहव्याप्ता पक्षे बाणनिकरसमाकुला । शराणां शतं तेन निचिता सा । क्वचित् । अमरपतितनुरिव—इन्द्रमूर्त्तिरिव । 'स्त्रियां मूर्त्तिस्तनुस्तनूः' इत्यमरः । अमराणां पतिस्तस्य तनुः सा । नेत्रसहस्रसंकुला पक्षे लोचनदशशतव्याप्ता । विंध्याटवीपक्षे—नेत्रतरुमूलदशशतपरिवृता । 'नेत्रं मंथगुणे वस्त्रभेदे मूले द्रुमस्य च' इति मेदिनी । नेत्राणां सहस्त्रं तेन संकुला सा । क्वचित् । नारायणमूर्त्तिरिव—हरितनुरिव । आपो नारा इति प्रोक्तं अतः नारा जलानि क्षीरसागरः अयनं स्थितिर्यस्य सः नारायणः । नराणां समूहः नारम् अयनं यस्य सः । पूर्वपदात्संज्ञायामग इतिसूत्रेण नस्य णत्वम् । तमालनीला—तापिच्छतरुश्यामला पक्षे तापिच्छपुष्पवन्नीलवर्णा । तमालैर्वा तमालवन्नीला सा । तमालस्य पुष्पं तमालम् । अवयवे चेति अञ्, पुष्पमूलेषु बहुलमिति तस्य लुक् । क्वचित् । पार्थरथपताकेव—अर्जुनस्यन्दनवैजयन्तीव । पार्थस्य रथस्य पताका सा । वानराक्रान्ता—कपिसमधिष्ठिता । पक्षे हनुमदा-

श्रिता । वानरैर्वा वानरेण आक्रान्ता सा । क्वचित् । अवनिपति-द्वारभूमिरिव—भूमिपालप्रवेशमार्गभूरिव । वेत्रलताशतदुष्प्रवेशा अनेकवेतसवल्लिदुर्गमा । पक्षे द्वारपालहस्तस्थवेतसयष्टि-समूहदुःसञ्चरा । वेत्रलतानां शतं तेन दुष्प्रवेशा सा । क्वचित् । विराटनगरीव—मत्स्यराजराजधानीव । कीचकशतावृता अनिलोद्धतस्वनद्वंशसमूहव्याप्ता । पक्षे विराटशत-संख्यकश्यालकनिचिता । कीचकानां शतं तेनावृता सा । 'कीचका वेणवस्ते स्युः ये स्वनन्त्यनिलोद्धता' इत्यमरः । कीचकाः विराट-श्यालकाः इति च । क्वचित् । अम्बरश्रीरिव—आकाशशोभेव । व्याधानुगम्यमानतरलतारकमृगा—किरातानुव्रज्यमानभय-चपलनेत्रकनीनिकहरिणा । व्याधरूपिशिवानुयायमानचञ्चलमृगशिरोनक्षत्रा । व्याधैर्वा व्याधेन अनुगम्यमानास्तरलतारका मृगाः वा अनुकम्पमानं तरलं तारकमृगं यस्यां सा । प्राक् ब्रह्मा सुन्दरी संध्यानामिकां स्वकन्यां दृष्ट्वा कामपीडितस्तामन्वगच्छत् सा तु हरिणीरूपमाश्रित्य धाविता शरणं शिवं जगाम ब्रह्मापि मृगोभूत्वा तामनुपलायतेस्म । शिवस्तदालोक्य विधातुः शिरश्छेत्तुं स्वकार्मुकेण शरं चिक्षेप तदा विधिः सलज्जो भीतश्च मृगशिरोनक्षत्रे प्रविष्टवान् शिवशरोऽपि मृगशिरोनक्षत्रात् उत्तरस्मिन् आर्द्रानामके नक्षत्रे स्थित इति शिवपुराणकथा । क्वचित् । गृहीतव्रतेव व्रतधारिणीव । दर्भचीरजटावल्कलधारिणी —कुशतृणविशेषमूलवल्कधारणशीला पक्षे वर्हिः जीर्णवस्त्रखण्ड-संपत केशवल्कलवस्त्रपरिधाना । दर्भान् चीरान् जटाः वल्कलं च धारयितुं शीलमस्याः सा । 'मूले लग्नकचे जटेत्यमरः ।'

अपरिमितबहुलपत्रसंचयापि संख्यातीतविविधदलसमूहापि । सप्तपर्णभूषिता । सागरसंख्यदलालंकृता इति विरोधः । सप्तपर्णसंज्ञकवृक्षग्रहणेन तत्समाधानम् । सप्त च ते पर्णाः वा सप्त पर्णाः येषां तैर्भूषिता सा । क्रूरसत्वा—कठोरस्वभावप्राणिमती अपि । मुनिजनसेविता ऋषिगणाधिष्ठिता । इति विरोधः । हिंस्रकजन्तुयुतापि तपस्विवृन्दविशिष्टा । क्रूरं सत्वं यस्याः वा क्रूराणि सत्वानि यस्यां सा । पुष्पवत्यपि पवित्र—रजस्वलापि परिपूता इति विरोधः । कुसुमसहितापि परिपूता इतिपरिहारः । पुष्पं वा पुष्पाणि सन्ति यस्यां सा । स्त्रीरजः कुसुमं च इति द्वावेवार्थौ पुष्पपदवाच्यौ ।

१८—विन्ध्य नाम की एक अटवी (जङ्गल) है । वह पूर्वी और पश्चिमी समुद्र-तटों तक फैली हुई है (अथवा तटों से लगी हुई है) और मध्यप्रदेश के अलंकार-स्वरूप होने के कारण पृथ्वी की मेखला के समान है । वह जंगली हाथियों के समूह के मदजल के सिञ्चन से संवर्धित वृक्षों से सुशोभित है । उन वृक्षों के शिखर-प्रदेश (चोटी) पर अत्यन्त विकसित और श्वेत पुष्पों का समूह है । अत्यन्त उच्च होने के कारण वे ऐसे प्रतीत होते हैं मानो वे अपने शिखर-प्रदेश पर तारिकावलि धारण किये हों । (उस अटवी में) मदमत्त कुरर पक्षियों का समूह मिर्च के (कोमल) पल्लवों को कुतर-कुतर कर खाया करता है और वह हाथी के बच्चों की सूँड़ से मसले हुए तमाल के कोमल पत्तों की सुगन्ध से सुगन्धित रहती है; केरल देश की स्त्रियों के मदिरा के मद से आरक्त (लाल) कपोलों की कोमल कान्ति वाले उन पत्तों से—जो कि वहाँ भ्रमण करती हुई वनदेवियों के चरणों में लगे हुए महावर से रंजित-से (रँगे हुए-से) मालूम होते हैं—ढकी हुई है । वह (अटवी) लताकुंजों से सुशोभित है । इन लताकुंजों के नीचे की

भूमि (सदैव) तोतों के झुण्डों के द्वारा कुतरे हुए अनार के (फलों के) रस से गीली रहती है; अत्यन्त चंचल वानर-समूह के द्वारा हिलाए हुए कक्कोल वृक्ष के गिरे हुए पत्तों और फलों से रंग-बिरंगी दिखाई देती है; फूलों के निरन्तर गिरते हुए पराग से धूलिधूसरित-सी मालूम होती है, उनमें (लताकुंजों में) पथिक (विश्रामार्थ) लौंग के पत्तों के बिस्तर बिछा रखते हैं, उनके छोर पर चारों ओर अत्यन्त कठोर अर्थात् पके हुए नारियल, केतकी, करील और बकुल के वृक्ष लगे हुए हैं और वह पान की लताओं से उलझे सुपाड़ी के वृक्ष-समूह से सुशोभित है। (इन सब कारणों से) ऐसा प्रतीत होता था मानो वह लक्ष्मी का निवास-भवन हो। उस (अटवी) में मद की गन्ध के समान गन्ध से भरी हुई इलायची की लताओं के वन से सदैव अँधेरा छाया रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह (इलायची की लताओं का वन) मदमत्त हाथी के गण्डस्थल से बहनेवाले मद-जल से सींचा गया हो। उस (अटवी), में शबर (भील) सेनापति सैकड़ों सिंहों को, उनके नखों के अग्रभागों में (हाथियों को मारने और उनके कुम्भस्थल को विदीर्ण करने के कारण) लगे हुए गण्डस्थल से निकलनेवाले गजमुक्ताओं के लोभ से, मारा करते हैं। यम-नगरी सदैव मृत्यु के देवता यम की उपस्थिति के कारण अत्यन्त भयावह होती है और वहाँ (यम का वाहन) भैंसा भी सदव विद्यमान रहता है, अतएव वह अटवी भी यमनगरी के समान ही है, क्योंकि वह भी सदैव मृत्यु (मृत्यु के कारणों) के उपस्थित रहने के कारण भयंकर रहती है और (जंगली) भैंसे वहाँ डोला करते हैं। जिस प्रकार युद्ध में लड़ने के लिए तैयार सेना के बाणासन (धनुष) पर शिलीमुख (तीर) चढ़े रहते हैं और वह सिंहनाद किया करती है, उसी प्रकार विन्ध्याटवी में भी बाणासन (बाण और आसन नामक वृक्षों) पर शिलीमुख (भौंरे) चढ़े रहते हैं अथवा बैठे रहते हैं, अतएव वह (अटवी) समरोद्यतपताकिनीव (समर के लिए उद्यत सेना के समान) प्रतीत होती है। दुर्गा देवी (शत्रु को मारने के लिए) चलाई जाती हुई तलवार लिये रहने के कारण अत्यन्त भयानक

लगती हैं और रक्त चन्दन (लाल चन्दन के लेप) से भूषित रहती हैं, विन्ध्याटवी भी उन्हीं के समान खड्गों (गैंडों) के इधर-उधर डोलने के कारण भयंकर और रक्त चन्दन (के वृक्षों) से सुशोभित रहती है । कर्णीसुत (चौर्य-शास्त्र के प्रवर्तक) की कथा जिस प्रकार विपुल और अचल (कर्णी के पुत्र के दो मित्र) और शश (उसका मन्त्री;—ये तीनों इस कथा के पात्र हैं) सम्बन्धी कथा से युक्त है, उसी प्रकार अटवी भी विपुलाचल (बड़े-बड़े पर्वतों) और शश (खरगोशों) से युक्त है । उस (अटवी) में नीलकण्ठ (मोर) नाचा करते हैं और नये-नये पल्लवों के कारण वह लाल-लाल लगती है अतएव वह प्रलय कालीन सन्ध्या के समान प्रतीत होती है, क्योंकि उस (संध्या) में भी नीलकण्ठ (शंकर) (ताण्डव) नृत्य करते हैं और वह भी पल्लवों के समान रक्तवण है । अमृत-मन्थन (समुद्र-मन्थन) की वेला (समय) जिस प्रकार श्री और द्रुम (लक्ष्मी और कल्पद्रुम) से सुशोभित है और वारुणी (सुरा) से परिगत (युक्त) है (इन वस्तुओं की उत्पत्ति समुद्र-मन्थन के अवसर पर हुई थी), उसी प्रकार वह (अटवी) भी श्रीद्रुमों (बेल के वृक्षों) से सुशोभित है और वारुणी (वरुण से अधिष्ठित पश्चिम दिशा अर्थात् पश्चिमी तट) तक परिगता (फैली हुई) है । वर्षा ऋतु के समान वह घनश्यामला (वर्षा पक्ष में मेघों के कारण श्यामल और अटवी पक्ष में मेघ के समान श्यामल) तथा अनेक-शत-ह्लदालंकृता (वर्षा पक्ष में बिजली की अनेक चमकों से और अटवी पक्ष में कई सौ झीलों से सुशोभित) है । चन्द्रमा की मूर्ति (मण्डल) के समान वह सदैव ऋक्ष- (नक्षत्र; रीछ) समह से परिवेष्टित और हरिण-(मृगलांछन, मृग) समूह से समन्वित है । राजमर्यादा जिस प्रकार चमर मृग के बालों से बनी हुई चौरियों से सुशोभित रहती है और मतवाले हाथियों के समूह से रक्षित (अथवा सेवित) रहती है उसी प्रकार वह (अटवी) भी चमर मृगों के बाल रूपी पंखों से सुशोभित और मतवाले हाथियों से युक्त रहती है । पार्वती के समान वह स्थाणु (पार्वती पक्ष में शंकर; अटवी पक्ष में वृक्षों के

भूमि (सदैव) तोतों के झुण्डों के द्वारा कुतरे हुए अनार के (फलों के) रस से गीली रहती है; अत्यन्त चंचल वानर-समूह के द्वारा हिलाए हुए कक्कोल वृक्ष के गिरे हुए पत्तों और फलों से रंग-विरंगी दिखाई देती है; फूलों के निरन्तर गिरते हुए पराग से धूलिधूसरित-सी मालूम होती है, उनमें (लताकुंजों में) पथिक (विश्रामार्थ) लौंग के पत्तों के विस्तर विछा रखते हैं, उनके छोर पर चारों ओर अत्यन्त कठोर अर्थात् पके हुए नारियल, केतकी, करील और बकुल के वृक्ष लगे हुए हैं और वह पान की लताओं से उलझे सुपाड़ी के वृक्ष-समूह से सुशोभित है। (इन सब कारणों से) ऐसा प्रतीत होता था मानो वह लक्ष्मी का निवास-भवन हो। उस (अटवी) में मद की गन्ध के समान गन्ध से भरी हुई इलायची की लताओं के वन से सदैव अँधेरा छाया रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह (इलायची की लताओं का वन) मदमत्त हाथी के गण्डस्थल से बहनेवाले मद-जल से सींचा गया हो। उस (अटवी), में शबर (भील) सेनापति सैकड़ों सिंहों को, उनके नखों के अग्रभागों में (हाथियों को मारने और उनके कुम्भस्थल को विदीर्ण करने के कारण) लगे हुए गण्डस्थल से निकलनेवाले गजमुक्ताओं के लोभ से, मारा करते हैं। यम-नगरी सदैव मृत्यु के देवता यम की उपस्थिति के कारण अत्यन्त भयावह होती है और वहाँ (यम का वाहन) भैंसा भी सदव विद्यमान रहता है, अतएव वह अटवी भी यमनगरी के समान ही है, क्योंकि वह भी सदैव मृत्यु (मृत्यु के कारणों) के उपस्थित रहने के कारण भयंकर रहती है और (जंगली) भैंसे वहाँ डोला करते हैं। जिस प्रकार युद्ध में लड़ने के लिए तैयार सेना के वाणासन (धनुष) पर शिलीमुख (तीर) चढ़े रहते हैं और वह सिंहनाद किया करती है, उसी प्रकार विन्ध्याटवी में भी बाणासन (वाण और आसन नामक वृक्षों) पर शिलीमुख (भौंरे) चढ़े रहते हैं अथवा बैठे रहते हैं, अतएव वह (अटवी) समरोद्यतपताकिनीव (समर के लिए उद्यत सेना के समान) प्रतीत होती है। दुर्गा देवी (शत्रु को मारने के लिए) चलाई जाती हुई तलवार लिये रहने के कारण अत्यन्त भयानक

लगती हैं और रक्त चन्दन (लाल चन्दन के लेप) से भूषित रहती हैं, विन्ध्याटवी भी उन्हीं के समान खड्गों (गैंडों) के इधर-उधर डोलने के कारण भयंकर और रक्त चन्दन (के वृक्षों) से सुशोभित रहती है। कर्णीसुत (चौर्य-शास्त्र के प्रवर्तक) की कथा जिस प्रकार विपुल और अचल (कर्णी के पुत्र के दो मित्र) और शश (उसका मन्त्री;—ये तीनों इस कथा के पात्र हैं) सम्बन्धी कथा से युक्त है, उसी प्रकार अटवी भी विपुलाचल (बड़े-बड़े पर्वतों) और शश (खरगोशों) से युक्त है। उस (अटवी) में नीलकण्ठ (मोर) नाचा करते हैं और नये-नये पल्लवों के कारण वह लाल-लाल लगती है अतएव वह प्रलय कालीन सन्ध्या के समान प्रतीत होती है, क्योंकि उस (संध्या) में भी नीलकण्ठ (शंकर) (ताण्डव) नृत्य करते हैं और वह भी पल्लवों के समान रक्तवण है। अमृत-मन्थन (समुद्र-मन्थन) की वेला (समय) जिस प्रकार श्री और द्रुम (लक्ष्मी और कल्पद्रुम) से सुशोभित है और वारुणी (सुरा) से परिगत (युक्त) है (इन वस्तुओं की उत्पत्ति समुद्र-मन्थन के अवसर पर हुई थी), उसी प्रकार वह (अटवी) भी श्रीद्रुमों (बेल के वृक्षों) से सुशोभित है और वारुणी (वरुण से अधिष्ठित पश्चिम दिशा अर्थात् पश्चिमी तट) तक परिगता (फैली हुई) है। वर्षा ऋतु के समान वह घनश्यामला (वर्षा पक्ष में मेघों के कारण श्यामल और अटवी पक्ष में मेघ के समान श्यामल) तथा अनेक-शत-ह्रदालंकृता (वर्षा पक्ष में बिजली की अनेक चमकों से और अटवी पक्ष में कई सौ झीलों से सुशोभित) है। चन्द्रमा की मूर्ति (मण्डल) के समान वह सदैव ऋक्ष-(नक्षत्र; रीछ) समह से परिवेष्टित और हरिण-(मृगलांछन, मृग) समूह से समन्वित है। राजमर्यादा जिस प्रकार चमर मृग के बालों से बनी हुई चौरियों से सुशोभित रहती है और मतवाले हाथियों के समूह से रक्षित (अथवा सेवित) रहती है उसी प्रकार वह (अटवी) भी चमर मृगों के बाल रूपी पंखों से सुशोभित और मतवाले हाथियों से युक्त रहती है। पार्वती के समान वह स्थाणु (पार्वती पक्ष में शंकर; अटवी पक्ष में वृक्षों के

ठूँठों) से युक्त तथा सिंह से (सिंह पार्वती का वाहन है, और वन में सिंह रहते हैं) सेवित है। जिस प्रकार सीता से कुश और लव (नामक शिशु) उत्पन्न हुए थे और निशाचर (राक्षस रावण) ने उसका अपहरण किया था उसी प्रकार उस अटवी में कुश के लव (अंकुर) उत्पन्न होते हैं और वह निशाचरों (उल्लू, शृगाल, भूतों आदि) से युक्त है। जैसे स्त्रियाँ चन्दन तथा कस्तूरी के लेप की सुगन्धि धारण करती हैं और सुन्दर अगरु के तिलक से अलंकृत रहती हैं, वैसे ही वह चन्दन के वृक्षों और कस्तूरी की सुगन्धि तथा सुन्दर अगरु और तिलक के वृक्षों से युक्त है। उत्कण्ठिता (कामातुरा) नायिका को (कामज्वर की शान्ति के लिए) नाना प्रकार के पल्लवों से हवा की जाती है और वह समदना (काम से युक्त) होती है, उसी प्रकार उस अटवी में भी अनेक प्रकार के (वृक्षों के) पत्तों के डोलने से हवा चलती रहती है और वह भी समदना (मदन नामक वृक्षों से युक्त) है। बालकों की ग्रीवा के समान वह (अटवी) बाघनख की पंक्तियों से मंडित (ग्रीवा पक्ष में बाघनखों से बनने वाले आभूषणों, अटवी पक्ष में भूमि पर बने हुए बाघ के पंजों अथवा नखों के चिह्नों) तथा गण्डक (गंडक नामक आभूषण अथवा गैंडों) से सुशोभित है। मद्यपानभूमि के समान वह सैकड़ों मधुकोश (मद्य-पान के पात्रों; मधुमक्खी के छत्तों) से युक्त है तथा वहाँ अनेक प्रकार के पुष्प फैले हुए हैं। प्रलय वेला में महावराह (शूकरावतार) ने अपने दाँतों से भू-मण्डल को उठा लिया था, उसी प्रकार अटवी में भी कहीं-कहीं बड़े-बड़े जंगली सुअरों के द्वारा भूमि समुत्खात (खोदी गई) है। जिस प्रकार रावण की नगरी लंका चंचल वानर-समूह के द्वारा तोड़े हुए ऊँचे-ऊँचे भवनों से युक्त थी, उसी प्रकार अटवी कहीं-कहीं चंचल वानर-समूह के द्वारा तोड़े हुए उच्च शाल वृक्षों से युक्त है। जिस स्थान पर कुछ ही देर पूर्व विवाह सम्पन्न किया गया हो, वह (स्थान) जिस प्रकार हरे कुश, समिधा, पुष्प, शमी, पलाश आदि की लकड़ियों से सुशोभित रहता है, उसी प्रकार कहीं-कहीं अटवी भी उनसे (कुश आदि से)

सुशोभित है (क्योंकि अटवी में वे वस्तुएँ स्वयं ही उत्पन्न होती हैं)। कहीं-कहीं काँटों के कारण ऐसा प्रतीत होता है मानो वह उन्मत्त सिंह के नाद से डर कर कंटकित (काँटों से युक्त अथवा रोंगटे खड़े होने के कारण रोमांचित) हो। कहीं-कहीं कोकिलों का कुल (समूह) सुन्दर प्रलाप (शब्द) कर रहा है अतएव ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई मदमत्त स्त्री कोकिल-समूह के समान प्रलाप (बक-बक) कर रही हो। कहीं-कहीं वायु-वेग के कारण ताल वृक्ष (के पत्तों) का शब्द होता है, जो ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई उन्मत्त स्त्री ताली बजा रही हो। कहीं-कहीं (अटवी में) ताल वृक्ष पत्तों से रहित हो गये हैं मानो तालपत्र (कर्णाभरण-विशेष) का परित्याग किये हुए कोई विधवा स्त्री हो। कहीं-कहीं वह सैकड़ों सरपत (के पौधों) से व्याप्त होने के कारण सैकड़ों शर (बाणों) से व्याप्त रणभूमि के समान प्रतीत होती है। कहीं-कहीं सहस्रों नेत्र नामक वृक्षों अथवा वृक्ष की जड़ों से परि-व्याप्त होने के कारण सहस्रों नेत्र वाले इन्द्र के शरीर के समान है। (वह अटवी) कहीं-कहीं तमाल वृक्षों के कारण श्यामल है, अतएव तमाल वृक्ष के समान श्यामल भगवान् विष्णु के शरीर के समान लगती है। कहीं-कहीं (वृक्षों पर) वानरों के बैठे होने के कारण वानर (हनुमान्) से युक्त अर्जुन के रथ की पताका के समान है। कहीं-कहीं सैकड़ों वेत्रलताओं (बेंत की लताओं) के कारण उसमें प्रवेश करना अत्यन्त कठिन है अतएव वह भी (हाथ में) वेत्रलता (बेंत या छड़ी) लिए हुए द्वारपालों के कारण दुष्प्रवेश्य (अर्थात् जिसमें सर्वसाधारण के लिए प्रवेश करना बहुत कठिन हो) राज-द्वार की ड्योढ़ी के समान है। जिस प्रकार राजा विराट की नगरी में सैकड़ों कीचक (कीचक विराट का साला था और उसके अन्य वंश वाले भी कीचक कहलाते थे) थे, उसी प्रकार कहीं-कहीं वह (अटवी) भी सैकड़ों कीचकों (खोखले बाँसों) से परिव्याप्त थी। जब व्याध (नक्षत्र) रूप में शिव तारकमृग (मृग-शिरा नामक नक्षत्र) का पीछा करते हैं तो वह (या तारक-समूह) तरल (कम्पित) होने लगते हैं; उस समय आकाश की जैसी शोभा होती है वह

(अटवी) भी कहीं-कहीं वैसी ही मालूम पड़ती है क्योंकि उसमें भी व्याधों (बहेलियों) का पीछा करने के कारण मृगों के तारक (नेत्र) तरल (भय से चंचल) हो जाते हैं। जिस प्रकार किसी व्रत को धारण करने वाली कोई स्त्री कुश, चीर (जीर्ण-वस्त्र), जटा तथा वल्कल (वल्कल वस्त्र) धारण करती है, उसी प्रकार उस (अटवी) में भी कुश घास, चीर (एक प्रकार का तृण-विशेष), वटादि वृक्षों की जटायें तथा वल्कल (छाल) पायी जाती हैं। यद्यपि वह असंख्य और अत्यन्त घने होने के कारण काले पत्तों के समूह से युक्त है, तब भी वह केवल सप्तपर्णा (सात पत्तों) से भूषित है (विरोध-परिहार के लिए यह कहना होगा कि वह सप्तपर्ण नामक वृक्षों से सुशोभित है); क्रूरसत्वा (क्रूर हृदय वाली, विरोध-परिहारार्थ —'क्रूर अर्थात् हिंस्र पशुओं से पूर्ण') होने पर भी मुनि-जन उसका सेवन करते हैं। पुष्पवती (ऋतुमती, परन्तु ऋतुमती अपवित्र मानी जाती है अतएव विरोध-परिहारार्थ 'पुष्पों से युक्त') होने पर भी वह पवित्र है।

शब्दार्थ—कुरर—पक्षी-विशेष, इसको मत्स्यादन भी कहते हैं; कलभः—हाथी का बच्चा; आलक्तकरसः—एक प्रकार का महावर; कक्कोलः—वृक्ष-विशेष; करीरः—पत्रविहीन वृक्ष-विशेष; एलालता—इलायची की लता; प्रेताधिपनगरी—यमनगरी; बाणासनम्—धनुष; कात्यायनी—दुर्गा; महावराहः—वराहावतार; व्याधा......मृगा—(अन्तर्कथा)—प्राचीन काल में प्रजापति अपनी अत्यन्त सुन्दर पुत्री को देखकर कामान्ध होकर उसके पीछे दौड़े। पुत्री ने अपने धर्म की रक्षा करने के लिए मृगी का रूप धारण करके शिव की शरण ली, परन्तु प्रजापति ने मृग का स्वरूप धारण कर लिया और उसका पीछा नहीं छोड़ा। शिव ने यह देख कर अपना बाण चलाया। प्रजापति डरकर मृगशिरा नक्षत्र में प्रविष्ट हुआ। व्याध रूपी शिव के बाण ने आर्द्रा नक्षत्र के रूप में वहाँ भी पीछा किया। इस प्रकार मृगशिरा नक्षत्र का पीछा व्याध रूप में शिव ने किया। कुछ लोगों के अनुसार आर्द्रा नक्षत्र को भी व्याध कहा जाता है।

18. There is a forest (lit. 'a place to roam in') named Vindhya, lying adjacent (lit. touching or attached) to the forests on the shores of the Eastern and the Western oceans (*i. e.*, the Bay of Bengal on the East, and the Arabian Sea on the West), which acting or being like an ornament to the Central country (*i. e.*, Cental India, which is also regarded as the central part of the Earth, is defined by Manu as comprising the land lying between the Himalayas on the north, the Vindhya mountains on the south, Vinashana (*i.e.*, the disappearance of the river Säraswati in the sands of Rajputana on the west, and Prayaga on the east), is like a zone or girdle (on the waist or central part) of the Earth as it were; which (Vindhya forest) is adorned or decorated with (*i.e*, looks beautiful or splendid and gorgeous on account of) trees, nourished or reared up (*i.e.*, brought to full or complete growth) by watering with the ichor of the herds of wild elephants, and bearing clusters of fully blown or expanded white flowers attaching to the tops thereof, and looking, on account of their very great or immense height (to be bearing on their top regions) the clusters of stars as it were;—in which (Vindhya forest) the tender shoots or leaves of pepper trees were being nibbled or bitten off by flocks of ospreys crying (or giving out a sweet but indistinct note) through intoxication;—which was made fragrant or redolent with the smell or odour of the tender betel leaves crushed with their trunks by the young ones of elephants; which was well covered over (or concealed) with a foliage (lit a 'multitude,' heap or 'collection') of tender leaves possessing the delicate lustre or the tenderly beautiful appearence of the cheeks of *ladies from the country of the Keralas* (the

modern Malabar) being slightly reddened with intoxication caused by (drinking) wine or liquor, and appearing as if it (*i.e.*, the foliage) had been dyed (red) with the Alaktaka or lac dye on (or applied to) the feet of the sylvan deities wandering about (over there); which (forest) was made to appear or look splendid or gorgeous (*i.e.*, to present a bright appearance) on account of the (presence in it of) shady bowers of creepers, the floors (or ground surfaces) of which (bowers) were rendered wet or moistened with the flow of (the juice of) pomegranate seeds or fruits, broken or shattered (with their beaks, *i.e.*, eaten by being broken to pieces) by flocks of parrots, which (bowers) presented a variegated appearance on account of the leaves and fruits fallen from the '*Kakkola* trees ('name of a plant bearing a berry, the inner part of which is a waxy and aromatic substance') shaken by the very nimble or agile (it might also mean 'fickle-minded') monkeys, which (bowers) were rendered very dusty with the pollen of flowers falling down incessantly or constantly, in which there were beds of clove leaves or foliage prepared or made by travellers, the ends or borders (*i.e.*, the fringes) of which (bowers) were surrounded (that is, which had a hedge formed round them) by fully grown (lit. 'very hard') coccanut, *Ketaki* (the name of a flower, the tree Pandanus Odoratissimus), *Karira* (a thorny plant, described as growing in deserts and fed upon by camels, Capparisaphylla) and *Kesara* (name of a plant) trees, which were adorned with a number of the Areca or betel-nut trees, begirt or covered with betel creepers, and which were like the abodes (*i.e.*, the residential or dwelling houses) of the *Sylvan Beauty* (*i.e.*, the presiding deity or goddess of the

forest, appearing in her picturesque form of splendid scenery), as it were; which (Vindhya forest) was rendered or made to appear thickly (lit. 'in a manner so as to leave no intervening space) dark (on account of being covered over) with a forest of cardamom creepers, having (*i.e.*, emitting or giving out) an odour or fragrance like that of ichor, and (as such) appearing as though it had been watered with ichor; flowing from the region of the temples of elephants in rut, as it were; in which (forest) hundreds of lions were being killed by mountaineer chiefs (lit., 'generals, army-chiefs or leaders of the wild hunting tribes'), greedy of (securing) pearls from the frontal globes of the temples of elephants, clinging or remaining attached to the points or ends of the nails or claws (of those lions); which (Vindhya forest), possessing as it did a terrible aspect on account of (the numerous causes) of death, being always present (lit. placed near or thrown in together) in it, and being inhabited by the (wild) buffaloes, was like the city of the Lord of the dead, as it were, looking terrible on account of the ever present God of Death in it, and being tenanted by the buffalo (which is the vehicle or conveyance, and also the emblem, of *Yama*, the god of death); which (Vindhya forest= throughout=), with the bees clinging or remaining attached to (lit. 'placed or fixed', *i. e.*, hovering over) the *Vana* and *Asana* trees in it, and from which there issued forth the roars of lions (*i.e.*, in which lions roared), was like an army ready for battle, as it were, having arrows fixed on to their strung bows, and giving out a loud war cry (*i.e.* an out-cry or uproar like the roaring of a lion); which, appearing terrible or presenting a dreadful appearance on account

of the rhinoceroses roaming about in it, and being full of or profusely provided (lit. prepared or made ready, decorated, etc.) with red sandalwood trees, was like the goddess Katyayini or Durga, as it were, looking terrible on account of a sword being brandished (in her hand), and being adorned or painted (on her forehead) with (blood-like) red sandalwood paste; which, with the large hills (or 'huge mountains') situated near it or in its vicinity, and being frequented by hares (or full of the white Lodh or Lodhra trees in it), was like the story of the *son of Karni*, as it were, being furnished with (lit, 'having deposited in it,'--the descriptions of) *Vipula* and *Achala* (the two friends of the *son of Karni*, the founder of the art of thieving), and also with (that of) *Shasha* (his minister); which, with the peacocks dancing about in it, and looking red with (or on account of the presence in it of) the fresh tender leaves, was like the evening tide or twilight on the day of *Univeasal Destruction* as it were, with the god Shiva (lit., the 'blue-necked' god, *i.e.*, Rudra, who is entrusted with, and is represented as cheerfully carrying on the duties or work of destruction of the universe, dancing about in it, and looking red or purple like a fresh leaf; which, looking beautiful or being decorated with the *Vilva* trees (the sacred fig tree, *Ficus Religiosa*), and filled or spread over on all sides with Varuni or a species of Durva or Durba grass (or Varuna trees), was like the time of the churning of nectar (out of the ocean), or like the shore (of the sea) at the time of the churning out of nectar, as it were, being adorned with *Sri* or *Lakshmi* (the goddess of wealth), and the (*Parijata* or *celestial*) tree, and also possessed of *Varuni* (a particlar kind of spirit or spirit-

uous liquor,—all the three of which were among the *fourteen jewels* thus churned out); which, being very thickly dark (or looking dark on account of being thickly strewn or grown over with the '*Ashvattha*' or holy fig trees in it), and adorned with many or several hundreds of lakes in it, was like the rainy season, as it were, which is dark with (or on account of) clouds, and is adorned with many or innumerable flashes of lightning; which, being constantly or always frequented or visited (lit. 'followed') by troops or herds of (wild) bears, and inhabited by antelopes or deer, was like the form or image *i. e.*, the visible shape) of the moon, as it were, being constantly pursued (in her course) by the constellations or clusters of stars, and marked or occupied with the (spot of the) deer in it (lit. 'having the deer,—that is, the mark of it,—seated or settled down upon it'); which being (abundantly) provided (lit. adorned or decorated) with the fan (-like) hair (on the tails) of the *chamar* deer (which is a particular kind or variety thereof,—*i. e.*, having these deer freely roaming about in it, and stirring up a sort of breeze with the hair on their tails in their racy courses; as if with so many fans), and guarded or cherished by troops of elephants in rut (roaming about in it), was like the dignity or discipline (*i.e*, the establishment of good order, the stability or firm position or the steadiness of settled rule) of a State or kingdom, as it were, (when it appears beautiful) being adorned with fans made of the hair of *Chamara* deer, and protected by arrays of elephants in rut; which, being full of (lit. 'mixed or joined together, with) stems or bare trunks of trees, and frequented or resorted to by lions, was like (*Parvati or Gauri*) the daughter of the (Himalaya) mountains, as it were, having been united

with the god Shiva, and served (as a vehicle or conveyance) by a lion; which having pieces or bits of *Kusa* grass produced (*i. e.*, growing on) in it, and being resorted to (lit 'taken hold of') by *those walking or moving about by night* (*i. e.*, the night birds or animals e. g. owls, jackals, snakes etc:, or thieves and spirits or ghosts), was like Janaki or Sita as it were, who gave birth to *Kusa* and *Lava*, and was seized or carried off (lit. 'taken possession of, or 'overpowerd'), by the demon (Ravana); which, bearing the fragrance of the sandalwood trees and the musk of the deer (roaming about in it), and looking beautiful or decorated with (*i e.*, on account of the presence in it of) the fine Aguru and Tilaka trees (growing in it,) was like a loving lady (*i.e.*, a gay or impassioned woman or beautiful damsel), as it were, carrying about the fragrance of the sandalwood and musk (ointments applied to her body), and being adorned with a charming or beauteous mark on her forehead made with (the fragrant) Aguru or aloe wood (ointment); which, being rustled or stirred up with the breezes made by the various (kinds) of leaves (of trees in it), and being full of (lit. being with or provided with) the *Madan* trees, was like a love-sick lady or a lady eager to meet her lover, as it were, who is being fanned with a breeze made by leaves of various (trees, with a view to lessen or alleviate her torment), and is full of love or strong passionate sentiments; which, being surrounded or encompassed on all sides by rows (of impressions or marks) of the nails of tigers [or by rows or lines of '*Nakha*' (a species of plant) and '*Vyaghra*' (a red variety of the castor-oil plant, called the *Raktairauda* or the *Karanja*—the tree *Pongamia Glabra* or *Galedupa Arborea*) trees], and being full of (lit. having as its de-

coration or ornament) rhinoceroses (roaming about in it), was like the neck of a child as it were, being adorned with or decorated with an ornament made of *tiger's nails*, and also with that called the *Gandaka*[Note. This is done even now-a-days with a view to protect them from evil influences or ailments]; which, having hundreds of bee-hives visible it it, and being scattered over with flowers of various kinds, was like a tavern or liquor shop, as it were, having hundreds of drinking-vessels or cups of wine displayed in it, and being (similarly) strewn over with flowers of various kind in it, which, having portions of its earth or ground, dug up in it by big boars with their tusks in some places, was like the time of the universal destruction, as it were, when the globe of the Earth was lifted up (out of water) with his tusk by the great Boar incarnation of Vishnu; which being full of or abounding in lofty Shala trees being broken down (*i. e.*, impaired or felled) by flocks or multitudes of restless (i. *e.*, unsteady or fickleminded) monkeys in some places, was like (Lanka) the city of the 'ten-mouthed' (demon, Ravana), as it were, when it was agitated or flurried on account of its high halls or lofty edifices being demolished or destroyed by the troops of restless monkeys; which, being provided (by nature lit. adorned or decorated) with green *Kusa* grass, fuel or dried up wood for burning, flowers and *Shami* leaves (or *Shami* and *Palasha* trees) in some places, was like a place where a wedding or marriage ceremony had (only) recently been celebrated or solemnised, as it were, looking beautiful or adorned with green *Kusa* grass, fuel or twigs (for perparing a sacrificial fire), flowers and Shami leaves (or *Shami-wood* and *Palasha* leaves, being scattered about here and there in it); which, being

full of thorns (or thorny bushes of various kinds) in some places, was like a lady (or one) frightened or terrified with the roaring of the furious lions, as it were, and having (his or) her hair bristled up or standing on end (on that acconnt) [The idea of the forest being thorny is, as though it were a living being, having his hair standing on end or bristled up on account of being thrilled with terror with the roar of furious lions. The forest had lions roaring it it, and had thorny bushes too. From this the poet fanciels as if the forest itself had been terrified with the roar, and came to have its hair stand on end etc:]; which, giving out as it did, the warblings or cooings of the flocks of cuckoos in some places, was like an intoxicated woman, as it were, prattling nonsense (*i. e.*, talking irrationally or uttering wild exclamations,—raving) like a flock of cuckoos; which, having a rustling noise produced in it by the *Tala* trees, owing to the force of winds in some places, was like a mad or delirious woman, as it were, making a noise by the clapping of her hands on account of the influence of delirium, which, with the leaves of the *Tala* trees having dropped or fallen down in some places, was like a widow, as it were, who hss given up (or left off wearing) the ear ornament, known as *Talapattra* (described as being 'a hollow cylinder of gold—or a palm-leaf used as a substitute,—with or without a ring attached, and thrust through lobe of the ear as an ornament'—Monier Williams); which, being full of hundreds of reeds in some places, was like a field of battle, as it were, being covered or heaped up (*i.e.*, piled, overspread or bristling up) with hundreds (or multitudes) of *arrows* which, being crowded over with (*i. e.*, full of or abounding in) thousands of '*Nettra*' trees in some places

was like the body of (Indra), the Lord of the gods, as it were, having a thousand eyes crowded together on it; which, looking blue, or presenting a darkish appearance, on account of the presence in it of (lit. 'with') the *Tamala* trees in some places, was like the form or image of Narayana or Vishnu, as it were, which is dark or blue (in colour) like a Tamala tree, which being full or taken possession of (lit. 'attacked on all sides') by monkeys in some places, was like the flag or banner on the chariot of *Partha* or *Arjuna*, as it were, which is emblazoned with the figure of (lit. 'is occupied by', *i. e.*, bears the emblem of) a monkey on it (alluding to the Monkey-Chief Hanumana, being represented as having taken his seat over the flag of Arjuna, and helping him on to victory in the great war); which, being inaccessible or difficult to be entered into on account of hundreds of canes and creepers or cane-creepers (growing in it) in some places, was like the gate of royal palace (lit., 'the entrance door or gateway of a king'), as it were, which is difficult of access on account of hundreds of cane-sticks (being carried in their hands, as the symbol of their authority, by door-keepers or guards on duty); which, being overspread or covered on all sides with (*i. e.*, being full of, or abounding in) hundreds of hollow bamboos (lit. 'bamboos which make a sound when wind is blowing') in some places, was like the city of (king) *Virata* as it were, thronging with hundreds of *Kichakas* (*i. e.*, Kichaka, the brother-in-law and commander-in-chief of king Virata, together with his followers who were also called *Kichakas*, or *UpaKichakas*): which, with the presence in it of the deer having had their pupils made restless (or with the presence in it of the *spotted deer* being made restless) on account of being

pursued or chased by hunters in some places, was like the Glory or Glorious Splendour of the sky, as it were, being endowed with the constellation of *Mriga-shirsha* [lit. that having the (symbol of the) 'head of a deer'] having twinkling stars in its cluster, and being followed or pursued (in its heavenly course) by the star Sirius (which, according to some, is also called *Vyadha* in Sanskrit, and according to others, is nothing but the representation of Shiva, in the guise of a *vyadha* or hunter in allusion to an ancient myth Sirius is one of the brightest stars in the sky); which, being overgrown with (lit 'putting on') or possessed of *Kusa* grass or tufts or bunches of grass, strips or pieces of bark or rind (of trees), fibrous roots, and barks, in some places, was like an ascetic woman having undertaken a vow (of penance), as it were, having Kusa grass (alone for a seat or bed), and putting on strips or pieces of ragged cloth, matted hair, and bark garments; which though possessing a collection of immeasurable (lit. 'unmeasured') and dense or thick mass of leaves or foliage, was yet adorned with seven leaves [alone, in the shape of '*Sapta-Parna*' (or 'seven leafed') trees]; which, though possessed (like a woman) of a cruel heart was yet frequented to by the ascetics (in-as-much as it had or was only full of ferocious or cruel beasts or animals) [The विरोधाभास or the apparent contradiction in this instance, consists in saying that one should be possessed of a cruel heart, and be yet honoured or respected by the ascetics. This is removed (or technically, the समाधान or परिहार of it is provided) by the other meaning of the expression क्रूरसत्वा which conveys the sense of 'having ferocious or cruel animals in it': because such a forest would naturally be resorted to by the ascetics who,

far from being afraid of them, have the higher tendency to tame down even such as these]; and (lastly) which, though (like a woman in her menses or monthly course when she is regarded as being) *impure*, was yet pure, inasmuch as it was *full of flowers*.

१६—तस्यां च दण्डकारण्यान्तःपाति सकलभुवनतलख्यातमुत्पत्तिक्षेत्रमिव भगवतो धर्मस्य सुरपतिप्रार्थनापीतसकलसागरसलिलस्य मेरुमत्सराद्गगनतलप्रसारितविकटशिरःसहस्रेण दिवसकररथगमनपथमपनेतुमभ्युद्यतेनावगणितसकलसुरसमूहवचसा विन्ध्यगिरिणाप्यनुल्लङ्घिताज्ञस्य जठरानलजीर्णवातापिदानवस्य सुरासुरमुकुटमकरपत्रकोटिचुम्बितचरणरजसो दक्षिणाशावधूमुखविशेषकस्य सुरलोकादेकहुंकारनिपातितनहुषप्रकटप्रभावस्य भगवतो महामुनेरगस्त्यस्य भार्यया लोपामुद्रया स्वयमुपरचितालवालकैः करपुटसलिलसेकसंवर्धितैः सुतनिर्विशेषैरुपशोभितं पादपैस्तत्पुत्रेण च गृहीतव्रतेनाषाढिना पवित्रभस्मविरचितत्रिपुण्ड्रकाभरणेन कुशचीवरवाससा मुञ्जमेखलाकलितमध्येन गृहीतहरितपर्णपुटेन प्रत्युटजमटता भिक्षां दृढदस्युनाम्ना पवित्रीकृतमतिप्रभूतेध्माहरणाच्च यस्येध्मवाह इति पिता द्वितीयं नाम चकार दिशि दिशि शुकहरितैश्च कदलीवनैः श्यामलीकृतपरिसरं सरिता च कलशयोनिपरिपीतसागरमार्गानुगतयेव बद्धवेणिकया गोदावर्या परिगतमाश्रमपदमासीत् ।

अगस्त्याश्रमवर्णनम्

१६—तस्यां—विंध्याटव्याम् अगस्त्यस्य आश्रमपदमासीत् इतिदूरेणान्वयः। अतः परं प्रथमान्तानि आश्रमपदविशेषणानि। दण्डकारण्यान्तःपाति—दण्डकाख्यकाननमध्यवर्त्ति। दण्डकारण्यस्यान्तः पतितुं शीलमस्यतत्। दण्डकनामा सूर्य्यवंशीयः नृपः शुक्राचार्य्यस्य गुरोरजानाम्नीसुतां बलात् प्रगल्भितवान्। तत् श्रुत्वा-गुरुः नितान्तकुपितः नृपं शप्तवान्—त्वं मरिष्यसि त्वदीयमिदं राज्यं चाद्य प्रभृति सप्ताहमध्ये महारण्यं भविष्यति अतः राज्यं विंध्याचल-शिखरदेशस्थितं दण्डकारण्यनामकमभवत्' इतिरामायणकथा।

सकलभुवनविख्यातम्—निखिललोकप्रसिद्धम्। सकलेषु भुवनेषु विख्यातम् तत्। 'लोकस्तु भुवनेजने' इत्यमरः। भगवतः—माहात्म्यवतः। धर्मस्य—पुण्यस्य। उत्पत्तिक्षेत्रमिव—जन्मस्थानमिव। सर्वविधधर्मस्य तत्रसत्वात् इतिभावः। सुरपतिप्रार्थनापीतसकलसागरसलिलस्य—अतः परं षष्ट्यन्तानि अगस्त्यविशेषणानि। सुरपतेः प्रार्थनया पीतानि सकलसागराणां सलिलानि येन तस्य। 'पुरा कालेयनामकाः केचिद् दैत्याः समुद्रजले दिवा प्रच्छन्नाः रात्रावाविर्भवन्तः भूमिं स्वर्गं च नितान्तं पीडितवन्तः तद्वधाय तान् निःसारयितुं देवेन्द्रप्रार्थितः भगवानगस्त्यः निखिलसागरवारीणि-पीतवान्' इतिमहाभारतकथा। मेरुमत्सरादम्बरतलप्रसारितशिरः-सहस्रेण—सुमेरोरत्यौन्नत्यविषयकद्वेषात्। 'मेरुः सुमेरुः हेमाद्रिः रत्नसानुः सुरालयः' इत्यमरः। आकाशविस्तारितशृङ्गसमूहेन। अम्बरतले प्रसारितं शिरसां सहस्रं येन तेन। दिवसकररथगमनपथम्—सूर्यस्यन्दनव्रजनमार्गम्। दिवसं करोतीत्येवं शीलं यस्य

सः दिवसकरः । 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' इति टःप्रत्ययः । तस्य रथस्य गमनपंथाः । तम् । ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे इति अःप्रत्ययः समासान्तः । अपनेतुम्——निवारयितुम् । अभ्युद्यतेन—— प्रवृत्तेन । अवगणितसकलसुरवचसा——तिरस्कृतसमस्तदेववाचा । अवगणितानि सकलसुराणां वचांसि येन तेन । विंध्यगिरिणापि । अनुल्लंघिताज्ञस्य---अनतिक्रान्तादेशस्य । अनुल्लंघिता आज्ञा यस्य तस्य । 'पुरा सूर्य्यः प्रतिदिनं सुमेरुं परिक्रम्य भ्रमतीत्यवलोक्य विंध्याचलः स्वमपि तथैव विधातुम् भानुमनुरुंधन् रविणा प्रत्याख्यातः कोपेन तत्पथमवरोद्धुं वर्धमानः सुरैर्निषिद्धोऽपि अतिशयं ववृधे । तदा देवानामनुरोधात् पत्नीसहितेऽगस्त्ये भगवति तत्रस्थिते विंध्यगिरिः शिरोऽवनम्य तं प्रणतवान् । वत्स यावदहं पुनरायामि तावत्त्वमीदृश एव नम्रमूर्धा तिष्ठेत्यभिधायागस्त्यः दक्षिणाशां गतोऽधुनापि न निवृत्तः विंध्याचलस्तु तदाज्ञया तादृगेव तिष्ठति' इति स्कंदपुराणवार्त्ता । जठरानलजीर्णवातापिदानवस्य——उदरवह्निपरिपाचितवातापिनामकदनुजस्य । जठरानलेन जीर्णः वातापिः दानवो येन तस्य । 'इल्वलवातापिनामकौ द्वौ भ्रातरौ दैत्यावभवताम् । तयोरिल्वलो वातापिं हत्वा तन्मांसं पक्त्वाऽऽगतान् विप्रान् भोजयामास । तेषु भुक्तवत्सु, 'हे वातापे निस्सर' इत्थमिल्वलेनाहूतः वातापिस्तेषामुदराणि भित्त्वा निश्चक्राम । तौ द्वावपि ब्राह्मणानां धनानि अपहृतवन्तौ । इदमवलोक्य सुरैः प्रार्थितो भगवानगस्त्यः तथैव तदीयं मांसमभ्यहृत्य जीर्णमकार्षीत्' इतिमहाभारतकथा । सुरासुरमुकुटमकरपत्रकोटिचुम्बितचरणरजसः । देवदानवकिरीटसुवर्णमयमकराकृतिदलाग्रभागस्पृष्टपादपरागस्य । सुरासुराणां मुकुटेषुमकर-

पत्राणि तेषां कोटिभिः चुम्बितानि चरणरजांसि यस्य तस्य। सुरासुराणामिह येषां च विरोधः शाश्वतिक इति सूत्रेण द्वंद्वैकवद्भावी भवति तेषां निरन्तरविरोधभावात् यतः सागरमथनन्तत एव कालादारभ्य तद्विरोधस्य सत्वात्। दक्षिणाशावधमुखविशेषकस्य—याम्यदिशासीमन्तिनीवदनतिलकस्य। दक्षिणाशा एव वधूः यस्या मुखे विशेषकः तस्य। सुरलोकात् दिवः। एकहुंकारनिपातितनहुषप्रकटप्रभावस्य—केवलहुंकृतिमात्रभ्रंशितनहुषनृपव्यक्तमाहात्म्यस्य एकहुंकारेण निपातितो यो नहुषः तत्र प्रकटः प्रभावो यस्य तस्य। 'पुरा खलु वृत्रासुरवधात् ब्रह्महत्यापापवति शक्रे मानससरसि स्थिते सुरैः स्वर्गराजरहितं मत्वा राजा चन्द्रवंशीय नहुषः निजैः तेजोभिः वर्धयित्वा स्वर्गराज्ये प्रतिष्ठापितः। स च कदाचित् इन्द्राणीं कामयमानः तयोक्तः यत् त्वम् ऋषिरूढां शिविकामारुह्य मद्भवनमागन्तुमर्होऽसि न तदा त्वांसेविष्ये इति तद्वचः श्रुत्वा स्वीकृत्य नहुषः भृगुपुरस्सरान् मुनीन् वाहकत्वेन नियोज्य शिविकया गच्छन् द्रुतंगन्तुकामः अग्रयायिनं भृगुं मस्तके पादेन ताडयामास सर्प सर्पेति कथयन्। तदा भृगुजटालीनोऽगस्त्यः तत्पादाहतः त्वं सर्पः सन् पतितो भवेति तं शशाप ततो नहुषः सर्पः सन् हिमालयगुहायाम् अपतत् इति महाभारतकथा। भगवतः—प्रभोः। महर्षेः—महामुनेः। अगस्त्यस्य—कुम्भसम्भवस्य। 'अगस्त्यः कुम्भसम्भवः', इत्यमरः। भार्य्यया—धर्मपत्न्या लोपामुद्रया। स्वयम्—आत्मना। उपरचितालवालकैः—निर्मितमूलजलाधारैः उपरचितानि आलवालानि येषान्तैः। करपुटसलिलसेकसंवर्धितैः—हस्तयुगलजलसेचनसमेधितैः। करपुटेन यः सलिलसेकः तेन संवर्धितास्तैः। सुतनि-

विशेषैः—पुत्रतुल्यैः—सुतेन निर्विशेषास्तैः । पादपैः तरुभिः । उपशोभितम् राजितम् । तत्पुत्रेण—अगस्त्यसुतेन । गृहीतव्रतेन—ब्रह्मचर्य्यव्रतधारिणा । गृहीतं व्रतं येन तेन । आषाढिना—पलाशदण्डधारिणा । 'आषाढे व्रतिनां दण्डे मासे मलयपर्वते' इति विश्वः । 'ब्राह्मणो वैल्वपालाशौ' इति मनुश्च । पवित्रभस्मरचितत्रिपुंड्रकाभरणेन । पूतभूतिसम्पादितत्रिरेखासहिततिलकविशेषभूषणेन । 'चित्रपुंड्रविशेषका': इति त्रिकांडशेषः । पवित्रेण भस्मना रचितः त्रिपुण्ड्रक एवाभरणं येन तेन । 'ब्राह्मणानां त्रिपुण्ड्रकम्' इतिस्मृतिः । 'भूतिभस्मनि सम्पदि' इत्यमरः । कुशचीवरवाससा—दर्भमयखण्डवस्त्रवसनेन कुशनिर्मितं यत् चीवरं वसनं यस्य तेन। मौञ्जमेखलाकलितमध्येन—मुञ्जमयदामबद्धकटिभागेन । मौंजमेखलया कलितो मध्यो यस्य तेन । 'मौंजी त्रिवृत् समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला' इति मनुः । गृहीतहरितपर्णपुटेन—भिक्षार्थधृतहरिद्वर्णपत्रनिर्मितपुटकेन । गृहीतं हरितानां पर्णानां पुटं येन तेन । प्रत्युटजम्—प्रतिपर्णशालम् । भिक्षामटता—भिक्षायै गच्छता । अकथितं चेति कर्म्मत्वाद् द्वितीया भवति सम्प्रदानता निवार्य । दृढदस्युनाम्ना—दृढदस्युरितिनामधेयेन । दासयतीन्द्रियाणि स दस्युः । दसु—उपक्षये इतिधातोधरौणादिकत्वात्साधुः । अर्थात् जितेन्द्रियः । दृढः चासौ दस्युः सः । पवित्रीकृतम्—अवस्थित्या पूतम् । अतिप्रभूतेध्माहरणाच्च—प्रचुरतमैंधानयनात् । च । अतिप्रभूतस्य इध्मस्याहरणम् तस्मात् । पिता—अगस्त्यः । यस्य—दृढदस्योः । इध्मवाह इति—एतद् द्वितीयम्—अपरम् । नाम—आख्याम् । चकार—कृतवान् । इध्मं वहतीति सः कर्मण्यण् ।

दिशि दिशि—प्रतिदिशम् । शुकहरितैः कीरशरीरहरिद्वर्णैः । शुकवत् हरितास्तैः । कदलीवनैः—रम्भाफलकाननैः कदलीनां वनानि तैः । श्यामलीकृतपरिसरम् । श्यामायमानप्रान्तभूभागम् । श्यामलीकृतः परिसरो यस्य तम् । कलसयोनिपरिपीतसागरमार्गानुगतयेव—अगस्त्यपानमृतसमुद्रपथानुसृतया इव । कलसयोनिना परिपीतस्य सागरस्य मार्गमनुगता तया । बद्धवेणिकया—धृतैकवेण्याकारस्तोकप्रवाहया वा संयतासंस्कृतकेशविन्यासविशेषया । बद्धा वेणी वा वेणिका यया तया । पूर्वस्मिन् पक्षे समासान्तः कप् नद्यृतश्चेति । उत्तरपक्षे स्वार्थे कन् वेणीशब्दात् ततो ह्रस्वः ततः समासः । मृतसमुद्रानुयानम् एकवेणीधारणं च पतिव्रतायाः गोदावर्याः कर्त्तव्यमेव सतीनामेतद् धर्मत्वात् । 'न प्रोषिते तु संस्कुर्यान्न वेणीं च प्रमोचयेत्' इति हारीतः । अन्यच्च—'आर्त्तार्त्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा । मृते म्रियेत या नारी सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता' इति ।। गोदावर्या—गोदया सरिता च नद्या च । परिगतम्—परिवेष्टितम् । आश्रमपदम्—स्थानम् अभवत् ।

१९—उस (अटवी) में, दण्डकारण्य के अन्तर्गत, समस्त भूमण्डल में विख्यात, भगवान् धर्म के जन्म-स्थान के समान (अर्थात् वहाँ सहस्रों धर्म-कार्य हुआ करते थे), उन भगवान् महामुनि अगस्त्य का आश्रम था जिन्होंने इन्द्र की प्रार्थना पर समस्त सागरों का जल पी लिया था । (इन अगस्त्य ऋषि की महत्ता निम्न बातों से प्रकट होती है) । (एक बार) मेरु (सुवर्ण-पर्वत) के प्रति ईर्ष्या होने के कारण विन्ध्याचल ने अपने सहस्रों शिखर आकाश तक फैला दिये थे और समस्त देवताओं के वचनों की अवहेलना कर वह सूर्य के रथ का मार्ग रोकने को उद्यत हो गया था, परन्तु उस विन्ध्यगिरि न भी इन ऋषि की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया था । इन्हीं ऋषि

की जठराग्नि ने वातापि नामक दानव को भस्म कर दिया था। देवताओं और राक्षसों के मुकुटों के (स्वर्ण) पत्रों पर खुदे हुए मकरों (जीव-विशेष) की नोकों से उनके चरण की धूलि का चुम्बन किया जाता था। वे दक्षिण दिशा रूपी वधू के मुख (अर्थात् मस्तक) के तिलकस्वरूप थे (अगस्त्य नक्षत्र दक्षिण दिशा का अत्यन्त उज्ज्वल नक्षत्र है अतएव उसकी उपमा स्त्री के मस्तक पर शोभा के लिए बनाये जानेवाले तिलक से दी गई है)। उनका प्रभाव इस बात से प्रकट होता है कि उन्होंने एक ही हुंकार से राजा नहुष को स्वर्गलोक से (पुनः मर्त्यलोक पर) गिरा दिया था। यह आश्रम (इन अगस्त्य ऋषि की पत्नी लोपामुद्रा के द्वारा स्वयं थाले बनाकर और अपने हाथों से जल सींच कर बढ़ाये गये उन वृक्षों से, जिन्हें कि वे (ऋषिपत्नी) पुत्र के समान मानती थीं, सुशोभित था। और (यह आश्रम) उनके (अगस्त्य के) ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने वाले, पलाश दण्ड लिए हुए, पवित्र भस्म से मस्तक पर बने त्रिपुण्ड को ही आभूषण रूप में धारण करनेवाले, कुश का वस्त्र पहनने वाले, कटि-प्रदेश में मूँज की मेखला कसे हुए और हरे पत्ते के दोनों को लेकर कुटी-कुटी पर भिक्षा के लिए घूमने वाले दस्यु नामक उस पुत्र के द्वारा,—बहुत अधिक ईन्धन लाने के कारण पिता ने जिसका दूसरा नाम इध्मवाह (ईंधन लाने वाला) रख दिया था;—पवित्र हुआ था। इस आश्रम की सब दिशाओं की भूमि तोतों के समान हरे केले के कुंजों (वनों) से श्यामल हो गई है। अगस्त्य के आश्रम के चारों ओर (गोदावरी नदी एक वेणी (धारा) में बँधी हुई (अर्थात् एक ही जलधारा धारण किये हुए) बह रही है। ऐसा प्रतीत होता है मानो वह (घट से उत्पन्न) अगस्त्य ऋषि के द्वारा पिये हुए (अपने पति) सागर के (समुद्र नदियों का पति माना जाता है) मार्ग का अनुगमन (विधवा स्त्रियों की भाँति) एक ही वेणी (चोटी) बाँधे हुए कर रही हो (अर्थात् अगस्त्य ने सागर को पी लिया था, गोदावरी भी अगस्त्य के आश्रम के निकट होने के कारण अपने पति समुद्र के पास मानो उसी मार्ग से जा रही हो)।

शब्दार्थ :—सुरपतिप्रार्थना—सलिलस्य—कालेयक नाम के दैत्य समुद्र में छिपे रहते थे और अवसर मिलने पर समस्त संसार को उत्पीड़ित किया करते थे अतः इन्द्र की प्रार्थना पर अगस्त्य ऋषि ने समुद्र के सम्पूर्ण जल को ही पी लिया था। मेरुमत्सरात्......सहस्रेण—जैसे सूर्य मेरु की परिक्रमा करता है वैसे ही उसने विन्ध्याचल की परिक्रमा करना स्वीकार नहीं किया अतएव विन्ध्याचल ने अपने आकार को ऊँचा करके सूर्य के मार्ग का अवरोध कर दिया। देवों के अनुरोध से अगस्त्य विन्ध्याचल के समीप आये और जब उसने उन्हें सिर झुकाकर नमस्कार किया तो ऋषि यह कह कर कि 'वत्स, जब तक मैं न लौटूं ऐसे ही रहो', दक्षिण की ओर चले गये और फिर नहीं लौटे। जठरानल......दानवस्य—इल्वल और वातापि नाम के दो दैत्य थे। इल्वल ने वातापि को मारकर उसका मांस पकाया और आमन्त्रित ब्राह्मणों को खिलाकर कहा—'वातापि निकल आओ'। वातापि उनके उदर को विदीर्ण कर निकल आया और उन्होंने ब्राह्मणों का धन ले लिया। देवताओं की प्रार्थना पर अगस्त्य ऋषि ने भी आमन्त्रित होकर वातापि का मांस खाया और उसे पचा भी डाला। निपतित......प्रभावस्य—अगस्त्य ने नहुष को शाप दिया था कि तू सर्प बन कर मर्त्यलोक में चला जा। विशेषक:—तिलक कलसयोनि:—घटयोनि, अगस्त ऋषि की उत्पत्ति घड़े से हुई थी।

19—And in that (Vindhya forest), there was the hermitage,—falling within the Dandaka forest and well-known or renowned over the surface of the whole world, and being (or appearing) like the birth-place, as it were, of the venerable (God of) Righteousness (the sense being that the hermitage had so many righteous or meritorious acts to its credit as having been performed in it, that it seemed as though it were the very *source* of all righteousness).—of the venerable or illustrious great sage *Agastya*, *who* had quaffed off or drunk up (*i. e.*, swallowed up or absorbed in) the water of the

entire ocean (or the waters of all the seas) at the request of (Indra) the lord of the gods,—*whose* command or order had not been transgressed or disobeyed even by the Vindhya Mountain which, on account of a feeling of jealousy against (*i. e.*, feeling jealous or envious of) the mountain Meru (which is said to be of gold and enjoys the honour of having the sun, the moon and the stars revolving round it) had stretched or extended upwards (*i. e.*, shot or thrust up) a thousand of its formidable peaks (lit. 'heads') into the sky, which, having raised or uplifted itself in a menacing manner was ready to block (lit. to 'remove or take away') the way or path along which proceeded or went the chariot of the sun (lit. the 'producer or causer of the day') and which disregarded (*i. e.*, despised or paid no attention to) the words of the entire body of the gods,—*who* had the demon Vatapi digested or consumed in or with the digestive fire (*i. e.*, the gastric juice which dissolves all food) of his stomach,—the dust of *whose* feet has been kissed or touched by the ends or points of the ear-rings or ornaments, shaped like a *Makara* (a fabulous sea monster or shark, a fish), in the crowns of the gods and demons;—*who* is like an ornament or beautiful mark (made with sandalwood paste or aloe wood, etc., and worn either as an ornament or decoration or for sectarial distinction) on the forehead (lit. 'face') of the Southern Quarter or Direction (in person). [The star of Agastya or Canopus being one of the brightest in the southern celestial hemisphere, he is said to be the *Tilaka* (mark of decoration on forehead or ornament) of the South Quarter, because he beautifies that direction or quarter in the same way as a Tilaka does a lady],—and *who* had his superhuman power

or might, made manifest or evident, by the fact of (King) Nahusha having been hurled or made to fall or tumble down by him from heaven (or 'the region of the gods'), merely at one or with a single exclamation or utterance of the word *Hum* (an imitative sound expressive of reproach, aversion or anger),—*the hermitage*, which was adorned or decorated with (*i. e.*, made to look beautiful or charming on account of the presence in it of) the trees, the basins (for water round the roots) of which had been erected or prepared (*i. e.*, made or put up) by his wife Lopa-mudra herself, which (trees) were nourished or reared up with the sprinkling or showering of water, from the hollows of her own joined hands, and which were (treated or regarded) not differently from (*i. e.*, just like her own son,—which (hermitage) was made pure or holy (*i. e.*, sanctified with his presence or abode) by their son, named Dridha-dasyu, who had undertaken or was undergoing a vow (of chastity or abstinence, *i. e.*, who was leading the life of a religious student and practising chastity or the controlling of the senses), who had or carried a staff of *Palasha* or *Vilva* wood, who was adorned, as if with an ornament with the sacred mark made with three lines of holy ashes on his forhead, who was putting on a piece (or clad in a strip) of garment made of *Kusa* grass, who had tied round on his waist (or whose waist was tied on or furnished with) a girdle made of *Munja* grass, who had a cup or carried a bowl, of green leaves held (in his hands), and who went about (or round) begging for alms from one hut or cottage to another, and to whom, from or on account of the fact of his (being in the habit of) bringing fuel in very large quantities, his father had given the second name of *Idhma-vaha* (lit. 'carrier

of fuel'),—the borders of which (hermitage) had been rendered dark in each and every direction (*i. e.*, on all sides), by the forests or clusters of plantain trees which were green like (the bodies of) parrots, – and (lastly) which (hermitage) was surrounded on all sides by the river Godavari, following (like a dutiful wife), as it were, the track of (her lord) the sea, which has been drunk or swallowed up by him (*i. e*, the sage Agastya) who was born or sprung up from the jar or pitcher, and flowing (round the hermitage) in a (single) stream (like a woman who tied up her hair into a single lock or braid, as it were). [The river Godavari, in the two adjective compounds, seems to have been fancied by the poet, as being like a widow on account of the death, by being swallowed up of her lord, the sea, and is accordingly represented as following his track, by going round the hermitage, like a dutiful wife, and also by putting on a single braid of hair, as was only proper or befitting, according to the religious injunctions, for a woman who had lost her husband].

२०—यत्र च दशरथवचनमनुपालयन्नुत्सृष्टराज्यो दशवदनलक्ष्मीविभ्रमविरामो रामो महामुनिमगस्त्यमनुचरन्सह सीतया लक्ष्मणोपरचितरुचिरपर्णशालः पञ्चवट्यां कंचित्कालं सुखमुवास । चिरशून्येऽद्यापि यत्र शाखानिलीननिभृतपाण्डुकपोतपङ्क्तयो लग्नतापसाग्निहोत्रधूमराजय इव लक्ष्यन्ते तरवः । बलिकर्मकुसुमान्युद्धरन्त्याः सीतायाः करतलादिव संक्रान्तो यत्र रागः स्फुरति लताकिसलयेषु । यत्र च पीतोद्गीर्णजलनिधिजलमिव मुनिना निखिलमाश्रमोपान्तवर्तिषु

विभक्तं महाह्रदेषु । यत्र दशरथसुतनिशितशरनिकरनिपात-निहतरजनिचरबलबहुलरुधिरसिक्तमूलमद्यापि तद्रागाविद्ध-निर्गतपलाशमिवाभाति नवकिसलयमरण्यम् । अधुनापि यत्र जलधरसमये गम्भीरमभिनवजलधरनिवहनिनादमाकर्ण्य भगवतो रामस्य त्रिभुवनविवरव्यापिनश्चापघोषस्य स्मरन्तो न गृह्णन्ति शष्पकवलमजस्रमश्रुजललुलितदीनदृष्टयो वीक्ष्य शून्या दश दिशो जराजर्जरितविषाणकोटयो जानकीसंवर्धिता जीर्णमृगाः । यस्मिन्ननवरतमृगयानिहतशेषवनहरिणप्रोत्सा-हित इव कृतसीताविप्रलम्भः कनकमृगो राघवमतिदूरं जहार । यत्र च मैथिलीवियोगदुःखदुःखितौ दशवदनविनाशपिशुनौ चन्द्रसूर्याविव कबन्धग्रस्तौ समं रामलक्ष्मणौ त्रिभुवनभयं महच्चक्रतुः । अत्यायतश्च यस्मिन्दशरथसुतशरनिपातितो योजनबाहोर्बाहुरगस्त्यप्रसादनागतनहुषाजगरकायशङ्कामकरो-दृषिजनस्य । जनकतनया च भर्त्रा विरहविनोदनार्थमुटजा-भ्यन्तरलिखिता यत्र रामनिवासदर्शनोत्सुका पुनरिव धरणि-तलादुल्लसन्ती वनचरैरद्याप्यालोक्यते ।

२०----यत्रच---यस्मिन् दण्डकारण्ये । दशरथवचनमनुपालयन्---स्वपितृवनगमनाज्ञाम् अनुपालयन् । अनु+पाल्+स्वार्थे णिच्+शतृ । वा रक्षणार्थकपाधातोः प्रेरणार्थे णिच् ततः शतृ । अनुपा-लयन् । गृह्णन् । उत्सृष्टराज्यः—त्यक्तराजकर्म्मा । उत्सृष्टं राज्यं येन सः । दशवदनलक्ष्मीविभ्रमविरामः—रावणश्रीविलासाव-

सानः । दशवदनानि यस्य तस्य लक्ष्म्याः विभ्रमस्य विरामो यस्मात् सः । रामः राघवः । महामुनिम् अगस्त्यम्—महर्षिं कलसयोनिम् । अनुचरन्—सेवमानः । लक्ष्मणोपरचितरुचिरपर्णशालः—सौमित्रिनिर्मितमनोहरोटजः लक्ष्मणेन उपरचिता रुचिरा पर्णशाला यस्य सः । पञ्चवट्याम् तन्नामकस्थाने । नहि तत्र पञ्चवटवृक्षा आसन् किन्तु विभिन्ननामकाः पंचतरवः, ते च—वटः, अश्वत्थः, अशोकः, प्लक्षः, उदुम्बरः एतन्नामानः । पंचानां वटानां समाहरः पंचवटी । अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः । स्त्रियामिष्ट इति नपुंसकत्वाभावेन स्त्रीत्वे द्विगोरिति ङीप् । संज्ञावाचकमिदमिह पदम् । कंचित् कालम्—नियमितसमयम् । सीतया सह । सुखम्—सुखपूर्वकम् । उवास—अध्युषितवान् । चिरशून्ये बहुकालान्मुनिजनरहिते । यत्र—आश्रमे । शाखानिलीननिभृतपाण्डुकपोतपंक्तयः—वृक्षावयवास्थितनिःशब्द - धूसरवर्णपारावतश्रेणयः। शाखासु निलीनाः निभृताः पाण्डवः कपोतश्रेणयो येषु ते । लग्नतापसाग्निहोत्रधूमराजयः इव—संसक्ततपस्विप्रात्यहिकयज्ञविशेषधूम्रपंक्तयः । लग्नाः तापसामग्निहोत्रस्य धूमराजयः येषु ते । तरवः भूरुहाः । लक्ष्यन्ते दृश्यन्ते । बलिकर्मकुसुमानि—देवार्चनकार्य्यपुष्पाणि । बलिकर्मणः कुसुमानि तानि । नतु चतुर्थीसमासः तस्य प्रकृतिविकृतिमात्र एव विधानात् । उद्धरन्त्याः—विचिन्वन्त्याः । सीतायाः जानक्याः । करतलादिव—पाणितलभागादिव । संक्रान्तः—संल्लग्नः । रागः—रक्तिमा । पत्रलताकिसलयेषु—वल्लीपल्लवेषु । स्फुरति—विकसति । यत्र च—यस्मिन् आश्रमे । मुनिना अगस्त्येन । पीतोद्गीर्णजलनिधिजलमिव—पीतान्तसागरसलिलमिव । पूर्वं पीतम् पश्चाद् उद्गीर्णं जल

घेर्जलं तत् । आश्रमोपान्तवर्त्तिषु––मुनिस्थानसमीपं स्थितेषु । आश्रमस्योपान्ते वर्त्तन्ते तेषु । महाह्रदेषु––––वृहत्तडागेषु । विभक्तमिव––विभज्य स्थापितमिव । यत्र च । दशरथसुतनिशितशरनिकरनिपातनिहतरजनीचरबलबहुलरुधिरसिक्तमूलम्—रामलक्ष्मणतीक्ष्णबाणव्यूहाघातव्यापन्ननिशाचरसैन्यप्रचुरशोणितपृक्ताशयम् । दशरथस्य सुतौ तयोः निशिताः शराः तेषां निकरास्तेषां निपातेन निहतानि रजनिचराणां बलानि तेषां बहुलेन रुधिरेण सिक्तानि मूलानि यस्य तत् । अद्यापि––अधुनापि । तद्रागाविद्धनिर्गतपलाशमिव––रुधिरलौहित्ययुक्तनिःसृतपत्रम् । तस्य रागेण आविद्धानि निर्गतानि पलाशानि यस्मिन् तत् । नवकिसलयमिव––नवीनपल्लवमिव । नवाः किसलयाः यस्मिन् तत् । अरण्यम् वनम् । आभाति––शोभते । यत्र––आश्रमे । जलधरसमये––वर्षाकाले । जलधराणां समयः तस्मिन् । गम्भीरम्––मन्द्रम । अभिनवजलधरनिवहनिनादम्––नवीनमेघनिकरध्वनिम् । अभिनवानां जलधराणां निवहस्य निनादस्तम् । आकर्ण्य––श्रुत्वा । भगवतः परमेश्वरस्य रामस्य—राघवस्य । त्रिभुवनविवरव्यापिनः लोकत्रयान्तरालपूरकस्य । त्रिभुवनस्य विवरं व्याप्नोति तस्य । चापघोषस्य धनुर्ध्वनेः । अधीगर्थदयेशा कर्मणीति षष्ठी । स्मरन्तः––ध्यायन्तः । दश-दिक्परिमिताः । दिशः––आशाः । शून्याः––रामलक्ष्मणसीतारहिताः । वीक्ष्य––दृष्ट्वा । अश्रुजललुलितदीनदृष्टयः । शोकजन्यवाष्पप्लावितकातरलोचनाः । अश्रुजलैर्लुलिताः दीनाः दृष्टयो येषान्ते । जराजर्जरितविषाणकोटयः––वार्धक्यनिःसारशृंगाग्रभागाः । जरया जर्जरिताः विषाणानां कोटयो येषान्ते । जानकीसंवर्धिताः––सीतापोषिताः ।

वा जनकतनायातृणादिदानेन वृद्धिन्नीताः । जीर्णमृगाः—वृद्धहरिणा अधुनापि—अद्यापि । शष्पकवलम्—घासग्रासम् । न गृह्णन्ति नो आददते । प्रचुरशोकावेगादितिभावः । यस्मिन्—यत्राश्रमे । अनवरत-मृगयानिहतशेषवनहरिणप्रोत्साहित इव—निरन्तराखेटमव्यापन्नावशिष्टकाननमृगप्रेरित इव । अनवरतम्मृगयायाम् निहतेभ्यः शेषाः ये वनहरिणाः तैः प्रोत्साहितः सः । सीतापहारणाय राम-प्रतारणवेलायाम् इतिभावः । कृतसीताविप्रलम्भः जनितजानकी-वञ्चनः । कृतः सीतायाः विप्रलम्भो येन सः । कनकमृगः—काञ्चन-हरिणः मारीचनामा । कनकनिर्मितः मृगः राघवम् । अतिदूरम्—अतिशयविप्रकृष्टम् । जहार—हृतवान् । यत्र—आश्रमे । मैथिलीवियोग-दुःखदुःखितः—जानकीविरहक्लेशपीडितः । मैथिल्याः वियोगेन जातं यद्दुःखन्तेन दुःखितः दुःखपदोपादानमत्यन्तदुःखं सूचयति । दशवदनविनाशपिशुनौ—रावणध्वंससूचकौ । दश वदनानि यस्य तस्य विनाशस्य पिशुनौ तौ । रामलक्ष्मणौ—राघवसौमित्री । चन्द्रसूर्य्या-विव—शशिभानू इव । कबंधग्रस्तौ—दनुकबंधधृतौ । चन्द्रसूर्य्यपक्षे राहुकवलीकृतौ । कबंधेन ग्रस्तौ तौ । विष्णुना छिन्नान्मस्तकात् कबंधसंज्ञकाद् राहुः सम्भूतः । तेन तौ ग्रस्येत इति प्रसिद्धमेव सर्वग्रासे नृपविनाशसूचनात् । समम्—युगपत् । महत्—अधिकम् । त्रिभुवनभयम्—लोकत्रयभीतिम् । चक्रतुः विदधतुः । यस्मिन्—आश्रमे । दशरथसुतशरनिपातितः रामबाणच्छेदितः । दशरथस्य सुतस्य शरैर्निपातितः सः अत्यायतः—अधिकदीर्घः । अति+आ+यम्+क्तः । अत्यायतः । योजनबाहोः—दनुकबंधस्य । योजनपरिमितौ बाहू यस्य तस्य । बाहुः—भुजः । ऋषिजनस्य—तत्रत्यमुनिलोकस्य ।

अगस्त्यप्रसादनागतनहुषाजगरकायशंकाम्--शिविकारोहेणेन्द्राणीं प्रतिगामिनः कलसयोनेः पादप्रहारजन्यक्रोधशान्तये समायाताजगररूपनहुषदेहभ्रमम्। अजं गिरतीति अजगरः पचाद्यच् । अगस्त्यस्य प्रसादनाय आगतो यो नहुषाजगरः तस्य कायस्य शंका ताम् । अकरोत्—विहितवान् । यत्र । भर्त्रा रामेण—पत्या । विरहविनोदनार्थम्—वियोगवेदनान्यूनीकरणार्थम् । विरहस्य विनोदनायेदं तत् । अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गताचेति वाच्यमिति नित्यसमासोऽस्वपदविग्रहः । उटजाभ्यन्तरलिखिता--पर्णशालामध्यचित्रिता । उटजस्याभ्यन्तरं लिखिता सा । रामनिवासदर्शनोत्सुका राघवास्थानभूसमालोकनोत्कंठिता । रामनिवासस्य दर्शने उत्सुका सा । जनकतनया—जानकी । पुनः—भूयः । धरणीतलात्—'तलं स्वरूपानूर्ध्वयो' रितिविश्वः । उल्लसन्तीव—उत्तिष्ठन्तीव । वनचरैः शवरैः । अद्यापि—अधुनापि। आलोक्यते—दृश्यते । वने चरन्तीति तैः ।चरेष्ट इत्यधिकरणे उपपदे चरधातोः टः प्रत्ययः । पूर्वं यज्ञभूमिकर्षणवेलायाम् मिथिलायां जानक्याः भूतलादुत्थितिः परित्यागसमये पाताले प्रवेशः इदानीन्तु भूय उत्थितिरतः पुनरितिपदमुपात्तम् ।

२०—और जहाँ (अर्थात् उस दण्डकारण्य में), (अपने पिता) राजा दशरथ की आज्ञा का पालन करते हुए, राज्य का त्याग करके, रावण की राज्यश्री समाप्त करने वाले राम, महामुनि अगस्त्य की सेवा करते हुए, पंचवटी में लक्ष्मण के द्वारा बनाई हुई सुन्दर पत्तों की कुटी में सीता के साथ कुछ समय तक आनन्दपूर्वक रहे थे । यद्यपि वहुत दिनों से वह (प्रदेश) ऋषि-मुनियों से शून्य हो गया है, तथापि आज भी वहाँ के वृक्ष, शाखाओं में चुपचाप छिपे हुए धूसर वर्ण के कबूतरों के कारण ऐसे प्रतीत होते हैं मानो वे तपस्वियों के अग्निहोत्र के धुएँ के बादलों (समूह) से युक्त हों

(काले हों)। वहाँ ऐसा मालूम होता है मानो बलिकर्म के लिए फूल तोड़ते समय सीता की (लाल) हथेलियों से निकली हुई लालिमा ही लताओं और नवीन पल्लवों में लगी हुई दिखाई दे रही हो। वहाँ (अगस्त्य के) आश्रम के निकट बहुत बड़े-बड़े सरोवर हैं, जो ऐसे मालूम होते हैं मानो अगस्त्य मुनि ने सागर के पिये हुए सम्पूर्ण जल को उगल कर उन सरोवरों को बाँट दिया हो। वहाँ वन (के वृक्षों) में जब नयी-नयी कोंपलें निकलने लगती हैं तो ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो दशरथ-पुत्र राम के तीक्ष्ण शरसमूह के प्रहार से मारी हुई राक्षससेना के रुधिर-समूह से जड़ों के सींचे जाने के कारण उनमें (वन के वृक्षों में) उस रुधिर की लालिमा से युक्त (अर्थात् लाल) पत्ते निकल रहे हों। वहाँ अब भी जानकी के द्वारा पाले हुए हरिण हैं। वे अब वृद्ध हो गये हैं और बुढ़ापे के कारण उनके सींगों की नोकें टूट गई हैं। वर्षा-ऋतु के समय नवीन मेघ-समूह के गर्जन को सुनकर उन (मृगों) को भगवान् राम के त्रिभुवनव्यापी धनुष के घोष का स्मरण हो आता है और दसों दिशाओं को (राम, लक्ष्मण और सीता से) शून्य देखकर बहते हुए अश्रुओं से उनके कातर नेत्र भर जाते हैं, और वे आज भी (इस दुःख के कारण) घास का एक कौर भी नहीं खा पाते हैं। इसी वन में जब राम ने निरन्तर शिकार खेल कर हिरणों को मार डाला तो मानो बचे हुए मृगों के उकसाने से ही सुवर्ण-मृग सीता को धोखा देकर (अथवा सीता के वियोग का कारण बनकर) रामचन्द्र को बहुत दूर ले गया। जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा को सिर-रहित (राहु) ग्रसता है और जिस प्रकार उनका ग्रहण विनाश का लक्षण होता है (अथवा माना जाता है) उसी प्रकार सीता के वियोग-दुःख से दुःखित राम और लक्ष्मण को भी शिररहित दनु-कबन्ध नामक राक्षस ने पकड़ लिया और वे भी दश मुख वाले रावण के विनाश के लक्षण थे। इस वन में (कबन्ध के द्वारा ग्रस्त) राम-लक्ष्मण ने तीनों लोकों के हृदय में अत्यन्त भय उत्पन्न किया। (भाव यह है कि जब लोगों ने देखा कि लोकोद्धार करने वाले भगवान् राम ही इस प्रकार ग्रस्त

हो रहे हैं तो उन्होंने सोचा कि भला उनकी क्या दशा होगी)। वहाँ (उस वन में) दशरथपुत्र राम के वाण से कटकर गिरी हुई योजनबाहु (कबन्ध का एक नाम, क्योंकि उसकी बाहु योजन अर्थात् ८ मील लम्बी थीं) की अत्यन्त लम्बी बाहु को देखकर ऋषियों को यह शंका हो जाती थी मानो अगस्त्य ऋषि को प्रसन्न करने के लिए अजगर की देह धारण किये हुए (राजा) नहुष (जो अगस्त्य के शाप के कारण अजगर हो गया था) आया हो। वहाँ सीता-पति राम ने विरह-वेदना से व्याकुल अपना मन बहलाने के लिए कुटी के अन्दर सीता का चित्र (भी) अंकित किया था। आज भी वन में विचरण करने वाले भील आदि इस चित्र को इस भाव से देखते हैं मानो वह (सीता) राम के निवास को देखने की उत्सुकता के कारण पुनः पृथ्वीतल से निकल रही हों (क्योंकि सीता अपने जन्म के समय भी पृथ्वी से ही निकली थीं)।

शब्दार्थ—विभ्रमः—विलास; संक्रान्तः—लगा हुआ; उद्गीर्णम्—उगला हुआ; निशितशराः—तीक्ष्ण वाण; जलधरसमये—वर्षाकाल में; प्रोत्साहितः—उत्साहित किया गया; उटजः—कुटिया; उल्लसन्ती—निकलती हुई।

20. And where (*i.e.*, in which Dandaka forest), obeying the order or, abiding by the word, of Dasaratha (his father), and having renounced or given up the kingdom, Rama, who put an end to or destroyed the graceful embellishments of royal glory (*i.e.*, the luxurious pastimes or diversions of all kingly glory and wealth) of the '*ten-mouthed*' (demon Ravana) together with Sita, seeking after (or waiting upon) the great sage Agastya, and having had a beautiful cottage of leaves prepared or made for him by Lakshmana, lived happily for some time in Panchavati. Where (*i.e.*, in which place, that has been) lying vacant or empty, (*i.e.*, uninhabited) for a long time, the trees, having silent or motionless rows of

pale-coloured doves or pigeons, roosting or lying down on their branches, and appearing (*i. e.*, the trees appearing) as if they had (so many) lines or columns of smoke, as it were, emanating from the oblations offered to the sacred fire (or from the burnt sacrificial offerings) by the ascetics, attached or clinging to them, are to be seen or noticed even now or to this day. Where the redness (*i. e.*, the natural reddishness of colour) in the fresh tender leaves or sprouts of creepers shines forth or appears clearly, as if the same had been transmitted or imparted to them from the palm of the hand of Sita, while (or who was) plucking flowers (from them) for the purpose of offering them in worship. And where the entire (quantity of) water of the ocean or sea, first drunk or swallowed up and then disgorged (*i. e.*, discharged or vomited) by the sage (Agastya), seems as if it had been distributed or divided amongst (*i.e.*, allotted to or assigned a share of it to each of) the large deep pools of water, lying or situated on the outskirts or borders of the hermitage. Where the forest, with the fresh tender leaves in it (which are naturally of a reddish colour), having had the roots (of its trees) watered or sprinkled over (formely) with the profuse or abundant blood of the hosts of demons (lit. 'night-walkers' or 'night-wanderers') killed or destroyed with the thick showers (lit. showers of the heaps or hosts) of the sharp arrows of the son or sons (*i.e.*, of Rama or of Rama and Lakshmana) of Dasaratha, seems or appears even now or to this day, as if it put forth its (reddish-coloured) foliage or leaves, tinged or pierced (*i. e.*, steeped or drenched in, in the natural formation or production) with the redness thereof (*i. e.*, of that blood), as it were. Where the old or aged deer or

antelopes, tended and brought up by Janaki with tips or pointed-ends of their horns having been shattered with old age, on hearing the deep thunder or rumbling of the multitudes of new clouds during rains, and (thereby) being reminded of (lit. 'remembering,' *i. e.*, having their memory or recollection aroused in regard to) the twanging sound,—which filled up or pervaded (*i. e.*, reached to the farthest ends of) the hollows or cavities of (all) the three worlds,— of the bow of the Illustrious or Glorious Rama, and having their piteous eyes or vision dimmed, on account of their shedding tears continuously, on seeing or finding the ten directions (*i. e.*, the whole world) empty (without Rama, Sita and Lakshmana), do not pick up (*i. e.*, eat or feed upon) mouthfuls of grass, even now. In which (Dandaka forest), the golden deer, that had deceived or caused deception to Sita (or it might also mean,—that had brought about the *separation* or *disunion* of Sita' from Rama), being encouraged or incited, as it were, by the wild deer (or deer of the forest), that remained after the others had been killed (lit. that were still left over from among those that were already killed) in an incessant or continuous hunting expedition, attracted or carried Raghava (*i. e.*, Rama, the 'descendant of Raghu') very far away. And where (*i. e.*, in which Dandaka forest) Rama and Lakshmana, who were afflicted (at the time) with the grief of separation from Maithili or Sita (the 'Princess of the kingdom of Mithila), and who, being (at that time) simultaneously attacked or seized by the headless demon Danu-Kabandha, like the Sun and the Moon being eclipsed or swallowed up by Rahu (who also is represented as being headless), as it were, were indicative of (*i. e.*, indicated, as

such an eclipse is popularly imagined to do) the destruction of the '*ten-mouthed*' (demon Ravana), enhanced or greatly amplified (*i. e.*, added largely to the importance of) the fear entertained by (lit. 'of)' the three worlds [The plain sense is this, : The fear was caused by the havoc produced by the powerful demons prevailing at the time, to destroy or put an end to which, Vishnu had incarnated as Rama. Now if Rama and Lakshmana, to whom the three worlds looked up for protection against these demons, were themselves plunged in grief brought about by them, the three worlds would certainly have their fears enhanced]. And in which (hermitage in the Dandaka forest), the very long or extensive arm of the demon '*Yojanabahu*' (a name of Danu-Kabandha, because he '*had arms one Yojana or eight miles long*'), having been felled or cut down with the arrow of Rama, the son of Dasarath, produced a suspicion or apprehension in the (minds of the) sages, as if it were the body of Nahusha in the form of a huge snake or boa-constrictor (lit. 'that which swallows up a goat'), having come to propitiate (the sage) Agastya. And where the (picture of the) daughter of (King) Janaka, having been drawn or painted by her Lord or husband inside the cottage with the object of diverting or comforting himself during (the period of) his separation from her (*i. e.*, with a view to alleviate his suffering caused by her separation), is seen or observed by the forest people even now or to this day, appearing, as if she, being eager to see or visit the abode or dwelling place of Rama, were once more emerging out of (or re-appearing from) the surface of the earth.

२१—तस्य चैवंविधस्य संप्रत्यपि प्रकटोपलक्ष्यमाणपूर्व-
वृत्तान्तस्यागस्त्याश्रमस्य नातिदूरे जलनिधिपानप्रकुपितवरु-

एोत्साहितेनागस्त्यमत्सरात्तदाश्रमसमीपवर्त्यपर इव वेधसा
महाजलनिधिरुत्पादितः प्रलयकालविघटिताष्टदिग्भागसंधि-
बन्धं गगनतलमिव भुवि निपतितमादिवराहसमुद्धृतधराम-
ण्डलस्थानमिव सलिलपूरितमनवरतमज्जदुन्मदशबरकामि-
नीकुचकलशलुलितजलमुत्फुल्लकुमुदकुवलयकह्लारमुन्निद्रार-
विन्दमधुबिन्दुनिस्यन्दबद्धचन्द्रकमलिकुलपटलान्धकारितसौग-
न्धिकमारसितसमदसारसमम्बुरुहमधुपानमत्तकलहंसकामिनी-
कृतकोलाहलमनेकजलचरपतंगशतसंचलनचञ्चलितवाचाल-
वीचिमालमनिलोल्लासितकल्लोलशिशिरसीकरारब्धदुर्दिनम-
शङ्कितावतीर्णाभिरम्भःक्रीडारागिणीभिः स्नानसमये वन-
देवताभिः केशपाशकुसुमैः सुरभीकृतमेकदेशावतीर्णमुनिजना-
पूर्यमाणकमण्डलुकलजलध्वनिमनोहरमुन्मिषदुत्पलवनमध्य -
चारिभिः सवर्णतया रसितानुमेयैः कादम्बकदम्बकैरासेवित-
मभिषेकावतीर्णपुलिन्दराजसुन्दरीकुचचन्दनधूलिधवलिततरं-
गमुपान्तजातकेतकीरजःपटलबद्धकूलपुलिनमासन्नाश्रमागत -
तापसक्षालितार्द्रवल्कलकषायपाटलतटजलमुपतटविटपिपल्ल -
वानिलवीजितमविरलतमालवीथिकान्धकारिताभिर्वालिनिर्वासि-
तेन संचरता प्रतिदिनमृष्यमूकवासिना सुग्रीवेणावलुप्तफलपरि-
लघुलताभिरुदवासितापसानां देवतार्चनोपयुक्तकुसुमाभिरुत्प-
तज्जलचरपतंगपक्षपुटविगलितजलबिन्दुसेकसुकुमारकिसलया-
भिर्लतामण्डपतलस्थितशिखण्डिमण्डलारब्धताण्डवाभिरनेक -

कुसुमपरिमलवाहिनीभिर्वनदेवताभिः श्वासवासिताभिरिव वनराजिभिरुपरुद्धतीरमपरसागराशङ्किभिः सलिलमादातुमवतीर्णैर्जलधरैरिव बहलपङ्कमलिनैर्वनकरिभिरनवरतमापीयमानसलिलमगाधमनन्तमप्रतिममपां निधानं पम्पाभिधानं पद्मसरः। यत्र च विकचकुवलयप्रभाश्यामायमानपक्षपुटान्यद्यापि मूर्तिमद्रामशापग्रस्तानीव मध्यचारिणामालोक्यन्ते चक्रनाम्नां मिथुनानि।

पम्पासरोवर्णनम्

२१—एवंविधस्य—पूर्वोक्तस्य। सम्प्रत्यपि—अधुनापि। प्रकटोपलक्ष्यमाणपूर्ववृत्तान्तस्य—स्पष्टानुभूयमानप्राग्वृत्तस्य। प्रकटमुपलक्ष्यमाणाः पूर्वे वृत्तान्ताः यस्य तस्य। तस्य—अमुष्य। अगस्त्याश्रमस्य। कुम्भसम्भवस्थानस्य। नातिदूरे समीपे पद्मसर इत्यग्रिमेणान्वयः। इतः आरम्य प्रथमान्तानि सरसो विशेषणानि। जलनिधिपानकुपितवरुणोत्साहितेन सागरचुलुकीकरणक्रुद्धप्रचेतोदत्तोत्साहेन। जलनिधेः पानेन कुपितो वरुणः तेनोत्साहितस्तेन। वेधसा विधात्रा। अगस्त्यमत्सरात्—कलसयोनिविद्वेषात्। अगस्त्ये मत्सरः तस्मात्। तदाश्रमसमीपवर्त्ती—पूर्वाभिहितमहर्षिस्थाननिकटस्थः। तस्याश्रमस्य समीपे वर्त्तते सः। अपरः—द्वितीयः महाजलनिधिरिव—महासागर इव। उत्पादितः रचितः। सरोऽतिविस्तृतमितिभावः। प्रलयकालविघटिताष्टदिग्भागसंधिबंधम्—युगान्तसमयविश्लिष्टाष्ट-संख्याकाशाविभागसंयोजनबंधनम्। प्रलयकाले विघटिताः अष्टानां दिग्भागानां संधिबंधा यस्य तत्।

अतएव—भुवि—भूमौ । निपतितम्—च्युतम् । गगनतलमिव—आकाशमिव । अत्यन्तं विमलम् विशालं च सर इतिभावः । आदिवराहसमुद्धृतधरामण्डलस्थानम्—हरितृतीयावतारसमुत्तोलितभूमण्डलावकाशः । आदिवराहेण समुद्धृतं धरामण्डलन्तस्य स्थानन्तत् । सलिलपूरितमिव—जलपूर्णमिव । अनवरतमज्जदुन्मदशबरकामिनीकुचकलशलुलितजलम्—निरन्तरावगाहमानतारुण्यगर्वितशबरीस्तनताडितसलिलम् । अनवरतम्मज्जन्तीनामुन्मदानां शबरकामिनीनां कुचकलशैः लुलितं जलं यस्य तत् । कुचाः कलशा इवेति कुचकलशास्तैः । उत्फुल्लकुमुदकुवलयकल्हारम्—विकसितशुक्लकमलनीलोत्पलरक्ताम्बुजम् । उत्फुल्लानि कुमुदानि कुवलयानि कल्हाराणि यस्मिन् तत् । उन्निद्रारविन्दमधुविन्दुबद्धचन्द्रकम् स्फुटितपद्ममकरन्दकणजलोर्ध्वंविहितमयूरपिच्छीयचन्द्राकृतिचित्रविशेषम् । उन्निद्राणामरविन्दानाम्मधुविन्दुभिः बद्धाः चन्द्रका यस्मिन् तत् । अलिकुलपटलांधकारितसौगंधिकम्—भ्रमरगणसमूहावृतरक्तकमलम् । 'सौगंधिकन्तु कल्हारमित्यमरः' । अलिकुलानां पटलेनांधकारितानि सौगंधिकानि यस्मिन् तत् । आरसितसमदसारसम्—आरसिताश्च समदाश्च सारसा यस्मिन् तत् । अम्बुरुहमधुपानमत्तकलहंसकामिनीकृतकोलाहलम् पद्ममकरन्दधयनक्षीव कलहंसीसम्पादितकलकलम् । अम्बुरुहाणां मधुपानेन मत्ताः या कलहंसकामिन्यः ताभिः कृतः कोलाहलो यस्मिन् तत् । अनेकजलचरपतङ्गशतसञ्चलनचलितवाचालवीचिमालम्—बहुविधवारिचर-पक्षिसमूहगमनचपलशब्दायमानतरङ्गश्रेणिकम् । अनेकेषां जलचराणां पतङ्गानां शतस्य संचलनेन चलिताः वाचालाः वीचि-

माला: यस्मिन् तत् । अनिलोल्लासितकल्लोलशिशिरशीकरारब्ध-दुर्दिनम् —— वातोत्थापितमहावीचिशीतलजलकणकृतमेघाच्छन्नदिव-सम् । अनिलेनोल्लासिता: कल्लोला: तेषां शिशिरै: सीकरै:-आरब्धं दुर्दिनं यस्मिन् तत् । अशंकितावतीर्णाभि:—नि:-संशयप्रविष्टाभि: । अशंकितमवतीर्णास्ताभि: । अम्भ-क्रीडा-रागिणीभि: सलिलविहारप्रियाभि: । अम्भस: क्रीडायां रागिण्य-स्ताभि: । वनदेवताभि—काननाधिष्ठातृदेवीभि: । स्नानसमये अवगा-हनवेलायाम् । केशपाशकुसुमै:——कवरीसुमनोभि: । सीमन्तिता केशा: केशपाशास्तेषु कुसुमानि तै: । सुरभीकृतम्—सुगंधितान्नीतम् एकदेशावतीर्णमुनिजनापूर्यमाणकमण्डलुकलजलध्वनिमनोहरम्——एक-पार्श्वाभ्यन्तरप्रविष्टऋषिलोकाप्यायितजलपात्रव्यक्तमधुरवारिपूरण-रवसुभगम् । एकदेशेऽवतीर्णा: मुनिजनास्तैरापूर्यमाणा: कमण्डलव: तेषां कलेन जलध्वनिना मनोहरन्तत् । उन्मिषदुत्पलवनमध्यचा-रिभि:—विकसत्कमलकाननान्तर्गामिभि: । सवर्णतयासदृशाकारतया । रसितानुमेयै:——शब्दज्ञेयसत्ताकै: । रसितेनानुमेयास्तै: । कादम्ब-कदम्बकै:——कलहंसगणै: । आसेवितम्——समाश्रितम् । अभिषेका-वतीर्णपुलिन्दराजसुन्दरीकुचचन्दनधूलिधवलिततरङ्गम् स्नानजलप्रवि-ष्टकिरातपतिरमणीस्तनलिप्तमलयजपरागश्वेतीकृतवीचिकम् । अभि-षेकायावतीर्णा: या: पुलिन्दराजस्य सुन्दर्य: तासां कुचानां चन्दन-धूलिभि: धवलिता: तरङ्गा: यस्य तत् । उपान्तजातकेतकीरज:पटल-बद्धकूलपुलिनं——जलनिकटोद्भूतकेतकीकुसुमधूलिपुञ्जकृततटसैक-तम् । उपान्ते जातानां केतकीनां रज:पटलेन बद्धं कूलेषु पुलिनं यस्य तत् । केतक्या: पुष्पं केतकीअवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्य

इत्यञ्—पुष्पमूलेषु बहुलमिति लुप्। आसन्नाश्रमागततापसक्षालिताद्रवल्कलकषायपाटलतटजलम्—समीपस्थावासायाततपस्विधौतस्तिमितपरिधेयवृक्षत्वग्निर्यासश्वेतरक्ततीरनीरम्। आसन्नेभ्यः आश्रमेभ्यः आगताः तापसाः तैः क्षालितानि आर्द्राणि वल्कलानि तेषां कषायेण पाटलं तटजलं यस्य तत्। उपतटविटपिपल्लवपुटानिलवीजितम्—कूलस्थतरुकिसलयनिचयवायुकृतव्यजनम्। तटस्य समीपमुपतटम् विटपिनां पल्लवपुटानामनिलः वीजितम् तत्। अविरलतमालवीथिकांधकारिताभिः—घनतापिच्छतरुपंक्तिकृतांधकाराभिः—अविरला तमालवीथिका तया अंधकारिताः ताभिः। वालिनिर्वासितेन—सुग्रीवभ्रातृत्याजितराज्येन वालिना निर्वासितस्तेन। प्रतिदिनम्—प्रत्यहम्। वा अनुदिनम्। दिनं दिनं प्रति इति प्रतिदिनम्. 'वीप्सायामव्ययीभावः'। संचरता—परिभ्रमता ऋष्यमूकवासिना—ऋष्यमूकनामकगिरिस्थायिना। ऋष्यमूके वस्तुं शीलमस्य तेन। सुग्रीवेण—वालिभ्रात्रा। अवलुप्तफललघुलताभिः—अवहृतप्रसवभारहीनवल्लीभिः। अवलुप्तानि फलानि याभ्यः ताः अतएव लघ्वः लताः यासु ताभिः। पुरा मायावी दानवः वालिना सुग्रीवेण च युध्यमानः तयोः प्रहारेण दुर्बलो भूत्वा एकं विलं प्रविष्टवान्। वाली तं निहन्तुं तत्रैव गतवान्—त्वयाऽत्रैव वस्थेयं यावदहमावर्त्तयेत्युक्त्वा सुग्रीवम्—ततः तद्विलमविशत्। वालिन आगमने विलम्बं विलमुखाच्च रक्तं निर्गतं विलोक्य वाली निहत इति मत्वा विलमुखे महान्तं पाषाणं निधाय किष्किंधां गतवान् ततो वाली विलान्निर्गत्य तं पाषाणं तन्मुख एव स्थापयित्वा किष्किंधागतः ततश्च सुग्रीवो मम रिपुरिति ज्ञात्वा निष्कासितः किष्किं-

ध्यातो वालिना, तत आरभ्य सुग्रीवः ऋष्यमूके वसतीति रामायण-वार्त्ता। उदवासितापसानाम्——जलस्थायितपस्विनाम् । उदके वसन्तीति ते तापसास्तेषाम् । येषां वासवाहनधिषु चेति उदकस्योदादेशः । देवतार्चनोपयुक्तकुसुमाभिः——देवयजनयोग्यपुष्पाभिः । देवतानामर्चनेषु उपयुक्तानि कुसुमानि यासां ताभिः । उत्पतज्जलचरपतङ्गपक्षपुटविगलितजलविन्दुसेकसुकुमारकिसलयाभिः——उद्गच्छद्वारिचरखगदलयुग्मपतितवारिपृषत्सेचनमृदुपल्लवाभिः । उत्पततां जलचराणां पतङ्गानां पक्षपुटेभ्यो विगलिताः जलविन्दवस्तेषां सेकेन सुकुमाराः किसलयाः यासां ताभिः । लतामण्डपतलशिखण्डिमण्डलारब्धताण्डवाभिः । वीरुदावृतप्रदेशान्तर्गतमयूरसमूहकृतनृत्याभिः । लतामण्डपतलेषु शिखण्डिमण्डलेनारब्धं ताण्डवं यासु ताभिः । अनेककुसुमपरिमलवाहिनीभिः । नानाविधपुष्पसौरभधारिणीभिः । अनेकेषां कुसुमानां परिमलं वहन्ति ताभिः । वनदेवताभिः अरण्यदेवीभिः । श्वासवासिताभिरिव——निश्वासवातसुरभिताभिरिव । वनराजिभिः——काननश्रेणिभिः । उपरुद्धतीरम्——परिवृततटम् । सरः अपरसागरशंकिभिः——द्वितीयसमुद्रभ्रान्तिजनकैः । अपरः सागर इति शंका येषां तैः । सलिलम्——वारि । आदातुम्——गृहीतुम् । अवतीर्णैः——वारिमध्यप्रविष्टैः । जलधरैरिव——मेघैरिव । वहलपंकमलिनैः——प्रचुरकर्दममलीमसैः । वहलैः पंकैः मलिनास्तैः । वनकरिभिः । आपीयमानसलिलम्——धीयमानजलम् । अगाधम्——तलस्पर्शरहितम् । न गाधा यस्य तत् । गाधनं गाधा । गाध्+गुरोश्च हल् इत्यप्रत्ययः । ततष्टाप् । अथवा गाध्यते तत् गाधम् न गाधम् तत् । कर्मणि घञ् । अनन्तम्——

शेषरहितम् । अविद्यमानोऽन्तो यस्य तत् । अप्रतिमम्---उपमारहितम् । नास्ति प्रतिमा यस्य तत् । प्रति+मा+अङ्---प्रतिम+टाप् प्रतिमा ।। अपाम्---वारीणाम् । निधानम्---निधिरूपम् । पम्पाभिधानम्---पम्पेति अभिधानं यस्य तत् । पद्मसरः---कमलह्रदः । पद्मानामाकरस्वरूपं सरः । पम्पायाः फलविशेषस्य पूर्वमस्यैव तटे जातत्वात्तन्नामास्य प्रचलितम् । तत्फलं च पद्मजमितिभावः ।। यत्र च---पम्पासरसि । विकचकुवलयप्रभाश्यामायमानपक्षपुटानि---विकसत्कमलकान्तिनीलदलयुग्मानि । विकचानां कुवलयानां प्रभाभिः श्यामायमानानि पक्षपुटानि येषान्तानि । मध्यचारिणाम्---पम्पासरोऽन्तर्गतसंचरणशीलानाम् । चक्रवाकनाम्नाम्---कोकानाम् । मिथुनानि---द्वंद्वानि । अद्यापि अधुनापि । मूर्त्तिमद्रामशापग्रस्तानि इव---साकारराघवानुक्रोशपीडितानि इव । आलोक्यन्ते---दृश्यन्ते तत्रत्यजनैरितिभावः । पुरा पम्पासरस्तीरे विप्रयोगविह्वलं रामं विलोक्य चक्रवाकाः हसन्तिस्म तदा रामस्तान् शशाप ममेव युष्मदीयोऽपि निशि नित्यं विरहः स्यादिति रामायणकथा ।।

२१---अगस्त्य ऋषि के इस प्रकार के आश्रम जिसकी प्राचीन काल की बात अब भी प्रकट रूप से देखने को मिलती हैं, के निकट ही पम्पा नाम का अगाध, अनन्त, अनुपम एवं जल का निधान पद्म-सरोवर (कमलों से भरा हुआ सरोवर) है । वह ऐसा मालूम होता है मानो (अगस्त्य ऋषि के) समुद्र पी जाने के कारण कुपित, (समुद्रों के अधिपति) वरुण के द्वारा उकसाये हुए ब्रह्मा ने अगस्त्य ऋषि के प्रति विद्वेष होने के कारण उनके आश्रम के निकट ही एक दूसरा महासमुद्र उत्पन्न कर दिया हो (अर्थात् वह समुद्र के समान विशाल है), मानो प्रलय काल के समय आकाश और आठों दिशाओं के जोड़ों के बन्दों (बन्धनों) के टूट जाने के कारण आकाश ही

पृथ्वी पर गिर पड़ा हो; मानो जल से भरा हुआ वह स्थान हो, जहाँ से आदिवराह (वराहावतार के रूप में विष्णु) ने भूमण्डल को उठाया था। उस सरोवर का जल मदमत्त भीलनियों के स्तन रूपी घटों से निरन्तर चंचल रहता है; उसमें कुमुद, कुवलय और कह्लार (श्वेत कमल, नीलकमल और रक्त कमल) खिले हुए हैं; खिले हुए कमलों से टपकती हुई मकरन्द-कणिकाओं से उसमें चन्द्राकार (अथवा मोर की पाँखों पर बने हुए चन्द्र के आकार के) वृत्त-से बना करते हैं; उसमें लगे हुए श्वेत कमल भ्रमर-समूह के (बैठने के) कारण काले-से दिखाई देने लगते हैं; मतवाले सारस आनन्द के साथ कूजते रहते हैं; कमल का रस पीने के कारण उन्मत्त काले रंग की हंसिनी शोर करती रहती है; अनेक प्रकार के सैकड़ों जलचर पक्षियों के विचरण करने के कारण हिलती हुई तरङ्ग मालाओं से शब्द होता रहता है, वायु के द्वारा उठने वाली महातरङ्गों की ठण्डी फुहारों से ऐसा प्रतीत होता है मानो मेघाच्छन्न दिन में वर्षा की झड़ी लगी हो। वह जल में बिना किसी डर के प्रविष्ट होकर जलक्रीड़ा का आनन्द लेने वाली वनदेवियों के स्नान के समय गिरे हुए केशपाश के पुष्पों से सुगन्धित रहता है, जल में एक ओर उतर कर मुनियों के द्वारा भरे जाते हुए कमण्डलों से उत्पन्न होने वाली मनोहर कल-कल जल-ध्वनि (जल में होने वाली ध्वनि) होती रहती है; उसमें हंससमूह निवास करते हैं और जब वे खिले हुए श्वेत कमलों में विचरण करते रहते हैं तो एक ही वर्ण (श्वेत) होने के कारण उन्हें केवल उनके शब्दों से ही पहचाना जा सकता है, उसकी तरङ्गें स्नान करने के लिए उतरी हुई पुलिन्दराज (शबराधिपात) की सुन्दरियों के स्तनों में लगी हुई चन्दन की रज से श्वेत-सी हो जाती हैं; किनारे पर उगे हुए केतकी के पुष्पों की परागराशि से उसका तट रेतीला-सा हो रहा है। समीपवर्ती आश्रम से आने वाले तपस्वियों के द्वारा धोने के लिए वल्कलों के भिगोये (अथवा पानी में डुबाये) जाने के कारण किनारे का पानी कुछ मैला और गुलाबी रंग का हो जाता है; तीरवर्ती वृक्षों के पल्लव मानो

अपनी वायु से उसे पंखा कर रहे हों, उसके तट वनपंक्तियों (अथवा वृक्षों के कुंजों) से ढके हुए हैं। इन कुंजों में (आगे की कुछ पंक्तियों में कुंजों का वर्णन है) तमाल वृक्ष की घनी पंक्तियों से अन्धेरा-सा हो रहा है, बालि द्वारा निर्वासित होकर (इधर-उधर) भटकते हुए ऋष्यमूकवासी सुग्रीव के प्रति दिन फल तोड़ लेने के कारण उनकी लताएँ बहुत हलकी हो गई हैं; उनके फूल जल में खड़े होकर तपस्या करने वाले तपस्वियों के द्वारा देवताओं की अर्चना करने के लिये उपयुक्त हैं; उनके कोमल पत्ते पानी में रहने वाले पक्षियों के उड़ने पर उनके परों से गिरी हुई पानी की बूँदों से भीगकर नरम हो जाते हैं; लताओं के मंडपों के नीचे मयूरसमूह ताण्डव नृत्य किया करते हैं, और अनेक प्रकार के पुष्पों की सुगन्धि धारण करने के कारण वे (कुंज) ऐसे प्रतीत होते हैं मानो वनदेवियों ने अपनी श्वास की सुवास से उन्हें सुवासित कर दिया हो। (अब पुनः सरोवर का वर्णन किया जा रहा है) अत्यधिक कीचड़ से सने होने के कारण मलिन जङ्गली हाथी निरन्तर उस (सरोवर) का जल पिया करते हैं, जो ऐसा प्रतीत होता है मानो (सरोवर की विशालता और अगाधता के कारण) उसे दूसरा सागर समझ कर (काले) बादल जल पीने के लिए उतरे हों। और वहाँ (उस सरोवर में) आज भी जल के अथवा नील कमलों के बीच घूमते हुए चकवा-चकवी के जोड़े दिखाई देते हैं। विकसित नील कमलों की प्रभा से उनके पंख भी नीले हो जाते हैं अतएव ऐसा प्रतीत होता है मानो वे साक्षात् राम के शाप से ग्रस्त हों (शाप का वर्ण काला या नीला माना गया है)।

शब्दार्थ—उपलक्षमाणपूर्ववृत्तान्तस्य—पूर्व काल में घटित आश्रम-सम्बन्धी घटनाओं के वृतान्त अब भी प्रकट रूप से सुनने को (जानने को) मिलता है; आदिवराह :—महावराह, विष्णु का वराहावतार जब उन्होंने समुद्र में डूबती हुई धरा को निकाला था, चन्द्रकः—मोर के पंख पर बने हुए चन्द्राकार वृत्त; आरसितः—शब्द करते हुए; कल्लोलः—महातरङ्ग; रसितानुमेय :—शब्द मात्र से जाने जा पाते थे; क्षालितार्द्रम्—धोए जाने के

कारण गीले; उदवासिनः—उदके जले वसन्तीति, जल में रहकर तपस्या करने वाले; रामशाप०—पम्पासर के तट पर सीता के विरह से व्याकुल राम को देखकर चकवे हँसने लगे। उनको देख कर राम ने उन्हें शाप दिया—अपनी प्रिया से जैसा मेरा वियोग हुआ, उसी प्रकार रात्रि में तुम्हारा भी वियोग हुआ करे।

21—And not very far from that hermitage of such a description of (the sage) Agastya, the former events of which are to be evidently or visibly seen or observed (*i. e.*, clearly to be comprehended, understood or inferred) even now, there is a lake of lotuses or '*lotus-lake*' (*i. e.*, one full of or abounding in lotuses), named Pampā, *which* appears or looks as if it were a second or another great sea or ocean, created or brought into existence in the vicinity of (lit. 'lying near') the hermitage of Agastya, out of spite or jealousy against him, by the Creator or *Brahma* having been instigated or urged by Varuna (the presiding deity of the element of water), who was enraged or greatly incensed at the drinking up of the ocean (by him);—*which* (lake) was like the sky fallen on the earth (*i. e.*, lying prostrate or flat on the ground), as it were, having had the ligaments or ligatures (*i. e.*, the ties) of its joints (binding it to or) with the eight directions broken down or severed (*i. e.*, dislocated) at the time of the universal destruction; – *which* was like the place or site, from which the Earth had been uplifted by the Primordial Boar (incarnation of Vishnu), filled up with water, as it were;—the water of *which* was agitated, disturbed or set in motion by the jar-like (*i. e.*, round or beautiful) breasts of the maddened or intoxicated youthful *Shabar* or (mountaineer) women constantly or incessantly bathing therein;—*which*

had white water-lilies, blue water-lilies and white lotuses fully blown in it;—*which* had brilliant circular spots or moon-like circles (like the eyes on the peacock's tail, which it also means) formed (on its surface) by the flowing or exudation of drops (*i. e*, by the dripping) of honey from the blown or blooming lotuses;—*which* had white lotuses in it that were darkened or made to look dark on account of the multitudinous clusters or swarms of the black bees (settling or hovering over them); - *which* had cranes that were intoxicated or maddened with joy, screaming in it;—*which* had a tumultuous noise made in it by the black or dark-grey geese that were maddened or intoxicated with the drinking of honey from the lotuses (lit. 'water-born' or 'water-grown');—the rows or lines (lit. the 'wreath or garlands') of the waves or ripples in *which* were resounding, owing to their having been agitated or stirred up, by the movements of hundreds of aquatic birds of many a variety;—*which* had a rainy day started in it by the (showers, as it were, from the) sprays (of water, rising) on the tops of waves or billows, raised or stirred up by the winds;—*which* (*i. e.*, the water of which lake) was made fragrant with (*i e.*, by or on accourt of its contact with) the flowers, adorning their hair at the time of their bath or ablution, by the forest nymphs or sylvan deities, that had fearlessly descended or entered into it, and were fond of or loved sporting in water; - *which* appeared beautiful or charming on account of the sweet (or low and soft) oound of the water, made by the *Kamandalus* or the (hermits' or ascetics') peculiar wooden or other water-pots or vessels, being filled up by the ascetics or sages, having descended into it on one of its sides;—*which* was frequented or

resorted to by flocks or swarms of *Kadamba* birds or swans (said to be a kind of goose with dark-gray wings), moving about in the midst of a forest (*i. e.*, thick or profuse clusters) of fully blown or expanded lotuses (lit. those 'opening their eyes'), and having (their presence in their midst) to be inferred (only) from their cries, on account of their being of the same colour;—*which* had its waves rendered white with the dust of sandal wood paste, that was applied to the breasts of the beautiful royal ladies (or ladies belonging to the royal or noble families) of the *Pulindas* (a people of the wild mountaineer or barbarous tribe), having descended or entered into it or its waters for the purpose of bathing;—*which* had a (sort of) sandy embankment made or formed (round it) with the heaps of pollen (dropping) from the flowers of Ketaki (trees) growing up on its borders;—*which* had its water near the bank or shore rendered astringent or fragrant (or it may mean, 'of the red or dark-red colour', *i. e.*, brown or yellowish-red), and pallid or pale-red (*i. e.*, reddish). by the bark garments having been dipped in it (lit. 'made wet or moistened'), in (the process of) being washed by the ascetics, who came there from their adjacent or neighbouring hermitages,—*which* was fanned with the breeze from the leaves of trees, that grew or stood near its banks (or on its outskirts or borders);—*which* had its banks (*i. e.*, the sight of, or the approach to, its banks) obstructed or protected [that is, which had its banks surrounded on all sides by the groves or rows of trees *that* were rendered dark or obscure on account of the thick rows or avenues of Tamala trees (which have dark leaves), *that* had its creepers made light (*i. e.*, lessened in weight or heaviness), on account

of their fruits having been taken or carried away (*i. e.*, seized or removed for eating by Sugrīva, who having been banished or sent into exile by Bāli was living on the Rishyamuka mountain, and wandering about (over there) every day, *that* had flowers on them, suitable or fit and appropriate for the worship of the Gods by the ascetics or persons who practised penance or austerities by standing or remaining in water (in winter), *that* had their young tender leaves or shoots, (made or rendered still more) soft or delicate on account of their having been sprinkled over with the drops of water falling or dropping from the hollows (*i. e.*, the cavities or folds) of the wings of acquatic birds, (while) rising up out of water (and flying over them),—*that* had (in the midst of it) a *Tāṇḍava* dance started by a flock or assemblage of peacocks standing under or beneath the bowers of creepers, *that* bore or carried about them, the fragrance of flowers of many or various kinds, and (as such) seemed as if they had been scented or perfumed (made fragrant or filled with sweet odour) with their breath by the forest-nymphs or sylvan deities, as it were;—the water of *which* (Pampā lake) was being constantly drunk by the wild elephants, whose body or skin was covered (lit. who were soiled or darkened) with thick mud, and who (in that state) appeared like clouds, as it were, having descended or alighted into it, for the purpose of draining (or with a view to drain—lit. 'take away'—) off water from it, suspecting it to be another ocean (as it were, —a fact which reveals the vast expanse or extent of the lake);—*which* was unfathomable (lit. 'bottomless') or very deep;—*which* was boundless or infinite (in extent,—lit. 'endless', that is, very extensive in size, indeed so extensive in

size that it seemed to have no ends or bounds);—*which* was peerless or incomparable (*i. e.*, without a match or like); and *which* was the treasure or the (very) store of water. And where (*i. e.*, in which Pampa lake) the pairs of the *Chakravaka* birds or the ruddy geese, having the folds of their wings darkened (*i. e.*, looking bright dark) with (or on account of) the lustre or gleam of the fully blown blue lotuses (in their proximity in the lake) and appearing as if they had been seized or stricken (*i. e.*, involved in or affected) by the curse (represented here to be of a dark colour owing to its dismal nature) of Rama in visible shape or form, or to be seen or observed by one moving about in their midst (*i. e.*, in the midst either of the lakes or of these birds), even now or to this day. [Note. If the reading be taken to be 'मध्यचारिणाम्' (which seems more happy or appropriate), as the adjectival compound to चक्रनाम्नां, the translation of the necessary portion of it would read thus:—'.........the pairs of the *Chakravaka* birds or the ruddy geese, *which were moving about in the midst* (of the lake), having the folds......form, are to be seen or observed even now or to this day.' The last portion in the above translation (from, 'by one moving about......' to 'of these birds)', will then disappear or be omitted].

२२—तस्यैवंविधस्य पद्मसरसः पश्चिमे तीरे राघव-शरप्रहारजर्जरितजीर्णतालतरुखण्डस्य च समीपे दिग्गजकर-दण्डानुकारिणा जरदजगरेण सततमावेष्टितमूलतया बद्ध-महालवाल इव तुङ्गस्कन्धावलम्बिभिरनिलवेल्लितैरहिनिर्मो-कैर्धृतोत्तरीय इव दिवचक्रवालपरिमाणमिव गृह्णता भुव-नान्तरालविप्रकीर्णेन शाखासंचयन प्रलयकालताण्डवप्रसारित-

भुजसहस्रमुडुपतिशकलशेखरमिव विडम्बयितुमुद्यतः पुराणतया पतनभयादिव गगनस्कन्धलग्नो निखिलशरीरव्यापिभिरतिदूरोन्नताभिर्जीर्णतया शिराभिरिव परिगतो व्रततिभिर्जराति-लकबिन्दुभिरिव कण्टकैराचिततनुरितस्ततः परिपीतसागर-सलिलैर्गगनागतैः पत्ररथैरिव शाखान्तरेषु निलीयमानैः क्षण-सम्बुभारालसैरार्द्रीकृतपल्लवैर्जलधरपटलैरप्यदृष्टशिखरदेश-स्तुङ्गतया नन्दनवनश्रियमिवावलोकयितुमभ्युद्यतः समीपवर्तिनामुपरि संचरतां गगनतलगमनखेदायासितानां रविरथ-तुरङ्गमाणां सृक्कपरिस्रुतैः फेनपटलैः संदेहिततूलराशिभिर्धवलीकृतशिखरशाखो वनगजकपोलकण्डूयनलग्नमदनिलीनमत्तमधुकरमालेन लोहशृङ्खलाबन्धनिश्चलेनेव कल्पस्थायिना मूलेन समुपेतः कोटराभ्यन्तरनिविष्टैः स्फुरद्भिः सजीव इव मधुकरपटलैर्दुर्योधन इवोपलक्षितशकुनिपक्षपातो नलिननाभ इव वनमालोपगूढो नवजलधरव्यूह इव नभसि दर्शितोन्नतिरखिलभुवनतलावलोकनप्रासाद इव वनदेवतानामधिपतिरिव दण्डकारण्यस्य नायक इव सर्ववनस्पतीनां सखेव विन्ध्यस्य शाखाबाहुभिरूपगृह्येव विन्ध्याटवीमवस्थितो महाञ्जीर्णः शाल्मलीवृक्षः ।

———

शाल्मलीवृक्षवर्णनम्

२२—तस्यैवंविधस्य—पूर्वाभिहितस्यैव । पद्मसरसः पश्चिमे—प्रतीच्ये । तीरे तटे । राघवशरप्रहारजर्जरितजीर्णतालतरुषण्डस्य रामबाणाघातविदारितप्राचीनतालवृक्षसमूहस्य । राघवस्य शरप्रहारेण जर्जरिताः जीर्णाः ये तालतरवः तेषां षण्डस्तस्य समीपे—अन्तिके । महान्—जीर्णः शाल्मलीवृक्ष इत्यग्रिमेण सम्बन्धः प्रथमान्तानि शाल्मलीवृक्षविशेषणानि । पुरा रामस्य वलं वालिवधो पयुक्तम् अस्ति नवेति रामबलपरीक्षणवेलायाम् सुग्रीवप्रेरितो राम एकेनैव शरेण सप्त तालतरून् विभेदेतिरामायणकथा । दिग्गजकरदण्डानुकारिणा आशाकरिशुण्डदण्डसदृशेन । दिग्गजस्य करदण्डमनुकरोति तेन । जरदजगरेण—वृद्धाजगराख्यमहासर्पेण । जरंश्चासावजगरः तेन ऋ+अतृन्—जरन् । सततम्—सन्ततम् । आवेष्टितमूलतया—आवृताशयतया । आवेष्टितं मूलं यस्य तस्य भावस्तत्ता तया । बद्धमहालवाल इव—निर्मितमृत्तिकावेष्टितखातजलाधार इव । बद्धं महत् आलवालं यस्य सः । तुङ्गस्कंधावलम्बिभिः—उन्नतप्रकांडदेशसमाश्रितैः । तुङ्गस्कन्धमवलम्बन्ते तैः । अनिलवेल्लितैः—वायुचालितैः । अनिलेन वेल्लितास्तैः । अहिनिर्मोकैः—सर्पकञ्चुकैः । 'सर्पे वृत्रासुरेऽप्यहिः' इति वैजयन्ती ।। धृतोत्तरीय इव गृहीतोत्तरवसन इव । दिक्चक्रवालपरिमाणम्—आशामण्डलपरिमितिम् । दिशां चक्रवालस्य परिमाणम् तत् गृह्णता आददता । भुवनान्तरालविप्रकीर्णेन—जगन्मध्यविस्तृतेन । भुवनस्यान्तराले विप्रकीर्णेन—जगन्मध्यविस्तृतेन । भुवनस्यान्तराले विप्रकीर्णः तेन । शाखासञ्चयेन—वृक्षावयवप्रकाण्डपुञ्जेन । प्रलयकालताण्डवप्रसारितभुजसहस्रम्—युगान्तसमयनृत्यविस्तारितबाहुदशशतम् । प्रलयकाले ताण्डवे प्रसारितं भुजसहस्रं येन

तम् । उडुपतिशकलशेखरम्—चन्द्रशिरोभूषणम् शिवम् । उडुपतिः शेखरः यस्य तम् । विडम्बयितुम् अनुकर्त्तुम् । उद्यत इव—प्रवृत्त इव । पुराणतया—प्राचीनतया । पुराभवः पुराणः । पुरा+नः । पतनभयादिव—पातभीतेरिव । पतनाद् भयम् तस्मात् । गगनस्कंधलग्नः—आकाशशिखरसम्पृक्तः । यथा वृद्धः कंचिदाधारमाश्रित्यास्ते । निखिलशरीरव्यापिनीभिः—सकलदेहनिचिताभिः । निखिले शरीरे व्यापिन्यस्ताभिः अतिदूरमुन्नतास्ताभिः । अतिशयविप्रकृष्टोत्थिताभिः । जीर्णतया—जर्जरत्वेन । वा पुरातया ॥ शिराभिरिव व्रततिभिः—धमनीभिरिव लताभिः । परिगतः—परिवेष्टितः वा व्याप्तः । जरातिलकबिन्दुभिरिव वार्धक्यजातकृष्णचिह्नविशेषैरिव । जराजन्याः ये तिलकविन्दवः तैः । कण्टकैः—शूलैः । आचिततनुः—व्याप्तदेहः । आचिता तनुर्यस्य सः । परिपीतसागरसलिलैः—गृहीतसमुद्रजलैः । परिपीतं सागरस्य सलिलं यैस्तैः । इतस्ततः—समन्तात् । गगनागतैः आकाशोत्थितैः । गगनेनागतास्तैः । पत्ररथैरिव—पतत्रिभिरिव । पत्राणि रथो येषां तेः । शाखान्तरेषु—वृक्षावयवाभ्यन्तरेषु । शाखानामन्तरास्तेषु । क्षणम्—ईषत्कालम् । विलीयमानैः अन्तर्हितैः । अम्बुभारालसैः—पीतवारिभरालस्यवद्भिः । अम्बुभारेणालसास्तैः । आर्द्रीकृतपल्लवैः—सेचितकिसलयैः । आर्द्रीकृताः पल्लवाः यैस्तैः । जलधरपटलैरपि—मेघपुञ्जैरपि । अदृष्टशिखरः—अनवलोकितशृङ्गः । अदृष्टं शिखरं यस्य सः । तुङ्गतया—उच्चतया । नन्दनवनश्रियम्—शक्रोपवनलक्ष्मीम् । नन्दननाम—कस्य वनस्य श्रीः ताम् । अवलोकयितुम्—दृष्टुम् । अभ्युद्यत इव—तत्पर इव । अभि+उत्+यम्+क्तः—अभ्युद्यतः । समीपवर्त्तिनाम्—निकटस्थानाम् । उपरि संचरताम्—ऊर्ध्वं गच्छ-

ताम् । गगनतलगमनखेदायासितानाम्—आकाशगतिदैन्यक्लेशितानाम् । गगनतले गमनेन जातः खेदः तेनायासितास्तेषाम् । रविरथतुरङ्गमाणाम्—सूर्य्यस्यन्दनाश्वानाम् । रवेः रथे युक्ताः तुरङ्गमाः तेषाम् । सृक्कपरिस्रुतैः—ओष्ठप्रान्तगलितैः । सृक्काभ्यां परिस्रुतास्तैः । सन्देहिततूलराशिभिः—संशयितकार्पासपुञ्जैः । सन्देहितः तूलराशिः यैस्तैः । फेनपटलैः—श्वेतलालासमूहैः । फेनानां पटलास्तैः । धवलीकृतशिखरः—शुभ्रितोर्ध्ववर्त्तिभागः । वनगजकपोलकण्डूयनलग्नमदनिलीनमत्तमधुकरमालेन—अरण्यकरिकरखर्जनपृक्तदानासक्तक्षीवभ्रमरपंक्तिकेन । वनगजानां कपोलानाम् कण्डूयनेन लग्नः मदः तेषु निलीनाः मत्ताः मधुकरमाला यस्मिन् तेन । लोहश्रृंखलाबंधननिश्चलेनेव—आयसालानबंधस्थिरेणेव । कल्पस्थायिना—प्रलयकालपर्य्यन्तभाविना । मूलेन—आशयेन । समुपेतः—सहितः कोटराभ्यंतरनिविष्टैः—विलमध्यगतैः । कोटराणामभ्यन्तरेषु निविष्टास्तैः । स्फुरद्भिः—स्यन्दमानैः । मधुकरपटलैः—भ्रमरसमूहैः । सजीव इव—जीवनसहित इव । विद्यमानो जीवो यस्य सः दुर्योधन इव—ज्येष्ठधार्त्तराष्ट्र इव । दुःखेन युध्यतेऽसौ दुर्योधनः । बाहुलकत्वात् कर्मणि ल्युट् । उपलक्षितशकुनिपक्षपातः—दृष्टविहगपतत्रपतनः । पक्षे दृष्टगांधारराजसुताग्रहः । उपलक्षितः शकुनीनां पक्षैः पातः यस्मिन्, पक्षे—शकुनौ पक्षपातो यस्य सः । नलिननाभ इव—वासुदेव इव । नलिनं नाभौ यस्य सः । गड्वादेः परा सप्तमी वाच्येति सप्तम्यंतस्य परनिपातः अन्यथा सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहाविति पूर्वनिपातः स्यात् । ततः समासान्तोऽच् अक्ष्णोदर्शनादिति योगविभागात् । वनमालोपगूढः—अरण्यराजिसंश्लिष्टः । पक्षे विविधकुसुमस्र-

गालिंगितः। वनमालाभिः, पक्षे विनमालया उपगूढः सः। तदुक्तम्—आजानुलम्बिनी माला सर्वर्त्तुकुसुमोज्ज्वला। मध्ये स्थूलकदम्बाढ्या वनमालेति कीर्त्तिता। नवजलधरव्यूह इव—नूतनमेघसमूह इव। नवानां जलधराणां व्यूहः सः। नभसि दर्शितोन्नतिः—आकाशे प्रकटितौन्नत्यः पक्षे श्रावणे मासि अवलोकितवृद्धिः। दर्शिता उन्नतिर्येन सः। वनदेवतानाम्। अखिलभुवनावलोकनप्रसाद इव—सकलजगद्दर्शनमहाभवनमिव। अखिलानां भुवनतलानामवलोकनाय प्रासादः सः, दण्डकारण्यस्याधिपतिरिव स्वामीव। सर्ववनस्पतीनाम्—सकलविधतरूणाम्। वनस्पतिवृक्षमात्रे बिना पुष्पैः फलद्रुमे इति विश्वः। वनस्य पतिः सः। पारस्करप्रभृतित्वात्सुट्। नायक इव—प्रभुरिव। विंध्यस्य गिरेः सखेव—सुहृदिव। शाखाबाहुभिरुपगुह्येव—वृक्षप्रकाण्डभुजैः समालिंग्येव। शाखा एव बाहवस्तैः विंध्याटवीम्—विंध्याचलम् उपगुह्येव। अवस्थितः विद्यमानः। महान् बृहत् जीर्णः—पुराणः। शाल्मली वृक्षः।

२२—इस प्रकार के उस पद्म सरोवर के पश्चिमी तट पर, राम के वाण-प्रहार के कारण जर्जर तथा पुराने ताड़ वृक्ष-समूह के निकट, एक बहुत बड़ा पुराना सेमल का वृक्ष है। उसकी जड़ में हमेशा दिग्गज की सूंड़ समान एक बुड्ढा अजगर लिपटा रहता है, अतएव ऐसा प्रतीत होता है मानो (उसमें पानी देने के लिए) एक बहुत बड़ा थाला बना हुआ हो। उसके ऊँचे तने पर सर्प की केंचुलियाँ लटकती रहती हैं जो वायु के द्वारा हिलती रहती हैं। इनको देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो वह (वृक्ष) दुपट्टा ओढ़े हुए हो। अन्तरिक्ष मे फैली हुई उसकी शाखाएँ और टहनियाँ, मानो विभिन्न दिशाओं की लम्बाई नाप रही हों। इन फैली शाखाओं के कारण वह (वृक्ष) ऐसा मालूम होता है मानो प्रलय-काल में अपनी सहस्रों भुजाएँ फैलाकर ताण्डव

नृत्य करने वाले चन्द्रशेखर शिव की अनुरूपता करने का प्रयत्न कर रहा हो; वहुत पुराना होने के कारण मानो उसे गिरने का भय हो और इसी लिए उसने आकाश के कन्धे का सहारा ले लिया हो (भाव यह है कि वह वहुत ऊँचा है, अतएव ऐसा मालूम प ता है मानो आकाश का सहारा लिये हो), सम्पूर्ण शरीर (तने) पर फैली हुई ऐसी लताओं से, जो वहुन ऊँचे तक चली गई हैं, वह परिवेष्टित है, ये लताएँ ऐसी मालूम होती हैं मानो बुढ़ापे के कारण उसके शरीर पर नसें उभर आई हों; उसका शरीर काँटों से भरा हुआ है, जो ऐसे मालूम होते हैं मानो वृद्धावस्था में होने वाले काले चिह्न-विशेष (मस्से) हों; वह इतना ऊँचा है कि मेघसमूह भी उसकी चोटी को नहीं देख पाते हैं; वे केवल उसकी शाखाओं के वीच में चुपचाप क्षण भर को रुक कर उसके पत्तों को गीला कर पाते हैं; जब ये वादल शाखाओं के वीच में छिपे रहते हैं तो ऐसे मालूम होते हैं मानो जलभार के कारण वहाँ पर क्षण भर के लिए सागर का जल पीकर गगन में उड़ने वाले और पिये हुए जल के भार से शिथिल पक्षियों के समान ठहरे हुए हों अथवा आराम कर रहे हों (क्योंकि मेघ भी समुद्र का जल लेकर आकाश में आते हैं), वह अपनी ऊँचाई के कारण ऐसा मालूम होता है मानो नन्दन वन की शोभा देखने के लिए प्रयत्नशील हो; सूर्य के घोड़े इस पेड़ के कुछ ऊपर ही (अर्थात् वृक्ष से वहुत दूर नहीं) चलते हैं (इससे पेड़ की ऊँचाई व्यंजित होती है) और रुई के समूह के कारण वृक्ष की चोटी पर की शाखाएँ सफेद हो गई हैं, इस कारण ऐसा सन्देह होने लगता है मानो वृक्ष की चोटी पर रुई न हो वरन् आकाश में चलने की थकान से पीड़ित सूर्य के घोड़ों के ओष्ठप्रान्त से बहकर गिरा हुआ फेन हो; जङ्गली हाथियों के गण्डस्थल के रगड़ने के कारण (उसके तने पर) लगे हुए मदजल पर बैठी हुई मदमत्त-भौरों की पंक्ति से ऐसा प्रतीत होता है मानो उस वृक्ष की जड़ें लोहे की (काली, अर्थात् भौरों के समान) शृङ्खला से इतनी दृढ़ता से बाँध कर स्थिर कर दी गई हों, कि कल्प तक स्थित रहें। उसके कोटरों में प्रविष्ट, भनभनाते हुए चंचल भ्रमर-समूह के

कारण वह सजीव-सा लगता था। जिस प्रकार दुर्योधन का (अपने मामा) शकुनि के प्रति पक्षपात (पक्ष लेना) प्रकट था उसी प्रकार उस पर शकुनि (पक्षियों) का पक्ष+पात (परों से गिरना या उतरना) प्रकट रूप से स्पष्ट है; जैसे भगवान् विष्णु वनमाला से विभूषित हैं, उसी प्रकार वह भी वनों की मालाओं (पंक्तियों) से घिरा हुआ है, जैसे (वर्षा काल के आरम्भ में) नये बादल आकाशों में बहुत ऊँचे दिखाई देते हैं, उसी प्रकार वह (वृक्ष) भी आकाश में बहुत ऊँचा चला गया है, (ऊँचा होने के कारण) वह ऐसा मालूम पड़ता है मानो वनदेवियों का प्रासाद हो, जहाँ से वे समस्त पृथ्वी तल का अवलोकन करती हों, वह मानो दण्डकारण्य का अधिपति, समस्त वनस्पतियों का अधिनायक तथा विन्ध्याचल का मित्र हो और मानो अपनी शाखारूपी बाहुओं से समस्त विन्ध्याटवी को अपनें आलिङ्गन में बाँधे खड़ा हो।

शब्दार्थ—स्कन्धम्—वृक्ष का तना, अनिल...निर्मोकैः—वायु के कारण हिलती हुई साँप की केंचुलियों के द्वारा, परिमाणम्—माप, विप्रकीर्णः—इधर-उधर फैली हुई, उडुपतिः—चन्द्रः, उडपतिशेखरः—महादेवः, व्रततिः—लता, जरातिलकबिन्दुः—बुढ़ापे में होनेवाले काले रंग के चिह्न-विशष (मस्से), पत्ररथैः—पक्षियों द्वारा, सृक्कं—ओठों का प्रान्तभाग, सन्देहितः—सन्देहविषयकृतः, कल्पस्थायी—कल्प (चार युगों का एक सहस्र वार होने वाला क्रम, जिसके पश्चात् प्रलय होती है) तक अर्थात् प्रलय तक स्थित रहने वाला।

22. On the western bank of that lotus-lake of such a description, and near or in the vicinity of the group or cluster (*i.e.*, the clump) of old palm-trees shattered by the stroke of the arrows of Raghava (a descendant of Raghu, *i.e.*, Rāma), there is a very old (or a huge and old) silk-cotton tree, which on account of its root being constantly surrounded or encircled round by an old huge serpent (the boa-constrictor), imitating or resembling the pole-like

trunk of the guardian elephant of a Quarter, seemed to have a basin for water formed round it (*i.e.*, its root), as it were,—which, with (or on account of) the sloughs of snakes, hanging down from (or on) its lofty stem or trunk, and set in motion by (or waving in) the wind, seemed as if it were putting on (or clad in) an upper garment;—which with its cluster of branches, that lay spreading (lit. were scttered over) through the intervening space of the sky (*i. e.*, that lay far extended into the sky), and appeared as though they were taking a measure of the various (lit. the group of the) directions, seemed ready to imitate or resemble the one (*i.e.*, the God Shiva), as it were, who has the digit of the moon (*i.e.*, the crescent moon, lit. the 'lord of the stars') as his crest-ornament, and who had a thousand of his arms stretched out in dance at the time of the universal destruction;—which (was so high that it) seemed to recline (lit. stood reclined) against the shoulder of the sky, on account of the fear as it were, of a fall or tumbling down due to old age;—which, being surrounded by creepers, that pervaded or spread over its whole trunk, and rose or reached very high up seemed as though it were covered all over by veins, that pervaded its whole body, and looked (very) prominent to a great exent, on account of its old age, as it were;—the trunk or stem (lit. the body) of which was full of or covered over with thorns, (and seemed) as if (it were so covered over) with the moles or dark spots resembling a '*Tilaka*' or mark on forehead (made with sandal-wood paste or other fragrant substance), caused by old age;—the top region of which was not seen even by the masses of clouds, that drained or drew up (lit. drank) the water of the sea

or ocean in various places (lit. hither and thither) and descended or came down from (or through) the sky, like birds, as it were, and rested for a moment on (or hid themselves in) the intervening spaces of its branches, being heavy or weary with the weight of water, and (thereby) moistened the foliage thereof ;—which, on account of its (great) height or loftiness, seemed as if it were ready or striving to have a look into (or peep at) the majestic glory of the '*Nandan*' forest (name of the beautiful garden of Indra, the lord of the gods), as it were ;—which had its top branches rendered white with the heaps of cotton (flakes sticking to them, that were mistaken for or confounded with the masses of foam or froth, falling from the corners of the mouths of horses (lit. 'quick-goers'), yoked to the chariot of the sun, which (horses) were moving (*i. e.*; running their course) just above it (and this indicates the great height of the tree), and were made weary with the fatigue of travelling through the region (lit. surface) of the sky ;—which was endowed with a root, having rows of intoxicated black bees lying on or sticking to the ichor, adhering or remaining attached to it in the process of (or by) the rubbing or scratching of their (itching) temples against it, by the wild elephants and appearing to be bound and rendered firm or immovable with an iron chain or fetter, as it were, and (so to be) lasting for ever (lit., 'as long as a *kalpa*' or the period of a thousand repetitions of the four *yugas* or ages, at the end of which takes place the destruction of the universe); ——which, on account of the swarms of bees, that had entered the interior of its hollows, and were flashing or moving about it, seemed to be endowed or throbbing with

life, as it were (*i.e.*, appeared as if it were alive with them) ;—which, having witnessed (or had displayed or observed on it) the flapping or falling of the wings of birds, was like Duryodhana, as it were, who showed (or in whom was seen) a partiality or great liking for Shakuni (his maternal uncle) [or it might also mean,—'for whom a partiality was manifested by Shakuni'] ;—which, being surrounded (lit., 'embraced', *i. e.*, shrouded or sheltered in) by a row or line of woodlands or forests, was like Vishnu or Vasudeva (lit. 'one having a lotus on his navel', an epithet of Vishnu or Krishna), as it were, being adorned with the (celestial garland called) *Vanamala* [which is reputed to be 'a garland extending as far below as the knees, and consisting of flowers of all the seasons, and having in the centre of it a large *Kadamba* flower) or encircled by a chaplet of a particular variety of flowers called Vanamala :—which, having shown or exhibited its height into the sky, was like a collective mass of new clouds, as it were, that appear rising or increasingly in the month of Shravana or in the rainy season;—which (was so high that it) looked like a royal palace (or lofty observation tower) of the sylvan nymphs or deities, as it were, wherefrom they were, to observe or have a glance of the whole world;—which was like the lord of the Dandaka forest, as it were ;—which was like a leader *i.e.*, the foremost or best, being of the longest standing or size) of all the trees, as it were ;—which was like a friend or companion of the Vindhya mountain, as it were; and which stood (there) embracing (lit. 'having embraced', *i.e.*, surrounding or covering on all sides) the Vindhya forest, as it were, with its (large) arm-like branches.

२३—तत्र च शाखाग्रेषु कोटरोदरेषु (पल्लवान्तरेषु) स्कन्धसंधिषु जीर्णवल्कलविवरेषु महावकाशतया विश्रब्धविरचितकुलायसहस्राणि दुरारोहतया विगलितविनाशभयानि नानादेशसमागतानि शुकशकुनिकुलानि प्रतिवसन्ति स्म। यैः परिणामविरलदलसंहतिरपि स वनस्पतिरविरलदलनिचयश्यामल इवोपलक्ष्यते दिवानिशं निलीनैः। ते च तस्मिन्वनस्पतांवतिवाह्यातिवाह्य रजनीमात्मनीडेषु प्रतिदिनमुत्थायोत्थायाहारान्वेषणाय नभसि विरचितपङ्क्तयो मदकलहलधरहलमुखोत्क्षेपविकीर्णबहुश्रोतसमम्बरतले कलिन्दकन्यामिव दर्शयन्तः सुरगजोन्मूलितविगलदाकाशगङ्गाकमलिनीशङ्कामुपजनयन्तो दिवसकररथतुरगप्रभानुलिप्तमिव गगनतलमुपपादयन्तः संचारिणीमिव मरकतस्थलीं विडम्बयन्तः शैवलपल्लवावलिमिवाम्बरसरसि प्रसारयन्तो गगनविततैः पक्षपुटैः कदलीदलैरिव दिनकरखरकरनिकरपरिखेदिताशामुखानि वीजयन्तो वियति विसारणीं शष्पवीथीमिवारचयन्तः सेन्द्रायुधमिवान्तरिक्षमादधाना विचरन्ति स्म शुकशकुनयः। कृताहाराश्च पुनः प्रतिनिवृत्यात्मकुलायावस्थितेभ्यः शावकेभ्यो विविधान्फलरसान्कलममञ्जरीविकारांश्च प्रहतहरिणरुधिरानुरक्तशार्दूलनखकोटिपाटलेन चञ्चुपुटेन दत्त्वा दत्त्वाधरीकृतसर्वस्नेहेनासाधारणेन गुरुणापत्यप्रेम्णा तस्मिन्नेव क्रोडान्तर्निहिततनयाः क्षपाः क्षपयन्ति स्म।

२३—तत्र च तस्मिन् वृक्षे । शाखाग्रेषु—वृक्षावयवाग्रभागेषु । कोटरोदरेषुविवराभ्यन्तरेषु । कोटरामुदराणि तेषु । स्कंधसंधिषु प्रकाण्डसंयुक्तस्थलेषु । जीर्णवल्कलविवरेषु च—प्राचीनतरुत्वक्रंध्रेषु । जीर्णस्य वल्कलस्य विवरास्तेषु । महावकाशतया—वृहदन्तर्विस्तारतया । महान् अवकाशो येषां तेषां भावस्तत्ता तया । विश्रब्धविरचितकुलायसहस्राणि—निःशंकनिर्मितनीडसमूहानि विश्रब्धं विरचितं कुलायानां सहस्राणि यैस्तानि । दुरारोहतया—दुःखेनारोढुं शक्यतया । दुर्+आ+रुह्+खल् दुरारोह+तल्+टाप् । विगलितविनाशभयानि—नष्टकिरातादिनाशभीतिकानि । विगलितं विनाशाद् भयं येषान्तानि । नानादेशसमागतानि विविधजनपदसमायातानि । नानादेशेभ्यः समागतानि निता । शुकशकुनिकुलानि—कीरकीरभिन्नपतत्रिसमूहाः शुकाश्च शकुनयश्च तेषां कुलानि तानि । शुकानामपि शकुनित्वात् पृथगुपादानम् स्वस्य विशिष्टता सूचनेन स्वोत्पत्तिबोधनाय । प्रतिवसन्तिस्म—तिष्ठन्तिस्म । वा ऊषुः ।। यैः—पक्षिभिः । दिवानिशम्—रात्रिन्दिवम् । दिवा च निशा चानयोः समाहारः तत् । निलीनैः—व्याप्तैः । परिणामविरलदलसंहतिरपि परिपाकाल्पपत्रसमूहोऽपि । सः—असौ । वनस्पतिः शाल्मलीवृक्षः । अविरलदलनिचयश्यामल इव—घनपत्रपुंजनील इव । अविरलानां दलानां निचयेनश्यामलः सः । उपलक्ष्यते दृश्यते । तत्रत्यपतत्रिणां दलवत् श्यामलत्वात् इतिभावः ।

शुकोत्पत्तिवर्णनम्

प्रथमान्तानि पक्षिविशेषणानि सन्ति ।

ते च—शुकशकुनयः विचरन्तिस्मेत्यागामिनान्वयः । तस्मिन् वनस्पतौ—शाल्मलीवृक्षे । आत्मनीडेषु स्वकुलायेषु । आत्मनो नीडास्तेषु । निशाम्—रजनीम् । रञ्जयति स्वप्रभया सर्वं जगत् सा रजनी । अतिवाह्यातिवाह्य—प्रतिदिनं गमयित्वा । प्रतिदिनम् —अनुदिवसम् । उत्थायोत्थाय—उद्विश्योद्विश्य । वा—उद्-बुध्योद्बुध्य । आहारान्वेषणाय—भोज्यगवेषणाय । आ+हृ+घञ् आहारः । आङ्-पूर्वकहृधातो भोजनार्थः । तदुक्तम्—उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत् । नभसि—आकाशे । विरचित पंक्तयः—बद्धमालाः । मदकलहल-धरहलमुखोत्क्षेपविकीर्णबहुस्रोतसम्—सुरापानमत्तबलभद्रलांगलाग्र-भागोन्नयनविक्षिप्तानेकप्रवाहाम् । मदेन कलो यो हलधरस्तस्य हलस्यमुखेन उत्क्षेपः तेन विकीर्णानि बहूनि स्रोतांसि यस्यास्ताम् । कलिन्दकन्यामिव—कालिन्दीमिव । अम्बरतले—गगने । दर्शयन्तः प्रेक्षयन्तः । सुरगजोन्मूलितविगलदाकाशगंगाकमलिनीशंकाम्—ऐरावतोत्पाटितवियन्मन्दाकिनीपद्मिनीभ्रमम् । सुरगजेनोन्मूलिता विगलन्ती या आकाशगंगा तस्याः कमलिन्याः शंका ताम् । उपज-नयन्तः—दर्शयन्तः । दिवसकररथतुरगप्रभानुलिप्तमिव—सूर्य्य-स्यन्दनाश्वहरित्कान्तिसमुपदिग्धमिव । दिवसकरस्य रथस्य ये तुरगास्तेषां प्रभया अनुलिप्तम् तत् । गगनतलम् वियत् । उपपा-दयन्तः—जनयन्तः । संचारिणीम् गमनशीलाम् । मरकतस्थ-लीम् नीलमणि-अकृत्रिमभूमिम् । मरकताना स्थली ताम् । (प्रायेण सर्वत्र षष्ठ्याः एकवचनान्तस्यैव समासो भवति यथा राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः । परन्तु गमकप्रकरणादिबलाद् द्विवचना-

न्तस्य बहुवचनान्तस्य च वृत्तिः तद्धितसमासादिर्भवति यथा माघे । भवतो गिरामित्यर्थे—भवद्गिरामवसरप्रदानाय वचांसि नः—इति प्रयोगः किंच यथा मुदंगक्रीतेऽश्चः इह मुद्गैरिति बहुवचनेन विग्रहः सम्भवाद् भवति । तदुक्तम् भाष्ये—वृत्तौ हि उपसर्जनाना-मेकत्वसंख्यात्सर्गिकी द्वित्वादिकन्तु यत्नलभ्यमिति) । स्थलशब्दात् अकृत्रिमेऽर्थे जानपदेत्यादि सूत्रेण ङीष् । स्थली । विडम्बयन्त इव—अनुकुर्वन्त इव । शैवलपल्लवावलीम्—शैवालदलश्रे-णिम् । अम्बरसरसि—आकाशह्लदे । अम्बरं सर इव तस्मिन् । प्रसारयन्त इव - विस्तारयन्त इव । तेषां शैवलवद्हरिद्वर्णत्वात् अतिक्षुद्रत्वाच्चेतिभावः । कदलीदलैरिव—रम्भापल्लवैरिव । गगन-विततैः—आकाशव्याप्तैः । पक्षपुटैः—संपृक्तपत्रैः । दिनकरखर-करनिकरपरिखेदितानि—सूर्यप्रचण्डकिरणनिचयायासितानि । दिन-करस्य खराणां कराणान्निकरस्तेन परिखेदितानि तानि । आशा-मुखानि—दिशाग्रभागान् । वीजयन्तः स्ववातैः स्पर्शयन्तः । वियति—विहायसि । 'पुंस्याकाशविहायसी' त्यमरः । विसारि-णीम्—विसृमराम् । शष्पवीथीम्—नवीनतृणभूमिम् । आरच-यन्तः—निर्मितवन्तः इव । अन्तरिक्षम्—आकाशम् । अन्तरा—भूमिगगनमध्ये क्षान्तमिति अन्तरिक्षम् । सेन्द्रायुधमिव शक्रधनुः सहितमिव । 'इन्द्रायुधं' शक्रधनुरित्यमरः । आदधानाः विदधतः । तेषां श्रेणीनां विविधवर्णत्वात् । शुकशकुनयः—कीरविहगाः । विचरन्तिस्म—पर्यटन्तिस्म । कृताहाराश्च—भुक्ताश्च पुनः भूयः । प्रतिनिवृत्य—परावृत्य । आत्मकुलायावस्थितेभ्यः—निजनीडग-तेभ्यः । शावकेभ्यः—शिशुभ्यः । विविधान् अनेकान् । विभिन्ना

विधा—प्रकारो येषां तान् । फलरसान् प्रसवद्रवान् । कलममंजरी-विकारांश्च—धान्यवल्लरीस्थिततण्डुलकणान् । कलमानां मंजरीषु स्थिताः विकाराः तान् । प्रहतहरिणरुधिरानुरक्तशार्दूलनखकोटि-पाटलेन—विनाशितमृगरक्तरक्तीकृतसिंहकरजाग्रभागश्वेतरक्तेन । 'श्वेतरक्तस्तु पाटलः' इत्यमरः । प्रहतानां मृगाणां । रुधिरेण अनुरक्ता या शार्दूलनखकोटिः तद्वत् पाटलस्तेन । चंचुपुटेन—स्वमु-खाग्रभागेन । दत्त्वा—अर्पयित्वा । अधरीकृतसर्वस्नेहेन—न्यूनीकृत-सन्तानान्यवस्तुसकलानुरागेण । अधरीकृतः सर्वः स्नेहः येन तेन । असाधारणेन—असमानेन । गुरुणा—महता । अपत्यस्नेहेन—सन्त-तिप्रीत्या । तस्मिन्नेव शाल्मलीवृक्ष एव । क्रोडान्तर्निहिततनयाः उत्संगमध्यस्थापितसुताः । क्रोडानामन्तर्निहिताः तनयाः यैस्ते । क्षपाः—निशाः । क्षपयतिस्म—निन्युः ।

२३—और उस वक्ष की डालियों की चोटियों पर कोटर के अन्दर, पत्तों के बीच में, तने (और डालियों) के सन्धिप्रदेश में और पुरानी छाल में बने हुए छेदों में (रहने के लायक) काफी स्थान होने के कारण अनेक प्रदेशों से आये हुए तोतों तथा अन्य पक्षियों के झुण्ड के झुण्ड निर्भीकतापूर्वक अपने घोंसले बनाकर रहते थे । उस पेड़ पर किसी का भी चढ़ना बड़ा कठिन था, अतएव उनके हृदयों से मत्यु का भय दूर हो गया था । पुराने हो जाने के कारण उस वृक्ष में बहुत कम पत्र-समूह रह गया था, तब भी रात-दिन रहने वाले इन (तोते आदि पक्षियों) के कारण वह ऐसा दिखाई पड़ता था मानो घने पत्र-समूह से श्यामल हो रहा हो । वे तोते एवं अन्य पक्षी उस वृक्ष में बने हुए अपने घोंसलों में रात विताकर, प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर आहार की खोज में आकाश-मंडल में पंक्ति-सी बना कर उड़ा करते थे । (अनेक पंक्तियों में, आकाश में, उड़ते हुए) वे ऐसे प्रतीत होते थे मानो

उन्मत्त बलराम जी ने अपने (शस्त्र) हल की नोक से यमुना को ऊपर फेंक दिया हो और वह आकाश-तल में अनेक धाराओं में वह रही हो। उन्हें (तोतों को) देखकर यह शंका हो जाती है कि वे ऐरावत (इन्द्र के हाथी) के द्वारा उखाड़े जाने के कारण नीचे गिरती हुई आकाशगङ्गा की कमलिनियाँ हों। (उनके हरे रंग के कारण ऐसा प्रतीत होता है) मानो उन्होंने सूर्य के घोड़ों की (सूर्य के घोड़े हरे माने जाते हैं) हरी प्रभा से गगनतल पर लेप कर दिया हो । वे चलती हुई मरकत-भूमि के समान मालूम पड़ते थे । वे आकाश-रूपी सरोवर में शैवल (सिवार) के पत्तों की पंक्ति-सी फैला रहे थे, आकाश में फैले हुए अपने केले के पत्तों के समान परों से सूर्य की तेज किरणों से झुलसे हुए दिशा (रूपी वधुओं) के मुखों पर पंखे-से झल रहे थे; उड़ते हुए वे ऐसे दिखाई पड़ते थे मानो आकाश मे फैली हुई दूब की कोई वीथिका (मार्ग)-सा बना रहे हों (अथवा) आकाश को इन्द्र-धनुष से युक्त कर रहे हों (क्योंकि वे विभिन्न वर्ण के पक्षी थे) । ये पक्षी स्वयं आहार चुगने के बाद पुनः लौट कर अपने-अपने घोंसलों मे बैठे हुए बच्चों को अपनी चोचों से अनेक प्रकार के फलों का रस और धान की मंजरी की किनकी (दाने) बार-बार देते (खिलाते) थे। उनकी चोंचें मारे हुए हिरनों के रक्त से लाल सिंह के नख की नोक की तरह लाल रहती थीं। (अपने बच्चों को चुगा कर) अपने महान् तथा असाधारण उस सन्तति-प्रेम से, जिसके सम्मुख सब प्रकार के प्रेम निम्न हो जाते हैं, उन्हें अपनी गोद में (अपने पंखों में) लेकर उसी वृक्ष पर रात्रि व्यतीत करते थे।

शब्दार्थ—महावकाशतया—रहने के योग्य पर्याप्त या बहुत स्थान होने के कारण, कुलायसहस्राणि—हजारों घोंसले, शकुनिः—पक्षी, कलिन्दकन्या—यमुना,—विगलदाकाशगंगा—विगलन्ती (नीचे गिरती हुई) आकाशगंगा, विडम्बयन्तः—समानता या अनुकरण करते हुए, सेन्द्रायुधम्—इन्द्रधनुष से युक्त, कलममजंरीविकारान्—कलमानां (धान्यविशेष की) मंजर्योः (मंजरी) तासां (उनका) विकाराः (पके हुए कन या दाने), अधरीकृतः—नीचा कर दिया।

23. And there (*i.e.*, on that silk-cotton tree) on the tops or ends of its branches, in the interiors of its hollows, in the intervening spaces of its leaves, in the joints of its stem or trunk (formed with the branches), and in the interstices of its old bark, there lived flocks of parrots and (other) birds, which had come together from various countries which, on account of there being plenty of (lit. a large) space (available on it), had built thousands of nests on it in confidence (of safety, *i. e.*, without any fear of molestation or destruction), and which, on account of its being extremely difficult to climb, had (all) their fear of destruction dispelled or removed (lit. fully dropped down); (and) on account of which (flocks of parrots snd other birds) sitting or lying down on it throughout the day and night, that (silk-cotton) tree, though having or possessing a collection of but a few leaves on acoount of its great or advanced (*i.e.*, fully ripe or old) age, looked darkish or presented a darkish appearance with the mass of thick (green) foliage, as it were. And those parrots and (other) birds, having repeatedly passed night after night in their own nests on that tree, and repeatedly getting up day after day used to wander or fly about in search of their food in the sky, having formed themselves into rows, and (appearing in that state) to be exhibiting the river Jamuna (lit. 'the daughter of Kalinda', the mountain from which it takes its rise), as it were, on the floor of the sky, having had its many or numerous streams scattered about (in various directions) by the throwing up (of its waters) with the end of his ploughshare by Balarama (lit. the 'plough-holder',—an epithet of Balarama from the peculiarity of his weapon, namely a plough,

that he holds or wields), raving or talking indistinctly like a drunkard in intoxication;—to be producing an impression or creating a suspicion or doubt as if they were a (green lotus plant of the celestial Ganges, falling down (from heaven) having been uprooted by (Airavata) the elephant of the gods or Indra;—to be making the floor of the sky besmeared, as it were, with the (green) splendour of the horses (which are represented as being of a green colour) yoked to the chariot of the sun (lit. 'the 'causer or producer of the day');—to be imitating (or resembling) an emerald plot (*i.e.*, a tract or piece) of land in motion, as it were ;—to be spreading (or causing to float) a line or row of the leaves of (green) moss, on the (surface of the) lake-like sky, as it were ;—to be fanning the faces of the (various lady-like) Quarters, oppressed by a mass of the fierce rays of the sun, with the folds or extremities of their wings extended or stretched out in the sky, as if with the leaves of plantain trees, as it were; —to be forming or constructing a pathway of tender green grass, as it were, extending or stretching forth into the sky ;—(and lastly) to be making the sky endowed with or possessed of a rainbow, as it were. [In a rain-bow consisting of the seven colours, the red and the green predominate. Hence the long rows of parrots maintaining their flight in the sky, with the green colour of their bodies, and the red colour of their beaks gave them the appearance in the poet's fancy, of a rain-bow.] And when or after they had procured or provided themselves with (or it may also mean, taken) their meals, they, having returned again, and given, in accordance with their long-standing habit, to their young ones that remained (behind) in their own (respective) nests,

the juice of fruits of various kinds and the products (*i.e.*, the grains or corn) of the slender stalks of rice, with the (pointed) hollows of their beaks, which were red like the tip or pointed end of a tiger's nail or claw, reddened with the blood of an antelope or deer (killed by it), and having, on account of their great and extraodinary parental affection, that surpassed or threw into the back-ground (lit. lowered down) all other (kinds of) affection, placed them (lit. their 'sons', *i.e.*, their young ones) under their wings (lit. 'in the inside of their laps'), passed (or used to pass) their nights on that very (tree).

२४—एकस्मिंश्च जीर्णकोटरे जायया सह निवसतः पश्चिमे वयसि वर्तमानस्य कथमपि पितुरहमेवैको विधिवशात्सूनुरभवम् । अतिप्रबलया चाभिभूता ममैव जायमानस्य प्रसववेदनया जननी मे लोकान्तरमगमत् । अभिमतजायाविनाशशोकदुःखितोऽपि खलु तातः सुतस्नेहादन्तर्निगृह्य पटुप्रसरमपि शोकमेकाकी मत्संवर्धनपर एवाभवत् । अतिपरिणतवयाश्च कुशचीरानुकारिणीमल्पावशिष्टजीर्णपिच्छजालजर्जरामवस्रस्तांसदेशशिथिलामपगतोत्पतनसंस्कारां पक्षसंततिमुद्वहन्नुपारूढकम्पतया च संतापकारिणीमङ्गलग्नां जरामिव विधुन्वन्नकठोरशेफालिकाकुसुमनालपिञ्जरेण कलममञ्जरीदलनमसृणितक्षीणोपान्तलेखेन स्फुटिताग्रकोटिना चञ्चुपुटेन परनीडनिपतिताभ्यः शालिवल्लरीभ्यस्तण्डुलकणानादायादाय तरुमूलनिपतितानि शुककुलाव-

दलितानि फलशकलानि समाहृत्य परिभ्रमितुमशक्तो मह्यमदात् । प्रतिदिवसमात्मना च मदुपभुक्तशेषमकरोदशनम् ।

२४—एकस्मिंश्च—एकतमे च । जीर्णकोटरे प्राचीनविले । जायया—भार्य्यया । सह—साकम् । निवसतः तिष्ठतः । पश्चिमे वयसि—वार्धक्ये । वर्त्तमानस्य—विद्यमानस्य । पितुः—जनकस्य । कथमपि—महाक्लेशेन । विधिवशात्—दैवायत्तत्वात् । अहम्—वैशम्पायनः । एकः—केवलः । सूनुः—सुतः । अभवम्—जातः । ममैव जायमानस्य—वैशम्पायनस्योत्पत्त्या । अतिप्रबलया—नितान्ततीव्रया । प्रसववेदनया—सुतजननपीडया । मे—मदीया । जननी—माता । लोकान्तरम्—परलोकम् वा पञ्चत्वम् । अगमत्—गता । अभिमतजायाविनाशदुःखितोऽपि—प्रियभार्य्यामिरणक्लेशितोऽपि । अभिमतायाः—जायायाः विनाशेन दुःखितः सः । खलु निश्चयेन । तातः—पिता । पटुप्रसरमपि—महाप्रबलमपि । पटुः प्रसरो यस्य तम् । शोकम्—शुचम् । सुतस्नेहात्—मयानुरागात् । सुते वा सुतस्य स्नेहः । तस्मात् । अन्तः—हृदये । निगृह्य—निरुध्य । एकाकी—असहायः । मत्संवर्धनपरः—मदीयपोषणतत्परः । मम संवर्धने परः सः । एव—हि । अभवत् आसीत् । अतिपरिणतवयाश्च परमवृद्धः । अतिपरिणतं वयो यस्य सः । कुशचीरानुकारिणीम्—दर्भोनिर्मितप्राचीनवासःसदृशीम् । अल्पावशिष्टजीर्णपिच्छजालजर्जराम्—स्तोकावशेषविशीर्णबर्हसमूहजीर्णाम् । अल्पमवशिष्टं जीर्णं पिच्छजालं तेन जर्जरा ताम् । अवस्रस्तांसदेशशिथिलाम्—अवनतस्कंधस्थानापुष्टावयवसंयोगाम् । अवस्रस्ते अंसदेशे शिथिला ताम् । अपगतोत्पतन-

संस्काराम्—नष्टोड्डयनसामर्थ्यम् । अवगतः उत्पतने संस्कारो यस्याः ताम् । पक्षसंततिम्—पतत्रनिचयम् । उद्वहन्—धारयन् । उपारूढकम्पतया—प्राप्तकम्पनतया । उपारूढः कम्पो यस्यां तस्याः भावस्तत्ता तया । सन्तापकारिणीम् क्लेशजनयित्रीम् । अङ्गलग्नाम्—देहसम्बद्धाम् । अंगे लग्ना ताम् । जरामिव—वृद्धत्वमिव । विधुन्वन्—कम्पयन् वा पक्षपुटं चालयित्वा अल्पं गच्छन् । अकठोरशेफालिका-कुसुमनालपिञ्जरेण—कोमलनिर्गुण्डीप्रसूनवृन्तपिङ्गलवर्णेन । अकठोरस्य शेफालिकाकुसुमस्य नालवत् पिञ्जरस्तेन । कलममंजरीदलनमसृणितक्षीणोपान्तलेखेन—धान्यविशेषमंजरीखण्डनश्लक्ष्णितकृशप्रान्त-रेखेण । कलममंजरीणाम् दलनेन मसृणिता क्षीणा उपान्तलेखा यस्य तेन । स्फुटिताग्रकोटिना—क्षीणाग्रभागेन । स्फुटिता अग्रकोटिः यस्य तेन । चंचुपुटेन—मुखाग्रभागेन । परनीडनिपतिताभ्यः—अन्यकुलाय-च्युताभ्यः । परेषां नीडेषु निपतितास्ताभ्यः । शालिवल्लरीभ्यः—धान्यमंजरीभ्यः । तण्डुलकणान्—धान्यविकारांशान् । तण्डुलानां कणास्तान् । आदायादाय—भूयो गृहीत्वा । तरुमूलनिपतितानि च—वृक्षाधोभागस्थितानि । शुककुलावदलितानि कीरसमूहखण्डितानि शुककुलेनावदलितानि तानि । फलशकलानि । प्रसवखण्डानि । 'भित्तं शकलखण्डेवा' इत्यमरः । समाहृत्य—आनीय । परिभ्रमितुम्—चलितुम् । अशक्तः—असमर्थः । मह्यम्—वैशम्पायनाय । अदात्—अर्पितवान् । प्रतिदिवसम्—प्रत्यहः । आत्मना च—स्वेन च । मदुप-भुक्तशेषम्—वैशम्पायनभक्षितावशिष्टम् । मया उपभुक्तात् शेष-स्तत् । अशनम्—भोज्यम् । अकरोत्—भुक्तवान् ।

२४—उस वृक्ष के एक पुराने कोटर में मेरे पिता अपनी पत्नी के साथ रहते थे । वुढ़ापा आ जाने पर किसी प्रकार भाग्यवश में ही उनका एकमात्र पुत्र हुआ । (मेरे उत्पन्न होने के समय) मेरे ही कारण होने वाली अत्यन्त प्रवल प्रसव-वेदना से पीड़ित होकर मेरी माता परलोक सिधार गईं । अपनी अत्यन्त प्रिय भार्या के मरने के शोक से दुःखित होने पर भी मेरे पिता, पुत्रप्रेम के द्वारा अपने अत्यन्त प्रवल शोक को वश में कर, अकेले ही मेरे पालन-पोषण में लग गये । व अत्यंत वृद्ध हो गये थे अतएव उनका पक्ष-संतति (पक्ष-समूह) पुराने फटे हुए कुश के वने चिथड़ों के समान हो गयी थी, पूंछ में थोड़े से ही पुराने परों के अवशिष्ट रह जाने के कारण वह (पक्षसन्तति) जीर्ण हो गयी थी; स्कन्ध-प्रदेश (कन्धों के भाग) के झुक जाने के कारण उसमें शिथिलता आ गयी थी और उसमें उड़न की सामर्थ्य नहीं रही थी; उनके (मेरे पिता के) शरीर में कम्पन होने लगा था, अतएव ऐसा प्रतीत होता था मानो वे अपने शरीर में लग्न दुःख देनेवाली वृद्धावस्था को ही हिलाकर दूर कर रहे हों । उनकी चोंच कोमल शेफालिका (हरसिंगार) के पुष्प के वृन्त के समान भूरी थी । उसके प्रान्त-भाग धान की मंजरी तोड़ने (कुतरने) के कारण घिसकर चिकने से हो गये थे और उसकी नोक भी घिस गयी थी । वे (अपनी ऐसी चोंच से) दूसरे (पक्षियों) के घोंसले से गिरे हुए धान की मंजरी के चावल-कण को ला-लाकर और पेड़ की जड़ के पास शुक-समूह के द्वारा कुतरे हुए फलों के गिरे हुए टुकड़ों को ही एकत्रित कर-करके मुझे दिया करते थे, क्योंकि उनमें (इधर-उधर) डोलने की शक्ति नहीं रही थी । स्वयं वे मेरे खाने से बचे हुए भोजन को ही प्रतिदिन खा लिया करते थे ।

शब्दार्थ—पश्चिमे वयसि—वुढ़ापे में; पटुप्रसरम्—महाप्रवल, पक्ष-सन्ततिं—पक्ष-समूह; विधुन्वन्—हिलाकर अलग करते हुए अथवा कंपाते हुए; कलम-मंजरी—धान-मंजरी; मसृणिता—चिकनी; उपान्तलेखा—प्रान्त-समीपस्थायिनी रेखा, किनारा ।

24. Somehow or other it so happened that (or as fate would have it), I was the only son or offspring (born) to my father, who was in the decline (lit. the '*western*', *i. e.*, the latter or declining as opposed to the '*eastern*' or rising period) of his life, and was living with his wife in one of its old hollows. And my mother, being overwhelmed with a very severe labour pain at the time of my own birth (lit. 'of my very self being born'), went or passed away to the other world (*i. e.*, died). Now my father though sorely afflicted or distressed with sorrow at the death of his beloved (lit. desired or well regarded) wife, yet having, on account of an affection for a son (*i. e.*, his parental affection), restrained inwardly or within himself that sorrow, which so keenly affected his whole being (*i. e.*, came or spread over him so intensely or poignantly), and being (left all) alone, came only (or indeed) to be occupied or taken up completely with fostering or bringing me up (*i. e.*, concentrated his attention and thoughts exclusively on my rearing). And being very far advanced in age, and unable (*i. e.*, not strong enough) to wander or move about, carrying or possessing wide or expansive (lit. 'an expanse of') wings, which resembled a tattered rag or a strip or piece of old and torn cloth made of *Kusa* grass, which (wings) had become decayed or torn up in parts, on account of but a few (or a small quality of) old tail-feathers being still left on them, which had become loose or infirm on account of the region of his shoulders (*i. e.*, the shoulder-blades) hanging or drooping down (due to his having grown weak and decrepit), and which had lost all their power or faculty of flying up (into the air (and appearing, with or on account of the (natural) tremor or

quivering (of his body), which had increased or seized upon him, to be dispersing or shaking off (from his person) the *old age*, as it were, which had stuck or clung (*i. e.*, adhered closely, as it were) to his body, and was causing him (a good deal of mental) torture or (physical) affliction, my father, having repeatedly (from day to day, in accordance with a long-standing habit) taken or picked up small or minute particles of rice-grains, from the pedicles or stalks of rice-plants, fallen from the other nests or the nests of other birds, and having collected or gathered together small bits or (crumb-like) pieces of fruits, that had been cracked or broken up by the flocks of parrots, and had fallen at the root of the tree, with the (pointed) hollow of his beak, which was of a reddish yellow or brown colour, like (that of) the stem or stalk of a *Shephalika* or *Nirgandi* flower that was not yet fully matured or developed (lit. '*not hard*' or matured), the border line or portion of which (beak) had become smooth and worn out on account of the breaking of the slender stalks or pedicles of standing rice crops and the pointed end or tip of which had become cracked or partially broken,—used to give (the same) to me. And every day (or day after day), as he himself used to feed upon what was left over after I had taken my food or meal.

२५—एकदा तु प्रभातसंध्यारागलोहिते गगनतले कमलिनीमधुरक्तपक्षसंपुटे वृद्धहंस इव मन्दाकिनीपुलिनादपरजलनिधितटमवतरति चन्द्रमसि परिणतरङ्कुरोमपाण्डुनि व्रजति विशालतामाशाचक्रवाले गजरुधिररक्तहरिसटालोमलोहिनीभिरातप्तलाक्षिकतन्तुपाटलाभिरायामिनीभिरशिशिरकिरण-

दीधितिभिः पद्मरागरत्नशलाकासंमार्जनीभिरिव समुत्सार्यमाणे गगनकुट्टिमकुसुमप्रकरे तारागणे संध्यामुपासितुमुत्तराशावलम्बिनि मानससरस्तीरमिवावतरति सप्तर्षिमण्डले तटगतविघटितशुक्तिसंपुटविप्रकीर्णमरुणकरप्रेरणाधोगलितमुडुगणमिव मुक्ताफलनिकरमुद्वहति धवलितपुलिनतटमुदन्वति पूर्वेतरे तुषारविन्दुवर्षिणि विबुद्धशिखिकुले विजृम्भमाणकेसरिणि करिणीकदम्बकप्रबोध्यमानसमदकरिणि क्षपाजलजडकेसरं कुसुमनिकरमुदयगिरिशिखरस्थितं सवितारमिवोद्दिश्य पल्लवाञ्जलिभिः समुत्सृजति कानने रासभरोमधूसरासु वनदेवताप्रासादानां तरूणां शिखरेषु पारावतमालायमानासु धर्मपताकास्विव समुन्मिषन्तीषु तपोवनाग्निहोत्रधूमलेखास्ववश्यायसीकरिणि लुलितकमलवने रतिखिन्नशबरसीमन्तिनीस्वेदजलकणिकापहारिणि वनमहिषरोमन्थफेनविन्दुवाहिनि 'चलितपल्लवलतालास्योपदेशव्यसनिनि विघटमानकमलखण्डमधुसीकरासारवर्षिणि कुसुमामोदतर्पितालिजाले निशावसानजातजडिम्नि मन्दमन्दसंचारिणि प्रवाति प्राभातिके मातरिश्वनि कमलवनप्रबोधमङ्गलपाठकानामिभगण्डडिण्डिमानां मधुलिहां कुमुदोदरेषु घनघटमानदलपुटनिबद्धपक्षसंहतीनामुच्चरत्सु हुंकारेषु प्रभातशिशिरमारुताहतमुत्तप्तजतुरसाश्लिष्टपक्ष्ममालमिव सशेषनिद्राजिह्मतारं चक्षुरुन्मीलयत्सु शनैः शनैरूषरशय्या-

धूसरक्रोडरोमराजिषु वनमृगेष्वितस्ततः संचरत्सु वनचरेषु विजृम्भमाणे श्रोत्रहारिणि पम्पासरःकलहंसकोलाहले समुल्लसति नर्तितशिखण्डिमण्डले मनोहरे वनगजकर्णतालशब्दे क्रमेण च गगनतलमार्गमवतरतो दिवसकरवारणस्यावचूलचामरकलाप इवोपलक्ष्यमाणे मञ्जिष्ठारागलोहिते किरणजाले शनैः शनैरुदिते भगवति सवितरि पम्पासरःपर्यन्ततरुशिखरसंचारिण्यध्यासितगिरिशिखरे दिवसकरजन्मनि हृततारे पुनरिव कपीश्वरे वनमभिपतति बालातपे स्पष्टे जाते प्रत्यूषसि नचिरादिव दिवसाष्टमभागभाजि स्पष्टभासि भास्वति भूते प्रयातेषु यथाभिमतानि दिगन्तराणि शुककुलेषु कुलायनिलीननिभृतशावकसनाथेपि निःशब्दतया शून्य इव तस्मिन्वनस्पतौ स्वनीडावस्थित एव ताते मयि च शैशवादसंजातबलसमुद्भिद्यमानपक्षपुटे तातस्य समीपवर्तिनि कोटरगते सहसैव तस्मिन्महावने संत्रासितसकलवनचरः सरभसमुत्पतत्पतत्रिपक्षपुटशब्दसंततो भीतकरिपोतचीत्कारपीवरः प्रचलितलताकुलितमत्तालिकुलक्वणितमांसलः परिभ्रमदुद्घोणवनवराहरवघर्घरो गिरिगुहासुप्तप्रबुद्धसिंहनादोपबृंहितः कम्पयन्निव तरून्भगीरथावतार्यमाणगङ्गाप्रवाहकलकलबहलो भीतवनदेवताकर्णितो मृगयाकोलाहलध्वनिरुदचरत्। आकर्ण्य च तमहमश्रुतपूर्वमुपजातवेपथुरर्भकतया जर्जरितकर्णविवरो भयविह्वलः

समीपवर्तिनः पितुः प्रतीकारबुद्ध्या जराशिथिलपक्षपुटान्तरमविशम् ।

प्रभातवर्णनम्

२५—एकदा तु--एकस्मिन् समये। स्पष्टे जाते प्रत्युषसि-- मृगयाकोलाहलध्वनिरुदचरत् इतिदूरेणान्वयः। प्रभातसंध्यारागलोहिते—प्रत्यूषसंधिरक्तिमरक्ते। प्रभातस्य संध्यायाः रागेण लोहितन्तस्मिन् । गगने वियति । चन्द्रमसि । अनयोरुभयोरपि पूर्वं विशेषणम् । चन्द्रमसि—शशिनि । कमलिनीमधुरक्तपक्षसंपुटे—पद्मिनीमकरन्दरंजितपतत्रयुगले । कमलिन्याः मधुना रक्तः पक्षसम्पुटो यस्य तस्मिन् । वृद्धहंस इव जीर्णमराल इव । मन्दगतिबोधनाय वृद्धपदोपादानम् । मन्दाकिनीपुलिनात्—आकाशगंगासैकतात् । 'मन्दाकिनी वियद् गंगा' इत्यमरः । मन्दाकिन्याः पुलिनन्तस्मात् अपरजलनिधितटं--पश्चिमसागरतीरम् । अपरस्य जलनिधेस्तटस्तम् । अवतरति— आरोहति सति । आशाचक्रवाले दिङ्मण्डले । परिणतरङ्कुरोमपाण्डुनि--वृद्धरंकुसंज्ञकमृगलोमपीतशुभ्रे परिणतस्य रंकोः रोमवत् पाण्डु तस्मिन् । 'पाण्डुस्तु पीतभागार्धः केतकीधूलिसन्निभः' इति शब्दार्णवः ॥ रंकोः देहे वृद्धावस्थायामेव पाण्डुरोमोत्पत्तिरितिसूचनार्थमेव परिणतपदोपादानम् । विशालताम्--निर्मलताम् । व्रजति गच्छति । गजरुधिररक्तहरिसटालोहिनीभिः--स्वमारितहस्तिरक्तरक्तवर्णसिंहजटावर्णाभिः । गजस्य रुधिरेण रक्तायाः हरिसटायाः इव लोहिन्यस्ताभिः । वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तोन इतिसूत्रेण लोहितशब्दान्ङीष् तस्य च नः । लोहिनी । प्रतप्तलाक्षिकतन्तुपाटलाभिः--उष्णीकृतजतुसूत्रश्वेतरक्ताभिः । प्रतप्ताः ये लाक्षिकास्त-

न्लवः तद्वत् पाटलाः ताभिः । लाक्षाशब्दात्—तेन निर्मितमित्यर्थे ठक् । लाक्षिकः । आयामिनीभिः—दीर्घाभिः । आ+यम्+घञ्— आयाम+इनिः मत्वर्थीयः—आयामिन्+ङीप् आयामिनी । अशिशिरकिरणदीधितिभिः—भानुप्रभाभिः । अशिशिराः किरणाः यस्य तस्य दीधितयस्ताभिः । पद्मरागशलाकासम्मार्जनीभिरिव—लोहितरत्नेषिकाकूर्चिकाभिः । पद्मरागस्य शलाकाभिः निर्मितः सम्मार्जन्यः ताभिः । सम्मार्जन्ति अनया सा सम्मार्जनी करणाधिकरणयोरिति करणे ल्युट् सम्मार्जनः ततः टित्त्वाद् ङीप् । गगनकुट्टिमकुसुमप्रकरे—आकाशबद्धभूमिपुष्पसमूहे । गगनमेव कुट्टिमम् तत्र कुसुमानां प्रकरस्तस्मिन् । तारागणे—नक्षत्रराशौ । समुत्सार्य्यमाणे—दूरीक्रियमाणे सति । उत्तराशावलम्बिनि—उदीचीदिक्समाश्रिते । उत्तराशावलम्बिते तस्मिन् । सप्तर्षिमण्डले—मरीच्यादिगणे । सप्तर्षीणाम्मण्डलं तस्मिन् । संध्याम्—प्रातः सांध्यं कर्म । उपासितुमिव—विधातुमिव । मानससरस्तीरम्—मानसाख्यसरोवरकूलम् । अवतरति—अवरोहति सति । उत्तरस्यां दिशि-सप्तर्षिमंडलस्यास्तं गतत्वात् इति भावः । मरीचिः, अत्रिः, अङ्गिराः, पुलस्त्यः, पुलहः, क्रतुः, प्रचेताः, भृगुः, वसिष्ठः, नारदः, इमे दश देवर्षयः सप्तर्षिपदवाच्याः । पूर्वेतरे—पश्चिमे । पूर्वः इतरो यस्मात् तस्मिन् इति बहुव्रीहिस्तेन । न बहुव्रीहाविति न सर्वनाम कार्य्यमतो न तत्पुरुषः । तटगतविघटितशुक्तिसम्पुटविप्रकीर्णम् तीरस्थितस्फुटितमुक्तास्फोटावरणविक्षिप्तम् । तटगतेषु विघटितेषु शुक्तिसम्पुटेषु विप्रकीर्णंस्तम् । धवलितपुलिनम्—शुभ्रसैकतम् । अरुणकरप्रेरणाधोगलितम्—सूर्यसूतकिरणनोदनभूतलपतितम् ।

अरुणकरैर्या प्रेरणा तयाऽधोगलितस्तम् । उडुगणमिव—नक्षत्रराशि-मिव । मुक्ताफलनिकरम्—मौक्तिकसमूहम् । उद्वहति—धारयति—सति । कानने—वने । अतः परं सप्तम्यन्तानि काननविशेषणानि । तुषारविन्दुवर्षिणि—हिमपृषत्पातिनि । तुषारस्य विन्दून् वर्षितुं शीलमस्य तस्मिन् । विबुद्धशिखिकुले—जागृतमयूरनिकरे । विबुद्धं शिखिनां कुलं यस्मिन् तस्मिन् । विजृम्भमाणकेसरिणि—अचिरनि-द्राभंगजृम्भाकारिसिंहे । विजृम्भमाणाः केसरिणः यस्मिन् तस्मिन् । करिणीप्रबोध्यमानसमदकरिणि—कामुकीहस्तिनीकुलजागर्य्यमाणदा-नस्रावि गजे । करिणीनां कदम्बकेन प्रबोध्यमानाः समदाः करिणो यस्मिन् तस्मिन् । उदयगिरिशिखरस्थितम् उदयाचलकूटविद्यमानम् । उदयगिरेः शिखरे स्थितस्तम् । सवितारम्—रविम् । उद्दिश्येव—अभिप्रेत्येव । पल्लवाञ्जलिभिः—पत्ररूपहस्तयुग्मैः । पल्लवा एवं अञ्जलयः तैः । क्षपाजलजडकेसरम्—तुहिनसलिलस्तिमितकिंज-ल्कम् । क्षपाजलेन जडा केसराः यस्य तम् । कुसुमनिकरम् पुष्परा-शिम् । कुसुमानां निकरस्तम् । समुत्सृजति—ददति सति । रासभरो-मधूसरासु—गर्दभलोमधूम्रवर्णासु । रासभस्य रोमवत् धूसरास्तासु । वनदेवता प्रसादानाम्—अरण्यदेवभवनानाम् । 'प्रसादो देवभूभुजाम्' इत्यमरः । तरुणाम्—वृक्षाणाम् । शिखरेषु—उपरिभागेषु । पाराव-तमालायमानासु—कपोतराजिरिवाचरन्तीषु । पारावतानां मालास्ता इवाचरन्तीषु । तपोवनाग्निहोत्रधूमलेखासु—तपासप्रातर्मध्याह्नसायं-हवनधूमपंक्तिषु । तपोवनानामग्निहोत्राणां धूमलेखाः तासु । धर्मपता-कास्विव—पुण्यध्वजेषु इव । समुन्मिषन्तीषु । उद्गच्छन्तीषु अत आरभ्य सप्तम्यन्तानि मातरिश्वविशेषणानि । अवश्यायशीकरिणि

तुहिनाम्बुकणशालिनि । अवश्यायस्य शीकराः सन्ति अस्मिन् तस्मिन् । लुलितकमलवने—कम्पितसरोजकानने । लुलितं कमलानां वनं । येन तस्मिन् । रतिखिन्नशवरसीमन्तिनीस्वेदजलकणापहारिणि—सुरतपरिश्रान्तकिरातरमणीघर्मवारिविन्दुनिवारिणि । रत्या खिन्नाः याः शवरसीमन्तिन्यः तासां स्वेदजलकणानपहर्त्तुं शीलमस्य तस्मिन् । वनमहिषरोमंथफेनविन्दुवाहिनि अरण्यगवलोद्गीर्णचर्वितद्रव्यडिंडीरपृषतधारिणि । वनमहिषाणां रोमंथस्य फेनानां बिन्दून् वहति तस्मिन् । चलितपल्लवलतालास्योपदेशव्यसनिनि—स्ववेगकम्पितपत्रव्रततिनृत्यशिक्षाऽऽसक्तिमता । चलितानां पल्लवानां लतानां च लास्यस्योपदेशे व्यसनी तस्मिन् । विघटमानकमलषण्डमधुशीकरासारवर्षिणि—विकसत्पद्मसमूहमकरन्दविन्दुधारासंपातकारिणि । विघटमानानां कमलानां षण्डस्य मधोः शीकराः तेषामासारं वर्षति तस्मिन् । कुसुमामोदतर्पितालिजाले पुष्पसौरभसंतर्पितभ्रमरसमूहे । कुसुमानामामोदेन तर्पितमलिजालं येन तस्मिन् । निशावसानजातजडिम्नि रजनीशेषसम्भूतजडत्वे । निशाया अवसाने जातो जडिमा यस्य तस्मिन् । मन्दमन्दसंचारिणि—शनैः शनैः संचलनशीले । अतिमन्दगामिनि वा । मन्दं संचरति तस्मिन् । प्राभातिके—प्रातःकालिके । प्रभात+ठक् प्राभातिकः । मातरिश्वनि वाते । मातरि अन्तरिक्षे श्वपति तस्मिन् । शिव+कनिन् । सप्तम्या अलुक् । प्रवाति चलति सति । षष्ठयन्तानि मधुलिहां विशेषणानि । कमलवनप्रबोधमङ्गलपाठकानां सरोजकाननविकसनस्तुतिवाचकानाम् । कमलानां वनस्य प्रबोधे मङ्गलस्य पाठकाः तेषाम् । इभगण्डडिण्डिमानाम्—समदगजकटवाद्यविशेषाणाम् । इभानां गण्डेषु डिण्डिमास्ते-

षाम् । मधुलिहाम्—भ्रमराणाम् । मधु लेढीति तेषाम् । मधु+लिह्+क्विप् मधुलिट् । कुमुदोदरेषु—कैरवमध्येषु । कुमुदानामुदराणि तेषु । घटमानदलपुटनिरुद्धपक्षसंहतीनाम्—संकुचत्पतत्रयुग्माबद्धदलराशीनाम् । घटमानाः दलपुटास्तेषु निरुद्धा पक्षसंहतिर्येषान्तेषाम् । सूर्योदयात् कैरवाविकासात् कुमुदाः अविकचा इतिभावः । हुंकारेषु अव्यक्ताध्वनिषु वा शिंजितेषु । उच्चरत्सु उत्तिष्ठत्सु । ऊषरशय्याधूसररोमराजिषु—क्षारमृत्तिकाशयनधूमवर्णलोमश्रेणिषु । ऊषरशय्यया धूसरा रोमराजिर्येषान्तेषु । वनमृगेषु—विपिनहरिणेषु । 'विपिनं गहनं काननं वन'मित्यमरः । प्रभातशिशिरमारुताहतम्—उषःशीतलपवनताडितम् । प्रभातस्य शिशिरेण मारुतेनाहतं तम् । उत्तप्तजतुरसाश्लिष्टपक्ष्ममालमिव—उष्णीकृतलाक्षाद्रवालिङ्गितलोमपंक्तिकम् । इव । उत्तप्तेन जतुरसेनाश्लिष्टा पक्ष्ममाला यस्य तत् । सशेषनिद्राजिह्मिततारम्—अजागरणावशिष्टकुटिलीभूतकनीनिकम् । सशेषया निद्रया—जिह्मिता तारा यस्य तत् । चक्षुः—लोचनम् । शनैः शनैः—मन्दम् मन्दम् । उन्मीलयत्सु प्रसारयत्सु । वनचरेषु—अरण्यचारिषु । इतस्ततः—समन्तात् । संचरत्सु—गच्छत्सु । श्रोत्रहारिणि—श्रवणसुखकरे । प्रियत्वात् श्रोत्रे हरतीति तस्मिन् । पम्पासरःकलहंसकोलाहले—पम्पाख्यसरोवरकादम्बकलकले । पम्पासरसः कलहंसानां कोलाहलस्तस्मिन् । विजृम्भमाणे—वर्धमाने सति । नर्त्तितशिखण्डिमण्डले—नाटितमयूरकदम्बे । नर्त्तितं शिखण्डिनां मण्डलं येन तस्मिन् । मनोहरे प्रिये । हरतीति हरः मनसो हरस्तस्मिन् । हृ+पचाद्यच् । वनगजकर्णतालशब्दे—अरण्यदन्तिश्रोत्रकरतलध्वनि-

निनदे । वनगजस्य कर्णयोः तालवत् शब्दस्तस्मिन् । तालः करतलध्वनिरित्यनेकार्थः । समुल्लसति--दीप्यमाने । क्रमेण च--यथाक्रमम् । गगनतलम्--आकाशम् । अवतरतः--आरोहतः । दिवसकरवारणस्य--रविगजस्य । दिवसकरो वारण इव तस्य । मञ्जिष्ठारागलोहिते--मंजिष्ठानामकौषधिरक्तिमरक्ते । मंजिष्ठाया रागेण लोहितस्तस्मिन् । किरणजाले--रश्मिपुंजे । अवचूलचामरकलाप इव--अधोमुखचमरीगोकेशनिर्मितमक्षिकावारकव्यजनसमूहे । अवनता चूला यस्य स चासौ चामरकलापस्तस्मिन् । उपलक्ष्यमाणे--दृश्यमाने । उन्नतदेशमारोहतः हस्तिनः कर्णसमीपवर्त्तिनि अधोमुखे चामरकलाप इवाकाशमधिरोहतोरवेरवनताननेरश्मिराशौ दृश्यमाने सतीतिभावः । भगवति--प्रभेश्वरे । सवितरि--भानौ । शनैः शनैः--क्रमशः । उदिते । उदयाचलंगते । पम्पासरःपर्यन्ततरुशिखरसंचारिणि--पम्पाख्यह्रदप्रान्तवर्त्तिवृक्षोपरिभागसंचरणशीले । पम्पासरःपर्य्यन्ते तरवस्तेषां शिखरेषु संचारी तस्मिन् । अध्यासितगिरिशिखरे--अधिश्रितोदयाचलकूटे । सुग्रीवपक्षे--आश्रितकिष्किंधाचलशृंगे । अध्यासितं गिरिशिखरं येन तस्मिन् । दिवसकरजन्मनि--सूर्यजनने । दिवसकराद् जन्म यस्य तस्मिन् । 'जनुर्जननजन्मानि' इत्यमरः । सुग्रीवोऽपि सूर्यादुत्पन्न इति रामायणम् ।। हृततारे--अपगतनक्षत्रे । सुग्रीवपक्षे--अपहृततारानामकपत्नीके । हृताः ताराः येन वा हृता तारा येन तस्मिन् । बालातपे--नवीनालोके । कपीश्वरे इव--सुग्रीव इव । पुनः--भूयः । वनम्--काननम् । अभिपतति--विचरति । वा व्याप्नुवति । प्रत्यूषसि--प्रभाते । स्पष्टे--व्यक्ते । जाते--प्रादुर्भूते । नचिरादिव--

शीघ्रमिव; न चिरन्तस्मात् न शब्दस्य सुप्सुपेति समासः नतु नञ् तत्पुरुषः अन्यथा नलोपः स्यात् । दिवसाष्टमभागभाजि—दिन-प्रथमयामार्धवर्त्तिनि । दिवसस्य अष्टमं भागं भजति तस्मिन् । भज्+ण्विः । भास्वति—भानौ भाः अस्ति यस्य तस्मिन् । अस्त्यर्थे मतुप् । तसौमत्वर्थे इति मत्वात् न पदकार्यम् रुत्वादि । स्पष्ट-भासि—स्फुटप्रभे । भूते—संजाते । शुककुलेषु—कीरसमूहेषु । यथा-भिमतानि—यथेष्टानि । यथा यथा अभिमतानि तानि । दिगन्तराणि विभिन्नाः आशाः । अन्याः दिशः दिगन्तराणि मयूरव्यंसकादित्वा-त्समासः । प्रयातेषु—गतेषु । कुलायनिलीननिभृतशुकशावकसनाथेऽपि—नीडान्तर्हितनीरवकीरशिशुसहितेऽपि । कुलायेषु निलीनाः निभृताः ये शुकशावकाः तैः सनाथः तस्मिन् । पूर्वोक्ते—वनस्पतौ । निःशब्द-तया—नीरवतया । निर्गतः शब्दो यस्मात् तस्य भावस्तत्ता तया । शून्य इव—प्राणिरहितः इव स्थिते सति । ताते—पितरि । स्वनीडावस्थित एव—निजकुलायवर्त्तमान एव । स्वस्य नीडेऽवस्थितस्तस्मिन् । शैशवात्—बाल्यात् । शिशोर्भावः शैशवम् । शिशु+अण् इगन्ताच्च लघुपूर्वादिति सूत्रेण । मयि च—असंजातबले—अप्राप्तोड्डयनसामर्थ्ये । असंजातं बलं यस्य तस्मिन् । समुद्भिद्यमानपक्षपुटे—उत्पद्यमान-पतत्रयुग्मे । समुद्भिद्यमानं पक्षपुटं यस्य तस्मिन् । तातसमीपव-र्त्तिनि—पितृनिकटस्थे । तातस्य समीपे वर्त्तते तस्मिन् । कोटरगते—वृक्षविवरान्तर्गते । कोटरं गतस्तस्मिन् । द्वितीयाश्रितेत्यादिना स-मासः । तस्मिन् महावने पूर्वोक्ते गहनारण्ये । सहसैव—ससंभ्रमम् । मृगयाकोलाहलध्वनिरुदचरदित्यन्वयः । संत्रासितसकलवनचरः—भीषितनिखिलवन्यजन्तुकः । संत्रासिताः सकलाः वनचरा येन सः ।

सरभसमुत्पतत्पतत्रिपक्षपुटशब्दसंतत:—सवेगोद्गच्छत्पक्षिपक्षयुगलवर्धित: । सरभसमुत्पततां पतत्रिणां पक्षपुटै: सन्तत: स: । भीतकरिपोतचीत्कारपीवर:—त्रस्तगजशिशुमहार्त्तस्वरस्थूल: । भीतानां करिपोतानां चीत्कारेण पीवर: स: । प्रचलितमत्तालिकुलक्वणितमांसल: प्रस्थितमधुपानक्षीवभ्रमरनिकरनिनादपुष्ट: । प्रचलितानां मत्तानामलिकुलानां क्वणितेन मांसल: स: । परिभ्रमदुद्घोणवनवराहरवघर्घर:—परिचलदुन्नतनासिकारण्यसूकरघर्घराख्यध्वनिमान् । परिभ्रमतामुद्घोणानां वनवराहाणां रवेण घर्घर: स: । गिरिगुहासुप्तप्रबुद्धसिंहनादोपबृंहित:—पर्वतगह्वरशयितजागृतहरिरववर्धित: । गिरीणां गुहासु पूर्वं सुप्ता: पश्चात् प्रबुद्धा: ये सिंहा: तेषान्नादेनोपबृंहित: स: । तरून्—भूरुहान् । कम्पयन्निव—चालयन्निव । भगीरथावतार्य्यमाणगंगाप्रवाहकलकलबहल:—भगीरथाख्यसूर्यवंशीपक्षनृपानीयमानजाह्नवीस्रोत:कोलाहलपरिपुष्ट: । भगीरथेनावतार्य्यमाणाया: गंगाया: प्रवाहस्य कलकल: इव बहल: स: । भीतवनदेवताकर्णित: त्रस्तारण्यदेवपरिश्रुत: । मृगयाकोलाहलध्वनि:—आखेटककलकलध्वान: । मृगयाया: कोलाहलस्य ध्वनि: स: । उदचरत्—उद्भूत: । अहम् । अश्रुतपूर्वम्—प्रागनाकर्णितम् । तम्—मृगयाकोलाहलध्वनिम् । आकर्ण्य च । उपजातवेपथु:—उत्पन्नकम्प: । उपजातो वेपथुर्यस्य स: । वेप् धातो:(द्वितोऽथुच्) इति अथुच्प्रत्यय: वेपथु: । यथा वमथु: श्वपथु: नन्दथु: । अर्भकतया—पृथुकतया । जर्जरितकर्णविवर:—विदीर्णश्रोत्ररंध्र: । जर्जरिते कर्णयो: विवरे यस्य स: । भयविह्वल:—भीतिव्याकुल: । प्रतीकारबुद्धया—भीतिनिवृत्तिमत्या । प्रतीकारे बुद्धि: तया । समीपवर्त्तिन:—निकटस्थस्य

—पितुः । जराशिथिलपक्षपुटान्तरम्—वार्धक्यजीर्णपतत्रयुगलोभ्यन्तरम् । जरया शिथिलस्य पक्षपुटस्यान्तरम् तत् । अविशम्—प्रविष्टवान् ।

२५—एक दिन प्रातःकाल उस वन में सहसा शिकार का लाहल हुआ । उस समय प्रातःकालीन सन्ध्या (अर्थात् रात्रि और दिवस के मिलन) की लालिमा के कारण आकाश रक्तवर्ण हो रहा था । (इस लालिमा के कारण) चन्द्रमा भी कमलिनी (अथवा गगन रूपी कमलिनी, यदि 'गगनतलकमलिनी ..' पाठ लिया जाय) के मधु से लाल हुए पंख वाले वृद्ध हंस के समान आकाशगङ्गा के तट से पश्चिमी समुद्र-तट पर उतर रहा था । रंकु संज्ञक वृद्ध मृग के रोओं के समान पीला-सा दिङ्मण्डल विस्तृत हो रहा था (अर्थात् रात्रि की मलिनता के दूर हो जाने के कारण दूर तक दिखाई पड़ने लगा था) । सूर्य की विस्तृत (या फैली हुई) किरणें हाथी क रुधिर से रक्त (लाल), सिंह की गर्दन के बालों के समान लाल और तप्त (अथवा उष्णता के कारण पिघली हुई) लाख के तार के समान पाटल (गुलाबी) हो रहीं थीं । (उनके प्रकाश के कारण तारे इस प्रकार छिपते जा रहे थे मानो उन्हें पद्मराग (लाल मणि) की सींकों से बनी हुई झाड़ू के द्वारा, आकाशरूपी फर्श से विखरे हुए फूलों के समूह के समान, झाड़ा या हटाया जा रहा हो । उत्तर दिशा में स्थित सप्तर्षि-मंडल (सात तारों का समूह) ऐसा मालूम पड़ता था मानो सन्ध्या-वन्दन करने के लिए मानसरोवर के तट पर उतरता हुआ सप्तर्षिमण्डल (मरीचि आदि सात ऋषि) हों । पश्चिमी समुद्र के तट पर पड़ी हुई टूटी-फूटी सीपियों से निकले हुए मोती तट पर फैले हुए थे । उनके कारण समुद-तट श्वेत हो रहा था । यह मुक्ता-समूह ऐसा प्रतीत होता था मानो सूर्य की किरणों की प्रेरणा (या किरणों के द्वारा ढकेले जाने के कारण) नीचे (पृथ्वी पर गिरे हुए तारों का समह हो । वन म ओस की बूंदें टपक रही थीं, मोर जाग गये थे, सिंह जंभाई ले रहे थे, हथिनियों का समूह मदमत्त हाथियों को जगा रहा

था, रात की ओस से (भीगकर) पुष्पों के केसर ठंडे हो गये थे और इस प्रकार के केसर से युक्त पुष्प (वृक्षों से) गिर रहे थे जिससे ऐसा प्रतीत होता था मानो वह (वन) अपनी पल्लवरूपी अंजलियों से उदयाचल की चोटी पर स्थित सूर्य को उद्दिष्ट करके पुष्पाञ्जलि अर्पित कर रहा हो। गधे के रोओं के समान काली-सी, वनदेवियों के महलों से दिखाई पड़ने वाले वृक्षों की चोटियों पर कबूतरों की पंक्ति के समान आकार धारण करने वाली तथा यज्ञादि की धर्मपताका के समान दिखाई पड़ने वाली धूमलेखा तपोवन में किये जाने वाले अग्निहोत्र से उठ रही थी। ओस की बूँदों से शीतल, कमल-वन को हिलाता हुआ, रति-क्रीड़ा से शिथिल भीलों की रमणियों के पसीने की बूँदों को सुखाने वाला, जङ्गली भैंसों की जुगाली के समय निकलने वाले फेन की बूँदों से युक्त, लताओं के पत्तों को हिलाकर मानो उनको नृत्य सिखाने में व्यस्त, विकसित होते हुए कमल समूह से मधु की बूँदों की बौछार करने वाला, पुष्पों की सुगन्धि से भ्रमरसमूह को मस्त करने वाला, और रात्रि का अन्त होने के कारण शीतल तथा मन्द-मन्द वहने वाला प्रातःकालीन वायु बह रहा था। भौंरों का गुंजन (भनभनाहट) हो रहा था। ये भौंरे ऐसे मालूम होते थे मानों कमल-समूह को मङ्गलपाठ करके जगाने वाले चारण हों (अर्थात् प्रातःकाल भौंरे गूँज रहे थे और कमल विकसित हो रहे थे), अथवा हाथियों के गण्डस्थल पर डिण्डिम (एक प्रकार का ढोल) हों (अर्थात् ढोल के समान गुंजार करते हुए भ्रमर हाथियों के गण्डस्थलों की दोनों ओर गुंजार कर रहे थे)। उनके पंख जल्दी-जल्दी या खब अच्छी तरह बन्द होते हुए कुमुदों की पंखड़ियों में बन्द होते जा रहे थे (कुमुद सूर्योदय पर संकुचित हो जाते हैं)। वन्य मृग (रात्रि भर) ऊसर (तृणहीन) भूमि की शय्या पर सोये थे, अतएव उनके वक्षस्थल के बाल धूसरित हो रहे थे, और वे प्रातःकालीन शीतल वायु के स्पर्श से पीड़ित अपने नेत्र खोल रहे थे। उनके नेत्रों की पलकें (निद्रा के प्रभाव के कारण) ऐसी प्रतीत होती थीं मानों उत्तप्त लाख के रस से चिपक रही हों और नींद पूरी न होने के कारण

उनकी पुतलियाँ कुछ वक्र हो रही थीं। वनचर इधर-उधर घूमने लगे थे। पम्पासर के हंसों का श्रवण-सुखकर कोलाहल बढ़ने लगा था। जंगली हाथियों के कानों के हिलाने से (मेघगर्जन के समान) मनोहर ध्वनि हो रही थी, जिसको सुनकर मोर नाचने लगते थे। मंजिष्ठ (मँजीठ) के रंग के समान लाल किरण-समूह आकाशमार्ग में उतरते हुए (अर्थात् उदय होते हुए) सूर्यरूपी हाथी के मस्तक पर इसप्रकार दिखाई देने लगा था मानो (मंजिष्ठ के रंग से लाल वालों वाले) चामर के बालों का गुच्छा उलटकर (शोभा के लिए हाथी के मस्तक पर) रखा गया हो। भगवान् सूर्य धीरे-धीरे उदित हो रहे थे। बालातप (प्रातःकालीन धूप) वन में इस प्रकार फैल रहाथा मानो सुग्रीव पुनः वन में (अपने भाई बालि के द्वारा निष्कासित होकर) आ गया हो, क्योंकि बालातप पम्पासर के तट पर लगे हुए वृक्षों की चोटियों पर फैल रहा था, उसने (बालातप ने) उदयाचल के शिखर को ढक लिया था, सूर्य से उसका जन्म हुआ था (अर्थात् सूर्य से ही वह उत्पन्न होता है), उसने (उसके प्रकाश ने) तारों को छिपा दिया था; इसी प्रकार (निष्कासित होने पर) सुग्रीव भी पम्पासर के तीरवर्ती वृक्षों पर घूमा करता था, (ऋष्यमूक) पर्वत के शिखर पर उसने आश्रय लिया था, उसका जन्म भी सूर्य ही से हुआ था और उसकी पत्नी तारा को (उसके भाई बालि ने) हर लिया था। प्रातःकालीन प्रकाश स्पष्ट रूप सेफैल चुका था। सूर्य को दिवस का आठवाँ भाग पूरा किये बहुत देर नहीं हुई थी और अब वह स्पष्ट रूप से चमक रहा था। शुककुल अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार भिन्न-भिन्न दिशाओं में उड़ गये थे। यद्यपि उस वृक्ष पर पक्षि-शावक अपने-अपने घोंसलों में चुपचाप छिपे बैठे हुए थे, तथापि निःशब्दता के कारण ऐसा मालूम होता था मानो वह (वृक्ष) शून्य हो (अर्थात् उस पर कोई न हो)। (उस समय) मेरे पिता अपने घोंसले में ही बैठे थे और मैं भी पास ही के कोटर में पड़ा हुआ था, क्योंकि अभी शैशव के कारण मुझमें (पर्याप्त) शक्ति नहीं आई थी और मेरे पंख निकलने ही शुरू हुए थे। (ऐसे ही समय शिकार करते हुए शिकारियों का कोलाहल उस महावन में सुनाई पड़ा।) उस कोलाहल से

समस्त वनचर भयभीत हो उठे । हड़बड़ा कर उड़ने वाले पक्षियों के पंखों के फड़फड़ाने के शब्द से वह कोलाहल और बढ़ गया और भयभीत हाथियों के बच्चों की चिग्घाड़ से वह और भी स्थूल हो गया (अर्थात् फैल गया)। लताओं के हिलाये जाने के कारण विक्षुब्ध मदमत्त भ्रमर-समूह की गुंजार से वह और पुष्ट (तीव्र) हो गया । थूथन उठाकर घूमने वाले जंगली सुअरों की घुर-घुर की ध्वनि भी उसमें मिल गयी । गिरिगुहा में सोये हुए सिंह के जागकर गर्जन करने के नाद से वह और बढ़ गया । भगीरथ के प्रयत्न से (भूलोक पर) अवतरित गङ्गा-प्रवाह के कलकल शब्द से (वनों के) वृक्ष भी काँपने लगे थे । यह कोलाहल भी उसी (गंगा के घोष)के समान गम्भीर था । वन की देवियाँ भी उसे डर कर सुन रही थीं । मैंने (शुक वैशम्पायन ने) ऐसा कोलाहल कभी नहीं सुना था । उसे सुन कर मेरे शरीर में कम्पन होने लगा और अभी बच्चा ही होने के कारण मेरे कान के पर्दे फट गये । मैं भय से व्याकुल हो कर निकट-स्थित पिता के, बुढ़ापे के कारण जर्जरित पंखों के भीतर, उस (भय) से अपने को बचाने के विचार से छिप गया (या घुस गया) ।

शब्दार्थ—अपरजलनिधिः—पश्चिमी सागर; परिणत······पाण्डुनि—परिणतस्य रंको रोमवत् पाण्डु तस्मिन्, वृद्ध रंकु नामक हरिण के रोओं के समान पीला ; हरिसटा—सिंह का गर्दन के बाल; आयामिनी—दीर्घं; अशिशिर-किरणः—सूर्यः; संमार्जनी—झाड़ू; उदन्वति—समुद्र, विजृम्भमाणः—जँभाई लेता हुआ, पारावतमालायमानासु—पारावतानां (कबूतरोंकी) मालाः (पंक्तियाँ) ताः इव (उनकी तरह) आचरन्तीषु (मालूम पड़ने वाली); अवश्याय-शीकराणि—अवश्यायस्य शीकराणि, ओस की बूँदें; मातरिश्वनि—वायु, जतु—लाख, जिह्म—वक्र; अवचूल०—अवनता (झुका हुआ) चूला (बालों का गुच्छा) यस्य स चासौ चामरकलापः, कुलायम्—घोंसला ।

25. Once upon a time, however, *while* the moon, which was reddened with the hue of the morning twilight (lit. 'the conjunction of the day and night at dawn'), and

was like an old swan, as it were, having the folds of its wings dyed red with honey from the sky-like bed of lotuses, and reddened with the colour of the morning twilight, was descending to the shore of the western ocean from the sandy bank of the celestial Ganges;—*while* the circle of the (various quarters (*i.e.*, the horizon), which was pale in colour like the soft hair of a fully grown '*Ranku*' deer, was expanding or spreading far and wide (lit. 'attaining vastness', so as to allow of a more and more distant prospect or view on all sides) ;—*while* the clusters of stars were being swept away (*i.e.*, made invisible) like bunches or heaps of flowers from the floor or pavement of sky with (*i.e.*, by means of) the splendours or brilliant rays of the sun (lit. the 'not-cold-rayed one'), which were reddish in colour like the hair of a lion's mane reddened with the blood of an elephant, which were tawny or yellowish red like sticks (lit. threads) of heated or molten lac, and which were very long-drawn out, as if with (*i.e.*, the bunches or heaps of flowers, etc., being swept away by means of) broom-sticks made up of twigs of rubies *while* the collection of the seven stars called the '*Saptarshi*' *i.e.*, the constellation of the Great Bear, (lit. the group of the 'Seven Sages,' with whom they are in the poet's fancy, being compared here), which is situated or lies in (lit. 'hanging from') the northern Quarter, was descending to the bank of the lake *Manas*, with a view to perform or offer their morning prayer or devotion, as it were ;—*while* the western (lit. 'other than the East') ocean was bearing (*i.e.*, had floating on its surface) a mass of pearls, which was scattered about from the outer shells of pearls, lying broken open at the shore like a cluster of stars, as it were, lying fallen down being driven

or pushed away by the rays of the sun, and which whitened its sandy bank;—*while* the forest, which was shedding drops of dew, which had flocks of peacocks awakened and lions yawning in it, which had in it intoxicated elephants roused from sleep by herds of she-elephants, was showering a heap of flowers the filaments of which were made heavy or cool with the night-dew (lit. the 'night-water'), and appearing as if it were offering with the leaf-like hollows of its folded palms, a heap of flowers in worship to the sun appearing (lit. lying or remaining) at the top of the Rising Mountain (a mountain in the east from behind which the sun was supposed to rise), as it were;—*while* the lines of smoke arising out of the sacrificial offerings to Fire, made in the forest of penance (by ascetics), which (lines) were grey in colour like the hair of an ass, and (appeared like or) presented the appearance of a row or line of pigeons or doves on the tops of trees which were as though the palaces (or towers) of the sylvan-deities or wood-nymphs, and which (lines of smoke) were like religious banners or banners of righteousness or religious merit or virtue, as it were, were rising forth; —*when* the morning breeze which was sur-charged or laden with drops of dew and which set in motion the forest of lotuses, which removed or dried up the small particles of perspiration on the (bodies of the) *Shabara* (a tribe of forest people) ladies or damsels, fatigued or exhausted by (or during) sexual enjoyment, which bore or carried on it the particles or drops of froth produced by the rumination (*i,e.*, chewing the cud) of the wild buffaloes, which was fond of or intent on teaching dancing to the creepers having had their leaves set in motion (thereby), which caused a spray or

shower of the small drops of honey from the heaps of lotuses that were just opening up or expanding, which pleased or satisfied the swarms of bees with the fragrance of flowers, which had heaviness or coolness produced in it by (*i. e.*, which was heavy or cool on account of) the termination or coming to an end of the night, and which was moving (*i. e.*, blowing) very gently or softly, began to blow;——*when* the humming sound of the bees, which were like the singers of auspicious (morning) songs, (as it were), to arouse from sleep (*i e.*, to open or expand) the forest of lotuses, which were like drums, (as it were), on the temples or cheeks of elephants, and which had their wings (lit. the 'collection of wings') caught or confined in the hollows or cavities of the petals that were fast or thickly closing up, was rising up or becoming audible from the interiors of the lilies or from inside the night lotuses;——*while* the wild deer or deer of the forest, which had the line of hair on their chests rendered grey or ash-coloured on account of their having lain or rested on barren saline ground, were slowly opening up their eyes; which were struck (into greater languor) with the cool breeze of the (early) morning, and the eyelashes of which seemed to be joined or held up together (*i. e.*, sealed) with or by means of the heated or melted juice of lac, as it were, and the pupils of which were (still) squinting or looking obliquely on account of the want of (their having had) a full or complete sleep [lit., sleep which was (*not complete but*) with a remainder of it'];—*when* the foresters began to move about hither and thither; —*when* the din or tumultuous noise, made by the swans of (or inhabiting) the Pampa Lake, which (noise) was highly pleasing or captivating to the ear, began to grow in volume;—*when*

the sound of the flapping of the ears by the wild elephants, which (sound) was charming, and which set the flocks of peacocks a-dancing, began to rise up or manifest itself (lit. began to 'shine or appear bright');—*when* the cluster or collection of (the sun's) rays, which was reddish in colour like that of the Indian madder (a red colour), and which was like a *Chowrise* with the bunch or tuft of its hair (also being dyed red with the Indian madder) turned downwards, and placed as an ornament over the head of an elephant in the shape of the sun, as it were, gradually ascending up its path in the sky, was becoming visible [The idea intended to be conveyed by this somewhat involved analogy is simply this: The morning reddish rays of the sun which naturally preceded its own advent on the horizon, *first* made their appearance on the sky. This is compared by the poet to the fact as if an elephant were marching up the high slope of a road with a Chowrie, having the bunch of its hair dyed red; being waved over its head. Now, as the elephant would be gradually marching up, the red coloured tuft of hair of the Chowrie would naturally be seen *first* and then the head of the elephant, etc: Here the sun is compared to the elephant, and the reddish rays of it, preceding it on the horizon, to the red-coloured tuft of hair of the Chowrie, waved over the head of that elephant];—*when* the Venerable or Illustrious Sun was gradually rising or making its appearance on the horizon;—*when* the morning light (lit. 'the early heat' of the sun), which proceeded from the sun, and spread over the tops of trees on the borders of the Pampa Lake, which occupied or covered up the peaks of mountains, and made the stars disappear (lit. 'took away the stars'), fell upon the forest like *Sugriva*

(lit. 'the Lord or King of the monkeys') once more having recourse to the forest, as it were,—Sugriva, who had his birth from the sun, and who, having had (his wife) *Tara* carried away (by his elder brother Bali), wandered about on the top of trees on the borders of the Pampa Lake and (formerly) dwelt on the peaks of (the Rishyamuka) mountains;—*when* the day light became quite distinct (*i. e.*, when it was clear day-break);—*when* the sun, which had only recently (lit. 'but not very long ago') passed through (lit. 'consumed or taken possession of'; *i. e.*, attained) the eighth part of the day, had its lustre or brilliance become distinct or clear;—*when* the flocks of parrots had set out in the different directions accordingly as they desired or liked;—*while* that tree, though endowed with or full of the young ones (of parrots), lying concealed and motionless in their nests, appeared nevertheless to be empty or uninhabited as at was, on account of there being no noise;—*while* my father was still lying (lit. remaining) in his won nest;— and *while* I, whose wings were just then beginning to grow or appear and had no strength produced in them on account of my infancy or childhood, was lying in the hollow, being near my father,—there arose quite suddenly in that great forest, a tumultuous hue and cry or din of hunting, which frightened all the inmates or denizens (lit. wand erers) of the forest, which was lengthened out or enhanced by the noise of the flapping of the wings by birds that were hastily flying up or flying up in confusion, which was increased or aggravated (lit. 'fattened') by the trumpeting sound of the terrified or frightened young ones of elephants, which was greatly increased or added to (lit. fatted or fleshy) by the humming of the swarms of

intoxicated bees, being disturbed by the creepers that were violently set in motion, which was rumbling with the grunting sound of the wild boars that were wandering or roaming about with their raised snouts, which was heightened or greatly enhanced by the roaring of the lions that were awakened from their slumber (lit. 'lying asleep') in the caves of mountains, which was thick like the murmuring sound of the flowing stream of the Ganges, being brought down or made to descend by Bhagiratha, and shaking the trees (of the forest), as it were, and which was heard by the frightened sylvan nymphs or deities of the forest (*i. e.*, which the deities of the forest themselves heard with a fright). And having heard that (sound or noise, the like of) which I had not heard of before, I, who had a trembling caused in me and who had the cavities of my ears shattered on account of my being (but) a child, and who was greatly distracted with fear, entered into the interior or inside of the wings which had become loose or shattered on account of old age, of my father who was close by, with the idea of averting (for thinking that thereby I might undo or escape) the (impending) danger.

२६—अनन्तरं च सरभसमितो गजयूथपतिलुलितकमलिनीपरिमल इतः क्रोडकुलदश्यमानभद्रमुस्तारसामोद इतः करिकलभभज्यमानसल्लकीकषायगन्ध इतो निपतितशुष्कपत्रमर्मरध्वनिरितो वनमहिषविषाणकोटिकुलिशभिद्यमानवल्मीकधूलिरितो मृगकदम्बकमितो वनगजकुलमितो वनवराहयूथमितो वनमहिषवृन्दमितः शिखण्डिमण्डलविरुतमितः कपि-

ञ्जलकुलकलकूजितमितः कुररकुलक्वणितमितो मृगपति-नखभिद्यमानकुम्भकुञ्जररसितमियमार्द्रपङ्कमलिना वराह-पद्धतिरियमभिनवशष्पकवलरसश्यामला हरिणरोमन्थफेन-संहतिरियमुन्मदगन्धगजगण्डकण्डूयनपरिमलालीनमुखरमधुक-रविरुतिरेषा निपतितरुधिरबिन्दुसिक्तशुष्कपत्रपाटला रुरुपदव्येतद्द्विरदचरणमृदितविटपपल्लवपटलमेतत्खड्गिकुल-क्रीडितमेष नखकोटिविलिखितविकटपत्रलेखो रुधिरपाटलः करिमौक्तिकदलदन्तुरो मृगपतिमार्ग एषा प्रत्यग्रप्रसूतवन-मृगीगर्भरुधिरलोहिनी भूमिरियमटवीवेणिकानुकारिणी पक्ष-चरस्य यूथपतेर्मदजलमलिना संचारवीथी चमरीपङ्क्ति-रियमनुगम्यतामुच्छुष्कमृगकरीषपांसुला त्वरिततरमध्यास्य-तामियं वनस्थली तरुशिखरमारुह्यतामालोक्यतां दिगि-यमाकर्ण्यतामयं शब्दो गृह्यतां धनुरवहितैः स्थीयतां विमुच्यन्तां श्वान इत्यन्योन्यमभिवदतो मृगयासक्तस्य महतो जनसमूहस्य तरुगहनान्तरितविग्रहस्य क्षोभितकाननं कोलाहलमशृणवम् ।

शबरमृगयावर्णनम्

२६—अनन्तरं च—पक्षपुटमध्यप्रवेशपश्चात् । कोलाहलम्—अशृणवमित्यनेनान्वयः । सरभसमित्यादिना कोलाहलं विशिनष्टि । सरभसम्—सवेगम् । रभसेन सहितम् तत् । इतः—अस्यां दिशि । गजयूथपतिलुलितकमलिनीपरिमलः—हस्तिगणश्रेष्ठमर्दितपद्मिनी-

विमर्दगन्धः । प्रसरतीतिशेषः । गजयूथानां पतिभिः लुलितायाः कमलिन्याः परिमलः सः । अतोऽत्र गजानुमानम् । इतः—अस्मिन् स्थाने । क्रोडकुलदश्यमानभद्रमुस्तारसामोदः वराहसमूहभुज्यमान-भद्रमुस्तौषधिविशेषद्रवसौरभम् । अतोऽत्र वराहाः सन्तीतिभावः । इतः । करिकलभभज्यमानशल्लकीकषायगंधः—हस्तिपोतदश्यमान-गजखाद्यतरुविशेषनिर्याससौरभम् । करिकलभैः भज्यमाना या शल्लकी तस्याः कषायस्य गंधः सः । अतः कलभानुमानम् । इतः । निपतितशुष्कपत्रमर्मरध्वनिः—च्युतनीरसदलमर्मराख्यध्वनिः । निपतितानां शुष्काणां पत्राणां मर्मरेतिध्वनिः सः । अतोऽत्र कश्चित्पशुर्विचरतीतिभावः । इतः । वनमहिषविषाणकोटिकुलिश-भिद्यमानवल्मीकधूलिः । अरण्यगवलशृङ्गाग्रभागवज्रविदीर्य्यमाण-वामलूररजः । वनमहिषाणां विषाणकोटयः कुलिशानीवतैः भिद्यमानानां धूलिः सः । अतो महिषाः सन्तीतिभावः । 'वामलूरश्च नाकुश्च वल्मीकं पुंनपुंसकम्' इत्यमरः । इतः—मृगकदम्बकम्—हरिणसमूहः । इतः । वनगजकुलम्—अरण्यहस्तिकदम्बकम् । इतः । वनवराहयूथम्— वन्यसूकरकुलम् । इतः । वनमहिषवृन्दम्—विपिनसैरिभसमूहः । वनस्य महिषाणां वृन्दम् तत् । मह+टिषच् महिषः । इतः । शिखण्डिमण्डल-विरुतम्—मयूरसमूहकूजितम् । शिखण्डः—बर्हः अस्ति एषान्तेषां मण्डलस्य विरुतम् तत् । इतः । कपिञ्जलकुलकलकूजितम्—चातकसमूहमधुरविरुतम् । कपिंजलानां कुलस्य कलं कुजितम् तत् । 'चातकः कपिंजल' इति शब्दकल्पद्रुमः । इतः । कुररकुलक्वणितम्—उत्क्रोशसंज्ञकविहगगणविरुतम् । कुरराणां

कुलस्य क्वणितम् तत् । इतः । मृगपतिनखभिद्यमानकुम्भकुंजर-रसितम् —सिंहकरजविदीर्यमाणमस्तकपिंडकरिचीत्कारः । मृगपतीनां नखैर्भिद्यमानाः कुम्भाः येषां तेषां कुंजराणां रसितम् तत् । इयम्—एषा । आर्द्रपंकमलिना—स्तिमितकर्दममलीमसा । आर्द्रेण पंकेन मलिना सा । वराह पद्धतिः—सूकरपथः । पादाभ्यां हन्यते सा पद्धतिः । पद+हन्+क्तिन् कर्मणि । पादस्य पदादेशः इयम् —समीपस्था । अभिनवशष्पकवलरसश्यामला—नूतनतृणग्रास-द्रवहरिता । अभिनवाः ये शष्पाः तेषां रसैः श्यामला सा हरिणरोमंथफेनसंहतिः—मृगचर्वितद्रव्यचर्वणडिण्डीसमूहः । हरिणानां रोमंथस्य फेनानां संहतिः सा । इयम् । उन्मदगंधगजकण्डू-यनपरिमलनलीनमुखरमधुकरविरुतिः — मत्तमदगंधवत्करिखर्जन-सौरभावस्थितशब्दायमानभ्रमररवः । उन्मदानां गंधयुक्तगजानां कण्डूयनेन लग्नः परिमलः तत्र निलीनानां मुखराणां मधुकराणां विरुतिः सा । एषा । निपतितरुधिरविन्दुसिक्तशुष्कपत्रपाटला—अस्त्रशस्त्रप्रहारक्षरितरक्तपृषद्नीरसदलश्वेतरक्तवर्णा । निपतितानां-रुधिराणां विन्दुभिः सिक्तैः पत्रैः पाटला सा । रुरुपदवी-मृगविशेषपद्धतिः । एतद्—इदम् । द्विरदचरणमृदितविटपपल्लव-पटलम्—गजपादक्षेदितशाखापत्रसमूहः । द्विरदानां चरणैर्मृदि-तानां विटपानां पल्लवानां पटलम् तत् । एतद् । खड्गिकुलक्री-डितम् गण्डकनिचयविहृतम्—खंगिनां कुलस्य क्रीडितम् तत् । एष—अयम् । नखकोटिविलिखितविकटपत्रलेखः—करजाग्रभाग-रुधिरचित्रितभयावहपत्राकारचिह्नः । नखानां कोटिभिर्विलिखिताः विकटाः पत्रलेखा यस्मिन् सः । रुधिरपाटलः—रक्तश्वेतरक्तः ।

करिमौक्तिकदन्तुरः---व्यापादितगजमुक्ताविषमः । करः शुण्डा-दण्डः अस्ति अस्य स करी । कर+इनिः मत्वर्थीयः । दन्त+उरच् मत्वर्थीयः । उन्नताः दन्ताः सन्ति अस्य स दन्तुरः । 'दन्त उन्नत उरच्' इतिसूत्रम् । मृगपतिमार्गः--सिंहपथः । एषा । प्रत्यग्रप्रसूतवनमृगीगर्भरुधिरलोहिनी—अचिरप्रसूतवतीविपिन-हरिणीकुक्षिरक्तरक्तवर्णा । प्रत्यग्रं प्रसूतायाः वनमृग्याः गर्भस्य रुधिरेण लोहिनी सा । भूमिः---भूः । इयम्---अटवी । वेणिका-नुकारिणी---वेणीसाम्यात्---कुटिला । पक्षचरस्य—स्वयूथचारिणः । यूथपतेः---गजेन्द्रस्य । मदजलमलिना---दानवारिमलीमसा । मदजलेन मलिना सा । इयम् । संचारवीथी । चमरीपंक्तिः---गमनागमनपथचमरमृगीश्रेणिः । संचारस्य वीथ्यां चमरीणां पंक्तिः सा । अनुगम्यताम्---अनुव्रज्यताम् । उच्छुष्कमृगकरीषपांसुला नितान्तनीरसहरिणयूथरजःसहिता । उच्छुष्कैः मृगकरीषैः पांसुला सा । इयम्---पुरोवर्त्तिनी । वनस्थली--विपिनाकृत्रिमभूमिः । त्वरिततरम्---अतिशीघ्रम् । अध्यास्यताम्---प्राप्यताम् । तरुशिखरम्—वृक्षोपरिभागाः । आरुह्यताम्—अधिष्ठीयताम् । इयम्—एषा । दिक्---आशा । आलोक्यताम्—पशवः सन्ति न वेति ज्ञातव्यम् । अयम्—असौ । शब्दः---ध्वनिः । आकर्ण्यताम्—श्रूयताम् । धनुः—कार्मुकम् । गृह्यताम्---अध्यारोप्यताम् । अवहितैः—सावधानैः । स्थीयताम्---भूयताम् । समीपात् कश्चित्पशुः न पलायेतेति भावः । श्वानः---सारमेयाः । विमुच्यन्ताम्—विसृज्यन्ताम् । हन्तव्यपशुगवेषणाय । इति—इत्थम् । अन्योन्यम्---परस्परम् । अभिवदतः---जल्पतः । मृगयासक्तस्य—आखेटतत्परस्य । मृगया-

यामासक्तस्तस्य । महतः--प्रभूतस्य । जनसमूहस्य, नरवृन्दस्य । तरुगहनान्तरितविग्रहस्य--पादपवनतिरोहितदेहस्य । तरूणां गहनेनान्तरितो विग्रहो यस्य तस्य । क्षोभितकाननम्--सञ्चालितवनम् । क्षोभितं काननं येन तम् । क्षुभ्+णिच् क्षोभि+क्तः क्षोभितः । क्षुभ्+क्तः क्षुब्धः । मंथनदण्डः । कोलाहलम्--कलकलम् । अश्रृणवम्—श्रुतवान् ।।

२६—इसके पश्चात् मैंने मृगया में लगे हुए एक विशाल जन-समूह के द्वारा किया जाता हुआ जोरों का कोलाहल सुना । उस जन-समूह के लोगों के शरीर वृक्षों के कुंजों की आड़ में छिपे हुए थे । उनके कोलाहल से (सम्पूर्ण) वन क्षुब्ध हो रहा था । वे आपस में इस प्रकार बातें कर रहे थे —"हाथियों के यूथाधिप के द्वारा कुचली हुई कमलिनी की सुगन्धि इधर से आ रही है; इधर से जंगली सुअरों के द्वारा चबाई जाती हुई 'भद्रमुस्त' नामक घास अथवा जड़ के रस की सुगन्धि आ रही है; इधर से हाथी के बच्चों के द्वारा तोड़े जाते हुए शल्लकी (सलई) नामक वृक्ष की कसैली गन्ध आ रही है, इधर से गिरे हुए सूखे पत्तों की मर्मर ध्वनि, इधर से जंगली भैंसों के सींगों की नोक रूपी वज्र से (अर्थात् सींगों की वज्र के समान कठोर नोक से) तोड़े जाते हुए वल्मीकों (चींटियों या दीमकों के द्वारा बनाये हुए मिट्टी के ढेर) की धूल, इधर से हिरनों का झुंड, इधर से जंगली हाथियों का झुंड, इधर से जंगली भैंसों का झुंड आ रहा है । इधर मोरों का कूजन, इधर चातक-समूह का गुंजन और इधर कुरर (चकवा) पक्षियों का चहचहाना सुनाई पड़ रहा है । इधर सिंहों के नखों के द्वारा मस्तक के विदीर्ण किये जाने के कारण (चिग्घाड़ते हुए) हाथियों का शब्द सुनाई पड़ रहा है । यह रही गीली कीचड़ से मलिन जंगली सुअरों के पदचिह्नों की पंक्ति; यह रहा हिरनों के जुगाली करने के समय (मुँह से) गिरा हुआ फेन-समूह, जो नई दूब के कौर के रस से श्यामल हो गया है; यह है उन्मत्त तथा (मदजल की)

गन्ध से युक्त हाथियों के, गण्डस्थल खजुश्राने के कारण (वृक्षों आदि पर लग हुए) परिमल (सुगन्धित द्रव) पर मँडराते हुए मुखर (भनभनाते हुए) भौंरों की भनभनाहट; यह है गिरे हुए रुधिर से सूखे पत्तों के सिक्त हो जाने के कारण कुछ लाल-सा रुरु नामक मृग के जाने का मार्ग; यह है हाथियों के चरणों द्वारा कुचलो हुई शाखाओं और पत्तों का समूह; यह है वह भूमि जहाँ गैंड़ों ने क्रीड़ा की है; यह है सिंह के जाने का मार्ग,—जिस पर उसके पंजों के नख की नोकों से विचित्र पत्रभंगी (शोभार्थ बनायी हुई पत्र-पुष्प आदि की आकृति) बनो हुई है, जो रुधिर से लाल-सा हो गया है और जो (उसके पंजों से गिरे हुए) गजमुक्ता-समूह से खुरदरा हो गया है; यह है हाल ही में प्रसूत जंगली हिरनी के गर्भ के रक्त से लाल भूमि; यह है अपने झुंड के साथ विचरण करने वाले हाथियों के यूथपति के जाने की वीथी (मार्ग) जो अटवी (वनस्थली) रूपी वधू की वेणी (चोटी) के समान दीख पड़ती है; यह है चमरी (सुरागाय) की पंक्ति; इसका अनुगमन करो। हिरन की सूखी लेंड़ियों की रज से पूर्ण इस वनस्थली में जल्दी से जल्दी फैल जाओ; पेड़ की चोटी पर चढ़ जाओ। इस दिशा में देखो, यह शब्द सुनो, अपने धनुष ले लो, सावधान हो जाओ, कुत्तों को छोड़ो।"

शब्दार्थ--सरभसम्—सवेग; क्रोडः—वराह; आमोद--सुगन्धि; वल्मीकः--दीमकों या चीटियों के द्वारा बनाया हुआ मिट्टी का ढेर; कदम्बकम्--झुंड; विरुतम्—शब्द; पद्धतिः--पथ; रोमन्थ—जुगाली; खंगि—गेंड़ा; दन्तुरः—ऊँचा-नीचा, दाँतो वाला, खुरदरा; पक्षचरः—अपने दल के साथ विचरण करने वाला; करीष—सूखा गोबर; विग्रहः--शरीर।

26—And immediately thereafter, I heard a tumultuous uproar that shook or agitated the forest, of (or made by) a large crowd of people, who were busily engaged in hunting, who had their bodies concealed or screened from view by the thickets of trees, and who were hurriedly or confusedly shouting out to one another thus : "From this side (proceeds)

the fragrant scent of the lotus plants crushed by the leaders of the herds of elephants; from this side (comes) the sweet or agreeable smell of the juice of '*Bhadramusta*' grass or roots, being bitten or chewed by herds of wild boars; this way (proceeds) the astringent smell of the '*Sallaki*' plants or trees being broken or eaten up by the young ones of elephants; from this side (proceeds) the rustling sound of the dry leaves that have fallen (on the ground); this way (rises) the dust of the ant-hills, being pierced through or pulled down by the adamantine tips or pointed ends of the horns of wild buffaloes; this way (there appears) a herd of deer ; this way a herd or collection of wild elephants; this way a herd or assemblage of wild boars; this way a large number or collection (*i.e.*, a group or multitude) of wild buffaloes ; this way (proceeds) the cry or scream of a flock of peacocks; this way the sweet cooing or warbling sound of a flock of sparrows or partridges (the word also means the ('*Chataka*' birds); this way the murmurring sound or shrill cry of a flock of ospreys; this way the trumpetting or groaning sound of elephants having their temples broken or pierced through by the claws of lions, here (lit. 'this') is the path or track of a boar, having been marked or soiled with fresh (lit. wet) mud ; here is the heap of froth or mass of foam (dropped down) from the rumination of the deer, and being rendered dark or green with the juice of the mouthfuls of fresh or young green grass ; here is the humming sound of the bees, that buzz as they remain clinging to the sweet fragrance (*i.e.*, the various fragrant spots) caused by or left after the rubbing or scratching of their (itching) temples by the superior or excellent type of

elephants in rut ; here is the path or track of the '*Ruru*' deer being rendered tawny or reddish by the dry leaves having been sprinkled over with the drops of blood that had fallen (upon them); here is the mass of the leaves and branches (of trees) crushed or trampled down by the feet of elephants crushed or trampled down by the feet of elephants [lit. 'those having two (or a pair of) tusks or teeth']; here is the sporting (spot or mark of sporting) of the herds of rhinoceroses ; this is the path or track of the lions, on which (or where) there is, (as it were), a terrible or formidable ornamental line of marks having been formed or imprinted on it with the pointed ends of the claws thereof : [The reference here, in the word 'पत्रलेखा' is to 'the wavy lines, drawn up as an ornament on the cheeks or breasts of ladies with musk, saffron or sandal woodpaste, etc.' The path had lines of the red marks of blood on it, formed by the blood-stained claws of the lions; and hence it resembled a 'पत्रलेखा' or 'पत्रभङ्ग'], which (path or track) is (marked) red with blood, and is uneven or bristling (as it were,—lit. 'toothed ') with or on account of the masses of pearls (dropped down from the temples) of elephants ; this is the ground or spot, made red with blood from the womb of a recently delivered wild female deer ; this is the rambling path, stained or soiled with ichor, of the leader of a herd (of elephants), which had wandered away or gone astray from (or, as some would have it, 'moved about in the company of ') its herd, and which (path) resembles, as it were, the braid of hair of the (lady-like) forest , here is the row or line of the '*chamari*' or the Yak deer (' of the tails of which chowries are made '). Let us follow or pursue it ; let this region or tract of the

forest which is dusty with the dried up dung of the deer, be ever so quickly or promptly entered or occupied by us ; get upon or climb up the top of trees ; look into this direction; listen to this sound; take up your bows; be attentive or on your guard; let loose (*i. e.*, go or slip) the hounds."

२७––अथ नातिचिरादिवानुलेपनार्द्रमृदङ्गध्वनिधीरेण गिरिविवरविजृम्भितप्रतिनादगम्भीरेण शबरशरताडितानां केसरिणां निनादेन संत्रस्तयूथमुक्तानामेकाकिनां च संचरतामनवरतकरास्फोटमिश्रेण जलधररसितानुकारिणा गजयूथपतीनां कण्ठगर्जितेन सरभससारमेयविलुप्यमानावयवानामालोलकातरतरलतारकाणामेणकानां च करुणकूजितेन निहतयूथपतीनां वियोगिनीनामनुगतकलभानां च स्थित्वा स्थित्वा समाकर्ण्य कलकलमुत्कर्णपल्लवानामितस्ततः परिभ्रमन्तीनां प्रत्यग्रपतिविनाशशोकदीर्घेण करिणीनां चीत्कृतेन कतिपयदिवसप्रसूतानां च खड्गिधेनुकानां त्रासपरिभ्रष्टपोतान्वेषिणीनामुन्मुक्तकण्ठमतिकरुणमारसन्तीनामाक्रन्दितेन तरुशिखरसमुत्पतितानामाकुलाकुलचारिणां च पत्ररथानां कोलाहलेन रूपानुसारप्रधावितानां च मृगयूनां युगपदतिरभसपादपाताभिहताया भुवः कम्पमिव जनयता चरणशब्देन कर्णान्ताकृष्टज्यानां च मदकलकुररकामिनीकण्ठकूजितकलेन शरनिकरवर्षिणां धनुषां निनादेन पवनाहतिक्वणितधाराणामसीनां च कठिनमहिषस्कन्धपीठपातिनां रणितेन शुनां च सरभ-

सविमुक्तघर्घरध्वनीनां वनान्तरव्यापिना ध्वानेन सर्वतः प्रचलितमिवं तदरण्यसभवत्। अचिराच्च प्रशान्ते तस्मिन्मृगयाकलकले निर्वृष्टमूकजलधरवृन्दानुकारिणि मथनावसानोपशान्तवारिणि सागर इव स्तिमिततामुपागते कानने मन्दीभूतभयोऽहमुपजातकुतूहलः पितुरुत्सङ्गादीषदिव निष्क्रम्य कोटरस्थ एव शिरोधरां प्रसार्य संत्रासतरलतारकः शैशवात्किमिदमिति समुपजातदिदृक्षस्तामेव दिशं चक्षुः प्राहिणवम्।

२७—अथ—अनन्तरम्। नातिचिरादेव—ईषत्कालानन्तरम्। सर्वतः प्रचलितमिव तदरण्यमभवत् इति वक्ष्यमाणेनान्वयः। अनुलेपनार्द्रमृदङ्गध्वनिधीरेण द्रवद्रव्यावलेपक्लिन्नमुरजध्वानगभीरेण। अनुलेपनेन आर्द्रः मृदङ्गः तस्य ध्वनिवद् धीरस्तेन। तृतीयान्तानि प्रचलितमितिक्रियायाः कारणानि। गिरिविवरजृम्भितप्रतिनादगम्भीरेण। पर्वतगह्वरप्रतिशब्दधीरेण। गिरिविवरेषु विजृम्भितः प्रतिनादः तेन गम्भीरः तेन। शवरशरताडितानाम् - व्याधबाणपीडितानाम्। शबराणां शरैस्ताडितास्तेषाम्। केसरिणाम्—मृगेन्द्राणाम्। निनादेन—ध्वानेन। संत्रस्तयूथमुक्तानाम्—किरातभीतगणपरित्यक्तानाम्। संत्रस्तेन यूथेन मुक्ताः तेषाम्। एकाकिनाम्—असहायानाम्। संचरताम्—भ्रमताम्। अनवरतकरास्फोटमिश्रेण—निरन्तरशुण्डाघातध्वनिमिलितेन। अनवरतं कराणामास्फोटेन मिश्रस्तेन। जलधररसितानुकारिणा मेघगर्जनसदृशेन। जलधरस्य रसितमनुकरोति तेन।

गजयूथपतीनाम्—करिगणस्वामिनाम् । गजानां यूथाः तेषां पतयः तेषाम् । कण्ठगर्जितेन—गलध्वनिना । सरभससारमेयविलुप्यमानावयवानाम्—सवेगकुक्कुरीच्छद्यमानाङ्गानाम् । सरभसैः सारमेयैः विलुप्यमानाः अवयवाः येषां तेषाम् । अतएव । आलोलकातरतरलतारकाणाम्—अश्रुव्याप्तदीनातिचपलकनीनिकानाम् । आलोलाः कातराः तरलतारकाः येषाम् तेषाम् । एणकानाम्—मृगाणाम् । च । करुणकूजितेन—शोकसूचकध्वनिना । करुणं कूजितं तेन । निहतयूथपतीनाम्—व्यापादितगणश्रेष्ठगजानाम् । निहताः यूथपतयो यासां तासाम् । वियोगिनीनाम्—पतिवियुक्तानाम् । अनुगतकलभानां च—पश्चातशावकानाम् । अनुगताः कलभाः यासां तासाम् । स्थित्वा स्थित्वा – आस्थाय आस्थाय । कलकलम्—किरातकोलाहलम् । समाकर्ण्य—श्रुत्वा । उत्कर्णपल्लवानाम्—उन्नमितपत्राकारश्रोत्राणाम् । इतस्ततः—समन्तात् । परिभ्रमन्तीनाम—विचरन्तीनाम् । करिणीनाम्—हस्तिनीनाम् । प्रत्यग्रपतिविनाशशोकदीर्घेण—अचिरस्वामिमरणशुगायतेन । चीत्कृतेन—आर्त्तक्रन्दितेन । कतिपयदिवसप्रसूतानाम्—अल्पदिवसप्रसूतवतीनाम् । कतिपयान् दिवसान् प्रसूताः तासाम् । खड्गिधेनुकानाम—गण्डकभार्य्याणाम । त्रासपरिभ्रष्टपोतकान्वेषिणीनाम् — भययूथविमुक्तशावकगवेषिणीनाम् । उन्मुक्तकण्ठम्—सतारस्वरम् । उन्मुक्तः कण्ठो यस्मिन् कर्मणि तत् । आरसन्तीनाम्—शब्दायमानानाम् । आक्रन्दितेन—आर्त्तनिनादेन । तरुशिखरसमुत्पतितानाम्—वृक्षोपरिभागोड्डीनानाम् । तरुणां शिखरेभ्यः समुत्पतिताः तेषाम् । आकुलाकुलचारिणाम्—अत्याकुलविचरणशीलानाम् । पत्त्ररथानाम्—पतत्रिणाम् ।

पत्रं रथो येषां तेषाम् । कोलाहलेन--कलकलेन । आकुलमाकुलं चरन्ति तेषाम् । रूपानुसारप्रधावितानाम्--मृगानुगमनवेगगामिनाम्--रूपाणामनुसारेण प्रधाविताः तेषाम् । 'रूपं मृगेऽपि विज्ञेय'-मितिहलायुधः । मृगयूनाम्--शवराणाम् । युगपदतिरभसपादपाताभिहतायाः--महावेगपादन्यासताडितायाः । अतिरभसेन पादपातैः अभिहता तस्याः । भुवः--भूमेः । कम्पमिव जनयता--कम्पयता । चरणशब्देन--शादध्वनिना । कर्णान्ताकृष्टज्यानां च--आकर्णसमाकर्षितधनर्गुणानाम् । कर्णान्तमाकृष्टा ज्या येषाम् तेषाम् । शरनिकरवर्षिणाम् वाणव्रजपातिनाम्--शराणां निकरान् वर्षन्ति तेषाम् । धनुषाम् । कार्मुकाणाम् । मदकलकुररकामिनीकण्ठकूजितकलेन--मत्तोत्क्रोशकान्तागलध्वनिमधुरेण । मदकलानां कुररकामिनीनाम् कण्ठस्य कूजितवत् कलकलस्तेन । निनादेन--ध्वानेन । पवनाहतिक्वणितधाराणाम्--मरुदाघातशब्दायमाननिशितभागानाम् । पवनस्याहत्या क्वणिता धारा येषाम् तेषाम् । कठिनमहिषस्कंधपीठपातिनाम्--कठोरगवलांसोर्ध्वभागशायिनाम् । असीनाम्--खड्गनाम् । रणितेन--क्वणितेन । सरभसविमुक्तघर्घरध्वनीनाम्--सवेगकृतघर्घराख्यशब्दानाम् । सरभसं विमुक्ताः घर्घरध्वनयो यैस्तेषाम् । शुनाम्--सारमेयाणाम् । वनान्तरव्यापिनाम्--अन्यकाननगामिनाम् । ध्वानेन--शब्देन । तत्--पूर्वमभिहितम् । अरण्यम् । सर्वतः--समन्तात् । प्रचलितमिव--कम्पितमिव । अभवत्--जातम् । अचिराच्च--शीघ्रमेव--पूर्वोक्ते । मृगयाकलकले--आखेटकोलाहले । प्रशान्ते--शमिते वा समाप्ते ॥ निर्वृष्टमूकजलधरकृकवाकुकारिणि--नितान्तकृतवर्षनीरवमेघसमूहशब्दे । निर्वृष्टाः

अतएव मूका: ये जलधरा: तेषां वृन्दमनुकर्त्तुं शीलमस्य तस्मिन् । मथनावसानोपशान्तवारिणि—मंथनसमाप्तिनिश्चलजले । मथनस्यावसाने उपशान्तं वारि यस्य तस्मिन् । सागरे इव--समुद्रे इव । कानने । स्तिमितताम्--निश्चलताम् । उपागते—प्राप्ते सति । मन्दीभूतभय:—अपगतभीति: । अमन्दम्मन्दंभूतं मन्दीभूतं भयं यस्य स: । अहम्--वैशम्पायन: । उपजातकुतूहल:---प्राप्तकौतुक: । पितु:—जनकस्य । उत्सङ्गात्--अङ्कात् । निष्क्रम्य--निर्गत्य । ईषदिव--अल्पमिव । कोटरस्थ एव--तरुविवरस्थित एव । शिरोधराम्—ग्रीवाम् । प्रसार्य्य—विस्तार्य्य । संत्रासतरलतारक:—भीतिचपलकनीनिक: । शैशवात्--बाल्यात् । किमिति--एतत्किमस्ति । संजातदिदृक्ष:---उत्पन्नदर्शनेच्छ: । तामेव—दिशि तस्यामेवाशायाम् । चक्षु:—लोचनम् । प्राहिणवम्—प्रहितवान् ।

२७—इसके पश्चात् वह वन चारों ओर से (अनेक प्रकार की ध्वनियों से) काँपने-सा लगा । (आगे यह बताया गया है कि ये ध्वनियाँ क्यों, कैसे और किनके द्वारा की जा रही थीं) । भीलों के बाणों से आहत सिंह गर्जन कर रहे थे । यह गर्जन, लेप लगाये जाने के कारण गीले, मृदंग की ध्वनि के समान गम्भीर था और पर्वत की गुफा में फैलती हुई प्रतिध्वनि के कारण और भी बढ़ गया था । डरे हुए अपने यूथ (झुंड) से भटके हुए और इस कारण अकेले घूमते हुए हाथियों के यूथपति चिग्घाड़ रहे थे । बार-बार सूँड़ पटकने के कारण होने वाले स्वर से मिल कर उनका चिग्घाड़ना ऐसा प्रतीत होता था मानो बादलों का गर्जन हो । तेज (शिकारी) कुत्ते (कृष्ण वर्ण के) मृगों के अंगों को विदीर्ण कर रहे थे, जिससे उनके कातर नेत्र क्षुब्ध और चंचल हो रहे थे और वे करुण क्रन्दन कर रहे थे । वियोगिनी हथिनियाँ, जिनके (पति) यूथपति मार डाले गये थे, इधर-उधर भटकती हुई चीत्कार कर रही थीं । उनके पतियों की मृत्यु हाल ही में हुई थी अतएव

शोक के आवेग के कारण उनका चीत्कार अत्यन्त तीव्र था। उनके बच्चे भी उनके पीछे-पीछे चले जा रहे थे। वे (हथिनियाँ) रुक-रुक कर और अपने कर्ण-पल्लवों को खड़ा करके (शिकारियों के द्वारा किये जाने वाले) कोलाहल को सुन लेती थीं। हाल ही में व्यायी हुई गैंडों की मादाओं के बच्चे डर के कारण भटक गये थे और वे उन्हें ढूँढ़ती हुई उन्मुक्त स्वर से अत्यन्त करुण आर्तनाद कर रही थीं। पेड़ों की चोटियों से उड़कर अत्यन्त आकुलता से मँडराने वाली चिड़ियाँ कोलाहल कर रही थीं। मृगों अथवा पशुओं का पीछा करते हुए शिकारियों के पैर एक साथ अत्यन्त वेग से पृथ्वी पर पड़ते थे अतएव उनके चरणों से जोरों की ध्वनि उत्पन्न हो रही थी जिससे पृथ्वी काँप-सी रही थी। धनुषों की प्रत्यञ्चा को कान तक खींच कर बाण-समूह की वर्षा की जा रही थी और उनसे कुरर पक्षी (चकवा) की मदमत्त मादा के कण्ठ से निकलने वाले कूजन के समान शब्द हो रहा था। (आकाश में घुमाने के समय) वायु के आघात के कारण सनसनाती हुई तलवारों के, जंगली भैंसों के कन्धों पर पड़ने के कारण ध्वनि उत्पन्न हो रही थी। जोरों से गुर्राने वाले कुत्ते भूँक रहे थे और उनके भूँकने का शब्द वन के अन्दर (या दूसरे वनों तक में) गूँज रहा था। समुद्र-मन्थन के बाद, वर्षा होने के पश्चात्, शान्त मेघसमूह के समान सागर का जल जिस प्रकार शान्त हो जाता है उसी प्रकार थोड़ी ही देर में उस शिकार के कोलाहल के शान्त हो जाने पर जब वह वन निःशब्द हो गया तब मेरा (वैशम्पायन शुक का) भय कम हुआ और मुझे उत्सुकता हुई (कि क्या बात है) अतएव मैंने पिता की गोद से कुछ निकल कर अपने कोटर में बैठे-बैठे अपनी गर्दन फैलाकर उसी दिशा में अपनी दृष्टि डाली, क्योंकि बचपन के कारण मुझमें यह देखने की इच्छा उत्पन्न हो गई थी कि देखूँ क्या बात है। उस समय डर के कारण मेरी पुतलियाँ चञ्चल हो रही थीं।

शब्दार्थ—अनुलेपनार्द्र०—मृदङ्ग आदि पर लगाए जाने वाले मसाले आदि के लेप से गीला; सारमेय :—कुत्ता; एणकाणाम्—मृगों का; यूथपति—

(हाथियों के) झुंड का सरदार; अनुगतकलभानां—जिनके पीछे हाथियों के बच्चे आ रहे थे; उत्कर्ण···नाम्—जिनके कर्णरूपी पल्लव ऊपर उठे हुए थे; खड्गिधेनुका—गैंडे की मादा; आरसन्ती—शब्द करती हुई, रूपं—मृग, 'रूपं मृगेऽपि विज्ञेयमितिहलायुध',' मृगयूनां—शिकारियों का, ज्या—धनुष की डोरी; रणितं—शब्द, दिदृक्षा—देखने की इच्छा, चक्षुः प्राहिणवम्—दृष्टि भेजी अर्थात् डाली।

27—Then not very long after, indeed (*i. e.*, only or just after a short while, or very soon afterwards), that forest became agitated or shaken, as it were, on all sides, by a roaring, which was deep or profound like the sound of a drum or tabour (of a particular variety called the *Mridang*). that is wet or moist on account of the application of or being smeared with the flour paste, and which was intensified or made louder with or on account of its echoes or reverberations, spreading through or getting enhanced or heightened within the caves of the hills or mountains, —of the lions that were shot or struck with the arrows of the *Shabaras* or *Kiratas* (a savage or barbarian mountaineer tribe of people); - by the trumpetting or roaring from their throats of the leaders of the herds of elephants, that were deserted by (or strayed awsy from) their frightened or terrified herds, and were (therefore) wandering or rambling about alone or in isolation (*i e.*, all by themselves), which (roaring) was mixed up with (the noise produced by) the ceaseless or incessant (*i e*, constant) striking of their trunks (on the ground or against some other object), and resembled or imitated the thundering of the clouds;—by the piteous cry of (*i. e*, raised by) the black deer or antelopes, whose limbs were being torn off or pulled up to pieces by the impetuous or furiously

energetic hounds, and the pupils of whose (eyes) were agitated, restlessly terrified and tremulous,—by the shrieking cries or trumpetting yells,—that were continued or long drawn out on account of their sorrow or grief at the recent destruction of their lords or husbands (*i. e.*, male comrades),—of the she-elephants, whose (husbands, namely, the) leaders of the herds were killed, who were (thus) separated (from their husbands or their herds), and who were followed by their young ones, who, having at intervals stopped short or paused, and heard the confused noise or buzzing din (of the crowd), had their leaf-like ears raised or standing erect (to hear the same), and who were (aimlessly) running or wandering about hither and thither;—by the woeful crying or screaming of the female rhinoceroses that were delivered of only a few days before, that were searching for their young ones which were lost or strayed away (lit. 'fallen or dropped off' from the herd) on account of fright or terror, and that were very copiously (lit. 'with their throats or voice being given a full play or free scope,' *i. e.*, plentifully) and extremely piteously crying out;—by the tumultuous chirping noise of (*i. e.*, made by) the birds that (confusedly) flew up or hovered over the tops of trees, and moved about in great confusion or agitation;—by the sound or noise of the (trampling or treading with their) feet of the hunters, who ran in pursuit of the beasts, which (noise) produced or caused a shaking or quaking, as it were, of the earth, as (i. *e.*, when) it was simultaneously struck with the fall or treading of their feet with great force;—by the great or sharp twanging sound, which was sweet or agreeable like the cooing noise from the throat of the female ospreys chirping

with intoxication, of the bows, the strings of which were drawn or pulled up to the end of the ears (*i.e.*, at full stretch or to the highest pitch of their strength or reach), and which were discharging a flight or showering a volley of arrows ;—by the clashing sound of the swords, the blades or sharp edges of which were made to resound or produce a whizzing sound as the wind struck or beat against them (lit. 'by the beating or striking against them of the wind'), and which fell upon the hard humps or 'backs of the shoulders' of the (wild) buffaloes ;—and lastly by the barking sound, which filled up or pervaded the internal regions (or interiors) of the forest, of the hounds which vehemently or forcibly gave out a growling yell. And soon after on that din or tumultuous noise of hunting having subsided or come to an end, and on the forest having become quiet or tranquil (lit. 'attained to quietness', *i.e.*, on the forest having resumed its usual peacefulness), like the ocean, as it were, which resembled or imitated a group or mass of clouds that was quiet (*i.e.*, not thundering) on account of having(already) showered down all its waters, and which had its waters wholly subsided at the end or conclusion of the (great) churning, I, whose fear had abated, and who had a curiosity aroused in me, having only a little got or crawled out of the lap of my father, though keeping still within the hollow or cavity, having extended or stretched out my neck, with the pupils of my eyes (being still) restless on account of the great fear or terror, and having a desire to see as to what it was, aroused or excited in me on account of my infancy, cast my eyes or directed my attention in that very direction.

२८---अभिमुखमापतच्च तस्माद्वनान्तरादर्जुनभुजदण्ड-सहस्रविप्रकीर्णमिव नर्मदाप्रवाहमनिलवशाच्चालितमिव-तमालकाननमेकीभूतमिव कालरात्रीणां यामसंघातमञ्जन-शिलास्तम्भसंभारमिव क्षितिकम्पविघूर्णितमन्धकारपुञ्जमिव रविकिरणाकुलितमन्तकपरिवारमिव परिभ्रमन्तमवदारितर-सातलोद्भूतमिव दानवलोकमशुभकर्मसमूहमिवैकत्र समा-गतमशेषदण्डकारण्यवासिमुनिजनशापसार्थमिव संचरन्तमन-वरतशरनिकरवर्षिरामनिहतखरदूषणबलनिवहमिव तदप-ध्यानात्पिशाचतामुपगतं कलिकालबन्धुवर्गमिवैकत्र संगत-मवगाहप्रस्थितमिव वनमहिषयूथमचलशिखरस्थितकेसरि-कराकृष्टिपतनविशीर्णमिव कालमेघपटलमखिलरूपविनाशाय धूमकेतुजालमिव समुद्गतमन्धकारितकाननमनेकसहस्रसंख्य-मतिभयजनकमुत्पातवेतालव्रातमिव शबरसैन्यमद्राक्षम् ।

शबरसेनावर्णनम्—

२८—तस्मात् पूर्वोक्तात्—वनान्तरात्—काननमध्यात् । वन-स्यान्तरन्तस्मात् । अभिमुखम्—सम्मुखम् । आपतत्—आगच्छत् । शबरसैन्यमद्राक्षमित्यग्रिमेणान्वयः । अर्जुनभुजदण्डसहस्रविप्रकीर्णम् —कार्त्तवीर्य्यबाहुदण्डदशशतविक्षिप्तम् । नर्मदाप्रवाहमिव रेवास्रोतः इव । अर्जुनस्य भुजदण्डैः सहस्रं विप्रकीर्णस्तम् । पुरा कार्त्तवीर्य्यः सहस्रभुजैः नर्मदाप्रवाहं विकीर्य्य जलक्रीडां कृतवानिति रामायणकथा । अनिलचलितम्—वायून्मीलितम् । तमालकाननमिव—तापिच्छवन-

मिव । निविडत्वम्—समानवर्णत्वं च दीर्घाकृतित्वं चेति तमालवने सैन्ये च समानमिति भावः । एकीभूतम्—एकत्रितम् । कालरात्रीणाम्—संहारनिशानाम् । यामसंघातमिव—प्रहरसमूहमिव । अञ्जनशिलास्तम्भसम्भारमिव—कज्जलमहापाषाणमययूपसमूहमिव । क्षितिकम्पविघूर्णितम्—भूमिकम्पनचलितम् । रविकिरणाकुलितम - सूर्यरश्मिविक्षोभितम् । अंधकारपुञ्जमिव—ध्वान्तप्रवाहमिव । परिभ्रमन्तम्—चलन्तम् । अन्तकपरिवारमिव—यमकुटुम्बमिव । अवदारितरसातलोद्भूतम्—विदीर्णभूतलोत्थितम् । दानवलोकमिव—असुरजनतामिव । एकत्रसमागतम्—पुञ्जीभूतम् । अशुभकर्मसमूहमिव—दुरितपुञ्जमिव । संचरन्तम्—भ्रमन्तम् । अशेषदण्डकारण्यवासिमुनिजनशापसार्थमिव— अशेषवदण्डकाख्यवनवास्तव्यऋषिलोकाक्रोशसमूहमिव—दण्डके अरण्ये वसन्ति तेषां मुनिजनानां शापानां सार्थस्तम् । तदपध्यानात् रामदुश्चिन्तनात् । पिशाचताम्—गुह्यकताम् । उपगतम्—प्राप्तम् । अनवरतशरनिकरवर्षिरामनिहतखरदूषणबलनिवहमिव—निरन्तरबाणपुञ्जपातिराघवव्यापादितखरदूषणराक्षससैन्यमिव । अनवरतं शरनिकरान् वर्षति तेन रामेण निहतं खरदूषणयोर्बलन्तत् । संगतम्—सम्मिलितम् । कलिकालबंधुवर्गमिव—कलियुगसुहृत्समूहमिव । अवगाहप्रस्थितम्—स्नानचलितम् । अव+गाह्+घञ्—अवगाहः । वनमहिषयूथम्—काननसैरिभपुञ्जम् । इव । अचलशिखरस्थितकेसरिकराकृष्टिपतनविशीर्णम्—पर्वतशृङ्गगतसिंहहस्ताकर्षणभ्रंशनविकीर्णम् । अचलस्य शिखरे स्थितस्य केसरिणः कराभ्यामाकृष्टिः तया पतनम् तेन विशीर्णस्तम् । कालमेघपटलम्—कृष्णजलदनिचयम् इव । कालानां मेघानां पटलस्तम् । अखिलरूपविनाशाय—

सर्वमृगमृत्यवे । अखिलानां रूपाणां विनशस्तस्यै । समुद्गतम्—उत्थितम् । धूमकेतुजालमिव—वह्निसमूहमिव । धूमः केतुर्येषां तेषाम् जालं तत् । अंधकारितकाननम्—सञ्जातभ्रमसकलवनम् । अंधकारितमशेषं काननं येन तत् । अनेकसहस्रसंख्यम—बहुदश-शतसंख्याकम् । अनेकानि सहस्राणि संख्या यस्य तत् । अतिभयजनकम्—महाभीतिदम् । उत्पातवेतालव्रतमिव—अमङ्गल-भूताधिष्ठितशवसमूहमिव । उत्पाताय वेतालास्तेषां व्रातस्तम् । शबरसैन्यम्—वनेचरबलम् । अद्राक्षम्—दृष्टवान् ।

२८—(शुक कह रहा है)—"और (तब मैंने) उस जंगल से (निकल कर) सम्मुख आते हुए शबर-सैन्य को देखा। वह ऐसा प्रतीत होता था मानो सहस्रार्जुन अथवा कार्तवीर्य के सहस्रों भुजदण्डों के द्वारा अनेक धाराओं में बंटकर बहता हुआ नर्मदा नदी का प्रवाह हो, (अथवा) वायु के जोर से हिलता हुआ (कृष्ण वर्ण का) तमाल वृक्षों का वन हो, (अथवा) प्रलय-रात्रि में कालरात्रि के विभिन्न प्रहरों का, एक में पुञ्जीभूत, समूह हो, (अथवा) भूकम्प के द्वारा लुढ़क कर एक स्थान पर एकत्रित हुआ काजल की शिलाओं का स्तम्भ समूह हो, (अथवा) सूर्य की किरणों से आकुल हो कर एक जगह पर इकट्ठा हुआ अन्धकार-समूह हो, (अथवा) चारों ओर घूमता हुआ यम के अनुचरों का समूह हो, (अथवा) पाताल-लोक को विदीर्ण करके ऊपर (भूतल पर) आया हुआ दानव-लोक हो, (अथवा) अशुभ कर्म-समूह ही (क्योंकि अशुभ कर्मों का वर्ण काला माना गया है) इकट्ठा होकर आ गया हो, (अथवा) दण्डक वन में रहने वाले सम्पूर्ण मुनियों के शाप का कारवाँ ही विचरण कर रहा हो, (अथवा) लगातार शर-समूह की वर्षा करके राम के द्वारा मारा हुआ खर और दूषण का सैन्य-समूह ही, उनका (भगवान् राम का) बुरा सोचने के कारण पिशाच योनि को प्राप्त हो गया

हो, (अथवा) कलियुग का बन्धुवर्ग ही एक स्थान पर एकत्र हो गया हो, (अथवा) जंगली भैंसों का झुंड (किसी जलाशय में) अवगाहन करके (डुबकी लगाकर) चल पड़ा हो, (अथवा) पर्वत-शिखर पर बैठे हुए सिंहों के पंजों से विदीर्ण होकर गिरा हुआ काला-काला (या प्रलयकालीन) मेघ-समूह हो, (अथवा) समस्त पशुओं (अथवा सम्पूर्ण रूप अर्थात् सौन्दर्य) का विनाश करने के लिए निकला हुआ धूमकेतुओं (अथवा रूप पक्ष में धूम है केतु जिसका, ऐसे अग्नि) का जाल (समूह) हो। उनके (शबर-सैन्य के) वहाँ आने पर सम्पूर्ण वन में अँधेरा-सा छा गया। उनकी संख्या कई हजार थी और उत्पात करने वाले वैतालों के समूह के समान वे दिखाई पड़ते थे।—"

शब्दार्थ—अर्जुन :—इसकी सहस्र भुजाएँ थीं अतएव इसे सहस्रार्जुन भी कहा जाता है। कृतवीर्य का पुत्र होने के कारण इसका एक दूसरा नाम कार्तवीर्य भी है। रामायण के अनुसार एक बार इसने अपनी सहस्र भुजाओं से नर्मदा नदी के प्रवाह को रोककर जलक्रीड़ा की थी। कालरात्रि—प्रलय-कालीन रात्रि अथवा घोर अँधेरी रात; यामसंघातम्—रात्रि में चार याम होते हैं, वह शबर सेना ऐसी प्रतीत होती थी मानो चारों याम एकत्रित होकर वहाँ आ गये हों; अन्तकपरिवारम्—यम का परिवार; अशुभ कर्म०—अशुभ कार्यों का वर्ण काला माना गया है। इसी प्रकार शाप का वर्ण भी काला माना गया है।

28—And approaching or coming in haste (lit. 'coming flying' or 'flying', *i.e.*, rushing in or on) towards us from the interior of that forest (or 'an army ') of the *Shabaras* (a wild mountaineer tribe of people) or hunters, *which* was like the stream of the (river) Narbadaa, scattered about (*i.e.*, divided or split up into various streamlets or in various directions), as it were, by the thousand staff-like arms (lit. 'arm-staves or staffs') of (Karta-virya or Sahashra—) Arjuna (who was endowed with a '*thousand arms*' and was hence

called *Sahashrrajuna*, and also patronymically as Karta-virya, *i.e.*, the 'son of Krita-virya'); *which* was like a forest of *Tamala* trees (name of a tree with a very dark bark, but white blossoms,—'Xanthochymus Pictorius') set in motion by or agitated, as it were, under the influence of the wind; *which* was like a close combination or collection of the wandering stars or night-watchers (A *Yama* or *Prahara* is the period or watch of three hours, or eighth part of a day) of the nights of universal destruction or merely of dark nights, having become or been rolled into one (*i.e.*, blended or contracted together into one), as it were;—like a group or assemblage of pillars (made up) of the slabs of collyrium or antimony, as it were, having been rolled or whirled about by an earth-quake;—like a collective mass or store of darkness, as it were, having been disturbed or agitated by the rays of the sun;—like the attendants of the God of death, as it were, roaming or wandering about;—like the whole race or community of the demons or giants, as it were, having emerged or risen up from the lower region or world after having burst through the same (lit. the 'region that was split or rent up, or made to burst');—like an accumulation or aggregation (*i.e.*, a heap or collection) of evil or inauspicious (or sinful) deeds, as it were, having come or met (*i.e.*, assembled) together;—like a moving company or collective body (lit. 'caravan') of curses in motion, as it were, of the whole body of ascetics residing in the *Dandaka* forest;—like a collective body or multitude of the hosts or forces of (the demons) *Khara* an *dushana* as it were, having been killed by Rama, who showered incessantly a volley or flight of arrows and reduced to the state of fiends or malevolent beings

or spirits ('something between an infernal imp and a ghost always described as fierce and malignant'—Monier-Williams) on account of their having entertained evil thoughts about Him (*i.e.*, Rama) ;—like the whole body of relations or the entire circle of kinsmen or kindred of the *Kali* or Iron Age, as it were having collected or gathered together in one place ;—like a herd of wild buffaloes, as it were, set out for a plunge or dive (into some river or pool of water) ;—like a mass of dark clouds (or clouds appearing at the time of universal destruction), as it were, lying shattered or broken to pieces by or on account of a fall, due to their having been hurriedly seized or snatched at (lit. 'by a drawing ') with their paws by lions happening to be (lit. 'remaining or standing ') on the tops of mountains ; - like a network or host (*i.e.*, collection, multitude or assemblage) of comets (or 'a mass or heap of fire ', lit. that 'whose sign or mark, *i.e.*, ensign is smoke '), as it were, having risen or sprung up together (or 'broken out' in the case of fire) for the destruction of all the animals or beasts (or in the case of fire 'of all the external forms or loveliness,' - of the forest); - which (force of *Shabaras*) rendered the forest dark (by its presence upon it), which numbered or the number of which was several thousands, and which, like a host or multitude of ghosts or goblins foreboding or portending evil, as it were, was productive of a very great fear or terror.

२९——मध्ये च तस्यातिमहतः शबरसैन्यस्य प्रथमे वयसि वर्तमानमतिकर्कशत्वादायसमिव निर्मितमेकलव्यमिव जन्मान्तरागतमुद्भिद्यमानश्मश्रुराजितया प्रथममदलेखा-

मण्डयमानगण्डभित्तिमिव गजयूथपतिकुमारकमसितकुवलयश्यामेन देहप्रभाप्रवाहेण कालिन्दीजलेनेव पूरितारण्यमाकुटिलाग्रेण स्कन्धावलम्बिना कुन्तलभारेण केसरिणमिव गजमदमलिनीकृतेन केसरकलापेनोपेतमायतललाटमतितुङ्गघोरघोणमेककर्णाभरणतामुपनीतस्य भुजंगफणमणेरापाटलैरंशुभिरालोहितीकृतेन पर्णशयनाभ्यासाल्लग्नपल्लवरागेणेव वामपार्श्वेन विराजमानमचिरप्रहतगजकपोलगृहीतेन सप्तच्छदपरिमलवाहिना कृष्णागुरुपङ्केणेव सुरभिणा मदेन कृताङ्गरागमुपरि तत्परिमलान्धेन भ्रमता मायूरातपत्रानुकारिणा मधुकरकुलेन तमालपल्लवेनेव निवारितातपमालोलकर्णपल्लवव्याजेन भुजबलनिर्जितया भयप्रयुक्तसेवया विन्ध्याटव्येव करतलेनापमृज्यमानगण्डस्थलस्वेदलेखमापाटलया हरिणकुलक्षयरात्रिसंध्यायमानया शोणितार्द्रयेव दृष्ट्या रञ्जयन्तमाशाविभागानाजानुलम्बेन कुञ्जरकरप्रमाणमिव गृहीत्वा निर्मितेन चण्डिकारुधिरबलिप्रदानार्थमसकृन्निशितशस्त्रोल्लेखविषमितशिखरेण भुजयुगलेनोपशोभितमन्तरान्तरालग्नश्यानहरिणरुधिरबिन्दुना स्वेदजलकणिकाचितेन गुञ्जाफलविमिश्रैः करिकुम्भमुक्ताफलैरिव रचिताभरणेन विन्ध्यशिलातलविशालेन वक्षःस्थलेनोद्भासमानमविरतश्रमाभ्यासादुल्लिखितोदरमिभमदमलिनमालानस्तम्भयुगलमुपहसन्तमिवोरुदण्डद्वयेन लाक्षालोहितकौशेयपरिधानमकारणेऽपि

क्रूरतया बद्धत्रिपताकोग्रभ्रुकुटिकराले ललाटफलके प्रबलभक्त्याराधितया मत्परिग्रहोयमिति कात्यायन्या त्रिशूलेनेवाङ्कितमुपजातपरिचयैरनुगच्छद्भिः श्रमवशाद्दूरविनिर्गताभिः स्वभावपाटलतया शुष्काभिरपि हरिणशोणितमिव क्षरन्तीभिर्जिह्वाभिरावेद्यमानखेदैर्विवृतमुखतया स्पष्टदृष्टदन्तांशून्दंष्ट्रान्तराललग्नकेसरिसटानिव सृक्कभागानुद्वहद्भिः स्थूल-वराटकमालिकापरिगतकण्ठैर्महावराहदंष्ट्राप्रहारजर्जरैरल्पकायैरपि महाशक्तित्वादनुपजातकेसरैरिव केसरिकिशोरकैर्मृगवधूवैधव्यदीक्षादानदक्षैरनेकवर्णैः श्वभिरतिप्रमाणाभिश्च केसरिणामभयप्रदानयाचनार्थमागताभिः सिंहीभिरिव कौलेयककुटुम्बिनीभिरनुगम्यमानं कैश्चिद्गृहीतचमरबालगजदन्तभारैः कैश्चिदच्छिद्रपर्णबद्धमधुपुटैः कैश्चिन्मृगपतिभिरिव गजकुम्भमुक्ताफलनिकरसनाथपाणिभिः कैश्चिद्यातुधानैरिव गृहीतपिशितभारैः कैश्चित्प्रमथैरिव केसरिकृत्तिधारिभिः कैश्चित्क्षपणकैरिव मयूरपिच्छवाहिभिः कैश्चिच्छिशुभिरिव काकपक्षधरैः कैश्चित्कृष्णचरितमिव दर्शयद्भिः समुत्खातविधृतगजदन्तैः कैश्चिज्जलदागमदिवसैरिव जलधरच्छायामलिनाम्बरैरनेकवृत्तान्तैः शबरवृन्दैः परिवृतमरण्यमिव सखड्गधेनुकमभिनवजलधरमिव मयूरपिच्छचित्रचापधारिणं बकराक्षसमिव गृहीतैकचक्रमरयानुजसिबोद्धूतानेकमहानागदशनं भीष्ममिव

शिखण्डिशत्रुं निदाघदिवसमिव सततार्विर्भूतमृगतृष्णं विद्याधरमिव मानसवेगं पराशरमिव योजनगन्धानुसारिणं घटोत्कचमिव भीमरूपधारिणमचलराजकन्यकाकेशपाशमिव नीलकण्ठचन्द्रकाभरणं हिरण्याक्षदानवमिव महावराहदंष्ट्रा-विभिन्नवक्षःस्थलमतिरागिणमिव कृतबहुबन्दीपरिग्रहं पिशि-ताशनमिव रक्तलुब्धकं गीतकलाविन्यासमिव निषादानुगत-मम्बिकात्रिशूलमिव महिषरुधिरार्द्रकायमभिनवयौवनमपि क्षपितबहुवयसं कृतसारमेयसंग्रहमपि फलमूलाशनं कृष्ण-मप्यसुदर्शनं स्वच्छन्दप्रचारमपि दुर्गैकशरणं क्षितिभृत्पादा-नुवर्तिनमपि राजसेवानभिज्ञमपत्यमिव विन्ध्यस्यांशावतार-मिव कृतान्तस्य सहोदरमिव पापस्य सारमिव कलिकालस्य भीषणमपि महासत्त्वतया गम्भीरमिवोपलक्ष्यमाणमनभि-भवनीयाकृतिं मातङ्गकनामानं शबरसेनापतिमपश्यम् । अभिधानं तु पश्चात्तस्याहमश्रौषम् ।

शबरसेनापतिवर्णनम्

२९——अतिमहतः——अतिशयविस्तृतस्तः । तस्य पूर्वोक्तस्य । शबरसैन्यस्य——किरातबलस्य । मध्ये——अन्तः । मातङ्गकनामानम् —शबरसेनापतिमपश्यमिति दूरेणान्वयः । प्रथमे——पूर्वे । वयसि—— आयुषि । वर्त्तमानम्——विद्यमानम् । तरुणमित्यर्थः । उपचया-पचयभेदेन——द्विविधामवस्थां स्वीकुर्वताम् मतेनेदम् । द्वितीयान्तानि सेनापतिविशेषणानि । अतिकर्कशत्वात्——नितान्तकठिनत्वात् ।

आयसमिव--लोहनिर्मितमिव । जन्मान्तरागतम्--द्वितीयजनने समुपस्थितम् ।। अन्यंज्जन्म जन्मान्तरम् तत्रागतस्तम् । एकलव्यमिव--एकलव्याख्यकिरातमिव । धनुर्वेदनिपुणम् इत्यर्थः। पुरा एकलव्याख्यो नाम शबरः द्रोणाचार्य्यंप्रतिकृतिं विधाय धनुर्वेदं प्राप्तवानिति महाभारतकथा । उद्भिद्यमानश्मश्रुराजितया प्रथममदलेखामण्डयमानगण्डभित्तिम्--आविर्भूयमानमुखलोमपंक्तितया नूतनश्यामदानवारिरेखालंक्रियमाणकपोलदेशम् । उद्भिद्यमाना श्मश्रुराजिर्यस्य तस्य भावस्तत्ता तया । प्रथमया मदलेखया मण्डयमाने गण्डभित्ती यस्य तम् । गजयूथपतिकुमारमिव—करीन्द्रशिशुमिव । असितकुवलयश्यामलेन--नीलाम्बुजनीलेन । असितं यत्कुवलयं तद्वत् श्मामलस्तेन । देहप्रभाप्रवाहेण--शरीरकान्तिस्रोतसा । देहस्य प्रभायाः प्रवाहस्तेन । कालिन्दीजलेनेव कलिन्दगिरिनन्दिनीवारिणेव । कलिन्दस्य पर्वतविशेषस्यापत्यं कालिन्दी । कलिन्द+इञ् कालिन्द+ङीप् कालिन्दी । अरण्यम्—विपिनम् । पूरयन्तम्—आव्यापयमानम् । मदजलमलिनीकृतेन--हस्तिदानवारिमलीमसीकृतेन । केसरकलापेन --जटापुञ्जेन । उपेतम् सहितम् । केसरिणमिव—सिंहमिव । आकुटिलाग्रेण--ईषद्वक्राग्रभागेन । आ-ईषत् कुटिलोऽग्रो यस्य तेन । अत्रेषदर्थे आङ् । स्कंधावलंबिना—अंससमाश्रितेन । स्कंधौ अवलम्बते तेन । गजमदमलिनीकृतेन--करिदानमलीमसेन । कुन्तलभारेण—केशपुञ्जेन । उपेतम्--युक्तम् । आयतललाटम् --दीर्घभालदेशम् । अतितुङ्गघोरघोणम्—अत्युन्नतभीमनासिकम् । अतितुङ्गा घोरा घोणा यस्य तम् । 'घोणा नासा च नासिके'त्य-

मरः । एककर्णाभरणताम्—केवलश्रोत्रभूषणताम् । उपनीतस्य—प्रापितस्य । भुजगफणमणेः—सर्पमस्तकस्थितरत्नस्य । 'रत्नः श्रेष्ठे मणावपि' इत्यमरः । भुजगस्य फणायाम् मणिस्तस्य । आपाटलैः—ईषत्श्वेतरक्तैः । अंशुभिः—रश्मिभिः । आलोहितीकृतेन—ईषद्रक्तेन । पर्णशयनाभ्यासात्—पत्रशयनपौनःपुन्यात् । लग्नपल्लवरागेणेव—संसक्तपत्ररञ्जितम्नेव । लग्नः पल्लवानां रागो यस्मिन् तेन । वामपार्श्वेण—सव्यकुक्षिभागेन । विराजमानम्—शोभमानम् । अचिरहतगजकपोलगृहीतेन—सद्योमारितकरिकरनीतेन—अचिरं हतो यो गजस्तस्य कपोलाभ्यामागृहीतस्तेन । सप्तच्छदपरिमलवाहिना—सप्तपर्णतरुसौरभधारिणा । सप्तच्छदस्य परिमलं वहति तेन । कृष्णागुरुपंकेनेव—कृष्णसुगंधिद्रव्यकर्दमेनेव। सुरभिणा गंधवता । मदेन दानवारिणा । कृताङ्गरागम्—विहितदेहविलेपनम् । कृतोऽङ्गरागो येन तम् । तत्परिमलांधेन—गजमदसौरभविह्वलेन । तस्य परिमलेनांधः तेन । उपरिपरिभ्रमता—ऊर्ध्वंभागे संचरता । मायूरपिच्छातपत्रानुकारिणा—वर्हिवर्हच्छत्रसदृशेन । तमालपल्लवेनेव—तापिच्छतरुदलेनेव । मधुकरकुलेन—भ्रमरनिचयेन । निवारितातपम्—दूरीकृतधूपम् । आलोलपल्लवव्याजेन—चलत्पत्रमिषेण । आलोलानां पल्लवानां व्याजस्तेन । भुजबलनिर्जितया—बाहुशक्तिस्वायत्तीकृतया । भयप्रयुक्तसेवयेव—भीतिकृतपरिचर्य्ययेव । भयेन प्रयुक्ता सेवा यया तया । विंध्याटव्या । करतलेन—हस्तेन । अपब्रज्यमानगण्डस्थलस्वेदलेखम्—निवार्यमाणकपोलघर्मविन्दुश्रेणिकम् । अपब्रज्यमाना गण्डस्थलयोः स्वेदलेखा यस्य तम् । आपाटलया—ईषल्लोहितया । हरिणकुलकाल-

रात्रिसंध्यायमानया--मृगसमूहसंहारनिशा सायंकालवदाचरन्त्या । हरिणानां कुलस्य या कालरात्रिः तस्याः संध्या इवाचरन्त्या । सम्+ध्यै+अङ् । शोणितार्द्रया इव--रक्तक्लिन्नयेव । शोणितेनार्द्रा तया । दृष्ट्या---दृशा । आशाविभागान्--दिग्विभागान् । रञ्जयन्तमिव--रक्तीकुर्वन्तमिव । आजानुलम्बिना--जानुपर्य्यन्तपातिना । दिक्कुंजरकरप्रमाणम्--गजशुण्डदण्डदण्डायामम् । गृहीत्वा इव--आदाय इव । दिशः कुंजरस्य करस्य प्रमाणम् तत् । कुञ्जो हस्तिहनुरस्त्यस्य सः कुंजरः । रप्रकरणे ख मुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम् इति वार्त्तिकेन रप्रत्ययः । निर्मितेन--कृतेन । चण्डिकारुधिरबलिप्रदानार्थम्--कात्यायनीरक्तोपहारसमर्पणाय । चण्डिकायै रुधिरस्य बलिः तस्य प्रदानायेदम् तत् । असकृन्निशितशस्त्रोल्लेखविषमितशिखरेण--अनेकधातीक्ष्णखण्डघर्षणनिम्नोन्नताग्रभागेन। असकृत् निशितस्य शस्त्रस्य उल्लेखेन विषमितं शिखरं यस्य तेन ।। भुजयुगलेन--बाहुद्वयेन । उपशोभितम्--विराजितम् । अन्तराऽन्तरा लग्नश्यानहरिणरुधिरबिन्दुना--मध्यमध्यसंसक्तघनमृगशोणितपृषता । अन्तराऽन्तरा लग्नाः श्यानाः हरिणरुधिरस्य बिन्दवो यस्य तेन । स्वेदजलकणिकाचितेन--घर्मजलपृषद्व्याप्तेन । स्वेदजलस्य कणिकाभिराचितं तेन । गुंजाफलमिश्रैरिव--गुंजिकाप्रसवमिलितैरिव । करिकुम्भमुक्ताफलैः--गजकपोलमौक्तिकैः । करिणां कुम्भेषु मुक्ताफलानि तैः । विरचिताभरणेन--निर्मितालंकारेण । विंध्यशिलातलविशालेन--विंध्याद्रिमहापाषाणतलविस्तीर्णेन । वेः शाच्छंकटचौ इति सूत्रेण विशब्दात् शालच् प्रत्ययः विशालः । वक्षस्थलेन--उरस्थलेन । उद्भासमानम्--दीप्यमानम् । अविरतश्रमा-

भ्यासात्--निरन्तरपरिश्रमपौनःपुन्यात् । अविरतं श्रमस्याभ्यासस्तस्मात् । उल्लिखितोदरम्--कृशजठरम् । उरुदण्डद्वयेन--जंघायुग्मेन । इभमदमलिनम्--गजदानमलीमसम् । इभमदेन मलिनस्तम् । आलानस्तम्भयुगलम्--हस्तिबंधनस्थूणद्वयम् । उपहसन्तमिव--निराकुर्वन्तमिव । लाक्षालोहितकौशेयपरिधानम्--जतुरक्तकृमिकोशोत्थाच्छादनम् । लाक्षया लोहितं कौशेयपरिधानं यस्य तम् । अकारणेऽपि--क्रोधहेत्वभावेऽपि । क्रूरतया--कठिनस्वभावतया । बद्धत्रिपताकोदग्रभ्रुकुटिकराले--कृतपताकाकारत्रिलेखोन्नतप्रमीलाभयानके । बद्धा त्रिपताका यया सा चासौ उदग्रा भ्रुकुटिः तया करालन्तस्मिन् । ललाटपट्टे--विस्तीर्णभालदेशे । प्रवलभक्त्याराधितया--प्रौढश्रद्धासेवितया । कात्यायन्या--दुर्गया । कतस्यगोत्रापत्यं स्त्री, कात्यायनी । कत+यञ्, कात्य+ष्फः कात्यायन+ङीप् कात्यायनी । मत्परिग्रहोऽयमिति--मदीय परिवारोऽसौ अतः । त्रिशूलेन--त्रयः शूला यस्मिन् तेन । स्वकीयशस्त्राग्रभागेण । अङ्कितमिव--चिह्नितमिव । उपजातपरिचयैः--जातसौहार्द्दैः । अनुगच्छद्भिः--पश्चाद्व्रजद्भिः । श्रमवशात्--मार्गगमनखेदात् । दूरविनिर्गताभिः--विप्रकृष्टनिर्याताभिः । स्वभावपाटलतया--प्रकृतिश्वेतरक्ततया । शुष्काभिरपि--नीरसाभिरपि । हरिणशोणितम्--मृगरुधिरम् । क्षरन्तीभिः इव--स्रावयन्तीभिः इव । जिह्वाभिः--रसनाभिः । आवेद्यमानखेदैः--बोध्यमानश्रमैः । विवृतमुखतयास्पष्टदृष्टदन्तांशून्--व्यक्तावलोकितदशनरश्मीन् । स्पष्टं दृष्टा दन्तांशवो येषु तान् । दंष्ट्रान्तरालललनकेसरिसटानिव--दन्तमध्य-

संसक्तसिंहजटान् इव । सृक्कभागान्—ओष्ठप्रान्तान्—उद्वहद्भिः । धारयद्भिः । स्थूलवराटकमालिकापरिगतकण्ठैः—पीनकपर्दकमाल्यव्याप्तग्रीवैः । स्थूलानां वराटकानां मालाभिः परिगताः कण्ठा येषान्तैः । महावराहदंष्ट्राप्रहारजर्जरैः—प्रौढसूकराघातक्षताङ्गैः । महावराहाणां दंष्ट्राणां प्रहारेण जर्जरास्तैः । अल्पकायैरपि—स्तोकदेहैरपि । महाशक्तित्वात् – वृहत्शक्तिशालित्वात् । अनुपजातकेसरैः—नोत्पन्नजटैः । केसरिकिशोरकैरिव—सिंहशावकैरिव । मृगवधूवैधव्यदीक्षादानदक्षैः—हरिणीविधवात्वव्रतपाठननिपुणैः । मृगवधूनां वैधव्यस्य दीक्षाया दाने दक्षास्तैः । अनेकवर्णैः—विविधरूपैः । श्वभिः—सारमेयैः । अतिप्रमाणाभिः—विस्तृतदेहाभिः । केसरिणाम्—सिंहानाम् । अभयप्रदानयाचनार्थम्—अभीतिसमर्पणप्रार्थनायै । अभयस्य प्रदानं तस्य याचनायै इदन्तत् । आगताभिः—उपस्थिताभिः । सिंहीभिरिव—केसरिभार्याभिरिव । कौलेयककुटुम्बिनीभिः—सारमेयवनिताभिः । कुले भवः कौलेयकः । कुलशब्दात् ढकञ् भवार्थे । शुनि अर्थेवाच्ये सति । कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वास्यलंकारेषु इतिसूत्रेण । अनुगम्यमानम्—अनुव्रज्यमानम् । इतः परं तृतीयान्तानि परिवृतमितिक्रियायाः कर्त्त पदस्य शवरवृन्दैरित्यस्य विशेषणानि । कैश्चित्—कतमैः। गृहीतचामरवालगजदन्तभारैः । धृतचमरमृगपुच्छलोमकरिदशनसमूहैः । गृहीताः चमरवालानां गजदन्तानां भाराः यैस्तैः । कैश्चित् । अच्छिद्रपर्णबद्धमधुपुटैः—नीरंध्रपत्रनिर्मितधृतमाक्षिकनिलयैः अच्छिद्रैः पर्णैः बद्धानि पर्णपुटानि यैस्तैः । कैश्चित् । मृगपतिभिरिव—सिंहैरिव । गजकुम्भमुक्ताफलनिकरसनाथपाणिभिः—करिमस्तक-

मौक्तिकराशिसहितहस्तः। गजानां कुम्भेषु मुक्ताफलानि तेषां निकरास्तैः सनाथाः पाणयो येषां तैः। कैश्चित्। यातुधानैरिव—पुण्यजनैरिव। 'यातुधानः पुण्यजनः' इत्यमरः। गृहीतपिशितभारः—धारितमांसराशिभिः। कैश्चित्। प्रमथैरिव—शिवपारिषदैरिव 'प्रमथाः स्युः पारिषदाः' इत्यमरः। केसरिकृत्तिधारिभिः—सिंहचर्मग्राहिभिः। केसरिणां कृत्तीः धारयन्ति तैः। कैश्चित् क्षपणकैरिव—नग्नैः बौद्धसंन्यासिभिरिव। मयूरपिच्छवाहिभिः—नीलकण्ठवर्हधारिभिः—मयूराणां पिच्छं वहन्ति तैः। कैश्चित्। शिशुभिरिव—बालकैरिव। काकपक्षधरैः—वायसपतत्रधारिभिः। पक्षे शिखण्डकधारिभिः। 'काकपक्षः शिखण्डक' इत्यमरः। वालकैः शिशुत्वे शिखण्डधारणादितिभावः। कैश्चित्। कृष्णचरितम् दर्शयद्भिरिव—हरिसमाचारप्रकटयद्भिरिव। समुत्खातविधृतगजदन्तैः—उत्पाटितगृहीतकरिदशनैः। कृष्णपक्षे उत्पाटितगृहीतकुवलयापीडहस्तिदशनैः। समुत्खाताः विधृताः गजदन्ताः यैस्तैः। कृष्णेन कुवलयापीडगजस्य दन्तमुत्पाट्य गृहीत्वा तेनेव दन्तेन तं हस्तिनम् तस्य हस्तिपकं च व्यापादितमिति भागवतवृत्तम्। कैश्चित् जलदागमदिवसैरिव—वर्षाकालदिनैरिव। जलदानामागमस्य दिवसास्तैः। जलधरच्छायामलिनाम्बरैः—मेघकान्तिनीलवसनैः। जलधराणां छायावत् मलिनानि अम्बराणि येषां तैः। पक्षे जलधराणां छायाभिः मलिनमम्बरं येषु तैः। अनेकवृत्तान्तैः—विविधव्यापारैः। अनेके वृत्तान्ता येषां तैः। शबरवृन्दैः—किरातसंघैः। परिवृतम्—परिवेष्टितम्। अरण्यमिव। सखड्गधेनुकम्—छुरिकासहितम्। पक्षे गण्डकगोसहितम्। विद्यमानाः खड्गाधेनवो वा

धेनुकाः यस्मिन् तत् । अथवा वनपक्षे द्वीपिरेणुसहितम् । छुरिका चासिधेनुका । धेनुका तुरेण्वां चेत्युभयत्रामरः । अभिनवजलधरमिव—नवीनमेघमिव । मयूरपिच्छचित्रचापधारिणम् । वर्हिवर्हनानावर्णधनुर्ग्राहिणम् । गृहीतैकचक्रम्—आयत्तीकृतैकचक्रनामकनगरीकम्, पक्षे—धृतकेवलचक्राख्यास्त्रम् । गृहीता एकचक्रा येन तम् । पक्षे गृहीतमेकचक्रं येन तम् । वकराक्षसमिव—वकनामकदैत्यमिव । 'पूर्वं वकनामा राक्षसः एकचक्रायां पुरि जनसंहारेणाधिकमुपद्रवं कृतवान् तदा तत्रत्यो नृपः मया एको जनस्तुभ्यं प्रत्यहं दातव्यः इतिनियमं कृत्वा तत्रत्यजनतां ररक्ष । कदाचित् अग्निदग्धजतुगृहात् पलायितानां पाण्डवानां मध्ये भीमं कस्यचित् ब्राह्मणस्य वाटे कुन्ती प्राहिणोत् । भीमस्तु तं राक्षसं निजघान' इति महाभारतकथा । अरुणानुजमिव—गरुडमिव । अरुणस्य सूर्य्यसारथेः अनुजः तम् इव । 'सूर्य्यसूतोऽरुणोऽनुरुः' इत्यमरः । उद्धृतानेकमहानागदशनम्—उत्पाटितबहुविशालगजदन्तम् । पक्षे उत्खातविविधबृहत्सर्पदंष्ट्रम् । उद्धृता अनेके महानागानां दशना येन तम् । दश्यतेऽनेन तद्दशनम्, दंश्+करणेल्युट् । भीष्ममिव—गांगेयमिव । शिखण्डिशत्रुम्—मयूरवैरिणम्—पक्षे शिखण्डिनामकद्रुपदराजसुतरिपुम् । शिखण्डिना शत्रुस्तम् । पक्षे शिखण्डिनः शत्रुस्तम् ।

'पुरा अम्बालिकानाम्नी काशीराजसुता भीष्मेण सह स्वविवाहार्थंप्रतिज्ञावती भीष्मेण च नाङ्गीकृता सा अतः अम्बालिका भीष्मं द्वितीयजन्मनि हन्तुं प्रतिज्ञाय मृता अतोऽन्यजन्मनि द्रुपदराजस्य शिखण्डिनीनामिका कन्या भूत्वा कस्यचिद्यक्षस्य पुंस्त्वग्रहणात् शिखण्डीनाम्ना प्रसिद्धाऽऽसीदितिमहाभारतकथा ॥'

निदाघदिवसमिव---ग्रीष्मकालदिनमिव । सतताविर्भूतमृगतृष्णम् निरन्तरोत्पन्नहरिणवधेच्छम् । पक्षे संततजातमरीचिकम् । सततमाविर्भूता मृगेषु तृष्णा पक्षे मृगतृष्णा यस्य तम् । विद्याधरमिव---यक्षमिव । मानसवेगम्---शक्तिदर्पशीघ्रगामिनम् । मानसाख्यसरोवरगमनम् । वेगेन सहितः सवेगः मानेन सवेगस्तम् । पक्षे मानसे वेगो यस्य तम् । पराशरमिव---व्यासमुनिपितरमिव । योजनगंधानुसारिणम्---कस्तूरीमृगपश्चाद्धाविनम् । पक्षे योजनगंधाख्यव्यासमात्रनुयायिनम् । योजनव्यापी गंधो यस्य सः कस्तूरीमृगः तमनुसर्त्तुं शीलमस्य तम् । पक्षे पराशरप्रसादात् व्यासमाता सत्यवती अपि योजनगंधा तामनुसर्त्तुं शीलमस्य तम् । घटोत्कचमिव---हिडम्बोत्पन्नभीमसुतमिव । भीमरूपधारिणम्---भयानकाकारवन्तम्, पक्षे---वृकोदरसदृशम् । भीमं रूपं धर्त्तुं शीलमस्य वा भीमस्य रूपं धर्त्तुं शीलमस्य तम् । आत्मा वै जायते पुत्रः इतिस्मृतेः सुतस्य पितृच्छायासदृशत्वादितिभावः । अचलराजकन्यकाकेशपाशमिव---गौरीकबरीभारमिव । न चलतीति अचलः । चल्+पचाद्यच् चलः ततोनञ्-तत्पुरुषः अचलः । अचलानां पर्वतानां राजा सः राजाहः सखिभ्यष्टजिति समासान्तः अच् । अचलराजस्य कन्यका तस्याः केशपाशः तम् इव । नीलकण्ठचन्द्रकाभरणम्---मयूरमेचकभूषणम्---पक्षे शिवक्षपाकरालंकारम् । नीलकंठानां चन्द्रका एवाभरणं यस्य तम् पक्षे नीलकण्ठस्य शिवस्य चन्द्र एव चन्द्रकः स्वार्थे कन् चन्द्रकं आभरणं यस्य तम् शिवस्य वामार्धजानित्वेन द्वयोरैक्यवद्भासनात् शिवशेखरस्थितस्यापि शशिनोद्वयोभूषणत्वमुपपन्नम । हिरण्याक्षदानवमिव---एतन्नामकहिरण्यकशिपुभ्रातृदैत्यमिव । दनोरपत्यं दानवः दनु+अपत्येर्थे अण् तस्यापत्यमिति । महावराहदंष्ट्राविभिन्नवक्षस्थलम्---वृहत्क्रोडदन्तकृतक्षतोरःस्थलम्---पक्षे हरितृतीयावतारदशनविदारितवक्षसम् । महावराहैः पक्षे महावराहेण दंष्ट्राभिः विभिन्न

वक्षस्थलम् यस्य तम् । पुरा भगवान् हरिः वराहरूपं धृत्वा प्रलय-कालिकसागरनिमग्नं धरामण्डलमुत्थाप्य पर्वतगुहायाम् तिष्ठन् आखेटकाय गच्छता हिरण्याक्षेणावलोकितः गदया ताडितः ततः हरिः दंष्ट्रया हिरण्याक्षवक्षोविदार्य्य तं निहतवान् इति हरिवंश-कथा । अतिरागिणमिव—अतिशयविषयाभिलाषिणम् धनिकम् इव । कृतबहुवन्दिपरिग्रहम्—विहितानेकहठापहृतपरयोषिदायत्ती-कारम् पक्षे संगृहीतविविधस्तुतिपाठकगणम् । कृतः बहूनाम् वन्दी-नाम् परिग्रहो येन तम् । पिशिताशनमिव—मांसभोज्यमिव । रक्त-लुब्धकम्—अनुरक्तव्याधम् । पक्षे रुधिरपानलोलुपम् । रक्ता लुब्धकाः यस्मिन् तम् । पक्षे रक्ते लुब्धकस्तम् । गीतकलाविलास-मिव—गानविद्याव्यापारमिव । निषादानुगतम्—शबरानुसृतम् । पक्षे निषादाख्यस्वरविशेषानुकूलम्—निषादैः पक्षे निषादेनानुगतस्तम् । अम्बिकात्रिशूलमिव—दुर्गात्रिशूलाख्यशस्त्रमिव—महिषरुधिरार्द्रका-यम् । सैरिभरक्तक्लिन्नदेहम् । पक्षे महिषासुरशोणितस्विन्नशरीरम् । महिषाणां पक्षे महिषासुरस्य रुधिरेणार्द्रः कायो यस्य तम् । अभिनव-यौवनमपि—नवीनतारुण्यमपि । क्षपितबहुवयसम्—गमिताधिका-युषमिति विरोधः तरुणतापा बहुकाला भावात् । परिहारपक्षे तु विनाशितानेकविहगम् । अत्र विरोधाभासोऽलंकारः 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते इति तल्लक्षणात् । उभयपक्षेऽपि क्षपितानि' बहूनि वयांसि येन तम् । कृतसारमेयसंग्रहमपि—संगृहीत-धनधान्यराशिमपि, कृतः साराणां मेयानां च संग्रहो येन तम् । फलमूलाशनम् प्रसवकन्दभोजिनम् इतिविरोधः परिहारपक्षे विहित-कुक्कुरसंग्रहम् इत्यर्थः । कृतः सारमेयाणां संग्रहो येन तम् । फलानि

मूलानि चाश्नाति तम्--फलमूलाशनम् । कृष्णमपि असुदर्शनम्--नविष्णुमपि सुदर्शनचक्ररहितम् इति विरोधः, परिहारपक्षे तु--कृष्णवर्णमपि भयानकाकृतिम् इत्यर्थः । सुदर्शनेन रहितस्तम् । तथा न सुष्ठु दर्शनं यस्य तम् । स्वच्छन्दप्रचारमपि दुर्गैकशरणम्--यथेच्छविचरणशीलमपि दुर्गनगराश्रयम् इति विरोधः परिहारपक्षे तु--कात्यायनीरक्षिकम् । 'शरणं गृहरक्षित्रोरित्यमरः ।' स्वच्छन्देन प्रचारो यस्य तम् स्वच्छन्दप्रचारम् । यथेच्छसंचारिणम् । दुर्गं नगरं पक्षे दुर्गा एकं शरणं यस्य तम् । क्षितिभृत्पादानुवर्त्तिनमपि राजसेवानभिज्ञम्--राजचरणसेविनमपि राजपरिचर्य्यापरिचितम् । इति विरोधः । परिहारे तु--प्रत्यन्तपर्वतस्थायिनमपि । क्षितिं विभर्त्ति तस्य पादौ वा पादान् अनुवर्त्तते तम् । राज्ञः सेवाया अनभिज्ञस्तम् । अपत्यमिव--सन्तानमिव । न पतन्ति पितरः नरकादौ अनेन तदपत्यम् । विंध्याचलस्य । कृतान्तस्य--यमस्य । अंशावतारमिव--गृहीतावयवसामर्थ्यमिव । कृतः प्राणिनामन्तो येन सः कृतान्तः । अंशेनावतारस्तम् । पापस्य दुरितस्य सहोदरमिव--भ्रातरमिव । सह समानं उदरं यस्य तम् सहोदरम् । कलिकालस्य--कलियुगस्य । सारथिमिव--सूतमिव । 'सूतः क्षत्ता च सारथिरित्यमरः ।' भीषणमपि--भयानकदर्शनमपि । महासत्वतया प्रौढबलशालितया । महत् सत्वं यस्य तस्य भावस्तत्ता तया । गम्भीरमिवोपलक्ष्यमाणम्--गभीराकारतया दृश्यमानम् । अनभिभवनीयाकृतिम्--भयावहप्रभाशालिस्वरूपम् । मातङ्गनामानम्--मातङ्गनामधेयम् । शबरसेनापतिम्--मातङ्ग इतिनाम यस्य तम् । किरातसैन्याध्यक्षम् । शबराणाम् सेनायाः पतिस्तम् । अपश्यम्--दृष्टवान् ।

तस्य--मातङ्गस्य । अभिधानं नाम तु । पश्चात्---पुनः । अहस्--वैशम्पायनः । अश्रौषम्--श्रुतवान् ।

२६—और उस अत्यन्त विशाल भीलों की सेना के बीच में मैंने एक नयी उमर वाले (अर्थात् यौवन को प्राप्त) शवर-सेनापति को देखा । वह अत्यन्त कठोर होने के कारण लोहे का बना हुआ-सा प्रतीत होता था और ऐसा मालूम होता था मानो एकलव्य ही दूसरा जन्म लेकर उत्पन्न हुआ हो । दाढ़ी के बालों का निकलना प्रारम्भ हो गया था, इस कारण वह गजराज के उस शावक-सा, जिसका गण्डस्थल मदजल की प्रथम धार से सुशोभित हो, दिखाई पड़ता था, नील कमल के समान श्यामल अपने शरीर की कान्ति के प्रवाह से उस वन को यमुना के (नीले) जल से भर-सा रहा था, कन्धों पर लटकते हुए और सिरे की ओर घुंघराले केशभार के कारण हाथी के मदजल से मलिन केसर (गर्दन के केश-समूह) से युक्त सिंह के समान था, उसका माथा चौड़ा था, नाक अत्यन्त ऊँची और भयंकर थी । उसके शरीर का वाम भाग, एक कान में (केवल बायें कान में) आभूषण के रूप में पहनी हुई सर्प-मणि की कुछ गुलाबी-सी किरणों से कुछ रक्त वर्ण हो गया था अतएव ऐसा मालूम पड़ता था मानो (लाल रंग के नये) पल्लवों पर सोते रहने के कारण उन पल्लवों की लालिमा से लाल-सा हो गया हो, सप्तपण (वृक्ष-विशेष) के (पुष्पों के) पराग की सुगन्ध धारण करने वाले, काले अगर के लेप के समान सुगन्धित, हाल ही में मारे हुए हाथी के गण्डस्थल से गृहीत मदजल का अङ्गराग (लेप) वह लगाये हुए था । इस (लेप) की सुगन्ध से अन्धे होकर (उसके ऊपर) मँडराने वाले और मोरपंख के बने छत्र के समान दिखाई पड़ने वाले भौंरों का समूह ऐसा मालूम पड़ता था मानो धूप से बचने के लिए तमाल के पत्तों से छाया की गई हो । उसने अपनी भुजाओं के बल से विंध्याटवी को जीत लिया था इसलिए ऐसा मालूम पड़ता था मानो वह (अटवी) भय से उसकी सेवा में लगकर (सेनापति के द्वारा आभूषण रूप में) कानों में धारण किये गये और (वायु के कारण)

हिलते हुए पल्लवों के वहाने (अर्थात् पल्लव रूपी) अपने हाथों से कपोलों पर वहती हुई पसीने की धार पोंछ रही हो। वह हरिण-समूह के विनाश-रात्रि की संध्या के समान (लोहित), रक्त से गीली-सी और कुछ लाल-सी अपनी दृष्टि से दिशाओं के भागों को रञ्जित-सा कर रहा था। घुटने तक पहुँचती हुई उसकी दोनों भुजाएँ, जिनका ऊपरी अग्रभाग (या कंधा) कालिका देवी को रक्त की वलि देने के लिए वरावर चलाये गये तीक्ष्ण शस्त्रों के संघर्षण से खुरदरा (अर्थात् गड्ढों से युक्त) हो गया था, इस प्रकार शोभायमान हो रही थीं मानो हाथी की सूँड़ का नाप लेकर वनायी गयी हों (अर्थात् वे हाथी की सूँड़ के समान सुन्दर थीं)। विन्ध्यपर्वत की शिला के समान विशाल उसका वक्षःस्थल वीच-वीच में हिरन के रक्त की सूखी वूँदों के लगे होने और पसीने की वूँदों से व्याप्त होने के कारण इस प्रकार सुशोभित हो रहा था मानो वह (लाल) गुंजाफल (घुँघची) से मिश्रित हाथी के मस्तक के श्वेत मुक्ताओं को आभूषण रूप में धारण किये हो। लगातार परिश्रम करते रहने के कारण उसका पेट कृश हो गया था, उसकी दोनों जंघाएँ (इतनी सुदृढ़ और सुडौल थीं कि) मानो वे मदजल से मलिन, हाथी वाँधने के दो स्तम्भों का उपहास-सा उड़ा रही हों। उसका पहनने का रेशमी वस्त्र लाख के रंग से लाल था। विना किसी कारण (केवल स्वाभाविक) क्रूरता की वजह से (मस्तक पर होने वाली) तीन रेखाओं से युक्त उसका माथा, ऊँची भृकुटि से अत्यन्त विकराल दिखाई देता था और ऐसा मालूम पड़ता था कि उसकी प्रवल भक्ति-भावना से पूजित होकर भगवती दुर्गा ने—'यह मेरी कृपा का पात्र है'— यह सोचकर उसके माथे को अपने त्रिशूल से अंकित कर दिया हो। उसके पीछे-पीछे उससे खूव मिले हुए अनेक वर्णों के (शिकारी) कुत्ते चले आ रहे थे। उनकी जिह्वाएँ यद्यपि सूख रही थीं तव भी सहज रूप से लाल होने के कारण ऐसी मालूम होती थीं जैसे उनसे हिरनों का रक्त वह रहा हो और इस समय थक जाने के कारण काफी वाहर निकली हुई उनकी इन जिह्वाओं से उनका

(थकान का) दुःख प्रकट हो रहा था। उनके मुख खुले हुए थे, अतएव उनके ओठों के कोनों से स्पष्ट दिखाई देने वाले उनके दाँतों की किरणें (चमक) ऐसी मालूम होती थीं मानो उनकी दाढ़ों के वीच लगे हुए सिंह की गर्दन के बाल हों। बड़ी-बड़ी कौड़ियों के कण्ठे उनके गले में पड़े हुए थे। विशाल जंगली सुअरों के (दाँतों के) प्रहार से उनके शरीर क्षत-विक्षत हो रहे थे। शरीर छोटा होने पर भी अत्यन्त शक्तिशाली होने के कारण वे सिंह के उन शावकों के समान दीख पड़ते थे, जिनके केसर (गर्दन के बाल) अभी नहीं निकले हों; वे हिरनियों को वैधव्य (व्रत) की दीक्षा देने में निपुण थे (अर्थात् मृगों का संहार कर मृगियों को विधवा बना देते थे)। (इसके अतिरिक्त) उस शबर-सेनापति के पीछे विशाल आकारवाली कुतियाँ आ रही थीं, जो सिंहों के लिए अभय माँगने आई हुई सिंहनियों के समान प्रतीत होती थीं। वह (शबर-सेनापति) विभिन्न प्रकार की क्रियाओं में लगे हुए भीलों से घिरा हुआ था। उनमें से कुछ चमर-मृग के बाल और हाथी के दाँतों के बोझ लिये हुए थे; कुछ छिद्र-रहित पत्तों में बँधे, शहद से भरे हुए दोने लिये हुए थे; कुछ के हाथों में सिंहों के समान, गज-मस्तक के मुक्ता-समूह थे; कुछ राक्षसों की तरह मांस का भार उठाए हुए थे; कुछ शंकर के गणों के समान सिंहचर्म धारण किये हुए थे; कुछ बौद्ध अथवा जैन (दिगम्बर) संन्यासियों के समान मोरपंख लिये हुए थे (उपर्युक्त संन्यासी अपना मार्ग साफ करने के लिए मोरपंख की बनी झाड़ू लिय रहते हैं); कुछ शिशुओं के समान काक-पक्ष धारण किये हुए थे (शिशुओं के काकपक्ष—घुँघराले बाल होते हैं, भील काकपक्ष—कौओं के पर—धारण किये हुए थे)। हाथी के दाँतों को उखाड़कर उन्हें हाथों में लिये हुए कुछ ऐसे प्रतीत होते थे मानो कृष्ण की लीलाओं का प्रदर्शन-सा कर रहे हों (कंस ने कृष्ण को अपनी राजसभा में बुलवाकर उनका वध करने के लिए कुवलयापीड नामक हाथी को छोड़ा था, परन्तु कृष्ण ने उस हाथी का दाँत उखाड़ कर हाथी तथा महावत को मार डाला); कुछ के अम्बर (वस्त्र) मेघ की छाया (अर्थात् मेघ के रंग) के समान मलिन थे;

अतएव वे वर्षा-ऋतु के दिन के समान थे, क्योंकि उस समय भी अम्बर (आकाश) बादलों के छा जाने के कारण मलिन हो जाता है। वह (शबर-सेनापति) खड्गधेनुका (कटार) से सज्जित होने के कारण खड्ग-धेनुका (गेंडों और हथिनियों) से युक्त वन के समान था। मोर के पंखों के समान अनेक वर्णों के कारण चित्र-विचित्र इन्द्र-धनुष से युक्त नवीन मेघ के समान वह भी लगे हुए मोरपंखों के कारण विविध वर्णों से चित्र-विचित्र धनुष धारण किये हुए था। एकचक्रा (नामक नगरी) हथिया लेने वाले बक राक्षस के समान वह भी हाथ में एक चक्र लिये हुए था। अनेक महानागों (महासर्पों) के दाँत उखाड़ने वाले (सूर्य देव के सारथी) अरुण के अनुज (गरुड़) के समान उसने भी अनेक महानागों (विशाल हाथियों) के दाँत उखाड़े थे; शिखण्डी (द्रुपद-पुत्र) के शत्रु भीष्म के समान वह भी शिखण्डियों (मोरों) का शत्रु था। जैसे ग्रीष्म-काल में सदैव (सूर्य की किरणों के कारण) मृगतृष्णा (रेत में जल का भ्रम) प्रकट होता है उसी प्रकार उसके हृदय में भी सदैव मृगतृष्णा (मृगों के मारने की इच्छा) उत्पन्न होती रहती थी। मानस-वेग (मानस-सरोवर की ओर स्नानादि के लिए वेग के साथ जाने वाले) विद्याधर (देवयोनि-विशेष) के समान वह भी मानस-वेग अथवा मान-सवेग (मन के समान वेग वाला अथवा अहंकार के कारण तीव्र गति से चलने वाला) था। जिस प्रकार मुनि पराशर (व्यासमुनि के पिता) योजनगन्धा—(एक धीवर-कन्या, जिसके शरीर की सुगन्धि योजन तक फैलती थी। इसी सुगन्धि से आकर्षित होकर पराशर मुनि उस पर मुग्ध हो गये थे। इसीसे उनके पुत्र व्यास की उत्पत्ति हुई थी)—के पीछे (कामातुर हो) भागे थे उसी प्रकार वह भी योजनगन्ध (कस्तूरी-मृग) के पीछे दौड़ा करता था; वह भीम रूप (अपने पिता भीम के समान रूप वाले) घटोत्कच के समान भीम-रूप (भयंकर रूप वाला) था। नीलकण्ठ (शिव) के (मस्तक के) चन्द्रमा से आभरण रूप में सुशोभित (अर्द्धनारीश्वर रूप में पार्वती का मस्तक भी शिव के भाल-चन्द्र से सुशोभित रहता है) पर्वतराज की कन्या पार्वती के केशपाश की भाँति

(कृष्णवर्ण) वह (शवर सेनापति) भी नीलकण्ठ (मोरों) के पंखों के चन्द्रकों (चन्द्राकार चिह्नों से युक्त मोरपंखों) को आभरण रूप में धारण किये हुए था; जिस प्रकार महावराह (आदिवराहावतार) ने हिरण्याक्ष नामक दानव का वक्षःस्थल अपने दाँतों से विदीर्ण कर दिया था उसी प्रकार महावराह (बड़े-बड़े जंगली सुअरों) के द्वारा उसकी छाती भी विदीर्ण हो चुकी थी। अनेक बन्दी (प्रशस्ति गाने वाले भाटों) का परिग्रह (एकत्रीकरण अर्थात् नियुक्ति) करने वाले विषयी (अथवा धनी) मनुष्य के समान उसने भी बहुत सी बन्दी स्त्रियों (अपहृत स्त्रियों) का परिग्रह (पत्नी, रूप में ग्रहण) किया था। रक्तलुब्धक (रक्त के लोभी) राक्षस (अथवा मांस-भक्षक) के समान वह भी रक्तलुब्धक (अपने व्याधों में अनुरक्त अर्थात् उनसे प्रेम करने वाला), निषाद (संगीत के सप्त स्वरों में अन्तिम और ऊँचा स्वर जिसका रूप सरगम में 'नि' है) से युक्त गानविद्या के व्यापार के समान वह भी निषाद (शूद्र वर्ग की जातिविशेष) से अनुगत था (अर्थात् निषाद उसके साथ-साथ चलते थे); भैंसे के रुधिर से लाल चण्डिका के त्रिशूल के समान उसका शरीर भैंसों के रुधिर से लाल रहा करता था (क्योंकि वह भैंसों का शिकार किया करता था); नव-यौवन होने पर भी उसने बहुत-से वय (पक्षी) मार डाले (क्षपित कर डाले) थे [न कि बहुत वय (आयु) क्षपित कर दी थी (विता दी थी), क्योंकि ऐसा अर्थ करने से विरोध होगा]; सार-मेय [सार (धन) मेय (जिसे तौला या नापा जा सके अर्थात् धान्य)] का संग्रह करने पर भी (विरोधपरिहारार्थ—सारमेय अर्थात् कुत्तों के इकट्ठा करने पर भी)—वह फल-मूल-मात्र का भोजन करता था; काला (न कि कृष्ण के समान) होने पर भी वह अ-सुदर्शन (कुरूप) था (न कि सुदर्शन चक्र से रहित था); स्वच्छन्द विचरण करने वाला होने पर भी वह दुर्गैकशरण था (अर्थात् एक मात्र दुर्गा देवी ही उसकी रक्षा करने वाली थी, न कि एकमात्र दुर्ग अर्थात् किले में ही वह शरण लिया करता था); क्षितिभृत् (पर्वत; राजा) के पाद (तलहटी; चरणों) का अनुवर्ती (रहने वाला; अनुगामी) होने पर भी वह राजसेवा से अनभिज्ञ था; (अपने विशाल एवं

सुदृढ़ शरीर के कारण) वह मानो विन्ध्याचल का पुत्र था; (भयानक आकृति के कारण) अंशावतार-सा था; पाप का सगा भाई-सा और कलियुग का सार-सा था; भयंकर होने पर भी अपनी प्रबल शक्ति और उत्साह के कारण वह अत्यन्त गम्भीर-सा दिखाई पड़ता था; उसकी आकृति ऐसी थी कि उसका (आसानी से) अपमान नहीं किया जा सकता था (अर्थात् उसकी आकृति आतंकित या प्रभावित कर देने वाली थी। उसका नाम तो मैंने (शुक ने) बाद में सुना।

शब्दार्थ—प्रथमे वयसि—यौवनावस्था में; एकलव्य :—महाभारत के अनुसार धनुर्विद्या में अत्यन्त निपुण एक निषाद जिसने द्रोणाचार्य की प्रतिमा बनाकर धनुर्वेद प्राप्त किया था। घोणा—नासिका; मायूर०—मयूर (मोर) के पंखों से बना छत्र; शिखरेण—अग्रभाग से, यहाँ भुजाओं के शिखरों अर्थात् कन्धों की ओर संकेत किया गया है; श्याना :—सूखे हुए, उल्लिखितोदरम्—दुबला होने के कारण चिह्नित अर्थात् पेट निकला हुआ नहीं था, आलानस्तम्भ-युगलम्—आलानस्तम्भ हाथी बाँधने के खम्भों को कहते हैं। उसकी दोनों जँघाएँ ऐसी ही थीं; त्रिपताकाः—पताका के समान तीन रेखाएँ; सृक्कभागान्—ओंठों के कोनों को; वराटकानां—कौड़ियों के; कौलेयक कुटुम्बिनी—कुत्तों की भार्याएँ अर्थात् कुतियाँ; प्रमथाः—शिव के पारिषद; क्षपणकः—दिगम्बर बौद्ध संन्यासी; अतिरागिणी—अत्यन्त विषयी। यहाँ भाव है अत्यन्त धनवान् अर्थात् अपनी प्रशंसा सुनने के इच्छुक धनी, प्रशस्तिगान करने वाले अनेक भाटों को रख लेते हैं; पिशिताशनम्—मांस-भक्षक। पिशित मांस को कहते हैं।

29—And in the midst or centre of that very large army or force of the *Shabara* or hunters, I saw or noticed their army-chief or the leader of those *Shabara* forces, named *Mātangaka*, who was in the prime of his life or youth (lit. 'in the first or early part of his age');—*who*, from or on account of the extreme harshness of his manners or roughness of his exteriors or external features, seemed or appeared as though

he were made of iron or steel, as it were;—*who* was like *Ekalavya* (the son of the king of the *Nishādas*, and a great archer) as it were, having come (*i. e.*, appeared or manifested himself) in another birth (*i. e.*, being born once again);—*who* from the fact of his beard just beginning to grow or make its appearance (lit. sprouting, germinating or breaking forth), was like the young leader (lit. a child or boy of the leader) of a herd of elephants, as it were, having the broad sides (lit. walls) of its temples being decorated or adorned with the first line (*i. e.*, a line of the first exudation) of ichor (appearing on them for the first time);—*who* filled the (whole) forest with the radiation (lit. 'the flow or stream') of the lustre of his body, that was dark like a blue lotus, as though with the (dark) waters of the Jamuna, as it were;—*who*, being possessed of a mass of hair, slightly curling at their tips or ends, and hanging or resting on his shoulders, was like a lion, as it were; endowed with the cluster or tuft of his mane, that was stained or soiled with the ichor of elephants;—*who* had or was possessed of a broad forehead;—*who* had a very elevated and terrible or dreadful nose;—*who* appeared conspicuous or to advantage (lit. 'shining or appearing bright') on account of his left side having been rendered somewhat reddish, with the slightly rosy or pink-coloured rays of (light emanating from) the jewel (found in or extracted) from the hood of a snake; made into or worn as an ornament (lit. 'carried into the state of an ornament') on one (namely, the left) of his ears, and (which left side, as such) seemed as though (it had been so rendered reddish) with the pink colour or reddish hue of the fresh tender leaves, transferred or imparted (lit. 'sticking') to it on account of the usual practice

of his sleeping (or from the fact of his being used or accustomed to sleep or lie) on a bed of leaves;—*who* had his body anointed or smeared with ichor (as though with the application of scented unguents or cosmetics), that was taken from the cheeks or temples of an elephant recently killed or killed not long ago, that bore the fragrance or sweet smell of the '*Sapta.chhada*' blossoms (the '*Sapta-chhada*' or '*Sapta-parna*' meaning literally, 'having seven leaves' is a kind of tree having fragrant blossoms), and that was fragrant or sweet-smelling like the paste (*i. e.*, ointment or unguent) of the black aloe-wood, as it were;—*who* had the heat of the sun warded off (from his body,—*i.e*; who was screened or protected from the heat (or rays of the sun) by means of a swarm of black bees, that was eagerly attracted (lit. blinded) by the fragrance or scent thereof (*i. e.*, of that ichor), and was hovering over the same. and that resembled or seemed to imitate an umbrella (lit. 'that which protects from the heat of the sun') made of the feathers of a peacock, as though with (or by means of) a *Tamāla* leaf, as it were:—*who* had the line of sweat or perspiration on his cheeks or temples being wiped off or removed with the palm of its hand under the guise or pretext of the fresh or tender leaves, that were placed (as an ornament) on his ears, and were trembling or agitated slightly (*i. e.*, waving lightly in the air), by the Vindhya forest as it were, that was conquered by the force of his arms, and that offered its sevices or homage (to him) through fear or terror of him;—*who* was reddening or rendering the (various) divisions of the quarters red with his look or the sight of his eye, that was slightly red in colour, that looked like the evening or twilight preceding the night of destruction of the whole race

of the deer, and that was wet or moist, as it were, with blood;—*who* was adorned or decorated (*i. e.*, was possessed of or endowed) with a pair of arms, which hung down up to, or reached as far as, his knees, which were formed as though after having taken the measure of an elephant's trunk, and the top-ends of which were rendered uneven on account of the cuts or scratches often caused by the sharp (lit. sharpened or whetted) weapons employed in making an offering or oblation of blood to the Goddess Chandikā or Durgā;—*who* was looking splendid or graceful (lit. 'illuminated or lighted up'; 'radiant', on account of his being endowed) with a chest (lit. the place or region of his breast or chest, that had congealed or coagulated (*i. e.*, dried up) drops of blood of the deer, sticking or adhering to it here and there in places in the interior or middle of it, that was spread or covered over (lit. inlaid or set in) with the small or minute particles of sweat or perspiration, that had an ornament, as it were, made or provided for it by the large pearls (extracted) from the temples of elephants, and mixed up (or interspersed) with the *Gunja* berries or fruits (Gunja is a red and black berry, often employed as the smallest measure of a jeweller's weights. It is red all round with a small dark spot on its top), and that was broad or spacious like the surface of a flat stone or rock of the Vindhyas;—*who* had his belly reduced or rendered thin (*i. e.* he did not possess a bulging and unseemly belly), on account of the repetition or constant practice of physical exercise;—*who*, with his two (or the couple of his) rod-like thighs, was deriding or laughing, as it were, at a pair of pillars or posts to which elephants are tied; and which were soiled or stained with the ichor thereof (*i. e.*, of those

elephents);—*who* had his upper garment of silk dyed red with lac juice;—*who* had the broad surface of his forehead,—that had three raised (*'banner like'*) lines or wrinkles formed on it, on account of his (natural) cruelty even though there was no cause for it (*i. e.*, on account of his usual cruel nature, and without or in the absence of any justifiable reason for it), and (hence) made it look terrible (as though) with the dreadful or formidable contraction or knitting of his eye-brows,—marked or stamped with her trident, as it were, by the Goddess Kātyāyinī or Durgā who was worshipped or propitiated (by him) with an ardent or a powerful devotion, and (who did so) thinking or with the idea that *'he was her servant'* (lit. 'This or he is my servant or attendant,'—so thinking she marked him, etc.), *who* was being followed by hounds *that* had become quite familiar with him (lit. 'which had acqaintance or familiarity produced' with him), and were going behind him, *that* seemed to be indicating their fatigue by means of their tongues that lolled or stretched out far (from their mouths) on account of (excessive) exertion, and that (*i. e.*, the tongues), though dry, seemed on account of their natural redness or red colour, to be pouring out or streaming forth (*i. e.*, trickling or oozing out) the blood of the deer, as it were, *that* (*i. e.*, the hounds) had or possessed (lit. carried or bore',—*i. e.*, were endowed with) the corners of their mouths or lips, which, on account of their mouths being wide open, clearly displayed or showed out the brightness or lustre (lit. the points or rays) of their teeth, and which seemed as though the (hair from the) manes of lions were sticking (to them) in the interstices or intervening spaces of their teeth as it were, *that* had their necks encricled or sur-

rounded on all sides (*i. e.,* adorned) with a string or collar (made) of large shells or cowries, *that* were very much wounded or hurt (lit. shattered or battered) with the strokes or thrusts of the tusks of big or large boars, *that,* though having or possessed of short or thin bodies (*i. e.,* though being small-bodied), were, on account of the great strength (that they possessed), like the cubs or young ones of lions, as it were, with their manes not (yet) grown, *that* were clever or skilful in the act of initiating the females (lit. the brides) of the deer into a vow of widowhood, and that were of many or various (*i. e.,* of a variety of) colours, and (who, *i. e.,* the Shabara chief or leader, was being followed) also by bitches or female hounds (lit. 'the wives of the dogs and mothers of a family or household of dogs') that were (unlike the hounds) very huge or bulky (lit. of large dimensions or of a very great magnitude), and were like the lionesses, as it were, (which had) come (as though) to beg or solicit the favour of an amnesty or assurance of safety or protection to the lions; —*who* was surrounded on all sides by a large number or collective body of hunters or *Shabaras*, the accounts of whose doing (lit. 'the end or result of a course of action') were various or manifold (*i. e.,* who were multifariously engaged in a variety of activities as detailed below, namely), *some* of whom were holding (or carrying) a large quantity of hair of the *Chamara* deer and loads of the tusks of elephants (slain in hunting), *some* of whom had (*either* enclosed beehives in leaves without holes, *or*) made cups or concavities (*i. e.,* vessels) of leaves without holes (so that it might not trickle out of it) for holding honey in it, *some* of whom, with their hands full of heaps of pearls taken from the temples of elep-

hants, were like lions as it were, (with pearls sticking or clinging to their paws or claws with which they tore asunder the temples of elephants),—*some* of whom, holding or carrying loads of flesh, were like the demons or *Rākshasas*, as it were,—*some* of whom, holding or carrying the skins of lions, were like the '*Pramathas*' (name of a class of fiends attending on Shiva) or attendants of Shiva, putting on garments made of the skins of lions, as it were,—*some* of whom, carrying bunches of peacocks' feathers, were like the *Kshapanakas* (*i. e.*, the Buddhist or Jain mendicants wearing no garments, who carry a sort of broomstick made of peacock's feathers for sweeping their paths), as it were,—*some* of whom, carrying or holding the *wings of crows* (in their hands), were like children or infants (having *sidelocks of hair on their temples*), as it were,—*some* of whom had uprooted or extracted, and were (then) holding or grasping (in their hands) the tusks of elephants, and (as such) appeared to be exhibiting or displaying the adventurous deed or exploit of Krishna (who too had torn out the tusk of the elephant *Kublayā-Pida*, that had been set upon him by the order of Kansa, and then held it in his hand and used the same as a weapon against him, *i. e.*. Kansa), as it were,—and *some* of whom, putting on or having garments that were dark or dirty like the shade or colour of clouds, were like the days at the advent of the clouds *i. e.*, of the rainy season), as it were, when the sky is dark with the dark shade or colour of the clouds—*who* being (armed or provided) with a small sword or dagger, was like the forest, as it were, being endowed with or having female rhinoceroses in it;—*who*, holding or carrying a bow that looked spotted or variegated on account of the feathers of pea-

cocks (attached to it), was like a new or fresh cloud, as it were, having or bearing a rainbow that was variegated in colour like the feathers of a peacock; —*who*, holding or carrying a *single discus* or sharp circular missile weapon (in his hand), was like the demon *Baka*, as it were, who had captured or taken possession of the city or town of '*Eka-chakrā*;—*who*, having extracted (*i. e*, taken out or uprooted) the tusks of many a large or huge elephant, was like the younger brother of Aruna the (charioteer of the Sun-god,—*i. e.*, like Garuda), as it were, who had taken out the fangs of many a huge serpent;—*who* was an enemy of the *peacocks*; and (as such) was like Bhishma, as it were, having *Shikhandi* as his enemy or adversary [The word '*Shikhandi*,' which means 'a *peacock*' in ordinary parlance, was the name of a person of doubtful sex or gender, while the Mahābharata or the great war was proceeding, he was set up against and placed in front of Bhishma, who, refraining from discharging his own arrows against such a person, was successfully made the target of his arrows by the latter. The pun on this word is thus easily laid bare or explained];—*who* had a thirst for (*i. e.*, an eager desire to kill) deer always apparent or manifested in him, and (as such) was like a day in summer or the hot season, as it were, when there is always or continuously visible or to be seen the (phenomenon of what is called) mirage;—*who* being characterised by or endowed with haste or hurried activity on account of (a feeling or sentiment of) pride (in him),—[or 'with activity, like that of the mind or thought'], was like Vidyādhara (the name of a Yaksha or semi-divine being), as it were, hastening towards the *Manasa* (lake);—*who* followed the musk (deer,—lit. 'whose scent or

fragrance extends for a Yojana,' 'diffusing perfume to the distance of a Yojana,' *i.e.*, musk), and (as such) was like Parāshara, as it were, following or going after *Yojana-gandhā* or Satyavati (the mother of the sage Vyāsa),—*who* had (lit. 'was putting on') a terrible or formidable form or appearance, and (as such) was like *Ghaṭotkacha*, as it were, bearing or putting on (*i. e.*, who had or possessed) a formidable form or form like that of Bhima (whose son he was);—*who*, having as his ornament or being adorned or decorated with the feathers (lit. the eyes on the tails) of peacocks (lit. the 'blue-necked'), was like a cluster or tuft of hair on the head of the daughter of the king of mountains (*i. e.*, of Gauri or Parvati, the daughter of the mountain Himalaya—King of mountains), as it were, being decked with the crescent of the moon (on the forehead) of the god Shiva (in his 'अर्धनारी नर' or '*half male and half female*' form); -*who*, having had the region of his chest wounded or pierced (up in places) with the tusks of big boars was like the demon Hiranyāksha, as it were, who had his chest broken or split asunder with his tusks by the Great Boar (Incarnation of Vishnu);—*who* like a very lewd or licentious man, as it were, had turned (*i. e.*, made or converted,—lit. 'accepted') many a captive woman into his wife [Or, it might mean *either*, 'who like a man very ambitious or fond of fame or reputation, as it were, had many bards engaged or employed (lit. 'accepted') in his service', *or*, who, having turned.....wife, was like an ambitious man or a man fond of fame, as it were, having many bards...etc.];—*who*, having hunters who were passionately fond of or deeply attached to him, was like a demon or goblin (lit, 'flesh-eating', —'one having meat or flesh as his food', a cannibal, Rākshasa or

Pishācha), as it were, that was greedy or eagerly fond of blood;—*who* was followed by the *Nishādas* or hunters [*Nishāda* is the 'name of a certain wild aboriginal tribe in India not belonging to the Aryan race and described as hunters, fisher-men, robbers, etc.—a name of the Bhillas—a wild mountain-eer tribe—a man of a degraded tribe in general—an outcast', etc.], and (as such) was like an assemblage or orderly arrange-ment (of musical notes or sounds) in the art of singing or music, as it were, accompanied by or set up in accordance with (*i. e.*, containing, at the end of that arrangement) *Nishāda*, the last or the highest of the seven notes in the musical scale or gamut;—*who* having had his body moistened or made wet with the blood of the buffaloes, was like the trident of the goddess Ambikā or Durgā, as it were, having its surface moistened with the blood of the demon named *Mahishāsura* or '*Buffalo-demon*',—*who* though possessing the freshness of youth (lit. 'fresh youth'), had yet passed much (*i. e.*, a greater part) of his life (inasmuch as he had *killed or destroyed many a bird or birds*). [There is a contradiction in saying that he was possessed of the freshness of youth, when the statement is followed by the words to the effect that he had passed much or a greater part of his life. This विरोधाभास or apparent contra-diction is, however, removed when we take the other sense or meaning of the phrase 'क्षपितबहुवयसं,' which, as already in-dicated, is this: 'who had killed or destroyed many a bird'];—*who*, though he had collected up or provided himself with heaps of wealth and corn [सार=wealth, and मेय=that which can be, or is capable of being, *measured*, *i. e.*, corn or grain], yet lived or subsisted on fruits and roots (alone, inasmuch as he had only collected together or made a collection of

hounds or *dogs* about him);—*who*, though (like) *Krishna*, was yet without (his) *Sudarshana*, the discus of Vishnu (inasmuch as he was merely *dark-coloured*, and *not agreeable to look at*); —*who*, though free to wander about wherever he pleased (in accordance with his own sweet will,—*i. e.*, although his movements were absolutely unrestricted and depended entirely upon his own free will), had yet the fort (*i. e.*, a fortress or citadel,—alone) as the place of his sole refuge [inasmuch as *he had the goddess Durgā (alone) as his sole protector or defender*]; —*who*, though he followed the feet of (*i. e.*, obeyed or rendered obeisance or service and homage to) a king, was yet unacquainted or non-conversant with the duties of attendance upon or service of a *king* [inasmuch as he had recourse merely to (lit. 'followed or went after',—*i. e.*, resided on) the foot, or a *hill at the* foot of a *mountain*,—*i. e.*, he merely lived on the slopes or the neighbouring hills of a *mountain*]; *who* was (of such a huge and formidable build of body,—*i. e.*, was so strongly and enormously built, that he seemed to be) like a child or descendant, as it were, of the Vindhya (mountain); *who* was (so terrible in his features that he seemed to be) like a partial incarnation, as it were, of Yama, the god of death (lit. one 'causing an end');—*who* was like the own or full brother (lit. 'one born of the same or a common womb'), as it were, of Sin (incarnate);—*who* was like the quintessence (*i. e.*, 'the substantial or essential part,'—'the best or choicest part'), as it were, of the Dark or Iron Age;—*who*, though dreadful or terrible (in his outer aspects or natural features), yet appeared to be looking serene or grave (or, it might mean profound or sagacious), as it were, on account of his great strength or prowess (or vigour or energy); and (lastly)

whose form (was such that it) could not be treated with contempt or slight (*i. e.*, it could not be lightly or easily insulted or humiliated in any way). His name, however, I learnt or came to know (lit. 'heard') afterwards.

३०—आसीच्च मे मनसि । अहो मोहप्रायमेतेषां जीवितं साधुजनविगर्हितं च चरितम् । तथा हि । पुरुषपिशितोपहारे धर्मबुद्धिः । आहारः साधुजननिन्दितो मधुमांसादिः । श्रमो मृगया । शास्त्रं शिवारुतम् । समुपदेष्टारः सदसतां कौशिकाः। प्रज्ञा शकुनिज्ञानम् । परिचिताः श्वानः । राज्यं शून्यास्वटवीषु आपानकमुत्सवः । मित्राणि क्रूरकर्मसाधनानि धनूंषि । सहाया विषदिग्धमुखा भुजंगा इव सायकाः । गीतमुत्सादकारि मुग्धमृगाणाम् । कलत्राणि बन्दीगृहीताः परयोषितः । क्रूरात्मभिः शार्दूलैः सह संवासः । पशुरुधिरेण देवतार्चनम् । मांसेन बलिकर्म । चौर्येण जीवनम् । भूषणानिभुजंगमणयः । वनगजमदैरङ्गरागः । यस्मिन्नेव कानने निवसन्ति तदेवोत्खातमूलमशेषतः कुर्वते । इति चिन्तयत्येव मयि स शबरसेनापतिरटवीभ्रमणसमुद्भवं श्रममपनिनीषुरागत्य तस्यैव शाल्मलीतरोरधश्छायायामवतारितकोदण्डस्त्वरितपरिजनोपनीतपल्लवासने समुपाविशत् । अन्यतमस्तु शबरयुवा संसभ्रममवतीर्य तस्मात्करयुगलपरिक्षोभिताम्भसः सरसो वैदूर्यद्रवानुकारि प्रलयदिवसकरकिरणोपतापादम्बरैकदेशमिव विलीनमिन्दुमण्डलादिव प्रस्यन्दितं द्रुतमिव मुक्ताफलनिकर-

मत्यच्छतया स्पर्शानुमेयं हिमजडमरविन्दकोशरजःकषायमम्भः कमलिनीपत्रपुटेन प्रत्यग्रोद्धृताश्च धौतपङ्कनिर्मलमृणालिकाः समुपाहरत् । आपीतसलिलश्च सेनापतिस्ता मृणालिकाः शशिकला इव सैंहिकेयः क्रमेणादशत् । अपगतश्रमश्चोत्थाय परिपीताम्भसा सकलेन तेन शबरसैन्येनानुगम्यमानः शनैः-शनैरभिमतं दिगन्तरमयासीत् ।

शबरचरितसमालोचना

३०---मे---मम । मनसि । मानसे आसीत्---अभूत् । एवम्---अहो---आश्चर्य्यम् । एषाम् -मातङ्गादीनाम् । जीवितम्---जीवनम् । मोहप्रायम्---अज्ञानबहुलम् । मोहः प्रायो यस्मिन् तत् । चरित्रम्---कर्म च । साधुजनविगर्हितम्---सभ्यलोकनिन्दितम् । साधुभिः जनैः विगर्हितं तम् । तथाहि---तथैव । दर्शयति । पुरुषपिशितोपहारे---नरमांसबलिदाने । पुरुषस्य पिशितमुपहारः तस्मिन् । धर्मबुद्धिः अयं धर्म इति विज्ञानम् । धर्मस्य बुद्धिः सा । वस्तुतस्तु मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि इतिश्रुतेः बलिदानं सर्वथा निषिद्धमेवातोऽधर्मः । साधु-जनविगर्हितः---सुजननिन्दितः । मधुमांसादिः आहारः---सुरापिशिता-दिभोजनम् । मृगया श्रमः---आखेटकम् व्यायामः । शिवारुतम्---श्रृगालीरसितम् । शास्त्रम्---शास्त्रपाठः । सदसताम्---योग्यायोग्य-विषयाणाम् । उपदेष्टारः---शिक्षकाः । कौशिकाः---उलूकाः वा घूकाः । 'महेन्द्रो गुग्गुलूलूकव्यालग्राहेषु कौशिकः' इत्यमरः । प्रज्ञा---बुद्धिः । शकुनिज्ञानम्---पक्षिस्थितिबोधः । श्वानः---कुक्कुराः । परिचिताः---सुहृदः । शून्याटवीषु राज्यम्---निर्जनवनेषु

रांजत्वम् । आपानकम्—मद्यपानगोष्ठी । उत्सवः—हर्षव्यापारः । क्रूरकर्मसाधनानि हिंसादिकठिनक्रियाप्रयोजकानि । क्रूराणाम् कर्मणां साधनानि तानि । धनूंषि—कार्मुकाणि । मित्राणि—सखायः । विषदिग्धमुखाः—गरललिप्ताननाः भुजंगाः इव—उरगा इव । सायकाः—शराः । सहायाः—सहायकाः । मुग्धमृगाणाम्—मूढहरिणानाम् । उत्सादकारि—विनाशसाधकम् । गीतम्—गानम् । वन्दिगृहीताः—वन्दिभावेन स्वायत्तीकृताः । परयोषितः—अन्यदाराः । कलत्राणि—भार्य्याः । क्रूरात्मभिः—निर्दयान्तःकरणैः । शार्दूलैः—केसरिभिः । सह-संवासः—स्थितिः । पशुरुधिरेण—चतुष्पाद्रक्तेन । देवतार्चनम्—देवपूजनम् । मांसेन पलेन । बलिकर्म्म—उपाहारकरणम् । चौर्य्येण—स्तेयेन । जीवनम्—जीवितम् । भुजंगमणयः—सर्पफणरत्नानि । भूषणानि—अलंकाराः । वनगजमदैः—अरण्यकरिदानवारिभिः । अंगरागः—देहविलेपनम् । यस्मिन्नेव कानने—यत्रैव वने । निवसन्ति—तिष्ठन्ति । तदेव । अशेषतः—साकल्येन । अशेषेणेति अशेषतः तृतीयान्तात् सार्वविभक्तिकः तसिः आद्यादित्वात् ॥ आद्यादिभ्यश्चेति वचनेन । उत्खातमूलम्—उत्पाटिताशयम् । उत्खातं मूलं यस्य तत् । कुर्वन्ति—विदधति । इति—इत्थम् । मयि—वैशम्पायने । चिन्तयत्येव—स्मरत्येव सति । सः मातंगकनामा शबरसेनापतिः । अटवीभ्रमणसमुद्भवम्—वनपर्य्यटनजातम् । अटव्यां परिभ्रणात् समुद्भवो यस्य तम् । खेदम्—श्रमम् । अपनिनीषुः । निवारयितुमिच्छुः । आगत्य—प्राप्य । तस्यैव—पूर्वाभिहितस्य । शाल्मलीतरोः । अधः छायायाम्—अधोभागे अनातपे अवतारितकोदण्डः—स्कंधाद-

सारितकार्मुकः । त्वरितपरिजनोपनीतपल्लवासने--ससंभ्रमपरिचारकवर्गप्रापितकिसलयनिर्मितविष्टरे । त्वरितं परिजनेनोपल्लवनिर्मितमासनम् तस्मिन् । समुपाविशत्--उपविष्टवान् । अन्यतमस्तु--कश्चिदपरस्तु । शबरयुवा--किराततरुणः शबरश्चासौ युवा सः । ससंभ्रमम्--सत्वरम् । अवतीर्य्य--गत्वा । तस्मात्--पूर्वोक्तात्--सरसः--पम्पासरोवरात् । करयुगलपरिक्षोभिताम्भसः--हस्तयुगलप्रचलितवारिणः । करयुगलेन परिक्षोभितमम्भो यस्य तस्मात् । जलोपरिगतं तृणादिकं निवारयितुम् जलमालोडितमितिभावः । वैदूर्य्यद्रवानुकरि--वैदूर्य्याख्यमणिरससदृशम् । प्रलयदिवसकरकिरणोपतापात्--युगान्तकालतीक्ष्णभानुरश्मिसंतापात् । प्रलये दिवसकरस्य किरणैः उपतापस्तस्मात् । विलीनम्--च्युतम् । अम्बरैकदेशमिव--आकाशैकभागमिव । अत्रोत्प्रेक्षालंकारः । 'भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परेण तत्' इति लक्षणात् । इन्दुमण्डलात्--चन्द्रचक्रवालात् । प्रस्यंदितमिव--प्रस्रुतमिव । द्रुतम्--गलितम् । मुक्ताफलनिकरमिव मौक्तिकराशिमिव । अत्यच्छतया नितान्तविमलतया । स्पर्शानुमेयम्--सम्पर्कशेयम् । हिमजडम्--तुहिनशीतलम् । हिमवत् जडम् तत् । अरविन्दकोषरजःकषायम्--कमलकोरकपरागगंधयुतम् । अरविन्दानां कोषाणां रजसा कषायम् तत् । अम्भ--जलम् । प्रत्यग्रोद्धृताः--नवीनोत्पाटिताः । प्रत्यग्रमुदधृतास्ताः । धौतपङ्कनिर्मलाः--क्षालितकर्द्दमविमलाः । धौतः पङ्को यासां ताः अतः एव निर्मलास्ताः । मृणालिकाश्च--क्षुद्रमृणालानि च । कमलिनीपत्रपुटेन--पद्मिनीदलबद्धयुग्मेन । समुपाहरत्--आनीतवान् । आपीतसलिलश्च--पीतजलः । सेनापतिः

—मातंगः । ताः—पूर्वोक्ताः । वा तदानीताः मृणालिकाः । सैंहिकेयः—राहुः । सिंहिकाया अपत्यम् सैंहिकेयः । सिंहिका+ढक् 'स्त्रीभ्यो ढक' इतिसूत्रेण । शशिकला इव—चन्द्रभागानिव । क्रमेण—क्रमशः । अदशत्—अचर्वयत् । अपगतश्रमः—निवृत्तखेदः च उत्थाय—उद्गम्य । परिपीताम्भसा—पीतजलेन । सकलेन—समस्तेन । तेन—तथाविधेन । शबरसैन्येन किरातबलेन । अनुगम्यमानः—अनुव्रज्यमानः । शनैः शनैः—मन्दम् मन्दम् । अभिमतम्—यथेष्टम् । दिगन्तरम् । विभिन्नदिशम् । अन्या दिगिति दिगन्तरम् । अयासीत् । अगच्छत् ।

३०—(इस शबर-सेना) को देखकर मेरे मन में यह (विचार) हुआ—'अहो! इन लोगों का जीवन अज्ञान से पूर्ण है और इनका आचरण साधुजनों से निन्दित है, क्योंकि पुरुष के मांस की बलि अर्पित करना इनके मतानुसार धर्म है, इनका भोजन साधुजनों से तिरस्कृत शराब, मांस आदि है; शिकार खेलना ही इनकी कसरत है, गीदड़ियों का शब्द ही इनके लिए शास्त्र (या वेदपाठ के समान) है अर्थात् इनके शब्दों का ये लोग अध्ययन करते हैं, उल्लू ही इनके लिए भले-बुरे का उपदेश देने वाले हैं, (अर्थात् इनके शब्दों से ही ये शुभ-अशुभ का विचार करते हैं), पक्षियों का ज्ञान ही इनकी विद्वत्ता है, कुत्ते ही इनके परिचित हैं, इनका राज्य निर्जन वनों में है, मद्यपान की गोष्ठी इनका उत्सव है, धनुष—जिनसे ये क्रूरता के कार्य करते हैं—इनके मित्र हैं, बाण—जिनके फल विष-बुझे हैं और इस कारण जो विषपूर्ण दंश वाले सर्पों के समान हैं—इनके सहायक हैं, इनके गीत मुग्ध (मूर्ख अथवा संगीत से आकर्षित) मृगों का विनाश करने वाले हैं, बन्दी बनाई हुई दूसरों की स्त्रियाँ ही इनकी पत्नियाँ हैं, क्रूर स्वभाव वाले बाघों के साथ ये रहते हैं, पशु-रक्त से ये देवताओं की अर्चना करते हैं, मांस की बलि देते हैं, चोरी करके जीवन-निर्वाह करते हैं, सर्पों की मणियाँ इनके आभूषण हैं, जंगली हाथियों

के मद का अङ्गराग लगाते हैं, जिस वन में रहते हैं उसीको पूर्णरूप से निर्मूल कर देते हैं।' मैं ऐसा सोच ही रहा था कि वह शबर-सेनापति वन-भ्रमण के कारण उत्पन्न हुई थकावट को दूर करने की इच्छा से उसी सेमल के वृक्ष के नीचे छाया में, अपने धनुष को कन्धे से उतार कर सेवकों के द्वारा शीघ्रता के साथ लाये हुए पत्तों के बने आसन पर बैठ गया। एक दूसरे नवयुवक भील ने जल्दी से उस तालाब में उतर कर उसके जल को अपने दोनों हाथों से अच्छी तरह (पानी की सतह पर पड़े हुए पत्तों, काई आदि को हटाने के लिए) हिलाया। तालाब का जल वैदूर्य मणि के द्रव (पिघले रूप) के सदृश था, प्रलयकालीन सूर्य की किरणों की गरमी से पिघलकर गिरे हुए आकाश के एक टुकड़े के समान था, चन्द्रमण्डल से टपका हुआ-सा था, पिघले हुए मुक्ता समूह का-सा था, अत्यन्त स्वच्छ होने के कारण केवल (शीतल) स्पर्श के कारण ही उसके अस्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता था। वह बर्फ की तरह ठण्डा था और कमल की कलियों से गिरे हुए पराग के कारण कसैला था। उसने (उस शबरयुवा ने) कमलिनी के पत्तों के दोने में (यह) जल और हाल की तोड़ी हुई और कीचड़ धो देने के कारण निर्मल मृणालिकाएँ (कमलनाल) उसे (शबर-सेनापति को) अर्पित कीं। पानी पीने के बाद सेनापति ने उन्हें धीरे-धीरे इस प्रकार खाना या कुतरना शुरू किया जैसे राहु चन्द्रकला का ग्रास करता है। थकावट दूर करने के पश्चात् वह धीरे-धीरे अपनी अभीष्ट दिशा की ओर चला गया। वह शबर सेना भी जल पीकर उसके पीछे-पीछे गयी।

शब्दार्थ—पिशितम्—मांस, शिवा—गीदड़ी, रुतम्—शब्द, आपानकम्—मद्यपानगोष्ठी, अपनिनीषुः—दूर करने की इच्छा वाला, सैंहिकेयः—सिंहिका का पुत्र, राहु।

30—**And it (namely, the follwoing thoughts or ideas) occurred to (or began to revolve in) my mind: 'Ah or Alas! The life of these (people) is full of or abounds in ignorance (*i. e.*, is**

exceedingly foolish or infatuated), and their deeds or adventures are worthy of censure (lit. 'censured' or censurable) by the good or virtuous people: for so or thus (it has been said), or for instance, they regard or look upon the offering of human flesh as an act of righteousness or religious virtue (lit. 'entertain an idea or sentiment of piety' towards it). Their food consists of wine and meat or flesh, etc. which is or has been censured or condemned by the good or virtuous people. Their exercise or physical exertion consists of or is provided by hunting. The cries of the female jackals constitute their *Shastra* (or the reciting, chanting or reading aloud of the *Vedas*,—*i. e.*, they have studied these cries alone and made them, like the *Shastras*, the guides of their actions in life). They have owls for or as their teachers or advisers, in regard to matters which are good and those which are evil (*i. e.*, they draw their inferences as to good or evil omens from the hootings of owls alone). Their wisdom or intelligence lies in the knowledge of the birds (alone). Their acquaintances or associates are hounds. Their kingdom or dominion extends over desolate or empty forests. Their festival or merrymaking (consists of holding or engaging in) a drinking party or banquet. Their friends are the bows which constitute the means of accomplishing their cruel deeds. Arrows, which have their heads or pointed ends or tips dipped in poison, and (as such) are like snakes or serpents having their heads anointed or smeared (*i. e.*, possessing or being endowed) with poison, as it were, are their helpers or allies. Their singing or music causes destruction to or is destructive of the foolish or infatuated (it might also mean, the 'artless or innocent', 'inexperienced') deer. The women-folk or wives of others,

taken captive or seized as prisoners, are their wives. Their society or association (*i. e.*, their dwelling, residence or domestic intercourse) is with tigers (or panthers or leopards,— or with all of these) of cruel nature. Their worship or adoration of the gods or deities is (done or performed) with the blood of animals. Their religious offerings or offerings or oblations is with flesh. They live or subsist on(*i. e* ,they maintain themselves by the practice of) thieving or stealing. The jewels (secured or procured from the hoods or crowns)of snakes, are or constitute their ornaments. Their anointing or besmearing of their bodies (which is otherwise usually and normally done with scented unguents or cosmetics) is (carried out or performed) with the ichors of the wild elephants (*i. e.*, the application of sweet unguents or cosmetics to their bodies consists of that with the ichor of wild elephants). The very forest in which they live, they destroy completely [lit. 'render it completely (lit. 'without leaving any remainder') pulled up by the roots, or such as has its roots completely eradicated, uprooted or dug up']'. While I was thus thinking (or thinking in this strain), that leader of the army (or army-chief) or the *Shabaras* or hunters, wishing to remove (or desirous of removing) the fatigue, produced or brought about by his wandering through the forest, having come and laid down his bow in the shade under that very silk cotton tree, sat down or rested himself on a seat of (fresh or tender) leaves, hurriedly or hastily provided or brought by his attendants. One of these *Shabara* youths or young hunters, however, having hurriedly descended or entered (into it, brought from that lake, the waters of which had been well shaken or agitated and disturbed with the couple of his

hands (by him, with a view to remove from its surface the moss or other useless matter, etc.) in a cup or vessel (made) of lotus leaves,—*water*, which (was so sparkling clear that it) seemed to be imitating or resembling *lapis lazuli* (which is the name of 'a gem or precious stone of a dark colour', according to Monier Williams) in liquid form (lit. 'the flowing liquid of lapis lazuli'); which seemed as though it were (or which was like) a piece or portion of the sky, as it were, having been melted or dissolved (*i. e.*, become liquefied) through (or on account of) the (excessive) heat of the rays of the sun on the day of universal destruction or dissolution; which seemed as though it (were the liquid or fluid, that) had flowed forth or trickled down (*i. e.*, dropped or exuded) from the orb or disc of the moon, as it were; which seemed as though it were a melted or dissolved mass of pearls (or a mass or heap of pearls, having been melted or dissolved into a fluid, as it were); which (*i. e.*, the presence or existence of which), on account of its being extremely clear or pellucid, was to be gathered or inferred from or by its touch (alone); which was cold like ice, and which was made astringent or rendered fragrant (*i. e.*, which had come to acquire an astringent flavour or taste, etc.,) on account of the pollen from the buds or leafy-cups of lotuses,—and also (*i. e.*, brought *water*, and also) the edible fibrous roots of lotuses (or the small fibres attached to the stalks of water-lilies), which were made clean or stainless on account of the mud having been removed or washed away from them, and which had been (but) recently or freshly plucked or pulled out (from their stalks). And when (or after) the general or leader of the army had drunk (*i. e.*, finished off drinking) the water, he, gradual-

ly or by degrees, began, like Rāhu (lit. 'the son of *Sinhikā*',—who was one of the thirteen daughters of Daksha and wife of Kashyapa) or the *Ascending Node* personified gradually devouring or swallowing up the digits of the moon, as it were, to eat or bite off those fibrous roots of lotuses. And having risen or got up after he had removed or shaken off his fatigue, he, being followed by the whole of that army or force of the Shabaras or hunters, which (also in its turn) had drunk (the) water, proceeded gently towards some other desired direction (or direction of his own choice or liking).

३१—एकतमस्तु जरच्छबरस्तस्मात्पुलिन्दवृन्दादनासादितहरिणपिशितः पिशिताशन इवातिविकृतदर्शनः पिशितार्थी तस्मिन्नेव तरुतले मुहूर्तमिव व्यलम्बत। अन्तरिते च शबरसेनापतौ स जीर्णशबरः पिबन्निवास्माकमायूंषि रुधिरबिन्दुपाटलया कपिलभ्रूलतापरिवेषभीषणया दृष्ट्या गणयन्निव शुककुलकुलायस्थानानि श्येन इव विहगामिषास्वादलालसः सुचिरमारुरुक्षुस्तं वनस्पतिमामूलादपश्यत् उत्क्रान्तिमिव तस्मिन्क्षणे तदालोकनभीतानां शुककुलानामसुभिः। किमिव हि दुष्करमकरुणानाम्। यतः स तमनेकतालतुङ्गमभ्रंकषशाखाशिखरमपि सोपानैरिवायत्नेनैव पादपमारुह्यताननुपजातोत्पतनशक्तीन्कांश्चिदल्पदिवसजातान्गर्भच्छविपाटलाच्छाल्मलीकुसुमशङ्कामुपजनयतः कांश्चिदुद्भिद्यमानपक्षतया नलिनसंवर्तिकानुकारिणः कांश्चिदर्कफलसदृशान्कांश्चिल्लोहितायमानचञ्चुकोटीनीषद्विघटितदलपुटपाटलमुखानां कमलमुकुलानां

श्रियमुद्वहत: कांश्चिदनवरतशिर:कम्पव्याजेन निवारयत इव प्रतीकारासमर्थानेकैकतया फलानीव तस्य वनस्पते: शाखान्तरेभ्य: कोटरेभ्यश्च शुकशावकानग्रहीत् । अपगतासूंश्च कृत्वा क्षितावपातयत् ।

३१—एकतमस्तु—कतमस्तु । जरच्छबर:—वृद्धपुलिन्द: । जरंश्चासौ शबर: स: । पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवला: समानाधिकरणे नेतिकर्मधारय: । अतो न शबरशब्दस्य शबरयुवेतिवत् पूर्वनिपात: । पुलिन्दवृन्दात्—शबरसमूहात् । अनासादितहरिणपिशित:—अप्राप्तमृगमांस: । न आसादितं हरिणपिशितं येन स: । पिशिताशन इव मांसभोज्यराक्षस इव । पिशितिमेवाशनं यस्य स: । अतिविकृतदर्शन:—नितान्तभीमाकार: । अतिविकृतं दर्शनं यस्य स: । पिशितार्थी—मांसप्रयोजनवान् । पिशितमेवार्थोऽस्यास्ति स: । तस्मिन्नेव—पूर्वोक्ते एव तरुतले—शाल्मलीवृक्षाधोभागे । मुहूर्त्तमिव—घटिकाद्वयमिव । व्यलम्बत—विलम्बं कृतवान् । तस्मिन्—मातङ्गे । शबरसेनापतौ पुलिन्दबलाध्यक्षे । अन्तर्हिते च—वृक्षादिनापिहिते । स:—असौ । जीर्णशबर:—वृद्धपुलिन्द: । अस्माकम्—मादृशानाम् । आयूंषि—वयांसि । पिबन्निव—नाशयन्निव । रुधिरबिन्दुपाटलया—शोणितपृषतश्चेव रक्तया । रुधिरस्य बिन्दुवत् पाटला तया । कपिलभ्रूलतापरिवेषभीषणया—पिङ्गलभ्रूकुटिवल्लिपरिधिभीमया । कपिले भ्रूलते ताभ्यां परिवेष: तेन भीषणा तया । दृष्ट्या—दृशा । शुककुलकुलायस्थानि—कीरसमूहनीडस्थानानि । शुकानां कुलानि तेषाँ कुलाया: तत्र तिष्ठन्ति तानि । श्येन इव—पक्षिमार इव । विहगामिषा-

स्वादलालसः—खगमांसलेहसस्पृहः । विहगानामामिषस्यास्वादे लालसः सः । तम्—अमुम् । वनस्पतिम्—शाल्मलीवृक्षम् । आरुरुक्षुः—आरोढुमिच्छुः । आमूलात् मूलादारभ्य । सुचिरम्—बहुकालम् । अपश्यत्—दृष्टवान् । तस्मिन्क्षणे—तदालोकन-भीतानाम्—जरच्छबरदर्शनभीतिपीडितानाम् । तस्यालोकनाद् भीतास्तेषाम् । शुककुलानाम्—कीरसमूहानाम् । असुभिः—प्राणैः । उत्क्रान्तमिव—उद्गतमिव । अकरुणानाम् - निर्दयानाम् । अविद्यमाना करुणा येषाम् तेषाम् । नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपश्चेति वार्त्तिकात् मध्यमपदलोपी समासः । किमिव—कतमत् । दुष्करम्—अकार्य्यम् न किंचिदपि इत्यर्थः । यतः—यस्मात् । सः—वृद्धशबरः । अनेकताललतुङ्गम्—बहुकरतलध्व-निसमुन्नतम्—वा अनेकतालवृक्षवदुन्नतम् । अनेके ये तालाः तद्वत् तुङ्गस्तम् । अभ्रंकषशाखाशिखरमपि—मेघस्पर्शिविटपोर्ध्वं-भाजमपि—अभ्रं कषतीति अभ्रंकषम् शाखानां शिखरं यस्य तम् । 'सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः इति खश्' । तम्—पूर्वोक्तम् । पादपम् । शाल्मलीतरुम् । सोपानैरिव—आरोहणैरिव । 'आरोहणं स्यात् सोपान'मित्यमरः । अयत्नेनैव—अनायासादेव । आरुह्य आसाद्य । तान्—विविधान् । शुकशावकान् । अनुपजातोत्पतनशक्तीन् नोत्पन्नोड्डयनसामर्थ्यान् । न उपजाता उत्पतनाय शक्तिर्येषान्तान् । कांश्चित्—कतमान् । अल्पदिवसजातान्—कतिपयदिनोत्पन्नान् । अल्पान् दिवसान् जातास्तान् । गर्भच्छ-विपाटलान्—भ्रूणकान्तिश्वेतरक्तवर्णान् । (अतएव) शाल्मली-कुसुमशंकाम्—तन्नामतरुप्रसूनसंदेहम् । उपजनयतः—कुर्वतः ।

कांश्चित् । उद्भिद्यमानपक्षतया——ईषदाविर्भूयमानपतत्रमूलतया । उद्भिद्यमानाः पक्षाः येषां तेषां भावस्तत्ता तया । नलिनसंवर्त्तिकानुकारिणः—कमलनवदलसदृशान्——'संवर्त्तिका नवदलमि'त्यमरः । नलिनानां संवर्त्तिकाः अनुकर्त्तुं शीलमेषां तान् । कांश्चित् । अर्कफलसदृशान्——सूर्य्यवृक्षप्रसवतुल्यकान्तीन् । कांश्चित् । लोहितायमानचञ्चुकोटीन्——रक्तमुखाग्रभागान् । लोहितायमानाः चंचूनां कोटयो येषां तान् । ईषद्विघटितदलपुटपाटलमुखानाम्——अल्पविकसितपत्रपुटाकारश्वेतरक्ताग्रभागानाम् । ईषद्विघटितैः दलपुटैः पाटलानि मुखानि येषां तेषाम् । कमलमुकुलानाम्——पद्मकोरकाणाम् । श्रियम्——शोभाम् । उद्वहतः——धारयतः । अन्येनान्यशोभाधारणात् इह निदर्शनालंकारः । कांश्चित् । अनवरतशिरःकम्पव्याजेन——अविरतमस्तकविधूननमिषेण । अनवरतं शिरसः कम्प एव व्याजं तेन । निवारयत इव——दूरीकुर्वंत इव । प्रतीकारासमर्थान्——प्रतिक्रियासामर्थ्यरहितान् । शुकशावकान्——फलानीव——प्रसवानिव । तस्य——वनस्पतेः जीर्णशाल्मलीतरोः । शाखान्तरेभ्यः विटपसंबद्धभागेभ्यः । कोटरान्तरेभ्यश्च विभिन्नविवरेभ्यश्च । अन्ये कोटराः कोटरान्तराः तेभ्यः । एकैकतया——एकैकशः अथवा एकमेकं कृत्वा । अग्रहीत्——गृहीतवान् । अपगतासूंश्च——विगतप्राणान् । कृत्वा—विधाय । क्षितौ——भूमौ । अपातयत्——पातितवान् ।

२१—उस शबर-समूह में एक बुड्ढे शबर को, जिसकी आकृति राक्षस के समान अत्यन्त भयंकर थी, मृगया नहीं मिल सका था । मांस पाने की इच्छा से वह क्षणभर के लिए उसी पेड़ के नीचे रुका । शबर सेनापति

की दृष्टि से ओझल हो जाने पर उस वुड्ढे शवर ने अपनी रुधिरविन्दु के समान लाल और भूरी-सी भ्रूलता से घिरी हुई होने के कारण भयंकर दृष्टि से मानो हमारी (तोतों की) आयु ही पीते हुए और तोतों के घोंसलों को गिनते हुए, ऊपर चढ़ने की इच्छा से बहुत देर तक उस वृक्ष को, जड़ से लेकर ऊपर तक, पक्षियों के मांस के लालची वाज के समान देखा। उसकी दृष्टि से भयभीत तोतों के प्राण मानो उसी क्षण उड़ गये। निर्दय व्यक्तियों के लिए कुछ भी करना कठिन नहीं है। क्योंकि वह अनेक ताड़ वृक्षों जितने ऊँचे उस (शाल्मली) वक्ष पर, जिसकी डालियों की चोटियाँ बादलों को छू रही थीं, बिना किसी प्रयत्न के ऐसे चढ़ गया जैसे सीढ़ियों से चढ़ा हो। वृक्ष पर चढ़ कर, वृक्ष की शाखाओं और कोटर से तोतों के उन बच्चों को, जिनमें अभी उड़ने की शक्ति नहीं थी, एक-एक करके (पेड़ के) फलों के समान पकड़ने लगा और उन्हें मार-मार कर पृथ्वी पर फेंकने लगा। उनमें कुछ को पैदा हुए थोड़े ही दिन हुए थे अतएव वे गर्भ के वच्चे के समान कुछ लाल-से थे और उन्हें देखकर यह भ्रम हो जाता था कि मानो वे शाल्मली वृक्ष के (लाल-लाल) फूल हों, कुछ के पंख निकलने शुरू हो गये थे, जिससे वे कमल के नये-नये पत्तों के समान दिखाई पड़ते थे, कुछ आम के फल के समान थे, कुछ की चोंचों की नोकें लाल होने लगी थीं अतएव वे कमल की उन कलियों के समान शोभित हो रहे थे, जिनका ऊपरी भाग (मुख) पंखुड़ियों के कुछ खुल जाने के कारण लाल हो जाता है, और कुछ प्रतीकार करने में असमर्थ होने के कारण, लगातार होने वाले शिर के कम्पन के ही बहाने, मानो (वे शुक-शावक) उसे (शवर को) रोक रहे हों।

शब्दार्थ--अभ्रंकषाणि--अभ्रं मेघं कषन्ति विलिखन्ति इति अभ्रंकषाणि, बादल को छूने वाले, गगनचुम्बी, संवर्तिका--नव-किसलय, लोहितायमाना—लाल होती हुई, प्रतीकरासमर्थान्—कुछ उपाय या विरोध करने में असमर्थ।

31—A certain old Shabara or hunter, however, out of that multitude or large collection of the Pulindas (a barbarian, savage or mountaineer tribe of people,—Shabaras or Bhillas, etc.), who had not secured or obtained any venison (so far), who was putting on a very horrible appearance (or whose look or appearance was extremely awful or ferocious,—lit. 'much changed in appearance',—much distorted or disfigured', etc.,—hence 'horrible') 'like (that of) a demon, fiend or wolf (the word, meaning literally, 'flesh-eating', 'meat-eating', has been found to have a variety of synonyms, e. g., a demon, fiend, cannibal, Rakshasa, pishacha, wolf, goblin, etc.) (as it were, and who was in search of (or eagerly longing to obtain) flesh or meat, tarried (*i. e.*, loitered or stayed behind) a little or only for a short while ('for almost an hour'—Monier Williams) under or at the foot or root of that very (silk-cotton) tree. And on the leader of the Shabaras or hunters having disappeared (*i. e.*, when he had become 'screened from, or gone beyond, view'), that old Shabara or hunter, drinking up, as it were, our lives, with his look or the sight of his eye that was red like a drop of blood, and was (made to appear) dreadful or terrible on account of its being surrounded (like a 'halo') by a tawny '*creeper-like*' or arched eyebrow (lit. '*brow-creeper*', 'a creeper-like eye-brow', *i. e.*, an arched eye-brow, curving like a creeper), —counting, as it were, the regions or places of the nests of the flocks of parrots, (that old hunter) who was greedy, like a hawk, as it were, of the taste of (or tasting) the flesh of birds, being desirous of climbing up that (silk-cotton) tree (lit. the 'lord of the forest,'—hence, a large tree), looked at it for quite a long time from the root or bottom (of it.) At

that (critical) moment (of time), the lives or the vital breaths of the flocks of parrots, that were terrified or struck with terror at the sight or look of him, left or passed out of them, as it were. What indeed is there that is difficult to accomplish (or of accomplishment) by the ruthless or those who are devoid of pity or compassion! For he, having without any effort whatsoever and as though with (the aid of) a flight of steps or the steps of a staircase or ladder, as it were, climbed up that tree, although it was of the height of many palm trees (*i. e.*, as high as many palm trees put together or upon one another), and (although) the tops of its branches 'scraped the sky' or touched the clouds, caught hold of or seized one by one, like (so many) fruits, as it were, from the interiors of the branches and the hollows or cavities of that (silk-cotton) tree, those (several) young ones of the parrots, which had not yet acquired the power of flying up (lit., 'in which the power of flying up had not yet grown or been produced or created'), some of which were born only a few days ago (*i. e.*, were only a few days old), and being (therefore) of a pink or pale-red colour like that (*i. e.*, like the appearance) of one in embryo or of the foetus, were creating an impression or producing a suspicion or doubt as though they were the (rose-coloured) flowers of the silk-cotton tree,—some of which, on account of their wings (just) bursting forth or making their appearance (*i. e.*, beginning to grow), appeared to be imitating or resembling the new or fresh (green outer) leaves of a water-lily or lotus,—some of which were like the fruits of *Arka* trees (name of the plant *Calotropis Gigantea*),—some of which, with the points or ends (*i. e.*, the tips) of their beaks appearing reddish in colour,

bore the appearance or had the beauty of the buds of lotuses, the lips of which were rosy or pink-coloured, on account of the folded leaves or petals thereof having been only slightly blown or expanded,—and some of which, that were incapable of taking any remedial measures or offering any resistance or opposition (*i. e.*, of counteracting or acting in opposition to him), were, on account, or under the guise or pretext, of the incessant or constant shaking of their heads (which was really due to their natural weakness and want of strength on account of their being yet too young), prohibiting or forbidding (him), as it were, (from molesting or injuring them). And having put them to death (lit. 'made them such as had their lives passed out of them'), he threw them down on the ground.

३२—तातस्तु तं महान्तमकाण्ड एव प्राणहरमप्रतीकारमुपप्लवमुपनतमालोक्य द्विगुणतरोपजातवेपथुर्मरणभयादुद्भ्रान्ततरलतारकां विषादशून्यामश्रुजलप्लुतां दृशमितस्ततो दिक्षु विक्षिपन्नुच्छुष्कतालुरात्मप्रतीकाराक्षमस्त्रासस्रस्तसंधिशिथिलेन पक्षसंपुटेनाच्छाद्य मां तत्कालोचितप्रतीकारं मन्यमानः स्नेहपरवशो मद्रक्षणाकुलः किंकर्तव्यताविमूढः क्रोडविभागेन मामवष्टभ्य तस्थौ । असावपि पापः क्रमेण शाखान्तरैः संचरमाणः कोटरद्वारमागत्य जीर्णासितभुजंगभोगभीषणं प्रसार्य विविधवनवराहवसाविस्रगन्धि करतलं कोदण्डगुणाकर्षणव्रणाङ्कितप्रकोष्ठमन्तकदण्डानुकारिणं वामबाहुमतिनृशंसो मुहुर्मुहुर्दत्तचञ्चुप्रहारमुत्कूजन्तमाकृष्य तातमपगता-

सुमकरोत्। मां तु स्वल्पत्वाद्भयसंपिण्डिताङ्गत्वात्सावशेषत्वादायुषः कथमपि पक्षसंपुटान्तरगतं नालक्षयत्। उपरतं च तमवनितले शिथिलशिरोधरमधोमुखममुञ्चत्। अहमपि तच्चरणान्तराले प्रवेशितशिरोधरो निभृतमङ्कनिलीनस्तेनैव सहापतम्। अवशिष्टपुण्यतया तु पवनवशसंपुञ्जितस्य महतः शुष्कपत्रराशेरुपरि पतितमात्मानमपश्यम्। अङ्गानि येन मे नाशीर्यन्त। यावच्चासौ तस्मात्तरुशिखरान्नावरति तावदहमवशीर्णपर्णसवर्णत्वादस्फुटोपलक्ष्यमाणमूर्तिः पितरमुपरतमुत्सृज्य नृशंस इव प्राणपरित्यागयोग्येपि काले बालतया कालान्तरभुवः स्नेहरसस्यानभिज्ञो जन्मसहभुवा भयेनैव केवलमभिभूयमानः किंचिदुपजाताभ्यां पक्षाभ्यामीषत्कृतावष्टम्भो लुठन्नितस्ततः कृतान्तमुखकुहरादिव विनिर्गतमात्मानं मन्यमानो नातिदूरवर्तिनः शबरसुन्दरीकर्णपूररचनोपयुक्तपल्लवस्य संकर्षणपटनीलच्छाययोपहसत इव गदाधरदेहच्छविमच्छैः कालन्दीजलच्छेदैरिव विरचितच्छदस्य वनकरिमदसलिलैरिवोपसिक्तकिसलयस्य विन्ध्याटवीकेशपाशश्रियमुद्वहतो दिवाप्यन्धकारितशाखान्तरस्याप्रविष्टसूर्यकिरणमतिगहनमपरस्येव पितुरुत्सङ्गमतिमहतस्तमालविटपिनो मूलदेशमविशम्।

३२—तातस्तु—जनकस्तु। मां क्रोडभागेनावष्टभ्य तस्थौ इत्युत्तरेणान्वयः। अकाण्ड एव—अनवसर एव। उपरतम्—

श्राप्तम् । प्राणहरम् असुविनाशकम् । हरतीति हरः प्राणानां हरस्तम् । 'पुंसि भूम्न्यसवः प्राणा' इत्यमरः । अप्रतीकारम्--प्रतिक्रियारहितम् । अविद्यमानः प्रतीकारः यस्य तम् (प्रति+कृ+घञ् प्रतिकारः । उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्) इति सूत्रेण विकल्पेन दीर्घः । प्रतिकारः प्रतीकारः इतिरूपद्वयम् । महान्तम--भूयांसम् । उपप्लवम्—उपद्रवम् । अवलोक्य—दृष्ट्वा । द्विगुणतरोपजातवेपथुः—स्वाभाविककम्पात्, द्विभागाधिककम्पनः । द्विगुणतर उपजातः वेपथुः यस्य सः । मरणभयात्—मृत्युभीतेः । मरणाद् भयन्तस्मात् । उद्भ्रान्ततरलतारकाम्—घूर्णितचपलकनीनिकाम् । उद्भ्रान्ते तरले तारके यस्याः ताम् । विषादशून्याम्—दुःखलक्ष्यरहिताम् । अश्रुजलप्लुताम्—नेत्रसलिलाप्लाविताम् । दृशम्—दृष्टिम् । इतस्ततः—सर्वतः । दिक्षु—आशासु । विक्षिपन्—गमयन् । उच्छुष्कतालुः—स्कन्नकण्ठः । उच्छुष्कं तालु यस्य सः । आत्मप्रतीकाराक्षमः—स्वरक्षणासमर्थः । आत्मनः प्रतीकारे अक्षमः सः । त्रासस्रस्तसंधिशिथिलेन—भयशिथिलावयवसंबंधस्रस्तेन । त्रासात् स्रस्ताः संधयः यस्य सः । (अतएव) शिथिलस्तेन । पक्षसंपुटेन पतत्रयुगलेन । माम्—वैशम्पायनम् । आच्छाद्य--पिधाप्य, वा अन्तर्धाप्य । तत्कालोचितप्रतीकारम्—व्याधाक्रमणसमययोग्यप्रतिक्रियाम् । तत्काले उचितः प्रतीकारः तम् । मन्यमानः--जानन् । स्नेहपरवशः—प्रेमपरायत्तः । स्नेहेन परवशः सः । मद्रक्षणाकुलः—मदीयपोषणव्यापन्नः । मम रक्षणे आकुलः सः । किंकर्त्तव्यताविमूढः—प्रतिक्रियाविधानाक्षमः । किं कर्त्तव्यम् यस्य तस्य भावस्तत्ता तस्यां विमूढः सः । क्रोधभयेन—

उत्संगदेशेन । माम् अवष्टभ्य--समालम्ब्य । तस्थौ--स्थितवान् । असावपि पापः--जीर्णशवरोऽपि पापात्मा । अतिनृशंसः--नितान्तक्रूरः । 'नृशंसो घातुकः क्रूरः' इत्यमरः । क्रमात्--क्रमेण । शाखान्तरैः--विभिन्नविटपैः । अन्याः शाखाः शाखान्तराणि तैः । मयूरव्यंसकादयश्चेति तत्पुरुषः । सञ्चरमाणः—गच्छन् । सम्+चर्+कर्त्तरि शानच सञ्चरमाणः । समस्तृतीयायुक्तादितिसूत्रेणात्मनेपदविधानात् अन्यथा चर्धातोः परस्मैपदित्वात् शतृः स्यात् नतु शानच् अतः आत्मनेपदम् युक्तम् । कोटरद्वारम्--विवरप्रवेशमार्गम् । आगत्य--उपस्थाय । जीर्णासितभुजङ्गभोगभीषणम्--जरठकृष्णसर्पफणाभीमम् । 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृताव-हेश्च फणकाययो'रित्यमरः । जीर्णस्य असितस्य भुजंगस्य भोगः तदवद्भीषणस्तम् । विविधवनवराहवसाविस्रगंधिकरतलम्--अनेकारण्यकशूकरमेदोऽपक्वामांसदुर्गंधितपाणितलभागम् । विविधानां वराहाणां वसाभिः विस्रगंधिकरतलं यस्य तम् । अनवरतकोदण्डगुणाकर्षणव्रणाङ्कितप्रकोष्ठम् । अविरतकार्मुकज्याकृष्टिक्षतचिह्नितमणिबन्धम् । अनवरतं कोदण्डगुणस्याकर्षणेन व्रणस्तेनांकितः प्रकोष्ठो यस्य तम् । अन्तकदण्डानुकारिणम्—यमलगुडसदृशम् । वामबाहुम्—सव्यभुजम् । प्रसार्य्य--विस्तार्य्य । अतिनृशंसः । मुहुः मुहुः--भूयोभूयः । दत्तचंचुप्रहारम्--कृतस्वतुण्डप्रहृतम् । दत्तः चंच्वाः प्रहारो येन तम् । उत्कूजंतम् सतारस्वरम् क्रन्दन्तम् तातम्—मदीयपितरम् । आकृष्य—आनीय । अपगतासुम्—गतप्राणम् । अकरोत्--कृतवान् । स्वल्पशरीरत्वात्—स्तोककायत्वात् । स्वल्पं शरीरं यस्य तस्य भावस्तत्वम् तस्मात् । भयसंपिडिताङ्गत्वात —

भीतिसंकुचितावयवत्वात् । भयेन संपिंडितानि अंगानि यस्य तस्य भावस्तत्वं तस्मात् । आयुषः--वयसः । सावशेषत्वाच्च--अवशिष्टत्वात् च । तत्पक्षपुटान्तर्गतम्--पितृपतत्रयुगलमध्यप्रविष्टम् । माम्--शुकशावकम् । कथमपि कथञ्चित् । नालक्षयत्--नोदृष्टवान् । उपरतं च--मृतं च । तम्--पितरम्--शिथिलशिरोधरम्- स्रस्तग्रीवम् । शिथिला शिरोधरा यस्य तम् । अधोमुखम्--नम्राननम्, अवनीतले--पृथ्वीतले । अमुंचत्--पातितवान् । अहमपि--वैशम्पायनोऽपि । तच्चरणान्तरे--पितृपादमध्ये तस्य चरणयोरन्तरं तस्मिन् । निवेशितशिरोधरः--स्थापितग्रीवः । निभतम् नीरवम् । अङ्कनिलीनः क्रोडान्तर्गतः । तेनैवसह--पित्रैव सार्धम् । अपतम्--पतितवान् । आयुषोऽवशिष्टतया तु--अवस्थाया अवशेषतया । पवनवशात्--वायुकारणात् । पुञ्जितस्य--एकत्रितस्य । पुञ्ज+क्तः पुञ्जितः । महतः--प्रचुरस्य । शुष्कपत्र-[राशेः--नीरसदलनिचयस्य । उपरि--ऊर्ध्वम् । पतितम्--च्युतम् । आत्मानम्--स्वकीयम् । अपश्यम्--दृष्टवान् । येन यतः । मे--मम । अङ्गानि--देहावयवाः । नाशीर्य्यन्त--नोविशीर्णाः ।

वैशम्पायनावस्थावर्णनम्

यावत्--यत्कालम् । असौ । जरच्छबरः । तस्मात् तरुतलात् । पूर्वोक्तशाल्मलीवृक्षोपरिभागात् । नावतरति--नोऽवरोहति । तावत्--तत्कालम् । अवशीर्णपर्णसवर्णत्वात् । पतितपत्रसमानरूपत्वात् । अवशीर्णैः पर्णैः समानो वर्णो यस्य तस्य भावस्तत्वं तस्मात् । अस्फुटोपलक्ष्यमाणमूर्तिः--अव्यक्तदृश्यमानतनुः । उपरतपितरम्--मृतं जनकम् । नृशंस इव--घातुक इव । उत्सृज्य--

त्यक्त्वा । प्राणपरित्यागयोग्येऽपि—असुविसर्जनोचितेऽपि काले । बालतया—शैशवात् । कालान्तरभुवः—यौवनादिवयोभाविनः । शैशवादन्यः कालः कालान्तरम् तत्र भवतीति तस्य । स्नेहरसस्य प्रेमस्वादस्य । अनभिज्ञः—अपरिचितः । जन्मसहभुवा—आजनन-जातेन । जन्मना सह भवतीति तेन । भयेनैव—भीत्यैव । केव-लम्—एकम् । अभिभूयमानः—तिरस्क्रियमाणः । किंचिदुपजा-ताभ्याम् – ईषदुत्पन्नाभ्याम् पक्षाभ्याम् पतत्राभ्याम् । ईषत्कृता-वष्टम्भः—किंचिद्विहिताश्रयः इतस्ततः समन्तात् । लुठन्—पतन् । कृतान्तमुखकुहरादिव । यमाननविलादिव । कृतान्तस्य मुखमेवविवरं तस्मात् । विनिर्गतमिव निर्यातमिव । आत्मानम्—स्वम् । मन्यमानः—जानन् । नातिदूरवर्त्तिनः समीपस्थस्य । शबरसुन्दरीकर्णपूररचनोपयुक्तपल्लवस्य किरातकामिनीश्रवणालंकार-निर्माणोचितपत्रस्य । शवरसुन्दरीणां कर्णपूराणाम् रचनायै उप-युक्ताः पल्लवाः यस्य तस्य । संकर्षणपटनीलच्छायया—बलभद्रव-सनशितिकान्त्या । बलभद्रस्य पटवत् नीला छाया तया । गदाधर-देहच्छविम्—विष्णुकायकान्तिम् । उपहसत इव—हास्यं कुर्वत इव । अच्छैः—निर्मलैः । कालिन्दीजलच्छेदैरिव—यमुनासलिलखण्डैरिव । कालिंद्याः जलस्यच्छेदास्तैरिव । विरचितच्छदस्य—निर्मितपत्रस्य । वनकरिमदसलिलैरिवोपसिक्तकिसलयस्य—अरण्यगजदानवारिक्षरि-तदलस्य । वनस्य करिणां मदेन उपसिक्ताः पल्लवाः यस्य तस्य । विंध्याटवीकेशपाशश्रियम्—विंध्याख्यकुन्तलकलापशोभाम् । उद्वहतः—कुर्वतः । दिवापि दिनेऽपि । अन्धकारितशाखान्तरस्य—सञ्जातध्वान्तविटपाभ्यन्तरभागस्य । अंधकारितानि शाखान्तराणि

यस्य तस्य । महतः—प्रौढस्य । तमालविटपिनः—तापिच्छतरोः । अप्रविष्टसूर्य्यकिरणम्—अनन्तर्गतरविरश्मिकम् अप्रविष्टाः सूर्य्यस्य किरणाः यस्मिन् तम् । अति गहनम्—अतिशयगंभीरम् । मूल-देशम्—आशयप्रदेशम् । अपरस्येव पितुः—द्वितीयजनकस्येव । उत्सङ्गम्—अङ्कम् । अविशम्—प्रविष्टवान् ।

३२—सहसा सिर पर आ पड़े प्रतीकार-रहित (अर्थात् जिसमें बचने का कोई उपाय नहीं था) और प्राण हरण करने वाले उस संकट को देख कर मेरे पिता के शरीर में दुगना कम्पन होने लगा। मृत्यु के भय से उनकी आँखों की चंचल पुतलियाँ लौटने लगीं, वे (आँखें) शोक के कारण शून्य हो गईं तथा आँसुओं में डूब गयीं और वे उनको इधर-उधर चारों दिशाओं में फेंकने लगे (चारों ओर देखने लगे)। उनका तालु सूखने लगा। बचने का कोई उपाय नहीं सूझता था। डर के मारे उनके परों के जोड़ शिथिल पड़ गये तब भी मुझे अपने परों में छिपाकर और इसी को उस समय के लिए उचित प्रतीकार मानकर स्नेह परवश, मेरी रक्षा करने के लिए आकुल और किंकर्तव्यविमूढ़ वे (मेरे पिता), मुझे अपने उत्सङ्ग प्रदेश (गोद) में लगाये हुए, वहीं स्थित रहे। (इस बीच) उस पापी तथा अत्यन्त नृशंस व्याध ने धीरे-धीरे शाखा से शाखा पर जाते हुए (मेरे) कोटर पर पहुँच कर अपना वृद्ध, कृष्ण सर्प के शरीर के समान भीषण बायाँ हाथ अन्दर डाला (या फैलाया)। (उसके हाथ की) हथेली से, अनेक जङ्गली सुअरों की चर्बी (से लिप्त होने) के कारण, कच्चे मांस की गन्ध आ रही थी। उसका प्रकोष्ठ (कलाई और कुहनी के बीच का भाग) लगातार धनुष की डोरी खींचने के कारण होने वाले क्षतों से चिह्नित हो रहा था, और वह (हाथ) यम के दण्ड के समान था। (इसके पश्चात् अर्थात् हाथ अन्दर डाल कर) बार-बार चोंच से प्रहार करते हुए और जोर से चिल्लाते हुए पिता जी को खींचकर उसने उनके प्राण ले लिए। किन्तु मैं एक तो बहुत छोटा था और फिर भय के मारे मैंने अपने अंग सिकोड़ लिए थे और (शायद) मेरी आयु भी अभी शेष थी, अतएव उनके (पिता के)

परों के अन्दर छिपे हुए , मुझको वह (वृद्ध शवर) न देख सका । मेरे मरे हुए पिता को, जिनकी गर्दन शिथिल होकर लटक गई थी, उसने मुँह के बल पृथ्वीतल पर डाल दिया । उनके पैरों के बीच अपनी गर्दन घुमेड़े हुए मैं उनकी गोदी में चुपचाप छिपा हुआ उन्हीं के साथ नीचे गिर पड़ा । पुण्य अवशिष्ट होने के कारण मैंने अपने को वायु से एकत्रित सूखे पत्तों के एक विशाल ढेर पर पड़ा हुआ पाया । इससे मेरे शरीर में कोई चोट नहीं आयी । मेरा वर्ण गिरे हुए पत्तों के समान ही था जिसमे (उन पत्तों के बीच) मेरा स्वरूप स्पष्ट रूप से दिखलाई नहीं पड़ता था, अतएव, इसके पहले कि वह नीचे उतरे (अर्थात् जब तक कि वह नीचे,, उतर रहा था), मैं एक नृशंस मनुष्य की भाँति अपने मरे हुए पिता को छोड़ कर चल दिया; यद्यपि वह समय स्वयं मेरे प्राण त्याग के लिए उपयुक्त था । कालान्तर में होने वाले प्रेम के रस का ज्ञान मुझे उस समय अपने शैशव के कारण नहीं था और केवल जन्म के साथ होने वाले सहज भय से ही मैं अभिभूत् हो रहा था । इसलिए अपने कुछ-कुछ निकले हुए परों से थोड़ा सहारा लेते हुए इधर-उधर लुढ़कते हुए और यह सोचते हुए कि मानों मैं यम के मुख-कुहर (गुफा) से निकल आया हूँ, एक अत्यन्त विशाल, निकट स्थित, तमाल वृक्ष की जड़ों के प्रदेश में, जहाँ कि सूर्य की किरणों का भी प्रवेश नहीं हो पाता था और जो बहुत घना था, इस प्रकार घुस गया मानो वह दूसरे पिता की गोद ही हो । उस तमाल वृक्ष के पल्लव शवर-सुन्दरियों के कर्णाभूषण बनाने के उपयुक्त थे (अर्थात् वे उसके पत्तों से अपने कानों का आभरण बनाया करती थीं), वह बलराम के वस्त्र के समान नीली अपनी छाया से गदाधारी विष्णु भगवान् के शरीर की (नीली) छवि की हँसी-सी उड़ा रहा था; ऐसा मालूम पड़ता था मानो उसके पत्ते यमुना के (नीले) जल की बूँदों से बनाये गये हों । उसके किसलय, मालूम होता था, जङ्गली हाथियों के मदजल से सिक्त किये गये हों, विन्ध्याटवी (रूपी वधू) के केश-पाश के समान उसकी शोभा थी । दिन में भी उसकी शाखाओं के अन्दर अँधेरा रहता था ।

शब्दार्थ—अकाण्ड एव—सहसा ही, अकस्मात्; अप्रतीकारम्—जिसका कोई प्रतीकार (जिसको दूर करने का या जिससे बचने का उपाय न हो), उपप्लवम्—विपत्ति या संकट को; वेपथुः—कम्पन; अक्षमः—असमर्थ; सन्धिः—अंगों के जोड़; अवष्टभ्य—अवलम्बन करके; भोगः—शरीर ('भोगः सुखे स्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः'—इत्यमरः)', वसा—चर्बी; विस्रं—कच्चे मांस जैसी दुर्गन्धि (गन्धि शब्द की आवश्यकता यहाँ नहीं है, क्योंकि विस्रं का अर्थ ही कच्चे मांस जैसी दुर्गन्धि है, अतएव 'विस्रंकरतल' पाठ ही अधिक ठीक होगा); संपिंडतम्—संकुचितम्, शिरोधरम्—ग्रीवाम्; अवष्टम्भः—आधार; संकर्षणः—बलराम जी।

32—My father, however (or on his part), seeing that great calamity or misfortune, that had befallen unexpectedly or come on all of a sudden, that was destructive of (or fatally dangerous to our) lives, and that was remediless or without any remedial measures (that could be taken to avert it),—having (thereby) had the (natural) tremour or trembling (of his body) more than doubled,—casting about here and there in (all the different) directions, a glance or his eye, the pupils of which were agitated (*i. e.*, revolving or rolling about) and restless on account of the fear or terror of (impending) death, which looked vacant or blank through grief and which was filled or flooded with tears,—with his palate having become parched or dried up,—unable to help or protect himself,—having covered or concealed me with the folds or hollow cavity of his wings that had become loose or relaxed on account of their joints having drooped down with fear or terror,—thinking of (*i. e.*, deliberating within himself about) such help or remedy (alone) as was appropriate to that (sudden) occasion [or it might also mean,

'thinking or regarding it or the same, namely, the covering or concealing me within his wings, as a (sufficient) remedy appropriate to that (sudden) occasion],—being overpowered (or beyond his control) with (the natural paternal) affection (for me),—being (greatly) concerned or agitated (*i. e.*, distracted, flurried or bewildered) with the idea or thought of (somehow) protecting me,—and being at a loss (to ascertain or settle) as to what to do,—stood supporting me with a portion of his lap or by his bosom. (Meanwhile) that wicked or sinful wretch, on his part, gradually moving about among the branches, and having come at the door of (our) hollow or cavity, and extended or stretched forth (or out) his left arm or hand, that was terrible like the hood of an old and black serpent or cobra, the palm of which had the odour (*i. e.*, was smelling like or was full of the peculiar smell) of raw meat on account of the fat of various wild boars (happening to stick to it), the fore-arm of which was marked with the wales or bruises caused by the drawing or pulling up of the string of the bow, and which was like or resembled the rod or sceptre of the god of death (*i. e.*, of Yama),—(that sinful wretch) who was extremely cruel, having (from the hollow or cavity) drawn or dragged out my father who repeatedly struck him (lit. 'gave him strokes') with his beak, and was moaning or crying out (piteously),—put him to death (lit. 'made him life-less'). He did not somehow or other (inexplicably) notice me, however, who was lying within the folds or cavity of his wings, on account of the fact (it might probably be) of my being very small or tiny, of my limbs or body having become contracted or rolled

into a ball with or as a result of fear or terror, and of a part or some portion of (the allotted span of) my life or age being still left over (or still remaining due to me,—*i. e.*, on account of the fact that I was destined yet to live sometime longer). And he threw or dropped him, who was dead, and whose neck was hanging or had become loose, down on the ground or the surface of the earth with his face being downwards. I also, having thrust my neck in between or in the midst of his legs or feet, and quietly (*i. e.*, secretly or unobservedly) lying concealed in (or clinging to) his lap or bosom, fell down (to the ground) just along with him. As a result, however, of the fact that something out of (the store or accumulation of) my moral or religious merit (acquired in a previous life or lives) still remained (to stand in good stead to me), I saw or found myself fallen upon a large heap or huge mass of dry or withered leaves that had been brought or collected (*i e.*, accumulated or heaped up) together by (lit. 'by the force or under the influence of') the wind; as a result of which (*i. e.*, for which reason, or on account of which), my limbs were not (or did not get) hurt or shattered to pieces. And before he (lit. 'as long as he did not climb down.'—*i. e.*, in the interval that elapsed before he. etc.,) got down or alighted from the top of that tree, I,—whose form could not distinctly or clearly be noticed or detected, on account of my being similar in colour to (or of the same colour as that of) the fallen or withered leaves, having left or forsaken my deceased father, like a cruel wretch, even at a time when the abandoning or giving up of (my) life (along with him) would have been (but too) appropriate or proper, —being, on account of my infancy, ignorant or unaware

(*i. e*, quite innocent of that feeling or sentiment of love or affection that arises or proceeds (only) from (or after) the lapse of time—and being overpowered by (the sense or feeling of) fear alone that is born or created (in one) from (one's very birth (lit. 'born along with birth',—born as soon after as one takes one's birth,—*i. e.*, fear that is inborn or innate in beings),—having a little helped or supported myself with the wings that had (but) slightly grown,—tottering or tumbling about (lit. 'rolling' or 'rolling about on the ground',—*i. e.*, staggering about unsteadily) this side and that (or here and there),—thinking or considering myself to have escaped or come out from the hollow or cavity of the mouth of the god of death ('from the jaws of death'), as it were, —entered *i. e.*, took shelter by entering) into the region at the root,—that was inaccessible to the rays of the sun [lit. 'into which the rays of the sun had not (yet) entered,'—'which was not (yet) entered into by the rays of the sun'], that was very deep or profound (and hence, 'extremely impenetrable or inaccessible'), and that was like the lap or embrace of a second or another father (to me), as it were,—of a very large *Tamala* tree, that was standing not very far (away from the spot where I was), the tender shoots or leaves of which were employed in or were suitable or appropriate for the preparation or making of ear-rings or ear ornaments by the beautiful Shabara ladies, that on account of its having a dark shade like the (blue coloured) robe or garment of Balarama, was deriding or laughing, as it were, at the (dark) splendour or beauty of the body of Vishnu (lit. 'one bearing a club or mace', *i. e.*, Vishnu—also an epithet of Krishna), the leaves of which were formed or made as though with the lucid or

clear drops of the waters of the (river) Jamuna, as it were, —the young shoots or fresh tender leaves of which were or had been watered as though with the ichor-like water of the wild elephants,—that bore the grace or beautiful appearance of an ornamented tuft or cluster of hair on the head of the (lady-like) Vindhya forest, and the interiors of the branches of which (Tamala tree) had been rendered dark (*i. e.*, were full of darkness) even during the day time.

३३—अवतीर्य स तेन समयेन क्षितितलविप्रकीर्णान्संहृत्य ताञ्छुकशिशूनेकलतापाशसंयतानाबध्य पर्णपुटेऽतित्वरितगमनः सेनापतिगतेनैव वर्त्मना तामेव दिशमगच्छत् । मां तु लब्धजीविताशं प्रत्यग्रपितृमरणशोकशुष्कहृदयमतिदूरपाताद्दायासितशरीरं संत्रासजाता सर्वाङ्गोपतापिनी बलवती पिपासा परवशमकरोत् । अनया च कालकलया सुदूरमतिक्रान्तः स पापकृदिति परिकलय्य किञ्चदुन्नमितकंधरो भयचकितया दृशा दिशोवलोक्य तृणेपि चलति पुनः प्रतिनिवृत्त इति तमेव पदे पदे पापकारिणमुत्प्रेक्षमाणो निष्क्रम्य तस्मत्तामालतरुमूलात्सलिलसमीपमुपसर्तुं प्रयत्नमकरवम् ।

३३—सः—जरच्छबरः । तेन समयेन—तदा । अवतीर्य्य—आरुह्य । क्षितितलविप्रकीर्णान्—भूतलविक्षिप्तान् । तान् अनेकान्शुकशिशून्—कीरशावकान् । एकलतापाशसंयतान्—एकवल्लिबंधनबद्धान् । पर्णपुटे—पत्रनिर्मितपात्रे । आवध्य—सन्नह्य । अतित्वरितगमनः—शीघ्रतरगतिः । अतित्वरितं गमनं यस्य सः । सेनापतिगतेनैव—मातङ्गानुयातेनैव । वर्त्मना—पथा । तामेव—

मातङ्गस्यैव । दिशम्—आशाम्। अन्वगच्छत्—अनुगतवान् । लब्धजीविताशम्—प्राप्तजीवनेच्छम् । लब्धा जीवितस्याशा येन तम् । प्रत्यग्रपितृमरणशोकशुष्कहृदयम्—अचिरजनकमृत्युशुष्करिक्त-मानसम् । प्रत्यग्रं पितृमरणं तेन जातः शोकः तेनशुष्कं हृदयं यस्य तम् । अतिदूरपातात्—अतिशयोन्नतप्रदेशपतनात् । आयासित-शरीरम्—खेदितदेहम् । संत्रासजाता—उद्वेगोद्भूता । माम् तु । सर्वांगोपतापिनी—निखिलदेहावयवपीडयित्री । सर्वेषामंगानामुपता-पिनी सा । बलवती—प्रौढा । पिपासा—तृषा । 'उरन्यातु पिपासा तृड्' इत्यमरः । परवशमकरोत्—पराधीनं कृतवती । अनया अमुया च । कालकलया—समयभागेन । सः पापकृत् । जरच्छबरः । सुदूरम्—अतिविप्रकृष्टम् । अतिक्रान्तः—निर्यातः । इति—एवम् । परिकलय्य—ज्ञात्वा । किंचिदुन्नमितकंधरः—ईषदुच्चग्रीवः । भयचकितया—भीतिकम्पितया । दृशा—दृष्ट्या । दिशः—आशाः । अवलोक्य—संलक्ष्य । तृणेऽपि—घासेऽपि चलति—कम्पमाने । पुनः—भूयः । प्रतिनिवृत्तः आगतः । इति—एवम् । तमेव जीर्णकिरातमेव । पापकारिणम्—पापात्मानम् । पदे पदे—प्रतिपदम् । उत्प्रेक्षमाणः—शङ्कमानः । तस्मात्—पूर्वोक्तात् । तमालतरुमूलात्—मापिच्छविटपि-मूलदेशात् । निष्क्रम्य—निर्गत्य । सलिलसमीपम्—जलनिकटम् । उपसर्त्तुम्—गन्तुम् । प्रयत्नम्—प्रयासम् । अकरवम्—कृतवान् ।

३३—(जब मैं तमाल वृक्ष की जड़ में छिप चुका था) उस समय उसने (भील ने) पेड़ से उतर कर, पृथ्वी तल पर (इधर-उधर) पड़े हुए तोतों के उन बच्चों को एकत्रित करके, एक लता से बनाये हुए बन्धन में उन्हें लपेट कर और पत्तों की बनी हुई टोकरी-सी में भर कर बाँध लिया और

जिस रास्ते से सेनापति गया था, उसी मार्ग से, उसी दिशा में बड़ी तेज चाल से चल दिया। अब मुझे अपने जीवन की कुछ आशा हुई, किन्तु इस समय पिता के हाल ही में मरने के दुःख (ताप) से मेरा हृदय सूख गया था, अत्यन्त ऊँचाई से गिरने के कारण मेरे शरीर में पीड़ा हो रही थी; और डर के कारण उत्पन्न होने वाली ऐसी कठोर प्यास के वश में हो गया था कि मेरे सारे अंग जलने-से लगे थे। 'अब तक वह पापी बहुत दूर निकल गया होगा'— (मन में) यह विचार कर मैंने अपनी गर्दन कुछ उठाई, और भय से चकित दृष्टि से दिशाओं को देखा। एक तिनके के हिलने (की आवाज) होने पर भी मुझे पद-पद पर यही दिखाई पड़ता कि वह पापी पुनः लौट आया है। (स प्रकार सन्देह करता हुआ) मैं उस तमाल वृक्ष की जड़ से निकल कर किसी जलाशय के पास पहुँचने का प्रयत्न करने लगा।

शब्दार्थ—पर्णपुटे—पत्तों के बने दोने या टोकरी में; एकलतापाशसंयतान्—एक लता-बन्धन या पाश के रूप में प्रयोग करके तोतों को बाँध लिया, पातात्—गिरने से; पिपासा—प्यास।

33. Having by that time (*i. e.*, **while I managed to escape into the foot or root of the aforesaid** *Tamala* **tree) descended or climbed down, and collected together those (lifeless) young ones of parrots that were lying scattered about on the ground, and having bound them that were (already) tied or held together with (the coils or spiral rings of) a single creeper in a basket or bundle (lit., a cup-like vessel) of leaves,—he** (*i. e.*, **that wicked sinful old hunter), with a very quickened pace (or a very hurried march or movement), went away or departed just by the same route** (*i.e.*, **followed the same course or track) as the leader or army-chief had gone and into the same direction. A powerful feeling of thirst, that had been produced or brought about by fright or terror, and that was burning or**

torturing all my limbs or the whole of my body, rendered or made me, however, who had (now) got a hope of life, whose heart had become withered or dried up with grief or sorrow at the recent death of my father, and whose body had been greatly) distressed or aflicted with pain (*i. e.*, rudely shocked or exercised, 'troubled or wearied') on account of the fall from a great height (lit. 'a long or great distance'),—helpless or overpowered me (completely). 'That wicked or sinful villain must have by this partial lapse of time gone very far or traversed a fairly long way or distance',—thinking this, I, having raised up my neck a little, looked in (all the different) directions with an eye or look, that was timid or trembling with fear (*i. e.*, frightened or alarmed on account of the recent fright or terror',—having come out from the (recesses at the) root of that *Tamala* tree, fearing or expecting at each and every step that very wicked or sinful wretch as 'having returned' (*i. e.*, as returning) again, at the stirring or movement (lit. 'moving') of even a blade of grass, endeavoured or made an effort to walk off to or go near (some pool of) water.

३४——अजातपक्षतया च नातिस्थिरचरणसंचारस्य मुहुर्मुहुर्मुखेन पततो मुहुस्तिर्यङ्ङनिपतन्तमात्मानमेकया पक्षपाल्या संधारयतः क्षितितलसंसर्पणभ्रमातुरस्यानभ्यासवशादेकमपि दत्त्वा पदमनवरतमुन्मुखस्य स्थूलस्थूलं श्वसतो धूलिधूसरस्य संसर्पतो मम समभून्मनसि । अतिकष्टास्वप्यवस्थासु जीवितनिरपेक्षा न भवन्ति खलु जगति सर्वप्राणिनां प्रवृत्तयः । नास्ति जीवितादन्यदभिमततरमिह जगति सर्व-

जन्तूनाम् । एवमुपरतेपि सुगृहीतनाम्नि ताते यदहमविकले-न्द्रियः पुनरेव प्राणिमि। धिङ् मामकरुणमतिनिष्ठुरमकृत-ज्ञम् । अहो सोढपितृमरणशोकदारुणं येन मया जीव्यते। उपकृतमपि नापेक्ष्यते । खलं हि खलु मे हृदयम् । मया हि लोकान्तरगतायामम्बायां नियम्य शोकवेगमाप्रसवदिवसा-त्परिणतवयसापि सता तैस्तैरुपायैर्मत्संवर्धनक्लेशमतिमहान्त-मपि स्नेहवशादगणयता यत्तातेन परिपालितस्तत्सर्वमेकपदे विस्मृतम् । अतिकृपणाः खल्वमी प्राणाः । यदुपकारिणमपि तातमद्यापि क्वापि गच्छन्तं नानुगच्छन्ति । सर्वथा न कंचिन्न खलीकरोति जीविततृष्णा । यदीदृगवस्थमपि मामयमायास-यति जलाभिलाषः । मन्ये चागणितपितृमरणशोकस्य निर्घृ-णतैव केवलमियं मम सलिलपानबुद्धिः । अद्यापि दूर एव सरस्तीरम् । तथा हि । जलदेवतानूपुररवानुकारि दूरेऽद्यापि कलहंसविरुतमेतत् । अस्फुटानि श्रूयन्ते सारसरसितानि । अयं च विप्रकर्षादाशामुखविसर्पणविरलः संचरति नलिनीखण्ड-परिमलः । दिवसस्य चेयमतिकष्टा दशा वर्तते । तथा हि । रविरम्बरतलमध्यवर्ती स्फुरन्तमातपमनवरतमनलधूलिनिकर-मिव विकिरति करैः । अधिकामुपजनयति तृषामातपस्पर्श-संतप्तपांसुपटलदुर्गमा भूमिः । अतिप्रबलपिपासावसन्नानि गन्तुमल्पमपि मे नालमङ्गकानि । अप्रभुरस्म्यात्मनः । सीदति मे हृदयम् । अन्धकारतामुपयाति चक्षुः । अपि नाम खलो विधिरनिच्छतोपि मे मरणमद्योपपादयेत् ।

३४—अजातपक्षतया च—अनुत्पन्नपतत्रया च । नातिस्थिरचरणसंचारस्य—अनत्यन्तस्थायिपदगमनस्य । न अतिस्थिरः चरणाभ्यां संचारो यस्य सः । तस्य । मुहुः मुहुः—भूयोभूयः । मुखेन—वदनेन । पततः—भ्रंशमानस्य मुहुः—पुनः । तिर्यंङ्निपतन्तम्—तिरोभूतच्यवमानम् । आत्मानम्—स्वम् । एकया—असहायया । पक्षपाल्या—पतत्रप्रान्तेन । संधारयतः—दधतः । क्षितितलसंसर्पणश्रमातुरस्य—भूतलगमनमनोभ्रान्तिमतः । क्षितितले संसर्पणेन श्रमातुरः तस्य । अनभ्यासवशात्—असकृत् गमनाभावात् । एकमपि—अद्वितीयम् अपि । पदम्—चरणन्यासम् । दत्त्वा—कृत्वा । अनवरतम्—अविरतम् वा बहुकालम् । उन्मुखस्य—ऊर्ध्ववदनस्य स्थूलस्थूलम्—अतिदीर्घम् । श्वसतः—प्राणतः । धूलिधूसरस्य—रजोमलिनवर्णस्य । धूलिभिः धूसरः तस्य । संसर्पतः—(जलप्रान्तम्—सलिलनिकटम् ।) गच्छतः । मम—मे । मनसि । समभूत्—जातम् । अतिकष्टासु—नितान्तखेददासु । दशासु—अवस्थासु । अपि । जीवितनिरपेक्षाः—जीवननिरिच्छाः न भवन्ति—नो जायन्ते । खलु निश्चयेन । जगति—लोके । प्राणिनाम—जीवानाम् प्रवृत्तयः—व्यवहाराः । इह—अत्र । जगति—भुवने । जीवितात्—जीवनात् । अन्यत्—इतरत् । सर्वजन्तूनाम—निखिलप्राणिनाम् । अभिमततरम्—प्रियतरम् । नास्ति—न वर्त्तते । एवम् इत्थम् । उपरतेऽपि—मृतेऽपि । सुगृहीतनाम्नि—पवित्रनामधेये । सुगृहीतम् नाम यस्य तस्मिन् । ताते—पितरि । यत्—यतः । अहम्—वैशम्पायनः । अविकलेन्द्रियः—पूर्णकरणः । पुनरेव—भूयोऽपि । धारयामि—जीवामि । अकरुणम्—निर्दयम् ।

अतिनिष्ठुरम्—नितान्तकठिनमनसम् । अकृतज्ञम्—कृतघ्नम् । माम् । धिक् गर्हिततमेतत् । अहो—आश्चर्य्यम् । सोढपितृमरणशोकदारुणम्—अनुभूतजनकमृत्युभयानकम् । सोढो यः पितृमरणशोकस्तेन दारुणम् यथास्यात् तथा । येन—पापेन । मया शुकशावकेन । जीव्यते—श्वस्यते । उपकृतमपि । हितमपि—नापेक्ष्यते—न स्मर्य्यते । खलंहि नीचमेव । खलु—निश्चयेन । मे-मम । हृदयम् चेतः । मयाहि । लोकान्तरगतायाम्—पञ्चत्वं प्राप्तायाम् । अम्बायाम्—मातरि । आप्रसवदिवसात्—जन्मदिनादारभ्य । शोकवेगम्—क्लेशाधिक्यम् । नियम्य—निरुध्य । परिणतवयसापि—वृद्धेनापि । परिणतं वयो यस्य तेन । परि+णम+क्तः परिणतम् ।। तातेन तैस्तैः—विविधैः । उपायैः—उद्योगैः । अतिमहान्तमपि—प्रचुरतममपि । मत्संवर्धनक्लेशम्—मदीयपोषणकष्टम् । स्नेहवशात्—अनुरागायत्तत्वात् । अगणयता—अचिन्तयता । यत् परिपालितः—योऽहम् पोषितः । तत्—अदः । सर्वम्—सकलम् । एकपदेहि ।। विस्मृतम्—नावलोचितम् । अमी प्राणाः—इमे असवः । अति कृपणाः—अत्यन्तदीनाः । खलु—निश्चयेन । यत्—यतः । उपकारिणमपि—हितकर्त्तारमपि । तातम् । अद्यापि—अधुनापि । क्वापि गच्छन्तम्—म्रियमाणम् । नानुगच्छन्ति—न पश्चाद्यान्ति । जीविततृष्णा—जीवनेच्छा । सर्वथा कञ्चित्—कमपिनाम् । न खलीकरोति—नो नीचाभिप्रायवन्तम् सम्पादयति इति न किन्तु क्षुद्राशयम् करोत्येव । न खलः अखलः तम् अखलम् । अखलम् खलम् करोतीति खलीकरोति । खलशब्दात्—अभूत तदभावेऽर्थे च्विः प्रत्ययः । अयम जलाभिलाषः—एषः सलिलपान-

मनोरथः । यत्—यतः । ईदृशावस्थमपि—एतद्दुर्दशासम्पन्नमपि । माम् । आयासयति—खेदयति । अगणितपितृमरणशोकस्य—अस्पृष्टजनकमृत्युक्लेशस्य । केवलम्—एकम् । निर्घृणतैव—निर्दयतैव । मम । इयम्—एषा । सलिलपानबुद्धिः—जलग्रहणेच्छा । इति मन्ये—जानामि । अद्यापि—अधुनापि । दूरे एव सरस्तीरम्—ह्रदतटम् । तथाहि तथैव । जलदेवतानूपुररवानुकारि—सलिलदेवमञ्जीरसदृशम् । सलिलदेवतानां नूपुररवमनुकरोति तत् । एतत्—इदम् । कलहंसविरुतम्—कादम्बकूजितम् । अद्यापि । दूरे—न निकटम् । अस्फुटानि—अव्यक्तानि । सारसरसितानि—पक्षिविशेषकूजितानि । अयं च—असौ च । विप्रकर्षात्—दूरत्वात् । आशामुखविसर्पणविरलः—दिग्विभागविस्तारात्पः । आशामुखेषु विसर्पणेन विरलः सः । नलिनीखण्डपरिमलः—कमलिनीवनमकरन्दः संसरति—प्रसरति । दिवसस्य च—दिनस्य च । इयम् ।। अतिकष्टा—नितान्तखेददायिनी । दशा—अवस्था । वर्त्तते—विद्यते । तथैव दर्शयति । अम्बरतलमध्यवर्त्ती—आकाशाभ्यन्तरस्थितः । रविः—भानुः । स्फुरन्तम्—दीप्तम् । आतपम्—सन्तापम् । अनलधूलिनिकरमिव—वह्निरजोनिचयमिव । करैः—किरणैः । अनवरतम्—अविरतम् । विकिरति—विक्षिपति । अधिकाम्—महतीम् । तृषाम्—पिपासाम् । जनयति—करोति । आतपस्पर्शसंतप्तपांसुपटलदुर्गमा—सन्तापात्युष्णधूलिपुञ्जदुःखगमना । आतपस्पर्शेण संतप्तस्य पांसोः पटलेन दुर्गमा सा । भूमि—धरा । अतिप्रबलपिपासावसन्नानि अधिकबलवतीतृषाजडानि । अतिप्रबलया पिपासया अवसन्नानि तानि । मे । अङ्गकानि—अनुकंपितदेहावयवाः । अनुकम्पितानि अङ्गानि—

अङ्गकानि । अनुकम्पायाम् कन् । अल्पमपि ईषदपि । गन्तुम् । यातुम् । नालम्—न समर्थानि । आत्मनः—स्वदेहस्य । अप्रभुः—असमर्थः । अस्मि—भवामि । मे मानसम् । सीदति—अवसन्नं भवति । चक्षुः—लोचनम् । अंधकारताम—अंधजनकत्वम् । अंधयतीत्यंधः अंध्+णिच् स्वार्थे+पचाद्यच् अंधः । तं करोति इति अंधकारस्तस्य भावस्तत्ता ताम् । उपयाति—प्राप्नोति । अपिच—नाम सम्भवे । खलः—दुष्टः । विधिः—नियतिः । अनिच्छतोऽपि न स्पृहयतोऽपि । मे । मरणम्—मृत्युम् । अद्यैव—अस्मिन्नेव दिने । उपपादयेत—जनयेत् ।

३४—(और उस समय तक) मेरे पर (भली प्रकार) नहीं निकले थे अतएव मैं अधिक स्थिरता के साथ नहीं चल पाता था और इस कारण बार-बार मुँह के बल गिरता था । (जब) तिरछा होकर गिरता तो अपने पक्ष-प्रदेश के सिरों से अपने को सँभालते हुए चलता । (कमजोर होने के कारण) पृथ्वी पर चलने से मुझे चक्कर आने लगे । अभ्यास न होने के कारण एक पग चलने पर भी मुझे हर बार (या लगातार) अपना मुख ऊपर उठा लेना पड़ता और लम्बी-लम्बी साँसें लेनी पड़तीं (अर्थात् दम फूलने लगता) । इस प्रकार धूलि-धूसरित होकर जब मैं लुढ़कता हुआ घिसट रहा था तो मेरे मन में '(यह विचार उत्पन्न) हुआ—'संसार के समस्त प्राणियों की यह प्रवृत्ति होती है कि अत्यन्त दुःख-पूर्ण अवस्थाओं में भी वे जीवन से उदासीन नहीं होते हैं । इस संसार में समस्त जीवों के लिए प्राणों से अधिक प्रिय कुछ नहीं है । तभी तो प्रातःस्मरणीय (अथवा पवित्र नाम वाले) अपने पिता के इस प्रकार मर जाने पर भी मैं और मेरी इन्द्रियाँ स्वस्थ हैं और मैं जीवित हूँ । (अतएव) मुझ, निर्दय और अत्यन्त निष्ठुर हृदय वाले कृतघ्न को धिक्कार है । अहो ! पिता के मरण के दारुण शोक को भी मैंने सह लिया, इसीसे तो मैं अब भी जी रहा हूँ । पिता के द्वारा किये गये उपकार का भी मुझे

ध्यान नहीं। मेरा हृदय निश्चय ही अत्यन्त दुष्ट है। माँ के परलोक चले जाने पर अपने शोक के आवेग को रोक कर मेरे पिता ने, अत्यन्त वृद्ध होने पर भी, स्नेहवश पालन-पोषण करने में होने वाले कष्टों की परवाह न करते हुए, विभिन्न उपायों से जो मुझे पाला-पोसा, उसे भी मैंने एकदम से भुला दिया। ये प्राण वस्तुत: बड़े तुच्छ हैं, क्योंकि, उपकार करने वाले पिता के कहीं चले जाने पर भी (अर्थात् मर जाने पर भी) ये अब भी उनका अनुगमन नहीं करते हैं। जीवन की तृष्णा किसको सर्व प्रकार से अधम नहीं बना देती है; क्योंकि ऐसी दशा में भी (अर्थात् पिता के मरने और ऐसे संकट में होने पर भी) मुझे जल पीने की अभिलाषा सता रही है। मेरे विचार से यह केवल मेरी निष्करुणता (कठोर-हृदयता) ही है कि पिता के मरण के शोक को भुला कर मेरी इच्छा जल पीने की हो रही है। अब भी तालाब दूर ही मालूम पड़ता है क्योंकि अभी हंसों का, जलदेवता के नूपुरों की ध्वनि के समान, शब्द दूर (ही मालूम पड़ता) है। सारसों का कूजन भी अस्पष्ट रूप से ही सुनाई पड़ता है। कमलिनी-समूह का यह सौरभ भी बहुत दूर से आने के कारण चारों दिशाओं में फैल कर मन्द हो जाता है। और यह दिन का बहुत ही कष्टकर समय है क्योंकि (इस समय) सूर्य आकाश के मध्य में स्थित होकर अपने करों (किरणों) से चमचमाती हुई धूप को इस प्रकार फैला रहा है मानो अपने करों (हाथों) से अग्नि के धूल-समूह को ही बिखेर रहा हो। धूप के कारण धूलिराशि अत्यन्त तप जाती है, जिससे पृथ्वी पर चलना भी कठिन हो जाता है। इस तपी भूमि के कारण प्यास भी बहुत लगती है। मेरे नन्हें-नन्हें अंग अति प्रबल पिपासा के कारण सुन्न पड़ गये हैं और मुझसे जरा भी नहीं चला जाता है। अपने ऊपर भी मेरा वश नहीं रह गया है। मेरा हृदय खिन्न हो रहा है। आँखों के सामने अँधेरा छा रहा है। क्या ही अच्छा हो, कि दुष्टविधाता मेरी मृत्यु ला दे, यद्यपि कि मैं यह चाहता नहीं।

शब्दार्थ:—पक्षपाल्या—परों के किनारों से, भ्रमातुर:—जिसे चक्कर आ रहा हो; संमर्पन—लदकता हुआ; जीवितनिरपेक्ष:—जीवन से उदासीन;

अभितरम्—अधिक प्रिय. सुगृहीतनामा—पवित्र नाम वाले; प्राणिमि—जीवित हूं; तैः तैः–विविधैः; खलीकरोति—अधम बना देती है; विप्रकर्षात्—दूर होने से; पांसु—धूलि; अङ्गकानि—छोटे-छोटे अंग।

34 And it (namely, the following thoughts or ideas) occurred to (or began to revolve in) my mind, who, on account of my wings not yet having grown, could not walk very steadily on my feet (lit. of me 'the movement of whose feet was not very steady on account of' etc.), and (consequently) fell down on my face again and again,—who often or repeatedly supported myself with (the help of) one side or edge of my wings, while (*often or repeatedly*) falling (or being about to fall) sideways or obliquely,—who was suffering from or feeling feeble or weak (and hence incapable of doing anything) on account of giddiness or dizziness, brought about or produced by creeping or crawling on the ground or surface of the earth,—who incessantly or constantly raised my face upwards even after having taken or advanced a single step, on account of the fact that I had no practice (of walking, or was not accustomed to walk), and who (therefore) breathed or panted very hard,—and who, while crawling along (towards the pool of water), had his whole body rendered grey with dust (or was looking grey or dusty-white on account of being besmeared with dust all over): 'Even under circumstances of extreme distress or painful suffering (*i. e.*, even under very distressing or painful circumstances), the doings or activities (*i. e.*, the tendencies, efforts or exertions) of all creatures or living beings in this world are, indeed not (or by no means, or not at all) regardless of life! There is nothing else or no other

(thing) in this world, which is dearer to (*i. e.*, more desirable or agreeable, or better desired for by) all living beings than (their) life ;—in that or inasmuch as I am still alive or living even now, with (all) my senses being unimpaired (or in perfect regular order or consciousness), although my father of blessed or auspicious memory (lit. 'one whose name is invoked auspiciously') is thus dead, or is dead in this (namely, the aforesaid) manner. Fie or shame upon me (who am so) relentless or merciless (*i. e.*, devoid of tenderness of feelings or compassion to such an extent), (so) very cruel or heartless, and (so) ungrateful ! Alas or what a pity (it is) that I, who have (so easily or lightly) borne the dreadful sorrow or terrible grief caused by the death of my father, (still) continue to live or bear up with my life ! That I, though put under (such a heavy) burden of obligation (by my father), (still or nevertheless) pay no regard to it. Surely my heart (or mind) is, indeed, (very) wicked. The fact that (or as to how indeed) I have been brought up from the (very) day of my birth by my father, who, having restrained the impetuous force of his sorrow or grief on or at the time ef the death [lit., 'on (my) mother having departed or passed away to the other world'] of my mother, and who, though being of an advanced age, did not on account of (his) affection (for me), mind or have any regard even for the very great trouble or suffering (involved) in bringing me up by those various (lit. 'those and those') means,—all that has indeed and all of a sudden been forgotten or thrown into oblivion by me. This (or such a) life is, indeed, very mean or vile (*i. e.*, is miserably low or pitiably wretched), inasmuch as it does not even now (lit, 'this very day', 'even

today', *i. e.*, even after such a, or so much, lapse of time) follow, whitherseoever he might be going (lit. 'going somewhere', not known where), my father, even though he had done (me so much) good or conferred (so much) benefit (upon me). Surely or by all means there is none whom the thirst for life does not debase or make low or cruel-hearted (lit. 'wicked or villainous '), since or inasmuch as this desire or eager longing for water exercises *i. e.*, causes or forces me to exert (for the same), even though I am so (pitiably) situated (*i. e.*, even in such sad plight or pitiable situation as I am in at present). And I think this idea or thought of drinking water on my part, who has felt no regard for the grief caused by my father's death, is nothing but pure pitilessness or cruel hard-heartedness. The bank of the lake is still or even now far away ; for or inasmuch as this (collective) cry of the swans, which resembles the (jingling) sound of the anklets of water-nymphs or presiding female deities of water is still (being heard) at or from a distance. The cries of the cranes are being (but) indistinctly heard (or, are but indistinctly audible). And this fragrance of the forest of lotuses or of the lotus-beds, having been rendered thin (*i. e.*, become rarefied or less dense) on account of its being diffused through or scattered over the (various) directions, proceeds from a long or remote distance. And this is a very painful or oppressive (*i e.*, severely disagreeable owing to the midday heat) period or hour (lit. state or condition) of the day; for so the sun, which (now) occupies the centre or the middle (*i. e.*, the meridian point) of the sky, is incessantly or ceaselessly scattering about with its rays, blazing heat, as though it were a heap

or mass of the dust or fire, being scattered about by him with his hands. The ground, which has become difficult to tread upon owing to the mass or heap of its dust having been fully heated on account of its contact with the rays of the sun (lit. '*the heat*' caused by the blazing sun), further aggravates or intensifies (lit. 'makes or produces more') the (feeling of) thirst. My tiny limbs, which have become languid or enervated (*i. e.*, enfeebled, exhausted or languished) on account of a very powerful (feeling of) thirst, are (now) not able or strong enough to move even a little. I am no (longer) master of myself (*i. e.*, I have lost all control over my own self on account of my extreme thirst and exhaustion). My heart is sinking or languishing. My eye is growing dim (*i. e.*, the sight or vision of my eyes is getting darkened ; lit. 'is *approaching darkness*'), Would that (or, Oh ! How I wish that) pitiless fate or cruel destiny (or the wicked creator) would bring or brought about my death to-day, although I desire or wish it not !

३५—इत्येवं चिन्तयत्येव मयि तस्मात्सरसो नातिदूरवर्तिनि तपोवने जाबालिर्नाम महतपा मुनिः प्रतिवसति स्म । तत्तनयश्च हारीतनामा तापसकुमारकः सनत्कुमार इव सर्वविद्यावदातचेताः सवयोभिरपरैस्तपोधनकुमारकैरनुगम्यमानस्तैनैव पथा द्वितीय इव भगवान्विभावसुरतितेजस्वितया दुर्निरीक्ष्यमूर्तिरुद्यतो दिवसकरमण्डलादिवोत्कीर्णस्तडिद्भिरिव रचितावयवस्तप्तकनकद्रवं णेव बहिरुपलिप्तमूर्तिरापिशङ्गावदातया देहप्रभया स्फुरन्त्या सबालातपमिव दिवसं सदावानलमिव

वनमुपदर्शयन्नुत्तप्तलोहलोहिनीनामनेकतीर्थाभिषेकपूतानामंस-स्थलावलम्बिनीनां जटानां निकरेणोपेतः स्तम्भितशिखाकलापः खाण्डववनदिधक्षया कृतकपटवटुवेष इव भगवान्पावकस्तपो-वनदेवतानूपुरानुकारिणा धर्मशासनकटकेनेव स्फाटिकेनाक्ष-वलयेन दक्षिणश्रवणावलम्बिना विराजमानः सकलविषयोप-भोगनिवृत्यर्थमुपपादितेन ललाटपट्टके त्रिसत्येनेव भस्म-त्रिपुण्ड्रकेणालंकृतो गगनगमनोन्मुखबलाकानुकारिणा स्वर्ग-मार्गमिव दर्शयता सततमुद्ग्रीवेण स्फटिकमणिकमण्डलुना-ध्यासितवामकरतलः स्कन्धदेशावलम्बिना कृष्णाजिनेन नील-पाण्डुभासा तपस्तृष्णानिपीतेनान्तर्निष्पतता धूमपटलेनेव परीतमूर्तिरभिनवबिससूत्रनिर्मितेनेव परिलघुतया पवनलोलेन निर्मांसविरलपार्श्वकपञ्जरमिव गणयता वामांसावलम्बिना यज्ञोपवीतेनोद्भासमानो देवतार्चनार्थमागृहीतवनलताकुसुम-परिपूर्णपर्णपुटसनाथशिखरेणाषाढदण्डेन व्यापृतसव्येतरपाणि-र्विषाणशिखरोत्खातामुद्वहता स्नानमृदमुपजातपरिचयेन नीवारमुष्टिसंवर्धितेन कुशकुसुमलतायास्यमानलोलदृष्टिना तपोवनमृगेणानुयातो विटप इव कोमलवल्कलावृतशरीरो गिरिरिव समेखलो राहुरिवासकृदास्वादितसोमः पद्मनिकर इव दिवसकरमरीचिपो नदीतटतरुरिव सततजलक्षालन-विमलजटः करिकलभ इव विकचकुमुददलशकलसितदशनो द्रौणिरिव कृपानुगतो नक्षत्रराशिरिव चित्रमृगकृत्तिकाश्लेषो-

पशोभितो घर्मकालदिवस इव क्षपितबहुदोषो जलधरसमय इव प्रशमितरजःप्रसरो वरुण इव कृतोदवासो हरिरिवाप-नीतनरकभयः प्रदोषारम्भ इव संध्यापिङ्गलतारकः प्रभात-काल इव बालातपकपिलो रविरथ इव दृढनियमिताक्षचक्रः सुराजेव निगूढमन्त्रसाधनक्षपितविग्रहो जलनिधिरिव कराल-शङ्खमण्डलावर्तगर्तो भगीरथ इवासकृद्दृष्टगङ्गावतारो मधुकर इवासकृदनुभूतपुष्करवनवासो वनचरोपि कृतमहा-लयप्रवेशोऽसंयतोपि मोक्षार्थी सामप्रयोगपरोपि सततावलम्बि-तदण्डः सुप्तोपि प्रबुद्धः संनिहितनेत्रद्वयोपि परित्यक्तवाम-लोचनस्तदेव कमलसरः सिस्नासुरुपागमत् ।

हारीतवर्णनम्—

३५—इत्येवम्—इत्थम् । मयि—वैशम्पायने । चिन्तयत्येव—विचारयत्येव । हारीतनामा—मुनिकुमारकः । तदेव कमलसरः सिस्नासुः । उपागमत् ॥ तस्मात्—पूर्वोक्तात् । सरसः—पम्पा-ख्यात् ह्रदात् । नातिदूरवर्त्तिनि—किञ्चित् समीपस्थे । तपोवने—तपस्याकानने वा पुण्यारण्ये । जाबालिः नाम महा-तपाः—तन्नामा परमतापसः । मुनिः—ऋषिः । प्रतिवसतिस्म—उवास । तत्तनयश्च—जाबालिसुतः । मुनिकुमारकः—ऋषि-सूनुः । मुनिश्चासौ कुमारकः सः । न तु मुनेः कुमारकः इति षष्ठी-तत्पुरुषः । अन्यथा तस्य जाबालिकुमारत्वं न स्यात् इत्यर्थः । सत्यामपि कौमारावस्थायाम् तस्य मुनित्वात् ॥ हारीतनामा—

एतन्नामकः । हारीत इति नाम यस्य सः । सनत्कुमार इव—वैधात्र इव 'सनत्कुमारो वैधात्र' इत्यमरः । सनत् सदा कुमारः सः । अथवा सनतः विधातुः कुमारः सः । सर्वविद्यावदातचेताः—सकलज्ञानविमलमानसः । सर्वाभिः विद्याभिः अवदातं चेतो यस्य सः । समानवयोभिः—तुल्यवयस्कैः । समानं वयो येषां तैः । अपरैः—अन्यैः । तपोधनकुमारकैः—तापससुतैः । अल्पः कुमारः कुमारकः तैः । अल्पार्थे कन् ।। तपोधनं येषां तेषां कुमारकः तैः । अनुगम्यमानः—पश्चाद्व्रज्यमानः । तेनैव—अमुनैव । मार्गेण—पथा । द्वितीयः—अपरः । भगवान्—महानुभावः । विभावसुरिव—सूर्य इव । 'सूर्यवह्नी विभावसुः' इत्यमरः । अतितेजस्वितया—महातपोधनतया । अतिशयस्य तेजस्विनो भावः तत्ता तया । दुर्निरीक्ष्यमूर्त्तिः—दुःखदर्शनीयतनुः । उद्यतः—उदयमाबृहतः । उत्+इण्+शतृ=उद्यन् । दिवसकरमण्डलात्—सूर्यचक्रवालात् । उत्कीर्ण इव—उत्थित इव । तडिद्भिः—सौदामिनीभिः । विरचितावयव इव—निर्मिताङ्ग इव । विरचिताः अवयवाः यस्य सः । तप्तकनकद्रवेण—संतप्तसुवर्णरसेन । तप्तस्य कनकस्य द्रवस्तेन । बहिरुपलिप्तमूर्त्तिरिव—बहिर्भागे दिग्धतनुरिव । आपिशङ्गावदातया—ईषत्पिङ्गलसितवर्णया । पिशङ्गा चासौ अवदाता तया । वर्णो वर्णेनेति समासः । देहप्रभया—शरीरकान्त्या । स्फुरन्त्य—प्रकाशमानया । सबालातपमिव—नवीनालोकसहितमिव । बालश्चासौ आतपस्तेन सहितः तम् । दिवसम्—दिनम् । सदावानलमिव—वनवह्निसनाथमिव । काननम्—वनम् । उपदर्शयन्—बोधयन् ।

उत्तप्तलोहलोहिनीनाम्--उष्णीकृतायोरक्तानाम् । उत्तप्तो यो लोहस्तद्वत् लोहिन्यस्तासाम् । अनेकतीर्थाभिषेकपूतानाम्--विविधगङ्गादिपुण्यजलस्नानपवित्रितानाम् । अनेकेषु तीर्थेषु अभिषेकेन पूताः तासाम् । अंसस्थलावलम्बिनीनाम्--स्कंधदेश-लम्बमानानाम् । जटानाम्—पुञ्जितशिरः केशानाम् । निकरेण--राशिना । उपेतः--सहितः । स्तम्भितशिखाकलापः--बद्धकेश-समूहः । खाण्डववनदिधक्षया--खाण्डवाख्यारण्यं भस्मीकर्त्तुं-कामया । खाण्डवस्य वनस्य दिधक्षा तया । दग्धुमिच्छा तया । दह्+सन्+दिधक्ष+अः अप्रत्ययादिति सूत्रेण दिधक्ष+टाप् दिधक्षा । कृतकपटवटुवेशः--विहितच्छलब्राह्मणरूपः । भग-वान्—महानुभावः । पावक इव--वह्निरिव--पूर्वं श्वेतकि-नाम्ना नृपेण प्रस्तुते द्वादशवार्षिके यज्ञे निरन्तरहविर्भक्षणात् जातमन्दाग्निरग्निः तं निवारयितुमनेकौषधिपूर्णम् खाण्डववनं नाशयितुम् इच्छुः, द्विजवेषमाधाय कृष्णार्जुनयोः सहायतया तद्वनं दग्धवान् इतिमहाभारतकथा । तपोवनदेवतानूपुरा-नुकारिणा--पुण्यारण्यदेवमंजीरसदृशेन । धर्मशासनकटकेनेव—गुरुदत्तधर्मोपदेशरक्षणमण्डलाकारस्थितसैन्येन इव । धर्मस्य शासनाय कटकस्तेन । दक्षिणश्रवणावलम्बिना—वामेतरश्रोत्रस्था-यिना । दक्षिणं श्रवणमवलम्बते तेन । स्फाटिकेन—स्फटिकनिर्मि-तेन । अक्षवलयेन—मण्डलाकारप्रोतजयमालया । विराजमानः--शोभमानः । सकलविषयोपभोगनिवृत्त्यर्थम् । निखिलेन्द्रियार्थ-चन्दनादिसेवननिवारणार्थम् । उपपादितेन--निर्मितेन । सक-लानां विषयाणाम् उपभोगस्य निवृत्तये इदं तत् । त्रिसत्येनेव--

शपथत्रयेण इव । त्रयाणां सत्यानां समाहारः त्रिसत्यम् तेन । यात्राद्यंतस्य नेति स्त्रीत्वनिषेधात् द्विगोरिति नङीप् ।। ललाटपट्टके—भालफलके । भस्मत्रिपुण्ड्रकेण—भूतितिर्य्यग्रेखात्रयेण । त्रयाणां पुण्ड्रकानां समाहारः, त्रिपुण्ड्रकम् भस्मनः त्रिपुण्ड्रकं यस्य तेन । अलंकृतः—शोभितः । गगनगमनोन्मुखवलाकानुकारिणा—आकाशोत्पतनोर्ध्वाननबकाङ्गनासदृशेन । गगने गमनायोन्मुखी या बलाका तामनुकरोति तेन । स्वर्गमार्गम्—नाकपथम् । दर्शयता इव—बोधतया इव । सततम्—अविरतम् । उद्ग्रीवेण—ऊर्ध्वकंधरेण—स्फटिकमणिकमण्डलुना—स्फटिकपाषाणनिर्मितजलपात्रेण । अध्यासितवामकरतलः—अधिष्ठितदक्षिणेतरपाणितलभागः । स्कंधदेशावलम्बिना—अंसप्रदेशलम्बमानेन । नीलपाण्डुभासा—असितसितद्युतिना । नीला पाण्डुः भाः यस्य तेन । तपस्तृष्णानिपीतेन—तपस्याधिक्योत्कण्ठानिगीर्णेन । तपसः तृष्णा तया निपीतम् तेन । तपो मे वर्धतामित्यभिप्रायेण हारीतेन धूमपटलं पीतमितिभावः । अयं धूमपस्तपस्वीत्यर्थः । अन्तर्निष्पतता—उदराभ्यन्तरान्निर्गच्छता । धूमपटलेनेव—धूम्रराशिना इव । कृष्णाजिनेन—असितमृगचर्मणा । 'अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्रीत्यमरः' । परीतमूर्त्तिः—आवृतदेहः । अभिनवबिससूत्रनिर्मितेनेव—नवीनमृणालतन्तुविहितेनेव । परिलघुतया—परमसूक्ष्मतया । पवनलोलेन—मरुच्चपलेन । निर्मांसविरलपार्श्वकपंजरम्—मांसरहितकतिपयकुक्षिस्थास्थिसमूहम् । निर्मांसं विरलम् यत् पार्श्वकम् तस्य पंजरम् तत् । गणयता इव—परिसंख्याता इव । वामांसावलम्बिना—दक्षिणेतरस्कंधाश्रयेण । यज्ञोपवीतेन—यज्ञसूत्रेण

उद्भासमानः--दीप्यमानः। देवतार्चनार्थम्--सुरपूजनाय। आगृहीतवनलताकुसुमपरिपूर्णपर्णपुटसनाथशिखरेण--स्वीकृत-विपिनवल्लिपुष्पापीनपत्रनिर्मितपात्रसहितोपरिभागेन । आगृहीतानि वनलताभ्यः कुसुमानि तैः परिपूर्णेन पर्णपुटेन सनाथं शिखरं यस्य तेन । आषाढदण्डेन--पालाशयष्टिना । व्यापृतसव्येतरपाणिः--सव्यापारदक्षिणकरः । विषाणशिखरोत्खाताम्--शृङ्गाग्रभागोत्पाटिताम् । स्नानमृदम्--अभिषेकमृत्तिकाम् । उद्वहता--धारयता । उपजातपरिचयेन सम्प्राप्तमैत्रीकेण । नीवारमुष्टिसंवर्धितेन--मुष्टिपरिमितमुनिधान्यपोषितेन । कुशकुसुमलतायास्यमानलोलदृष्टिना--दर्भपुष्पव्रततिक्लिश्यमानचपलचक्षुषा । कुशैः कुसुमैः लताभिश्च आयास्यमाने--अतएव लोले दृष्टी यस्य तेन । तपोवनमृगेण--पुण्यारण्यस्थहरिणेन । अनुगम्यमानः--पश्चात् स्रियमाणः । विटप इव--तरुशाखेव । कोमलवल्कलावृतशरीरः--मृदुलवल्कलाच्छन्नदेहः । कोमलेन वल्कलेनावृतं शरीरं यस्य सः। गिरिरिव--पर्वत इव । समेखलः--मौंजकटिसूत्रसहितः पक्षे मध्यभागसहितः । राहुरिव--सैंहिकेय इव । असकृदास्वादितसोमाः । पौनःपुन्यपीतसोमवल्लिरसः । पक्षे भृशं पीतचन्द्रः । असकृत् आस्वादितः सोमः येन सः । पद्मनिकर इव--कमलनिचय इव--दिवसकरमरीचिपः--दिनकरकरपाती । दिवसकरस्य मरीचि पिबति सः । नदीतरुरिव--सरित्कूलजातवृक्ष इव ।। सततजलक्षालनविमलजटः--त्रिसंध्यावगाहननिर्मलशिरःकेशसमूहः । पक्षे निरन्तरवारिमार्जनस्वच्छाशयः । करिकलभ इव--गजशावक इव । विकचकुमुददलशकलसितदशनः--विकसत्कैरवपत्रखण्डावदातदन्तः । विकचानां कुमुदानां दलानां शकलवत्

सिताः दशनाः यस्य सः । द्रौणिरिव--अश्वत्थामेव । कृपानुगतः--सदयः । पक्षे कृपाचार्य्यानुगामी । कृपां पक्षे कृपम् अनुगतः सः । नक्षत्र-राशिरिव--तारासमूह इव । चित्रमृगकृत्तिकाश्लेषोपशोभितः--शबल-हरिणचर्मावरणदीप्तः । पक्षे चित्रामृगशिरःकृत्तिकाश्लेषानामक-नक्षत्रालंकृतः । चित्रस्य मृगस्य या कृत्तिका तस्या आश्लेषेणोप-शोभितः सः । पक्षे चित्रा च मृगश्च कृत्तिका च श्लेषा च तैरुपशोभितः सः । घर्मकालदिवस इव--निदाघदिनमिव । क्षपितबहुदोषः--नाशितविविधाधर्मः । न्यूनीकृतनिशः । क्षपिताः दोषाः--येन सः पक्षे क्षपिता दोषारात्रिर्येन सः । जलधरसमय इव--घनागमकाल इव । प्रशमितरजःप्रसरः--निवारितरजोगुणविस्तारः । पक्षे दूरी-कृतधूलिपुंजः--प्रशमितः रजःप्रसरो येन सः । पक्षे प्रशमितरजसां प्रसरो येन सः । वरुण इव--प्रचेता इव । कृतोदवासः--विहित-जलनिवासनियमः । हरिरिव--विष्णुरिव । अपनीतनरकभयः--निवारितनिऋतिगतिभीतिः । पक्षे नाशितनरकासुरभीः । प्रदोषा-रम्भ इव--दिनान्तसमारम्भकाल इव । संध्यापिंगलतारकः--सायं-समयकडारवर्णकनीनिकः । पक्षे रजनीमुखकपिलवर्णनक्षत्रः । संध्यावत् पिंगले तारके यस्य सः । पक्षे संध्यायां पिंगला तारकाः यस्मिन् । 'क्षुद्रोऽपि चक्रवर्ती स्यात् पीततारकचक्षुषा' इतिसामु-द्रिकशास्त्रोक्तलक्षणात् स महापुरुष इति भावः । प्रभातकाल इव--पक्षे बालातपेन कपिलः सः । रविरथ इव--सूर्य्यस्यन्दन इव । दृढनियमिताक्षचक्रः--सबलव्यवस्थापितेन्द्रियसमूहः । पक्षे प्रबल-बद्धध्रुवरथांगः । दृढं नियमितमक्षचक्रं येन सः । पक्षे दृढं नियमितः अक्षचक्राक्षि च यस्मिन् सः । सुराजेव--शोभननृप इव--शोभ-

नश्चासौ राजा सः । अत्र 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इतिसूत्रेण समासान्तः टच् न भवति । न पूजनादिति निषेधात् । निगूढमंत्रसाधनक्षपितविग्रहः--गुप्तजप्यसिद्धिकृशितदेहः । पक्षे--रहस्यमंत्रणावरणनिवारितयुद्धः । निगूढमंत्रः साधनम्--तेन क्षपितः विग्रहो येन सः । जलनिधिरिव--सागर इव । करालशंखमण्डलावर्त्तगर्त्तः--उन्नतावनतशंखचक्रवालाकारभ्रमिदरः । महाशंखचक्रवालाकारजलभ्रमिमध्यदरः । करालो यः शंखः तस्य मण्डलावर्त्तवत् (नाभि) गर्त्तो यस्य पक्षान्तरे यस्मिन् सः । भगीरथ इव सूर्य्यवंशीयतन्नामकनृप इव । असकृतदृष्टगंगावतारः--अनेकवारावलोकितभागीरथ्यवतरणहरिद्वारनामकस्थानः । पक्षे बहुवारं आलोचितजान्हवीनिष्पतनः । मधुकर इव--भ्रमर इव । असकृत्--भूयः । अनुभूतपुष्करवनवासः--संवितपुष्कराख्यतीर्थराजारण्यावस्थानः । पक्षे--उपभुक्तपद्मवर्नानवासः । अनुभूतः पुष्करे वने वा पुष्काराणां वने वासो येन सः । वनचरोऽपि कृतमहालयप्रवेशः--अरण्यचारी अपि विहितवृहदट्टालिकानिवेशः । इति विरोधः । विहितपरमात्मध्यान-इतिपरिहारः । कृतः महालयेषु प्रवेशः येन सः । सिद्धान्तपक्षे कृतः महालये परमात्मनि प्रवेशो ध्यानं येन सः । असंयतोऽपि मोक्षार्थी--विषयाबद्धोऽपि मुमुक्षुः इतिविरोधः एव स्वतःसिद्धत्वाद्मुक्तेः तथासति । संयमरहितोऽपि मोक्षाकांक्षी भविष्यति काले संयमाश्रयणात् तस्य मुमुक्षुत्वादितिभावः इतिपरिहारः । धारणाध्यानसमाधिरितित्रयाणाम् योगसाधनानां संयम इति संज्ञास्ति । सामप्रयोगपरोऽपि सततावलम्बितदण्डः--सामनामकपूर्वकर्त्तव्योपायतत्परोऽपि निरन्तरसमाश्रितदण्डाख्यचतुर्थोपायः इति विरोधः परिहार-

पक्षे तु--सामवेदानुष्ठानपरायणोऽपि अनारतसमाश्रित ब्रह्मचारिचिह्नयष्टिकः। सततमवलम्बितो दण्डो येन सः। सुप्तोऽपि प्रबुद्धः--निद्रितोऽपि जागरितः इति विरोधः परिहारपक्षे तु ब्रह्मज्ञानरहितोऽपि ईश्वरविषयकप्रौढज्ञानवान्। अथवाप्तः शब्दः जटावाचकः शोभनाः 'प्ताः यस्य सः सुप्तः। सुजटोऽपि ज्ञानवान् इत्यर्थः।' प्ता जटायां च राक्षस्यामिंति हैमः। सन्निहितनेत्रद्वयोऽपि परित्यक्तवामलोचनः--सम्पन्नलोचनयुग्मोऽपि हीनदक्षिणेतरनेत्रः इतिविरोधः परिहारपक्षे तु परित्यक्ता वामलोचना येन सः। तिरस्कृतकामिनीकामः इतिभावः। तदेव--पम्पाख्यमेव कमलसरः--पद्मतडागम्। सिस्नासुः--स्नातुमिच्छुः। उपागमत्--प्राप्तवान्।

३५--मैं ऐसा विचार ही कर रहा था कि, उस सरोवर के निकट ही महातपस्वी जाबालि नाम के (जो) मुनि रहते थे, उनका पुत्र हारीत नामक मुनिकुमार उस कमलसर में स्नान करने की इच्छा से, उसी पथ से, आया। सनत्कुमार के समान उसका हृदय भी समस्त विद्याओं का अध्ययन करने से विमल हो गया था; उसके पीछे-पीछे उसके समवयस्क अन्य मुनिकुमार भी आ रहे थे; अत्यधिक तेज के कारण (सूर्य के समान) उसके शरीर अथवा स्वरूप की ओर देखा नहीं जा सकता था, अतएव वह दूसरे सूर्यदेव-सा प्रतीत होता था; (अपने तेज के कारण) वह ऐसा मालूम पड़ता था मानो उसे उदय होते हुए सूर्यबिम्ब से उत्कीर्ण (काटकर मूर्ति के समान) निकाला गया हो। बिजली से मानो उसके शरीर के अङ्गों की रचना हुई हो; तप्त सुवर्ण द्रव (सोने के पानी) का मानो उसके शरीर पर (अथवा शरीर के बाहरी भाग पर) लेप लगाया गया हो; उसके शरीर की कुछ भूरी-सी शुभ्र और चमकती हुई प्रभा के कारण दिन प्रातःकालीन धूप (अर्थात् बालारुण की कान्ति) से और वन, दावानल से युक्त अथवा प्रकाशवान् प्रतीत होता था; तप्त लोहे के समान लाल और अनेक तीर्थों के जल से अभिषिक्त होने के कारण

पवित्र, कन्धे पर लटकते हुए जटा-समूह को धारण करने और शिखा के (भली प्रकार) बंधे हुए होने के कारण वह ऐसा मालूम पड़ता था मानो अग्निदेव ने खाण्डव वन को जलाने की इच्छा से ब्रह्मचारी या ब्राह्मणकुमार का कपट वेश धारण कर लिया हो; तपोवन की (अधिष्ठात्री) देवी के नूपुर के समान मालूम पड़ने वाले और दाहिने कान से लटकती हुई स्फटिक-रचित रुद्राक्ष माला से वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो धर्मशासन (विधि-निषेधादि रूप में धर्म के आदेश) का कटक (सैन्य-समूह अथवा वलय—'कड़ा') धारण किये हो; भस्म के त्रिपुण्ड से उसका मस्तक इस प्रकार अलंकृत था, जैसे समस्त सांसारिक विषयों के उपयोग से निवृत्ति (या छुटकारा) पाने के लिए उसने त्रिसत्य (कायिक, वाचिक और मानसिक) धारण किया हो या त्रिवाचा भर लिया हो। उसके बायें हाथ में स्फटिक मणि का कमण्डलु था, जिसकी गर्दन (टोंटी) हमेशा उठी रहती थी, और इस कारण वह आकाश में जाने या उड़ने के लिए तैयार अर्थात् मुँह या गर्दन ऊपर उठाये हुए, बगुले के समान दिखायी पड़ता था और ऐसा मालूम होता था मानो स्वर्ग का मार्ग दिखा रहा हो (स्फटिक के बने हुए, श्वेत वर्ण के और ऊपर उठी हुई गर्दन या टोंटी वाले कमण्डलु की उपमा, उड़ने के अवसर पर गर्दन उठाये हुए बगुले से दी गयी है); स्कन्ध-देश पर लटकते हुए और नीली-पीली कान्ति वाले मृगचर्म से उसका शरीर युक्त था और यह ऐसा प्रतीत होता था मानो तप की तृष्णा अर्थात् इच्छा से (अर्थात् तप करते समय) पिया हुआ धुआँ बाहर निकल रहा हो और उससे उसका शरीर व्याप्त हो; (अत्यन्त महीन होने के कारण) मृणाल-सूत्र से बने हुए-से दिखाई देने वाले, अत्यन्त हलका होने के कारण वायु से हिलते हुए, बायें कन्धे में लटकते हुए और मांसरहित होने के कारण अलग अलग दिखाई देने वाली पसलियों की गणना-सी करते हुए यज्ञोपवीत से वह कान्तिमान् था; उसके दाहिने हाथ में पलाश-दंड था, जिसके सिरे पर उसने देवतार्चन के लिए एकत्रित जंगल की लताओं के फूलों से भरे हुए पत्ते के दोने लटका लिये थे; सींग की नोक से खोदी हुई स्नान

(के समय शरीर में लगाने के लिए उपयुक्त) मिट्टी (अपने सींगों पर) धारण किये हुए, उससे (मुनि-कुमार से) अत्यन्त हिला हुआ और उसके द्वारा मुट्ठी-मुट्ठी नीवार (एक प्रकार के जंगली धान) के दानों से परि-पालित तपोवन का मृग,––जिसकी आँखें (मुनिकुमारों के द्वारा लाये जाते हुए) कुश, कुसुम और लता की ओर (लालच से देखने के कारण) चंचल होकर खेद पा रहीं थीं,––उसके पीछे-पीछे चला आ रहा था; वल्कल (छाल) से युक्त वृक्ष के समान उसका शरीर भी वल्कल (वस्त्र) से ढका हुआ था; मेखला (पर्वत की ढाल) से युक्त पर्वत के समान वह भी मेखला (मूँज की करधनी) धारण किये हुए था; जिस प्रकार राहु बार-बार सोम का (चन्द्र के अमृत का, चन्द्रग्रहण के समय राहु चन्द्रमा को ग्रसता है) स्वाद लेता है, उसी प्रकार वह भी प्रायः (बार-बार) सोम-रस का स्वाद लिया करता था; कमल-समूह की भाँति वह भी (तप के अवसर पर) सूर्य की किरणों का पान किया करता था; जिस प्रकार नदी-तीर के वृक्षों की जटाएं (मिट्टी से रहित जड़ें) सदैव जल से धुलने के कारण निर्मल रहती हैं उसी प्रकार (अनेक बार स्नान करने से) जल से धुल कर उसकी जटाएँ स्वच्छ रहती थीं; हाथी के बच्चे के समान उसके दाँत भी विकसित कुमुद के पत्र-खंड की तरह श्वेत थे; जिस प्रकार (द्रोण-पुत्र) अश्वत्थामा कृपानुगत था (अर्थात् कृपाचार्य संग्रामादि में उसके साथ रहे थे), उसी प्रकार वह भी कृपा-नुगत (दया-युक्त) था; नक्षत्र-समूह जिस तरह चित्र, मृग, कृत्तिका और श्लेषा (आदि नक्षत्रों) से सुशोभित है, उसी तरह वह भी चित्र-मृग-कृत्तिका-आश्लेष (विचित्र-मृग-चर्म धारण) करने के कारण सुशोभित हो रहा था; जिस तरह ग्रीष्मकाल का दिन दोषा (रात्रि) को क्षीण या छोटा बना देता है उसी तरह उसने भी (कामक्रोधादि) दोषों को क्षीण या दूर कर दिया था; रज (धूल) के प्रसार को शान्त कर देने वाले वर्षाकाल के समान उसने भी रज (रजोगुण या कामक्रोधादि-प्रवर्तक व्यापारों) की समाप्ति कर दी; वरुण जल में वास करते हैं, वह भी (तप करने के लिए) जल

में निवास किया करता था; विष्णु के समान उसने भी नरक-भय को दूर कर दिया था (अर्थात् विष्णु या कृष्ण ने नरकासुर को मार कर उससे होने वाले भय को दूर कर दिया था, हारीत अपनी तपस्या के द्वारा नरकवास के भय से मुक्त हो गया था); रात्रि-प्रारंभ के समान वह भी संध्या-पिङ्गल-तारक था अर्थात् रात्रि के आरम्भ में सन्ध्या (की लालिमा) के कारण तारे पिंगल वर्ण के होते हैं, उसकी आंखों के तारे या पुतलियां भी सन्ध्या के समान पिंगल थीं; प्रभात काल सवेरे की नयी-नयी धूप से कपिल (पीत-रक्त) होता है, वह भी उसी तरह सवेरे की नयी-नयी धूप के समान कपिल वर्ण का था; सूर्य के रथ से अक्ष-चक्र (धुरा और पहिये) दृढ़ता से नियमित (जड़े या निबद्ध) रहते हैं, उसी तरह उसका अक्ष-चक्र (इन्द्रिय-समूह) भी दृढ़ता से नियमित (वश में) था; जिस प्रकार श्रेष्ठ राजा निगूढ़ (गुप्त) मन्त्र-साधन (मन्त्रणाओं) से विग्रह (युद्ध अथवा शत्रु-भय) को क्षपित (नष्ट) कर देता है, उसी प्रकार उसने भी निगूढ़ (गुप्त) मन्त्र-साधन से (इष्ट देवताओं के मन्त्रों की आराधना से अर्थात् कठोर व्रत-तप आदि करके) अपने विग्रह (शरीर) को क्षपित (क्षीण) कर डाला ा; समुद्र कराल (बड़े-बड़े अथवा भयंकर) शंख मण्डल अर्थात् शंख-समूह, आवर्तों (भवँरों) और गहरे गर्तों से युक्त होता है, उसी प्रकार उसका कराल (ऊँचा) शंख-मण्डल (कनपटी की हड्डी का प्रदेश), आवर्त (घुंघराले बालों) और (बीच के) गर्त (गड्ढे) से युक्त था ('कराल-शंखमण्डलावर्तगर्तः' पाठ अधिक उपयुक्त होगा। उसका अर्थ होगा—'कराल शंख की मण्डलाकार भँवर के समान रेखा की तरह उसकी नाभि का गर्त था); (भूलोक पर गंगा को लाने वाले राजा) भगीरथ ने जिस प्रकार अनेक वार (स्वर्ग से भूलोक पर) गङ्गा का अवतरण देखा था, उसी प्रकार उसने अनेक बार गङ्गा-अवतरण (के प्रदेश हरद्वार अथवा उतरने के लिए बने गङ्गा के घाटों) का दर्शन किया था; पुष्कर-वन-वास (कमल के वन में निवास करने का अथवा कमल की सुगन्धि का) अनेक वार अनुभव करने वाले भ्रमर के समान उसने भी अनेक वार पुष्कर-वनवास (पुष्कर नामक

प्रसिद्ध तीर्थस्थान के वन में निवास करने) का अनुभव किया था; वनवासी होने पर भी उसने महालय (उच्च भवनों में,—विरोध-परिहारार्थ—परमात्मा) में प्रवेश किया था (अर्थात् समाधि के द्वारा परमात्मा में लीन हो गया था; असंयत (संयम रहित—विरोध-परिहारार्थ—संसार में आसक्त) होने पर भी वह मोक्ष का इच्छुक था; साम (साम, दाम आदि चार उपायों में पहला—विरोध-परिहारार्थ—सामवेद) का सदैव प्रयोग करने पर भी वह सदैव दण्ड नामक उपाय—विरोध-परिहारार्थ—ब्रह्मचारियों का चिह्न दण्ड) धारण करता था; सुप्त होने पर भी वह प्रबुद्ध (जागता—विरोध-परिहारार्थ—ज्ञानी) था; (इसका अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है। शोभना: जटा: यस्य सः सुप्तः। 'प्ता' शब्द का अर्थ जटा होता है। अर्थात् सुन्दर जटाओं वाला होने पर भी वह ज्ञानवान् या जागरूक था); यद्यपि उसके दोनों नेत्र थे, तब भी वह परित्यक्तवामलोचन था (बायीं आँख से रहित—विरोध-परिहारार्थ—वामलोचना अर्थात् स्त्री समाज से दूर रहता था)।

शब्दार्थ—विभावसुः—अग्निदेव; उत्तप्तलोहलोहनी—तपाये हुए लोहे के समान लाल; खाण्डववन०—एक बार निरन्तर हवि-भक्षण के कारण अग्नि देव मदाग्नि से पीड़ित हो गये इसलिए ब्रह्मा की आज्ञा से उन्होंने अनेक औषधियों से पूर्ण खाण्डव वन को, ब्राह्मण वेश धारण कर, कृष्ण और अर्जुन की सहायता से जलाया; धर्मशासन—विधिनिषेधादि रूप में दिया गया धर्मोपदेश; कटकः—परिधि रूप में अवस्थित सेना अथवा हाथ का आभूषण (कड़ा), त्रिपुण्ड्र—तीन रेखाओं वाला तिलक; बलाका—बगुली; निष्पतता—निकलते हुए; स्नानमृदम्—स्नान करने योग्य पवित्र मिट्टी; द्रौणिः—द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा; कृपः—कृपाचार्य, अश्वत्थामा के मामा; विग्रह—शरीर अथवा युद्ध; शंख—शंख या कनपटी की हड्डी; महालये—परमात्मा में; सिस्नासुः—स्नान करने की इच्छा करने वाला।

35. Now while I was yet thinking in this strain or manner,——*there lived in a 'penance-grove' (a sacred grove in which ascetics perform their religious austerities) or '*penance-forest*,' situated not very far from that (aforesaid *Pampā*) lake, a very austere sage named *Jābāli* (or a sage nemed *Jābāli* of great penance, *i. e.*, doing severe penance or performing great religious austerities)*,—there came, by the same route or by that very path (as the old hunter had gone), with a desire to take a bath or perform his ablutions (lit. 'desirous of bathing') in that very lake of lotuses, his (*i. e.*, of the aforesaid sage Jābali's) son, named *Hārita*, an ascetic boy or young ascetic, *who* was like *Sanatkumara*, as it were, with his mind having been purified or made pure by (the study of) all (the different branches of) learning or knowledge, *who* was being followed by other ascetic boys or youths (or other young ascetics, —lit. 'boys who had or boys of those who had panance alone as their wealth') of the same (*i. e.*, an equal or corresponding) age,—*whose* form or body was, on account of its very great effulgence, difficult to look at, and as such was like a second or another Illustrious Sun as it were, which (also) on account of its very great splendour or brilliance is difficult to gaze at [or, '*who*, with his form

*This clause, which does not properly fit in with the rest of the sentence in its usual construction, seems to be more or less in the nature of a parenthetical insertion. It is complete in itself and has been allotted the same place in this translation as it occupies in the original Sanskrit, being separated from the rest of the sentence by dashes which provide the necessary parenthesis for it.

or body being difficult to look at on account of its very great effulgence, was like a second or other glorious sun, as it were, (being likewise difficult to gaze at on account of its very great brilliance or dazzling splendour')], —*who*, (on account of his great brilliance or lustre) seemed as though he had been dug or carved out of the orb or disc of the rising sun, as it were, — as though he had his limbs formed out of the flashes of lightning,—as though he had his form or body besmeared or anointed on the outer side or externally with the liquid of heated or molten gold (*i. e.*, with the liquefied or melted gold), as it were,—*who*, on account of the flashing lustre of his body, that was pure and slightly tawny (in colour), made the day appear as though it were endowed with the newly risen sun or the morning sun beams (lit. 'with the early heat of the sun,' 'with the heat of the morning sun,' *i. e.*, with the morning light of the sun), and the forest or wood as though it were on fire or involved in a (forest) conflagration,—*who*, being endowed with a mass or cluster of matted hair, that were reddish in colour like well-heated or red-hot iron, that were purified or sanctified with a bath (*i. e.*, on account of their being washed in the course or process of a bath in the holy waters of streams) at many a sacred place of pilgrimage, and that were hanging down or about the region of his shoulders, and having the tufts or locks of hair on (the crown of) his head tied up or fixed up firmly (in a place), was like the venerable or glorious God of Fire, as it were, who, with the desire of burning down or consuming up with its flames the *Khāṇḍava* forest, had (formerly) assumed or put on the false appearance or fraudulent disguise of a young Brāhmana or religious student (or it

might also mean; 'assumed or put on the appearnce or disguise of a false or fictitious young Brahmana' etc,)—*who* was looking bright or splendid on account of a crystal rosary or string of crystal beads, that resembled the anklets of the nymphs or deities of the penance-forest, that was like a circle or chain (the word '*kaṭaka*' also means 'a host or army') of religious edicts or commandments, as it were, and was suspended or hanging from his right ear,—*who* was adorned or decorated with a *tri-lineal mark* (three horizontal lines) of ashes; made on his broad forehead with a view to (enable him to) abstain [or with the object or purpose of (successfully) abstaining] from the enjoyment of all (worldly) objects as though it were the '*thrice-repeated vow*' or firm resolve (of his abstention from or total negation of the same) or it might mean, '*the three-fold truth*', as it were, expressed in *thought, word* and *deed*],—the palm of *whose* left hand was occupied by (*i. e.*, who held in his left hand) a *Kamandalu* or water-pot (*i. e.*, a vessel with a spout, such as is generally carried by ascetics made of crystal stone, that resembled, inasmuch as it had its neck always or continuously standing (*i. e.*, remaining) erect, a female crane with its neck or face turned upwards (towards the sky) while (in the act of) flying (*i. e.*, at the time of flying,—lit. 'going') up into the sky, and seemed (as such) as though it were pointing out (to him) the way or path of heaven, as it were,—*who* had his body covered with (lit. 'surrounded by') a dark deer-skin or the dark skin of a deer, that was hanging down or suspended from the region of his shoulders, and was possessed of or endowed with a blue and pale-white lustre or splendour, and that looked like a mass or column of smoke, as it were, which he had

drunk in on account of (or in the course of) a thirst or eager desire for (accomplishing his vow of) penance, and which was (as though now) coming out of (or from within) him (and enveloping his body),—*who* was looking bright or splendid (lit 'shining' or 'radiant,) with (*i. e.*, on account of his putting on or wearing) a sacred thread, that (was so thin and fine that it) seemed as though it were made of the fibres of a fresh lotus or water-lily, that, on account of its extreme lightness (*i. e.*, being very light), was set in motion by or fluttering about in the wind, that was hanging down or suspended from his left shoulder; and that seemed (as such or in that state) to be counting or taking the number, as it were, of the (bones forming the) framework or skeleton of his ribs, that were fleshless or devoid of any large quantity of flesh and very thin or situated wide apart from one another, —*whose* right hand (lit. hand 'other than the left') was, or who had his right hand, occupied by (*i. e.*, who held in his right hand) a staff of *Pālāsha* tree, the top of which had (or was endowed or provided with) a hollow or (vessel-like) cavity made of leaves that was filled up with or full of (*i. e.*, contained) flowers taken or plucked from the forest creepers for the purpose of (performing) the worship of the deities,—*who* was being followed by a deer of the penance-grove or hermitage, that carried the clay or earth (to be applied by the sage to his body by way of purification at the time) of his bath or ablution, dug up by it) with the ends or points of its horns, that had become familiar (lit. 'had its acqnaintance produced') with him, that had been brought up with or fed upon handfuls of wild rice, and that had its eyes or the eyes of which were, made restless on account of their being exercised (*i. e.*,

exerted or attracted) by the *Kusha* grass, flowers and the creepers [The plain sense is that the deer cast longing or greedy eyes upon these delicate articles of his food that were being carried by the sage in his hand, and hence his eyes had become restless or uneasy over the same],—*who* like a tree (covered or wrapt up all over with its soft or delicate bark). as it were, had his body covered or clad in with a soft or fine bark (garment) —*who*, like a mountain (having or being possessed of *slopes*), as it were, was endowed with a *girdle* or had *a girdle* (of Munja grass) on (his waist),—*who* like *Rāhu* or the constellation of the ascending node (having the *moon* frequently swallowed or seized by him during eclipses), as it were, had the *Some Juice* repeatedly (lit. 'more than once') tasted or drunk by him.—*who* like a heap or bed of lotuses (that bloom forth on account of their contact with or '*drinking in*' of the rays of the sun), as it were, had drunk in the rays of the sun (*i. e.*, had exposed himself to the heat of, and also gazed at, the sun in course of the various kinds of his penances),—*who*, like a tree on the bank of a river (having its *fibrous root* clear of or free from mud or other impurities, on account of their being constanly washed with its waters), as it were, had his *matted or entangled locks of hair* (kept quite) clean or free from any external impurities, owing to their being constantly washed with water,—like the young one of an elephant (having *tusks* that are white like the pieces of the petals of fully blown or expanded lilies or white lotuses), *whose teeth* were (similarly or likewise) pure or white like the pieces of the petals of fully blown lilies or white lotuses,—*who*, like (Ashwatthāmā) the *son of* (the great archer and preceptor) *Drona*, (following or being followed by *Kripa*—his maternal uncle), as it were,

was possessed of *compassion* or endowed with (lit. 'followed or sought after by') a *tenderness of feelings* (for all),—*who*, like a cluster or collection of stars (being adorned, *i. e*, provided or endowed, with the constellations or lunar mansions called the *Chittrā*, *Mṛiga-shiras*, *Kṛittikā* and *Ashleshā*), as it were, was looking adorned or decorated on account of his *contact with* (or the fact of his putting on) *the skin of a variegated deer*, —*who*, like a day in summer or the hot season (having a *great part of the night* reduced or shortened in duration, referring to the shortness or shorter duration of nights in summers), as it were, had *many of his faults* (such as lust, anger, etc.), suppressed or destroyed, - *who*, like the rainy season (lit. 'the time or season of the clouds or *water-bearers'*, - when the *diffusion or scattering abroad of the dust* is laid still or settled down), as it were, had the flow or free course (*i. e.*, the working or growing operation) of his passion or emotional quality tranquillised or appeased (*i. e.*, completely quelled or put down),—*who*, like Varuna or the presiding deity or god of the element of water (having his natural abode or indwelling provided for in water), as it were, had undergone or performed the (particular) penance of standing or remaining in water (in the cold or the winter season),—*who*, like Hari or Vishnu (having the fear of the *demon named* *Naraka* or *Narakāsura* banished from him), as it were, had (all) the fear of (his going to) *hell* removed or taken away (from him),—*who*, like the beginning of an evening (when or in which the stars are tawny in the evening twilight), as it were, had his pupils (rendered) tawny like the evening twilight,—*who*, like the time of morn or daybreak (being rendered tawny by the morning light or early heat of the sun), as it were, was tawny or yellowish brown

(in complexion) like the morning light of the sun,—*who*, like the chariot of the sun (having its *axle* and *wheels* firmly fixed or well fastened), as it were; had *all* or the *entire body of his senses* firmly controlled or thoroughly checked or restrained,—*who*, like a good or wise king [having (all sorts of) hostilities or war suppressed, removed or prevented by means of a secret counsel or well-protected secret plans and (also well-equipped) army], as it were, had his body (quite) emaciated by or on account of his having had secret recourse to the sacred verses or mystical syllables as the means of accomplishing (his penance, or attaining to supernatural powers;—*i. e.*, by the secret performance of his penances or austerites, or the secret repetition or recitation with appropriate rites of *Mantras* or incantations, - mystical syllables, verses or formulæ, etc., with a view to secure supernatural or high spiritual powers),—*who*, like the sea or ocean (having or in which there are large or formidable collections of conch-shells [or circular conch-shells], whirl-pools and deep pits), as it were, had on the high (otherwise terrible or formidable) region of his temporal bones or temples, a circle of hair curling backwards and (also) a depression or dimples (on it).—*who*, like Bhagiratha (having often or several times seen the descent of the Ganges), as it were, had often seen (in the course of his frequent baths) the flights of steps leading to the sacred water of the Ganges, (or the sacred landing places or Ghats of the Ganges),—*who*, like a bee [having frequently experienced the fragrance or perfume of a forest of lotuses,—or having had frequent experience (or the joy) of a residence in a grove or forest of lotuses (blue lotus flowers)], as it were, had often or several times (*i. e.*, repeatedly) undergone

the experience of living or a residence in the woods of *Pushkara* (a celebrated sacred place of pilgrimage near Ajmere;—*i. e.*, he had often visited that place),—*who*, though dwelling in or an inhabitant of the forest, had yet made his entrance into a *great dwelling* or large house or mansion (inasmuch as he had effected his entry into or become solely absorbed in *the Supreme Being* or the great universal spirit,—'*in the pleasure stroll or rambling through the great universal spirit,*'—*i. e.*, he had attained by his constant contemplation and meditation the perfect knowledge of Brahma or communion with the Supreme Being),—*who*, though not bound or fettered (by any worldly ties), yet longed for liberation or salvation (*i. e.*, prayed or begged for emancipation of the soul from the continual circle of births and deaths;—or it might also mean, 'who, though he had not restrained himself or his senses, *i. e.*, notwithstanding or in spite of the absence of check or restraint of his senses, yet longed for liberation, inasmuch as he was unassailed or not bound by any worldly ties'),—*who*, though given up to the study or recitation of the *Sāma Veda*, yet always carried or supported himself on a staff or stick [or who, though devoted to the practical application of the remedy of conciliation (which is one of the four well-known political methods of dealing with a question), yet always resorted to the remedy of punishment],—*who*, though *asleep*, was yet (always) wakeful or '*awakened*,' (inasmuch as he was always alive to or thoroughly conversant with spiritual wisdom or knowledge, *i. e.*, was wise and learned,—'*intellectually and spiritually awakened*') [the other sense is this: 'who, though he had a fine '*Jaṭā*' or was possessed of or

endowed with beautiful locks of matted hair ('सु' meaning fine or beautiful and 'सा,' a *Jaṭā* or lock of matted hair), was yet wakeful, etc :],—(and lastly) *who*, though he was endowed with both his eyes (lit. 'though he had both his eyes present or placed near together'), was yet wanting in or devoid of ('bereft of') his *left eye* [inasmuch as he had completely given up or discarded (*i. e.*, wholly forsaken or abandoned—the society of) *women* (*i. e.*, had no concern, or was devoid of any association whatsoever, with women)].

३६—प्रायेणाकारणमित्राण्यतिकरुणार्द्राणि च सदा खलु भवन्ति सतां चेतांसि । यतः स मां तदवस्थमालोक्य समुपजातदयः समीपवर्तिनमृषिकुमारकमन्यतममब्रवीत् । अयं कथमपि शुकशिशुरसंजातपक्षपुट एव तरुशिखरादस्मात्परिच्युतः । श्येनमुखपरिभ्रष्टेन वानेन भवितव्यम् । तथा हि । अतिदवीयस्तया प्रपातस्याल्पशेषजीवितोयमामीलितलोचनो मुहुर्मुहुर्मुखेन पतति मुहुर्मुहुरत्युल्बणं श्वसिति मुहुर्मुहुश्चञ्चुपुटं विवृणोति । न शक्नोति शिरोधरां धारयितुम् । तदेहि यावदेवायमसुभिर्न वियुज्यते तावदेव गृहाणेममवतारय सलिलसमीपम् । इत्यभिधाय तेन मां सरस्तीरमनाययत् । उपसृत्य च जलसमीपमेकदेशनिहितदण्डकमण्डलुरादाय स्वयं मां मुक्तप्रयत्नमुत्तानितमुखमङ्गुल्या कतिचित्सलिलबिन्दूनपाययत् । अम्भःक्षोदकृतसेकं च समुपजातनवीनप्राणमुपतटप्ररूढस्य नलिनीपलाशस्य जलशिशिरायां छा-

यायां निधाय समुचितमकरोत्स्नानविधिम् । अभिषेकावसाने चानेकप्राणायामपूतो जपन्पवित्राण्यघमर्षणानि प्रत्यग्रभग्नैरुन्मुखो रक्तारविन्दैर्नलिनीपत्रपुटेन भगवते सवित्रे दत्त्वार्घमुदतिष्ठत् । आगृहीतधौतधवलवल्कलश्च सहज्योत्स्न इव संध्यातपः करतलनिर्धूननविशदजटः कमण्डलुमापूर्य शुचिना सरोवारिणा प्रत्यग्रस्नानार्द्रजटेन सकलेन तेन मुनिकुमारककदम्बकेनानुगम्यमानो मां गृहीत्वा तपोवनाभिमुखं शनैरगच्छत् ।

वैशम्पायनजलपानादिवर्णनम्—

३६—प्रायेण—बाहुल्येन । अकारणमित्राणि-निष्प्रयोजनसौहार्दवन्ति । अतिकरुणार्द्राणि च—नितान्तकरुणासमुपेतानि । अतिशया करुणा तया आर्द्राणि तानि । तृतीयातत्पुरुषः । सताम्—महात्मनाम् ।। चेतांसि—मानसानि । सदा—सर्वदा । खलु निश्चयेन । भवन्ति—जायन्ते । यत्—यस्मात् । सः—हारीतः । माम्—वैशम्पायनम् । तदवस्थम्—पूर्वोक्तदुर्दशासम्पन्नम् । आलोक्य—दृष्ट्वा । समुपजातकरुणः—उत्पन्नदयः । समीपवर्त्तिनम्—अन्तिकस्थितम् । अन्यतमम्—एकतमम् । ऋषिकुमारकम्—मुनिसुतम् । अब्रवीत्—उक्तवान् । अयम् शुकशिशुः—एषः कीरशावकः । असंजातपक्षपुट एव—अनुत्पन्नपतत्रयुगल एव । न सञ्जातं पक्षपुटं यस्य सः । बहुव्रीहिः अन्यपदार्थप्रधानः । अस्मात्—अमुष्मात् । तरुशिखरात्—तापिच्छवृक्षोपरिभागात् । कथमपि—अनिर्दिष्टकारणेन । परिच्युतः—परिभ्रष्टः । वा—अथवा । अनेन

शुकशिशुना । श्येनमुखपरिभ्रष्टेन—पक्षिमारवदनपरिच्युतेन । श्येनस्य मुखम् तस्माद् परिभ्रष्टस्तेन । षष्ठीतत्पुरुषगर्भितपञ्चमीतत्पुरुषः । भवितव्यम्—वर्त्तितव्यम् । तथाहि । अयम् शुकशिशुः । प्रपातस्य अतिदवीयस्तया अत्युच्चतया । अल्पशेषम् स्तोकावशिष्टम् । जीवितम् आयुः । अल्पः शेषो यस्य तत् । अल्पशेषं—अल्पशेषंजीवितं यस्य सः अल्पशेषजीवितः तद्वत् सन् । आमीलितलोचनः—मुदितनयनः । अयम् शुकशिशुः । मुहुर्मुहुः—वारंवारम् । अत्युल्बणम्—नितान्तदीर्घम् । क्रियाविशेषणत्वाद् द्वितीया । वा उष्णम् । श्वसिति—अनिति । मुहुर्मुहुः—भूयोभूयः । मुखेन—आननेन । पतति—भ्रंशते । मुहुर्मुहुः—पुनः पुनः । चंचुपुटम्—स्वतुण्डम् । विवृणोति—उद्घाटयति । शिरोधराम्—ग्रीवाम् । धारयितुम्—अवलम्बितुम् । शकधृषज्ञाग्लाघटरभलभक्रमसहार्हास्त्यर्थेषु इतिसूत्रेण शक्यार्थकधातुयोगे तुमुन् । न शक्नोति—नोसमर्थः । तदेहि—तस्मात्त्वमागच्छ । यावदेव—यत्कालपर्य्यन्तम् हि । अयम्—एषः । असुभिः—प्राणैः । न वियुज्यते—न त्यज्यते । तावदेव—तत्कालमेव च । एनम् शुकशिशुम् । गृहाण—आदेहि । जलसमीपम् । अवतारय—नय । इत्यभिधाय—एवमुक्त्वा । तेन ऋषिकुमारकेन माम् । सरस्तीरम्—पम्पाख्यह्लदतटम् । अनाययत्—प्रापयत् । नीधातुना योगात् कर्म्मद्वयम्—नीधातोर्द्विकर्म्मकत्वात् । जलसमीपम्—सलिलसविधे । उपसृत्य—गत्वा । एकदेशनिहितदण्डकमण्डलुः—एकस्थानस्थापितयष्टिजलपात्रः । एकश्चासौ देशस्तस्मिन् निहितः दंडः कमण्डलुश्च येन सः । वहुव्रीहिः । मुक्तप्रयत्नम्—त्यक्तजलपानादिव्यापारम् । माम् उत्तानाभिमुखम्—

ऊर्ध्वाननम् । स्वयम्—आत्मना । आदाय—गृहीत्वा । अंगुल्या—करशाखया । कतिचित्—अल्पान् । सलिलविन्दून्—जलपृषत्क-णान् । अपाययत्—पापितवान् । अम्भःक्षोदकृतसेकम्—वारि-विन्दुजनितसेचनम् । अम्भसः क्षोदेन कृतसेको यस्य तम् । वहु-व्रीहिः । समुपजातनवीनप्राणम् । उत्पन्नप्रत्यग्रचेतनम् । उपतट-प्ररूढस्य नलिनीपलाशस्य—कूलप्रान्तजातपद्मिनीपत्रस्य । तटस्य समीपमुपतटम् समीपार्थेऽव्ययीभावः । उपतटं प्ररूढायाः नलिन्याः पलाशं तस्य । जलशिशिरायाम्—सलिलशीतलायाम् । जलस्य सेकेन शिशरा तस्याम् मध्यमपदलोपी समासः । छायायाम्—अनातपे । निधाय—स्थापयित्वा । यथासमुचितम्—यथायोग्यम् । स्नानविधिम् । अभिषेक क्रियाम् । अकरोत्—कृतवान् । अभिषेकाव-साने—स्नानान्ते च । अनेकप्राणायामपूतः—विविधपूरककुम्भका-दिवायुविधिपवित्रितः । पवित्राणि अघमर्षणानि—जलदेवस्तुति-रूपस्तोत्राणि । जपन्—ब्रुवन् । अघं मृष्यते एभिस्तानि । करणे ल्युट् । अघमर्षणानि—पापनाशकानि । उन्मुखः—सूर्य्याभिमुखः । प्रत्यग्रभग्नैः—अचिरादुद्धृतैः । रक्तारविन्दैः—लोहितसरोजैः । नलिनीपत्रपुटेन—कमलिनीपलाशपुटकेन । भगवते—ईश्वराय । सूर्य्याय । अर्घम्—अञ्जलिजलम् । दत्त्वा—समर्प्य । उदतिष्ठत्—उत्थितवान् । आगृहीतधौतधवलवल्कलः—धारितप्रक्षालितशुक्ल-वल्कलवस्त्रः । आगृहीतम् धौतंधवलं वल्कलं येन सः । (अतएव) सज्योत्स्नः—चन्द्रिकासहितः । संध्यातप इव—सायंकालिकालोक इव । करतलनिर्धूननविशदजटः—पाणितलास्फालनविमलजटः । करतलाभ्यां निर्धूननेन विशदा जटा यस्य सः । प्रत्यग्रस्नानार्द्रजटेन—

अचिराभिषेकमार्जनक्लिन्नसंयतकचेन । प्रत्यग्रेण स्नानेनार्द्रा जटा यस्य तेन । सकलेन--समग्रेण । तेन पूर्वोक्तेन मुनिकुमार-कदम्बकेन—ऋषिसूनुसमूहेन । अनुगम्यमानः--आव्रज्यमानः । माम् । गृहीत्वा--तपोवनाभिमुखम्--जाबालिपुण्यारण्यसंमुखम् । शनैः--मन्दम् मन्दम् । अगच्छत्—जगाम ।

३६---प्रायः महात्माओं के चित्त स्वाभाविक रूप से (विना किसी कारण) ही मैत्री-भाव रखने वाले और अत्यन्त दयार्द्र होते हैं, इसीलिए मेरी ऐसी अवस्था देख कर उसको दया आ गयी और वह उनमें से एक निकटवर्ती ऋषि-कुमार से बोला---यह तोते का बच्चा, पंख निकलने के पहले ही, किसी तरह इस वृक्ष से नीचे गिर पड़ा है । अथवा हो सकता है, यह बाज के मुख से गिर गया हो, क्योंकि बहुत दूरी (ऊँचाई) से गिरने के कारण इसमें बहुत कम जीवन शेष रहा है, (और इस कारण) यह अपने नेत्र बन्द किये हुए है, बार-बार गिरता है, बार-बार बड़ी लम्बी साँसें लेता है, और बार-बार अपनी चोंच खोलता है । अपनी गर्दन भी नहीं उठा रहा है । अतएव आओ, इसके पहले कि इसके प्राण इसका साथ छोड़ें, इसे उठाकर जल के पास ले चलो । यह कह कर उस (मुनिकुमार) के द्वारा वह उसे तालाब के किनारे उठवा ले गया । (और) जल के समीप पहुँच कर उसने एक ओर अपना दंड और कमंडलु रख दिया और मुझे स्वयं लेकर तथा मेरे मुख को उठाकर अंगुली से पानी की कुछ बूँदें पिलायीं, (क्योंकि उस समय) मुझमें (निर्बलता के कारण जलादि पीने के लिए कोई भी) चेष्टा करने की शक्ति नहीं थी । तब उसने जल की बूँदें मेरे ऊपर छिड़कीं, जिससे मुझमें नवीन प्राणों का संचार हो गया और (इसलिए उसने) मुझे (उस सरोवर के) तट पर उगी हुई कमलिनी के पत्ते को, जल की निकटता के कारण शीतल, छाया में रखकर यथाविधि स्नान किया । स्नान करने के पश्चात् उसने अनेक प्राणायाम किये जिससे वह (अर्थात् उसका अन्तःकरण) पवित्र हो गया । तब अघमर्षण मन्त्रों

(पाप का नाश करने वाले वरुण देव-सम्बन्धी विशेष सूक्तों) को जपते हुए कमलिनी के पत्तों द्वारा, उसी समय तोड़े हुए रक्त कमलों से, भगवान् सूर्य को अर्घ देकर (अर्थात् पुष्प तथा जलादि द्वारा पूजा कर) वह खड़ा हो गया। इसके बाद उसने धुले हुए स्वच्छ वल्कल धारण किये, जिससे वह चन्द्रिकायुक्त सायंकालीन सूर्य के प्रकाश (या लालिमा) के समान सुशोभित हो रहा था। उसने अपने हाथ से फटकार कर अपनी जटाएँ साफ कीं, अपने कमंडलु को सरोवर के पवित्र जल से भर लिया और मुझे लेकर तपोवन की ओर धीरे-धीरे चल दिया। वे सब मुनिकुमार भी, जिनकी जटाएँ हाल में ही स्नान करने के कारण भीगी हुई थीं, उसके पीछे-पीछे जा रहे थे।

शब्दार्थः—अकारणमित्राणि—विना स्वार्थ के मैत्री रखने वाले; दवीयस्ता—ऊँचाई; उल्वणम्—जोरों से; विवृणोति—खोलता है; शिरोधरा—गर्दन; उत्तानितमुखम्—उर्ध्वाननम्, जिसका मुख ऊपर उठाया गया हो, उसको; क्षोदः—विन्दु; अघमर्षाणि—अघमर्षण सूक्त जिनका जप करने से अघ (पाप) नष्ट हो जाते हैं। 'ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत' इत्यादि वरुण देव के सूक्तों को यह संज्ञा दी जाती है; निर्धूननम्—झाड़ना, फटकारना।

36 Generally or for the most part, the minds of the good or benevolent persons are, indeed, always friendly (*i. e.*, full of friendliness or friendly feeling) without any cause or motive, and are also full of (lit. moistened or saturated with) great compassion or tenderness of feelings (towards all). For he, seeing me lying in that (distressful and pitiable) condition, and having compassion aroused or produced in him (*i. e.*, being moved to pity), said to one of the ascetic boys or young ascetics, who was standing near him: 'Somehow or other (by some unknown cause), this young one of a parrot has fallen down from the top of this (Tamala) tree, even before (lit. without) its wings have grown. Or it

may be that it has (*i. e.*, it may have) fallen or dropped down from the mouth of a hawk. For, having but a little life left in it, on account of or owing to the very great distance or height of its (precipitous) fall, this (young parrot), with or having its eyes closed up, falls again and again on its face or mouth, breathes very hard or violently again and again or incessantly, and repeatedly or again and agian opens up the hollow of its beak. It cannot or is unable to hold or bear up its neck. Therefore come, before it is separated from or is deserted by its life [lit. 'Even as long as or so long as it is not deserted by its life, during the same (little interval of) time',—*i. e.*, before its breath leaves it or before life departs out of it], hold it up and take or carry it (lit. 'make it or cause it to descend') near water'. Having said this, he caused me to be taken or brought by him (*i.* e., the young ascetic whom he had been so far addressing) to the bank of the lake And having approached (*i. e.*, gone near or moved towards) the water, and had his staff and water-vessel thrown or placed on (*i. e.*, removed to) one side of him, he, having himself taken me,—who had (by this time) given up all efforts or struggle (*i. e.*, who was now free from or had ceased to make any efforts for getting near water, being completely exhausted and helpless),- up, caused or made me, whose mouth or beak was raised up, drink a few drops of water with his finger. And having placed (me).—who was sprinkled over with drops or small particles of water, and who had (thus or by this means) new life or fresh vigour created or produced in me,—under the shade, that was cool on account of (its contact with or the vicinity of) water; of a lotus leaf or lotus foliage growing (lit. 'grown') near or on the bank, he duly

(पाप का नाश करने वाले वरुण देव-सम्बन्धी विशेष सूक्तों) को जपते हुए कमलिनी के पत्तों द्वारा, उसी समय तोड़े हुए रक्त कमलों से, भगवान् सूर्य को अर्घ देकर (अर्थात् पुष्प तथा जलादि द्वारा पूजा कर) वह खड़ा हो गया। इसके बाद उसने धुले हुए स्वच्छ वल्कल धारण किये, जिससे वह चन्द्रिकायुक्त सायंकालीन सूर्य के प्रकाश (या लालिमा) के समान सुशोभित हो रहा था। उसने अपने हाथ से फटकार कर अपनी जटाएँ साफ कीं, अपने कमंडलु को सरोवर के पवित्र जल से भर लिया और मुझे लेकर तपोवन की ओर धीरे-धीरे चल दिया। वे सब मुनिकुमार भी, जिनकी जटाएँ हाल में ही स्नान करने के कारण भीगी हुई थीं, उसके पीछे-पीछे जा रहे थे।

शब्दार्थः—अकारणमित्राणि—विना स्वार्थ के मैत्री रखने वाले; दवीयस्ता—ऊँचाई; उल्वणम्—जोरों से; विवृणोति—खोलता है; शिरोधरा—गर्दन; उत्तानितमुखम्—उर्ध्वाननम्, जिसका मुख ऊपर उठाया गया हो, उसको; क्षोदः—विन्दु; अघमर्षाणि—अघमर्षण सूक्त जिनका जप करने से अघ (पाप) नष्ट हो जाते हैं। 'ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत' इत्यादि वरुण देव के सूक्तों को यह संज्ञा दी जाती है; निर्धूननम्—झाड़ना, फटकारना।

36 Generally or for the most part, the minds of the good or benevolent persons are, indeed, always friendly (*i. e.*, full of friendliness or friendly feeling) without any cause or motive, and are also full of (lit. moistened or saturated with) great compassion or tenderness of feelings (towards all). For he, seeing me lying in that (distressful and pitiable) condition, and having compassion aroused or produced in him (*i. e.*, being moved to pity), said to one of the ascetic boys or young ascetics, who was standing near him: 'Somehow or other (by some unknown cause), this young one of a parrot has fallen down from the top of this (Tamala) tree, even before (lit. without) its wings have grown. Or it

may be that it has (*i. e.*, it may have) fallen or dropped down from the mouth of a hawk. For, having but a little life left in it, on account of or owing to the very great distance or height of its (precipitous) fall, this (young parrot), with or having its eyes closed up, falls again and again on its face or mouth, breathes very hard or violently again and again or incessantly, and repeatedly or again and agian opens up the hollow of its beak. It cannot or is unable to hold or bear up its neck. Therefore come, before it is separated from or is deserted by its life [lit. 'Even as long as or so long as it is not deserted by its life, during the same (little interval of) time',—*i. e.*, before its breath leaves it or before life departs out of it], hold it up and take or carry it (lit. 'make it or cause it to descend') near water'. Having said this, he caused me to be taken or brought by him (*i.* e., the young ascetic whom he had been so far addressing) to the bank of the lake And having approached (*i. e.*, gone near or moved towards) the water, and had his staff and water-vessel thrown or placed on (*i. e.*, removed to) one side of him, he, having himself taken me,—who had (by this time) given up all efforts or struggle (*i. e.*, who was now free from or had ceased to make any efforts for getting near water, being completely exhausted and helpless),- up, caused or made me, whose mouth or beak was raised up, drink a few drops of water with his finger. And having placed (me).—who was sprinkled over with drops or small particles of water, and who had (thus or by this means) new life or fresh vigour created or produced in me,—under the shade, that was cool on account of (its contact with or the vicinity of) water, of a lotus leaf or lotus foliage growing (lit. 'grown') near or on the bank, he duly

performed his (usual) ablutions. And at the end or conclusion of his bath or ablution, being purified by the various practices of the restraining or suspeding of breath ['प्राणायाम' is the 'restraining or suspending of breath'; it consists of breathing in a peculiar way through the nostrils during the mental recitation of the names or attributes of some deity, and is differently perfomed, with a view to concentrate the mind on the object of worship or meditation], and repeating or muttering (*i. e.*, uttering in a low voice or undertone) the holy '*expiatory verses* or *hymns that remove* (or cause to disappear, one's) *sins**, he, having with his face turned upwards, respectfully made an offering or presentation of red lotuses recently plucked, to the Illustrious or Venerable Sun-god**, from a hollow or vessel (made) of lotus leaves, rose up. And (thereafter) having taken up or put on (lit. 'fully seized or taken hold of'—accepted) bark (garments) that were (well or properly) washed and were white or pure, and looking (as such or in that state) like the evening light (lit. 'heat,) of the

---

*'अघमर्षण' which literally means '*that which removes sin*', is a technical term that is usually applied to a particular expiatory prayer or verse daily offered or recited by the Brahmanas.

**'अर्घम् or अर्घ्यम्', which implies the same thing, is something like a technical term which means 'a respectfule offering or presentation of oblation to gods or venerable personages, and consists either of water only, or of various other ingredients, such as, rice, durvā-grass, flowers, etc, with water, offered in a small boat-shaped pot or some other similar vessel.

sun accompanied by (or attended with) the (white or pale) moonlight, as it were,—with his matted hair rendered pure or glossy on account of its having been wrung or twisted (or shaken out or agitated) with the palms of his hands,—he, having filled up his water-vessel with the pure or holy water of the lake, being followed by the whole body or group (lit. a multitude) of those ascetic youths or young ascetics, whose matted hair were (yet or still) wet or moist on account of their recent bath or ablution, slowly went or set out, (after) having taken or held me up (in his hands, *i. e.*, taking me along with him), towards the penance-grove (lit. '*penance-forest*') or hermitage.

३७—अनतिदूरमिव गत्वा दिशि दिशि सदासंनिहित-कुसुमफलैस्तालतिलकतमालहिन्तालबकुलबहुलैरेलालताकुलि-तनालिकेरीकलापैर्लोललोध्रलवलीलवङ्गपल्लवैरुल्लसितचूत-रेणुपटलैरलिकुलझंकारमुखरसहकारैरुन्मदकोकिलकुलकलाप-कोलाहलिभिरुत्फुल्लकेतकीरजःपुञ्जपिञ्जरैः पूगीलता-दोलाधिरूढवनदेवतैस्तारकावर्षमिवाधर्मविनाशपिशुनं कुसुम-निकरमनिलचलितमनवरतमतिधवलमुत्सृजद्भिः संसक्तपादपैः काननैरुपगूढमचकितप्रचलितकृष्णसारशतशबलाभिरुत्फुल्ल-कमलिनीलोहिनीभिर्मारीचमायामृगावलूनरूढवीरुद्लाभिर्दाशरथिचापकोटिक्षतकन्दगर्तविषमिततलाभिर्दण्डकारण्यस्थलीभि-रुपशोभितप्रान्तमागृहीतसमित्कुशकुसुममृद्भिरध्ययनमुखरशि-ष्यानुगतैः सर्वतः प्रविशद्भिर्मुनिभिरशून्योपकण्ठमुत्कण्ठित-

शिखण्डिमण्डलश्रूयमाणजलकलशपूरणध्वानमनवरताज्याहुति-प्रीतैश्चित्रभानुभिः सशरीरमेव मुनिजनममरलोकं निनीषुभि-रुद्धूयमानधूमलेखाच्छलेनाबध्यमानस्वर्गमार्गगमनसोपानसेतु-मिवोपलक्ष्यमाणमासन्नवर्तिनीभिस्तपोधनसंपर्कादिवापगतका-लुष्याभिस्तरंगपरंपरासंक्रान्तरविबिम्बपङ्क्तिभिस्तापसदर्श-नागतसप्तर्षिमालाविगाह्यमानाभिरिवातिविकचकुमुदवनमृ-षिजनमुपासितुमवतीर्णं ग्रहगणमिव निशासूद्वहन्तीभिर्दीर्घि-काभिः परिवृतमनिलावनमितशिखराभिः प्रणम्यमानमिव वनलताभिरनवरतमुक्तकुसुमैरभ्यर्च्यमानमिव पादपैराबद्ध-पल्लवाञ्जलिभिरुपास्यमानमिव विटपैरुटजाजिरप्रकीर्णशुष्य-च्छयामाकमुपसंगृहीतामलकलवलीकर्कन्धूकदलीलकुचपनस-चूततालफलमध्ययनमुखरबटुजनमनवरतश्रवणगृहीतवषट्-कारवाचालशुककुलमनेकसारिकोद्घुष्यमाणसुब्रह्मण्यमरण्य-कुक्कुटोपभुज्यमानवैश्वदेवबलिपिण्डमासन्नवापीकलहंसपोतभु-ज्यमाननीवारबलिमेणीजिह्वापल्लवोपलिह्यमानमुनिबालक-मग्निकार्यार्धदग्धसिमिसिमायमानसमित्कुशकुसुममुपलभग्न-नालिकेररसस्निग्धशिलातलमचिरक्षुण्णवल्कलरसपाटलभूतलं रक्तचन्दनोपलिप्तादित्यमण्डलकनिहितकरवीरकुसुममितस्ततो विक्षिप्तभस्मलेखाकृतमुनिजनभोजनभूमिपरिहारं परिचित-शाखामृगकराकृष्टिनिष्कास्यमानप्रवेश्यमानजरदन्धतापसमिभ-कलभकर्णोज्झितैः सरस्वतीभुजलताविगलितैः शङ्खवल-

यैरिव मृणालशकलैः कल्माषितमृषिजनार्थमेणकैर्विषाणशिख-
रोत्खन्यमानविविधकन्दमूलमम्बुपूर्णपुष्करपुटैर्वनकरिभिरापूर्य-
माणविटपालवालकमृषिकुमारकाकृष्यमाणवनवराहदंष्ट्रान्तरा-
ललग्नशालूकमुपजातपरिचयैः कलापिभिः पक्षपुटपवनसंधुक्ष्य-
माणमुनिहोमहुताशनमारब्धामृतचरुचारुगन्धमर्धपक्वपुरोडा-
शपुण्यपरिमलामोदितमविछिन्नाज्यधाराहुतिहुतभुग्झंकारमुख-
रितमुपचर्यमाणातिथिवर्गं पूज्यमानपितृदेवतमर्च्यमानहरिहर-
पितामहमुद्दिश्यमानश्राद्धकल्पं व्याख्यायमानयज्ञविद्यमालोच्य-
मानधर्मशास्त्रं वाच्यमानविविधपुस्तकं विचार्यमाणसकलशा-
स्त्रार्थमारभ्यमाणपर्णशालमुपलिप्यमानाजिरमुपमृज्यमानोट-
जाभ्यान्तरमाबध्यमानध्यानं साध्यमानमन्त्रमभ्यस्यमानयोग-
मुपक्रियमाणवनदेवताबलिं निर्वर्त्यमानमौञ्जमेखलं क्षाल्यमा-
नवल्कलमुपसंगृह्यमाणसमिधमुपसंस्क्रियमाणकृष्णाजिनं गृह्य-
माणगवेधुकं शोष्यमाणपुष्करबीजं ग्रथ्यमानाक्षमालं न्यस्य-
मानवेत्रदण्डं संस्क्रियमाणपरिव्राजकमापूर्यमाणकमण्डलुमदृष्ट-
पूर्वं कलिकालस्यापरिचितमनृतस्याश्रुतपूर्वमनङ्गस्याब्जयोनि-
मिव त्रिभुवनवन्दितमसुरारिमिव प्रकटितवराहनरसिंहरूपं
साङ्ख्यमिव कपिलाधिष्ठितं मधुरोपवनमिव बलावलीढदर्पित-
धेनुकमुदयनमिवानन्दितवत्सकुलं किंपुरुषाधिराज्यमिव मुनि-
जनगृहीतजलकलशाभिषिच्यमानद्रुमं निदाघसमयावसान-
मिव प्रत्यासन्नजलप्रपातं जलधरसमयमिव वनगहनमध्यसुख-

सुप्तहरिं हनुमन्तमिव शिलाशकलप्रहारसंचूर्णिताक्षास्थिसंचयं खाण्डवविनाशोद्यतार्जुनमिव प्रारब्धाग्निकार्यं सुरभिविलेपन-धरमपि सततविर्भूतहव्यधूमगन्धं मातङ्गकुलाध्यासितमपि पवित्रमुल्लसितधूमकेतुशतमपि प्रशान्तोपद्रवं परिपूर्णद्विजपति-मण्डलसनाथमपि सदासंनिहिततरुगहनान्धकारमतिरमणीय-मपरमिव ब्रह्मलोकमाश्रममपश्यम् ।

जाबालेः मुनेराश्रमवर्णनम्—

३७—अनितदूरमिव गत्वा—आश्रममपश्यमितिदूरेणान्वयः । दिशि दिशि—सकलासु दिक्षु । सदासंनिहितकुसुमफलैः—सततविद्यमान-पुष्पप्रसवैः । तालतिलकतमालहिन्तालवकुलबहुलैः । एतन्नामक-प्रसवप्रसूनपलाशसहिततरुविशेषप्रायैः । इत आरभ्य तृतीयान्तानि वक्ष्यमाणस्य काननैरित्यस्य विशेषणानि । तालश्च तिलकश्च तमालश्च हिन्तालश्च वकुलश्च ते बहुला येषु तानि तैः । उल्लसच्चूतरेणुपटलैः—प्रसरद्रसालधूलिपुञ्जैः । उल्लसतां चूत-रेणूनाम् पटलानि येषु तैः । अलिकुलझंकारमुखरसहकारैः—भ्रमरनिचयरवशब्दायमानरसालैः । अलीनां कुलं तस्य झंकारैः मुखराः सहकारा येषु तैः । उन्मदकोकिलकुलकलापकोलाहलिभिः—मदमत्तपिकवृन्दमधुरध्वनिकलकलवद्भिः । उन्मदस्य कोकिल-कुलस्य कलाप एव कोलाहलः अस्ति एषान्तैः । तदस्यास्त्यस्मि-न्निितमतुप् इति मत्वर्थीय इनिः—अत इनिठनाविति सूत्रेण । 'भूमिनिन्दाशंसासु नित्य योगेऽतिशायिने । सम्बंधेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुवादयःइति' नियमात् ।। उत्फुल्लकेतकीरजःपुञ्जपिञ्जरैः

—विकसत्केतकीप्रसूनपरागराशिपिङ्गलवर्णैः । उत्फुल्लानाम् केतकीकुसुमानाम् रजःपुञ्जैः पिंजराणि तैः। पूगीलतादोलाधिरूढवनदेवतैः—क्रमुकवल्लीसमाधिष्ठितारण्यसुरैः । पूगीनां लता एव दोलाः तास्वधिष्ठिता वनदेवताः येषु तैः । तारकावर्षमिव—नक्षत्रवृष्टिमिव । अधर्मविनाशपिशुनम्—पापक्षयसूचकम् । अनिलचालितम्—पवनकम्पितम् । अतिधवलम्—नितान्तशुभ्रम् । कुसुमनिकरम्—पुष्पनिचयम् । अनवरतम्—निरन्तरम् । उत्सृजद्भिः—वर्षद्भिः । संसक्तपादपैः—परस्परलग्नतरुभिः । काननैः—वनैः । उपगूढम्—आलिङ्गितम् । अचकितप्रचलितकृष्णसारशतशवलाभिः निर्भीकविचरन्मृगविशेषबहुलचित्राभिः । अचकितानां प्रचलितानां कृष्णसाराणां शतेन शवलास्ताभिः । उत्फुल्लकमलिनीलोहिनीभिः—विकसितपद्मिनीरक्ताभिः । उत्फुल्लाभिः कमलिनीभिः लोहित्यस्ताभिः । मारीचमायामृगावलूनप्ररूढवीरुद्दलाभिः—मारीचाख्यदैत्यच्छलहरिणाच्छिन्नपुनर्जातलतापत्राभिः । मारीचश्चासौ मायामृगः तेन अवलूनानि पश्चात्—प्ररूढानि विरुदां दलानि यासु ताभिः । 'पुरा दण्डकारण्ये जानकीलक्ष्मणसहितस्य रामस्य निवसतः पुरस्तात् जानकीमपहर्त्तुकामः रावणः स्वमातुलम् मारीचनामानं राक्षसम् कांचनमृगरूपं धारयितुं रामस्य पुरो विचरितुम् आदिष्टवान् ॥ दाशरथिचापकोटिक्षतकन्दगर्त्तविषमिततलाभिः—रामकार्मुकाग्रभागोद्गतमूलदरनिम्नोन्नताधोभागाभिः—रामस्य चापकोट्या क्षतानि कन्दानि तैः जातैर्गर्त्तैः विषमितं तलं यासां ताभिः । दण्डकारण्यस्थलीभिः—दण्डकाख्यारण्याकृत्रिमभूमिभिः । उपशोभितप्रान्तम्—अलंकृतसमीपदेशम् । आगृहीतसमित्कुशकुसुममृद्भिः—धृतसमिधाद-

र्भपुष्पमृत्तिकाभिः । समिधश्च कुशाश्च कुसुमानि च मृच्च समित्कुशकुसुममृदः आगृहीतास्ताः यैस्तैः । अध्ययनमुखरशिष्यानुगतैः—वेदपाठशब्दायमानविनेयानुसृतैः । सर्वतः समन्तात्—प्रविशद्भिः अन्तर्गच्छद्भिः—मुनिभिः ऋषिभिः । अशून्योपकण्ठम्—पूर्णसमीपदेशम् । अशून्य उपकण्ठो यस्मिन् तत् । उत्कण्ठितशिखण्डिमण्डलश्रूयमाणजलकलसपूरणध्वानम्—उत्सुकमयूरसमूहाकर्ण्यमानसलिलकुम्भाप्यायननिनादम् । उत्कण्ठितेन शिखण्डिनां मण्डलेन श्रूयमाणः जलैः कलशपूरणस्य ध्वानो यस्मिन् तम् । अनवरताज्याहुतिप्रीतैः—अविरतघृतहविःप्रक्षेपप्रसन्नैः । अनवरतमाज्यस्याहुतिभिः, प्रीतास्तैः । चित्रभानुभिः—वह्निभिः । 'चित्रभानुर्विभावसुः' इत्यमरः । सशरीरमेव—सदेहमेव । मुनिजनम्—ऋषिलोकम् । अमरलोकम्—देवालयम् ॥ निनीषुभिः—नेतुमिच्छुभिः । उद्धूयमानधूमलेखाच्छलेन—उद्गम्यमानधूम्ररेखाव्याजेन । आवध्यमानस्वर्गमार्गगमनसोपानसेतुमिव—निर्मीयमाणसुरलोकपथयाननिश्रेणिततिम् इव । उपलक्ष्यमाणम्—दृश्यमानम् । आवध्यमानः स्वर्गमार्गगमनाय सोपानसेतुर्यस्मिन् तम् । आसन्नवर्त्तिनीभिः—समीपस्थाभिः । तपोधनसम्पर्कादिव—तपस्विलोकसंसर्गादिव । अपगतकालुष्याभिः—दूरीभूतमालिन्याभिः । अपगतं कालुष्यं यासां ताभिः । तरंगपरम्परासंक्रान्तरविविम्वपंक्तिभिः—वीचिसंहतिप्रतिबिम्बितदिनकरमण्डलश्रेणिभिः । तरङ्गानां परम्परायां संक्रान्ता रविबिम्बस्य पंक्तयो यासु ताभिः । तापसदर्शनागतसप्तर्षिमालाविगाह्यमानाभिः —जाबालिप्रभृतितपस्विसमवलोकनायातमरीच्यादिदेवर्षिपंक्तिविलोड्यमानाभिः । तापसानां दर्शनायागता सप्तर्षीणां माला तया

विगाह्यमानाः ताभिः । तुल्यतेजस्वित्वात् रविविम्बस्य सप्तर्षि-मालासमत्वं सूचितम् । निशासु--क्षपासु । ऋषिजनमुपासितुम् --मुनिलोकं सेवितुम् । अवतीर्णम्---आगतम् । ग्रहगणमिव--नक्षत्रराशिमिव । अतिविकचकुमुदवनम्---नितान्तविदलितकैरव-काननम् । उद्वहन्तीभिः---धारयन्तीभिः । दीर्घिकाभिः---वापीभिः । परिवृतम्--परिवेष्टितम् । अनिलावनमितशिखराभिः--पवननिम्नी-कृताग्रप्रदेशाभिः । वनलताभिः---काननव्रततीभिः । प्रणम्यमान-मिव---प्रह्वीभावमीयमानमिव । अनवरतमुन्मुक्तकुसुमैः---निरन्तर-त्यक्तपुष्पैः । अनवरतं--उन्मुक्तानि कुसुमानि यैस्तैः । पादपैः --वृक्षैः । पादैः पिबन्तीति तैः । आतश्चोपसर्गे इति कः । अभ्यर्च्यमानमिव--पूज्यमानमिव । आवद्धपल्लवांजलिभिः--रचित-पत्रयुग्मपुटकरयुगैः । आवद्धाः पल्लवा एवांजलयो यैस्तैः । पादान् लुनन्तीति पल्लवाः । विटपैः--शाखाभिः । उपास्यमान-मिव--सेव्यमानमिव । उटजाजिरप्रकीर्णशुष्यच्छ्यामाकम्---पर्णशालांगणप्रसारितावस्कन्नमुनिधान्यकम् ।। उपसंगृहीतामलकल-वलीलवंगकर्कंधूकदलीलकुचचूतपनसतालफलम्--एकत्रितधात्रीशंन्दु-लवंगकवदरीरम्भाडहुरसालकण्टकितालप्रसवम् ।। आमलकं च लवली च लवंगं च कर्कंधुश्च कदली च लकुचं च चूतश्च पनसं च तालं च तेषाम् फलानि उपसंगृहीतानि यस्मिन् तम् ।। अध्ययनमुखरवटुजनम्---वेदपाठशब्दायमानद्विजकुमारकम् । अध्य-यनेन मुखरा वटुजना यस्मिन् तम् । अनवरतश्रवणगृहीतवषट्-कारवाचालशुककुलम्---निरन्तराकर्णितवषड् हविर्दानमंत्रमुखरकीर-निचयम्--अनवरतं श्रवणेन गृहीताः वषट्काराः तैर्वाचालं

शुकानां कुलम् यस्मिन् तम् । अनेकसारिकोद्घुष्यमाणसुब्रह्मण्यम्—बहुकीराङ्गनोच्चार्य्यमाणवेदम् ।। अरण्यकुक्कुटोपभुज्यमानवैश्वदेवबलिपिण्डम्—वनचरणायुधोपसेव्यमानविश्वदेवोद्देश्यकान्नोपहारयागम् । 'कुक्कुटः चरणायुध' इत्यमरः । विश्वेदेवाः अस्य स वैश्वदेवः चासौ बलिः अरण्यकुक्कुटैः उपभुज्यमानाः तस्य पिण्डाः यस्मिन् तम् । सास्यदेवतेत्यण् ।। आसन्नवापीकलहंसपोतभुज्यमाननीवारबलिम्—समीपस्थदीर्घिकाकादम्बशावकभक्ष्यमाणश्यामाकोपहारम्—आसन्नवापीस्थानां कलहंसानां पोतास्तैर्भुज्यमानाः नीवाराणां वलयो यस्मिन् तम् । एणीजिह्वापल्लवोपलिह्यमानमुनिवालकम्—मृगीरसनाऽऽस्वाद्यमान ऋषिकुमारम् । एणीजिह्वापल्लवा इव तया लिह्यमाना मुनिबालका यस्मिन् तम् । अग्निकार्य्यार्धदग्धसिमसिमायमानकुशसमित्कुसुमम्—हवनस्तोकभस्मीभूतसिमसिमेतिशब्दायमानर्बाहःसमिधाप्रसूनम् । अग्निकार्य्येऽर्धदग्धान्यतएव सिमसिमायमानानि कुशाश्च समिधश्च कुसुमानि च यस्मिन् तम् । उपलभग्ननारिकेलरसस्निग्धशिलातलम्—पाषाणत्रोटितश्रीफलनिर्यास चिक्कणकृतास्तरणपाषाणपृष्टम्—उपलभग्नानां नारिकेलानां रसैः स्निग्धानि शिलातलानि यस्मिन् तम् । भंज्+क्तः भग्नः लुङि—अभांक्षीत् ।। अचिरक्षुण्णवल्कलरसपाटलभूतलम्—सद्यः छिन्नवल्कद्रवश्वेतरक्तीभूतभूमिभागम् । रक्तचन्दनोपलिप्तादित्यमंडलकनिहितकरवीरकुसुमम्—लोहितपाटीरचित्रितसूर्य्यबिम्बस्थापितहयमारपुष्पम् । रक्तचन्दनेनोपलिप्तमादित्यमंडलं तस्मिन् निहितानि करवीरकुसुमामि यस्मिन्तम् उप + लिप् + क्तः उपलिप्तेः

लटि—लिम्पति । इतस्ततो विक्षिप्तभस्मलेखाकृतमुनिजनभोजनभूमिपरिहारम्—समंताद्विकीर्णभूतिरेखाविहिततापसलोकाशनधरातलभागम् । इतस्ततो विक्षिप्ताभिः भस्मलेखाभिः कृतः मुनिजनानां भोजनाय भूमिपरिहारः यस्मिन् तम् । वि+कृ+क्तः विकीर्णः । लटि किरति लुङि—अकारीत् । परिचितशाखामृगकराकृष्टिनिष्कास्यमानप्रवेश्यमानजरदन्धतापसम्—पूर्वज्ञातवानरहस्ताकर्षणवहिष्क्रियमाणान्तःक्रियमाणवृद्धनेत्रहीनतपस्विकम् । परिचितैः शाखामृगैः कराकृष्ट्या निष्कास्यमानाः प्रवेश्यमानाः जरन्तोऽन्धाः च तापसाः यस्मिन् तम् । इभकलभकार्धोपभुक्तपतितैः—करिशावकस्तोकभक्षितभ्रष्टैः । अल्पे कलभाः कलभकाः । इभानां कलभकास्तैरर्धोपभुक्तैः पश्चात्पतितैः । सरस्वतीभुजलताविगलितैः—शारदाबाहुवल्लीपतितैः । शंखवलयैरिव—कम्बुमंडलैरिव । मृणालशकलैः—विसखण्डैः । कल्माषितम्—चित्रितम् । ऋषिजनार्थम्—मुनिलोकाय । एणकैः—मृगैः । विषाणशिखरोत्खन्यमानविविधकन्दमूलम्—शृङ्गाग्रभागोत्पाट्यमानानेकशालूकमूलकम् । अम्बुपूर्णपुष्करपुटैः—जलसकलशुण्डाग्रभागैः—अम्बुभिः पूर्णानि पुष्करपुटानि येषां तैः । वनकरिभिः । आपूर्य्यमाणविटपालवालकम्—भ्रियमाणशाखारोपितवृक्षाशयप्रदेशम् । आपूर्य्यमाणानि विटपानामालवालानि यस्मिन् तम् । ऋषिकुमारकाकृष्यमाणवनवराहदंष्ट्रान्तराललग्नशालूकम्—मुनिबालकगृह्यमाणारण्यसूकरदन्तसंसक्तकन्दम् ।। ऋषिकुमारकैराकृष्यमाणानि वनवराहदंष्टान्तराले लग्नानि शालूकानि यस्मिन् तम् । उपजात-

परिचितैः--संजातमैत्रीकैः । उप+जन्+क्तः—उपजातः । लिटि—जज्ञे लुङि—अजनि । कलापिभिः—मयूरैः । पक्षपुट-पवनसंधुक्ष्यमाणमुनिहोमहुताशनम् । पतत्रसमूहवायुसन्दीप्य-मानतापसाग्निहोत्रवह्निम्--पक्षाणां पुटैः सञ्जातः पवनः तेन संधुक्ष्यमाणाः मुनिहोमहुताशना यस्मिन् तम् । आरब्धामृतचरु-चारुगंधम् —प्रवर्त्तितघृतयुक्तहव्यमनोहरामोदम् । आरब्ध-स्यामृतचरोः चारुः गंधो यस्मिन् तम् । अर्धपक्वपुरोडाश-पुण्यपरिमलामोदितम् — स्तोकदग्धहवनीयपवित्रगंधसुरभितम् । अर्धपक्वस्य पुरोडाशस्य पुण्येन परिमलेनामोदितस्तम् । अवि-च्छिन्नाज्यधाराहुतिहुतभुग्झङ्कारमुखरितम्-- निरन्तरघृतपतनहविः-प्रक्षेपवह्निहुंकारशब्दशब्दायमानम् । अविच्छिन्नाया आज्य-धारायाः आहुत्या ये हुतभुजो हुंकारस्तेन मुखरितस्तम् । उपचर्य्यमाणातिथिवर्गम्--सेव्यमानागन्तुकसमूहम्—वा सत्क्रि--यमाणाभ्यागतसंघम् । पूज्यमानपितृदैवतम् -- अर्च्यमानवंश्य-देवम् । पूज्यमानानि पितरो दैवतानि च यस्मिन् तम् । अर्च्य-मानहरिहरपितामहम्—पितुः पिता पितामहः पितृ+डाम-हच् । उपदिश्यमानश्राद्धकल्पम् — अध्याप्यमानश्राद्धविधिम् । व्याख्यायमानयज्ञविद्यम्—विव्रियमाणाश्वमेधादियागबोधकशास्त्रम् । व्याख्यायमाना यज्ञविद्या यस्मिन् तम् । आलोच्यमान-धर्मशास्त्रम्—विचार्य्यमाणमन्वादिधर्मसंहितम् । पाठ्यमाना-नेकग्रन्थकम् —अधीयमानानेकग्रन्थम् । विचार्य्यमाणसकल-शास्त्रार्थम्—विचिन्त्यमाननिखिलदर्शनाभिप्रायम् । आरभ्यमाण-पर्णशालम्—निर्मीयमाणोटजम् । उपलिप्यमानाजिरम्--गोम-

योपदिह्यमानाङ्गनम् ।। उपमृज्यमाणोटजाभ्यन्तरम् –परिष्क्रिय-
माणपर्णशालामध्यम् । उप+मृज्+कर्मणि शानच उपमृज्य-
मानः । मृज् धातोः लुङि अमार्जीत्—अमार्क्षीत् । लिटि ममार्ज
ममार्जतुः ममृजतुः इत्यादि । आवध्यमानध्यानम्—ध्रियमाण-
ब्रह्मचिन्तनम् । साध्यमानमंत्रम्—आराध्यमानमंत्रपाठम् । अभ्य-
स्यमानयोगम्—अनुष्ठीयमानचित्तवृत्तिनिरोधम् । उपह्रिय-
माणवनदेवताबलिम्–दीयमानकाननाधिष्ठातृदेवोपहारम् ।
निर्वर्त्यमानमौञ्जमेखलम्—क्रियमाणमुञ्जमयरसनम् । प्रक्षाल्य-
मानवल्कलम्—शोध्यमानवल्कवस्त्रम् । उपसंगृह्यमाणसमिधम्—
एकत्रीक्रियमाणयज्ञकाष्ठम् । उपसंस्क्रियमाणकृष्णाजिनम्—परि-
मृज्यमानकृष्णसारमृगकृत्तिकम् । गृह्यमाणगवेधुकम्—आदी-
यमानधान्यविशेषम् । गृह्यमाणा गवेधुका यस्मिन् तम् । शोष्य-
माणपुष्करबीजम्—शुष्कतां नीयमानकमलकारणम् । 'हेतुर्ना
कारणं बीजम्' इत्यमरः । ग्रथ्यमानाक्षमालम्—विधीयमान-
जपस्रजम् । न्यस्यमानवेत्रदण्डम्—स्थाप्यमानवेतलयष्टिम् ।
आपूर्य्यमाणकमण्डलुम्—भ्रियमाणजलपात्रविशेषम् । अदृष्ट-
पूर्वं कलिकालस्य–कलियुगसमयानवलोकितपूर्वम् । अपरिचि-
तम्—अज्ञातम् । अनृतस्य—असत्यस्य । अनङ्गस्य—कामस्य ।
अश्रुतपूर्वम्–अनाकर्णितप्रथमम् । अब्जयोनिमिव त्रिभुवनवन्दितम्—
विधातरमिव त्रिलोकीनमस्कृतम् । असुरारिमिव—विष्णुमिव ।
प्रकटितवराहनृसिंहरूपम्— स्फुटीकृतसूकरनरहरिमूर्त्तिम् । पक्षे
प्रकाशितसूकरनृसिंहवराहाकृतिम् ।। वराहाश्च नरश्च सिंहाश्च
रूपाणि च प्रकटितानि यस्मिन् तम् । पक्षे वराहश्च नृसिंहश्च तयो रूपे

प्रकटिते यस्मिन् तम् । 'रूपं मृगेऽपि विज्ञेयम्' इति हलायुधः । सांख्यमिव---कपिलदेवनिर्मितशास्त्रमिव । कपिलाधिष्ठितम् । कपिलमुनिसमाश्रितम्---पक्षे स्वर्णवर्णधेनुसहितम् । कपिलेन पक्षे कपिलयाऽधिष्ठितम् । मथुरोपवनमिव---मधुपुरीनिकटस्थविपिनमिव । बलावलीढदर्पितधेनुकम्---बलगर्वितनवप्रसूतगोसमूहम् । 'धेनुर्नवप्रसूतिका' इति त्रिकाण्डशेषः ।। पक्षे बलिष्ठसमानधेनुकाख्यासुरम् । बलेनावलीढा दर्पिताश्च धेनवो यस्मिन् तम्---पक्षे बलावलीढः दर्पितश्च धेनुको यस्मिन् तम् ।। मथुरोपवने निवसन् गर्वितः बलिष्ठः धेनुकासुरो भगवता श्रीबलरामेन हतः इति भागवतवार्त्ता ।। उदयनमिव---कौशाम्बीनगरीस्वामिनृपमिव । आनन्दितवत्सकुलम्---सन्तोषितधेनुतरणकसमूहम् । पक्षे प्रसन्नवत्सदेशीयजनसमूहम् । आनन्दितं वत्सकुलं येन पक्षे यस्मिन् तम् ।। पूर्वम् उदयननृपः नयेन प्रजाः पालयन् जनतामतिशयं तोषयामासेति कथासरित्सागरकथा ।। किम्पुरुषाधिराज्यमिव---किन्नरराज्यमण्डलमिव । मुनिजन गृहीतजलकलशाभिषिच्यमानद्रुमम्---ऋषिलोकधारितजलपूर्णकुम्भक्षालितवृक्षम् । पक्षे तापसलोकहस्तस्थिततीर्थवारिघटस्नायमानद्रुमनामकगन्धर्वराजम् । मुनिजनैः गृहीताः कलसाः तैः अभिषिच्यमानाः द्रुमाः पक्षे द्रुमनामा राजा यस्मिन् तम् । पुरा मुनयः द्रुमनामकं नृपं गन्धर्वराज्येऽभिषिषिचुः इति कथासरित्सागरवृत्तान्तः । निदाघसमयावसानमिव---ग्रीष्मकालावशिष्टकालमिव । प्रत्यासन्नजलप्रपातम्---समीपस्थसलिलनिर्झरम् पक्षे निकटवर्त्तिवर्षाजलपतनम् । आसन्नौ जलप्रपातौ पक्षे आसन्नो जलस्य प्रपातो यस्मिन् तम् । जलधरसमयमिव---प्रावृट्कालमिव । वनगहनमध्यसुखसुप्त-

हरिम्---विपिनगह्वराभ्यन्तरशमंशयितसिंहम् । पक्षे जलगभीरान्तर्भागशयितनारायणम् । वने गहनं मध्यं तस्मिन् सुखेन सुप्तो हरिर्यस्मिन् तम् । 'विपिनं गहनं काननं वनम् । जीवनं भुवनं वनम्'--उभयत्रापि अमरः । हनूमन्तमिव--अञ्जनीसुतमिव । हनुरस्यास्तीति सः । शरादीनां चेतिदीर्घः । शिलाशकलप्रहारसञ्चूर्णिताक्षास्थिसञ्चयम्---पाषाणखण्डप्रहृतिपेषिताक्षनामकरावणसुतास्थिनिचयम् पक्षे प्रस्तरखण्डभञ्जनभग्नविभीतकावयवनिचयम् । अक्षो विभीतको वृक्षः---पाशकोऽक्षोऽक्षमिन्द्रियम् । शिलाशकलानां प्रहारैः संचूर्णितोऽक्षस्यास्थिसंचयो येन् पक्षे शिलाशकलानां प्रहारेण संचूर्णितोऽक्षानामस्थिसंचयो यस्मिन् तम् । रामेण प्रेषितो हनुमान् जानकीमन्वेषुलंकान्तर्गताशोकवाटिकास्थितां जानकीं ददर्श तत्र च विविधविपुलदैत्यनिकरैः सह युध्यमानः स रावणिमक्षमवयवशः कृत्वा चर्णितवानिति रामायणकथा । खाण्डवविनाशोद्यतार्जुनमिव---खाण्डवस्य विनाशायोद्यतोऽर्जुनस्तम् । प्रारब्धाग्निकार्य्यम्---प्रस्तुताग्निहोत्रम् पक्षे उपक्रान्तवह्नितृप्तिक्रियम् । प्रारब्धमग्निकार्य्यं यस्मिन् पक्षे येन तम् । सुरभिविलेपनधरमपि सतताविर्भूतहव्यधूमगंधम्---सुगन्धिदेहरागधारिणमपि अविरतप्रकटितधूम्रसौरभम् इति विरोधः चन्दन-सुरभिसत्वे धूमगन्धवत्वमेव कुतः । परिहारे तु सुरभिगोमयविलेपनयुक्तभूमिमपि---सुरभि यद् विलेपनं तस्य धरस्तम् । परिहारे सुरभि यद् विलेपनं गोमयं तेन सहिता धरा यस्मिन् तम् । सततमाविर्भूतो धूमगन्धो यस्मिन् तम् । मातङ्गकुलाध्यासितमपि पवित्रम्---शबरनिचयसहितमपि पूतमितिविरोधः मातंगस्यास्पृश्यत्वात् पवित्रताया अभावात् । परिहारे तु---गजसंघयुत-

मपि इत्यर्थः । उल्लसितधूमकेतुशतमपि प्रशान्तोपद्रवम्---उत्थितो-त्पातग्रहबहुलमपि प्रशमितविघ्नमितिविरोधः । परिहारपक्षे तु—उज्ज्वलितवह्निसमूहम् ।। उल्लसितं धूमकेतूनां शतं यस्मिन् तम् । परिपूर्णद्विजपतिमण्डलसनाथमपि--सदासन्निहिततरुगहनांधकारम्--सकलकलानाथचक्रवालसहितमपि सततनिकटस्थभूरुहप्रौढध्वान्तम् इति विरोधः परिहारे तु--विद्यापूर्णंब्राह्मणश्रेष्ठसमूहसहितमित्यर्थः । परिपूर्णं द्विजपतेः मण्डलं पक्षे द्विजपतीनां मण्डलं तेन सनाथस्तम् । सदा सन्निहितैः तरुभिर्गहनोऽधकारो यस्मिन् तम् । अतिरमणीयम्—महामनोज्ञम् । अपरम्---द्वितीयम्---ब्रह्मलोकमिव---विधातृभुव-नमिव । आश्रमम्---मुनिवासस्थानम । अपश्यम्—दृष्टवान् ।।

३७—हम बहुत दूर नहीं गये होंगे कि हमने एक अत्यन्त रमणीक आश्रम देखा, जोकि दूसरा ब्रह्मलोक (ही मालूम पड़ता) था । वह चारों दिशाओं में (घने) जङ्गलों से ढका हुआ था । वे (जंगल) सदैव फल-फूलों से लदे रहते थे । वहाँ ताड़, तिलक, तमाल, हिन्ताल, वकुल (मौलसिरी) आदि के अनेक वृक्ष थे; नारियल के वृक्ष-समूह इलायची की लताओं से ढके हुए थे; लोध्र, लवली और लौंग के पत्ते डोल रहे थे; आम्र (मञ्जरी) के पराग का ढेर बिखर रहा (या उड़ रहा)था; भ्रमर-समूह की झंकार से आम्र वृक्ष मुखरित हो रहे थे; मदोन्मत्त कोयलों के झुंड कलरव कर रहे थे; पुष्पित केतकी के मकरन्द-समूह से (सम्पूर्ण वन) पीला हो रहा था; वन-देवियाँ सुपाड़ी की लताओं के झूलों पर झूला करती (या बैठी रहती) थीं, (वृक्षों से) निरन्तर अत्यन्त श्वेत कुसुम-समूह वायु (के झोंकों) से हिलकर गिरता रहता था, जो ऐसा प्रतीत होता था मानो अधर्म के विनाश की सूचना देते हुए तारे टूट रहे हों या तारों की वर्षा हो रही हो अर्थात् उल्कापात हो रहा था (तारों का टूटना विनाश का सूचक माना गया है) । उस वन

में वृक्ष एक दूसरे से सटे हुए (खूब घने) लगे हुए थे। उस (आश्रम) के आस-पास का भाग दण्डकारण्य की ऊँची भूमि से सुशोभित था। वह भूमि निर्भय घूमते हुए सैकड़ों कृष्ण-मृगों के कारण रंग-बिरंगी दिखाई पड़ती थी; विकसित कमलिनियों के कारण लाल हो रही थी; वहाँ पर माया के (स्वर्ण) मृग मारीच के द्वारा कुतरी हुई लताओं के पत्ते पुनः निकल आये थे; दशरथ-पुत्र (राम) के द्वारा धनुष-कोटि से कन्द-मूल आदि खोदने के कारण बन जाने वाले गड्ढों से वहाँ का भूमि-तल ऊँचा-नीचा हो गया था; हाथ में समिधा, कुश, कुसुम, मिट्टी लिए हुए, उन मुनियों के कारण, जो कि उच्च स्वर से अपना पाठ पढ़ते हुए शिष्यों के साथ चारों ओर से आ रहे थे, उसके (आश्रम के) पास का भाग गुलजार हो रहा था। वहाँ पर (सरोवरादि में) जल में घड़ों के भरे जाने के समय होने वाले शब्द को मयूर-समूह (घन-गर्जन समझ कर) अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक (अथवा गर्दन उठाकर) सुना करता था। (यज्ञाग्नि से उठता हुआ धुँआ) ऐसा मालूम पड़ता था, मानो निरन्तर डाली जाती हुई घी की आहुति से प्रसन्न अग्निदेव द्वारा मुनियों को (सशरीर) स्वर्गलोक ले जाने की इच्छा से ऊपर उठती हुई धूम-लेखा के बहाने रचा हुआ स्वर्ग-मार्ग पर जाने के लिए (निर्मित), सोपान-सेतु (सीढ़ियों की पंक्ति या पुल) हो। वह (आश्रम) निकटवर्ती बावलियों से घिरा हुआ था। इन बावलियों का सम्पूर्ण कालुष्य (पाप अथवा गँदलापन) मानो तपस्वियों के सम्पर्क के कारण दूर हो गया हो अर्थात् उनका जल अत्यन्त स्वच्छ था। (सत्संगति से पापों का नाश हो जाता है। ऋषिजन बावलियों में स्नान करते थे अतएव उनमें परस्पर सम्पर्क था)। इनमें (बावलियों में) लगातार उठने वाली लहरों पर सूर्य-बिम्ब की पंक्तियाँ पड़ा करती थीं, (इस कारण ऐसा प्रतीत होता था) मानो तपस्वियों के दर्शन करने के लिए आये हुए (स्नान करने के लिए जल में उतरे हुए) सप्तर्षियों (मरीचि आदि ऋषि जो नक्षत्रों के रूप में आकाश में स्थित हैं) के द्वारा हिलाया जा रहा हो (लहरों में प्रतिबिम्बित रवि-बिम्ब सप्तर्षियों की भाँति

मालूम पड़ते हैं); रात्रि में उनमें पूर्ण-विकसित कुमुद इस प्रकार दिखाई पड़ते थे मानों (आश्रमवासी) ऋषियों की उपासना करने के लिए नक्षत्रगण ही (वहाँ) उतर कर आ गये हों। वन्य लताओं की फुनगियाँ (या चोटियाँ) वायु के कारण जब झुक जाती थीं तो ऐसा मालूम होता था मानो वे उसको (आश्रम को) प्रणाम कर रही हों। पुष्पों के लगातार झड़ने के कारण ऐसा प्रतीत होता था मानो वृक्ष (पुष्प भेंट कर) आश्रम की पूजा कर रहे हों; (वृक्षों की) शाखाएँ मानो अपनी पल्लवरूपी अंजलि बाँधकर (अर्थात् पल्लव रूपी हाथ जोड़कर) उसकी (आश्रम की) सेवा कर रही हों (या सेवा में खड़ी हों)। (आश्रम की) कुटियों के आँगन में सूखने के लिए श्यामकधान बिछा हुआ था। वहाँ आमलक (आँवला), लवली, लौंग, बेर, केला, लकुच (कटहल-विशेष), आम, कटहल और ताड़ के फल लाकर इकटठा किये गये थे; ब्रह्मचारी उच्च स्वर से (शास्त्रादि) पढ़ रहे थे; तोतों के समूह ने लगातार सुनने के कारण वषट्कार (हविसमर्पण के मन्त्र) शब्द ग्रहण कर लिया था (अर्थात्बोलना सीख लिया था और वे बार-बार उसी का उच्चारण कर रहे थे); अनेक मैनाएँ उच्च स्वर से वेद का पाठ कर रही थीं; जंगली मुर्गे वैश्वदेव को दिये हुए बलिपिंड को खा रहे थ; निकटवर्ती बावलियों में रहने वाले कलहंसों के बच्चे बलिरूप में उन्हें जो नीवार (एक प्रकार के जंगली धान) के दाने दिये जाते थे, उनको खा रहे थे; हरिणियाँ अपनी पल्लवों के समान जिह्वाओं से मुनियों के बालकों को चाट रही थीं; होमाग्नि में डाले हुए अध-जले कुश, समिधा (लकड़ी) और पुष्प, सिम-सिम शब्द करते (जल रहे) थे; पत्थर पर (अथवा पत्थर से) तोड़े हुए नारियल के रस से शिलातल चिकने अथवा तर हो रहे थे, हाल ही में निचोड़े हुए वल्कलों के जल से पृथ्वी लाल हो रही थी; लाल चन्दन से (पृथ्वी-तल पर) बनाये हुए सूर्य-मंडल पर कनेर के फूल चढ़ाये गये थे; इधर-उधर (अर्थात् स्थान-स्थान पर) भूमि पर राख के द्वारा लकीर खींच कर मुनियों के भोजन करने के लिए अलग-अलग चौके बना दिये गये थे; वहाँ पर (आश्रम में) परिचित वानर,

बुड्ढे और अन्धे तपस्वियों का हाथ पकड़ कर अन्दर या बाहर ले जाते थे; हाथी के बच्चों के द्वारा आधा चबा कर फेंके हुए (अथवा छोड़ दिये गये) कमलनाल के टुकड़ों से, (वहाँ की भूमि इस प्रकार रंग-बिरंगी हो रही थी, मानो सरस्वती की भुजलता से गिरे हुए शंख के कंकण ही वहाँ पड़े हुए हों (विद्वान् मुनियों के मध्य सरस्वती के साक्षात् विद्यमान होने की सहज कल्पना करके ही कवि ने ऐसा लिखा है); वहाँ ऋषियों के लिए हिरन अपने सींगों की नोक से नाना प्रकार के कन्द-मूल उखाड़ देते थे; जंगली हाथी अपनी सूँड़ों के अग्र भाग में जल भर कर वृक्षों के थाले भर देते थे; मुनिकुमार जंगली सुअरों के दाँतों में (दाँतों के बीच में) फँसे हुए कमल की जड़ (के टुकड़ों) को निकाल देते थे; मुनियों से हिले हुए (पालतू) मोर अपने पक्ष-पुटों (परों) से मुनियों की होमाग्नि धौंक देते थे (सुलगा देते थे); पकाये जाते हुए अमृतचरु (घृतयुक्त हविष्यान्न) की सुन्दर सुगन्ध फैल रही थी; (वह आश्रम) आधे पके हुए पुरोडाश (हवनीय द्रव्य) की पवित्र सुगन्ध से सुगन्धित हो रहा था; निरन्तर डाली जाने वाली घी की धारा की आहुति से अग्नि में होने वाले 'हुं' 'हुं' शब्द से मुखरित हो रहा था (गूँज रहा था); वहाँ पर अतिथियों की सेवा की जा रही थी; पितृ देवताओं की पूजा हो रही थी; विष्णु, शिव और ब्रह्मा की अर्चना की जा रही थी; श्राद्ध कल्प (अश्वलादि निर्मित श्राद्धविधि; श्राद्ध करने के नियम आदि) सम्बन्धी शिक्षा दी जा रही थी; यज्ञ-विद्या पर व्याख्यान दिये जा रहे थे; धर्मशास्त्रों पर विचार-विमर्श किया जा रहा था, विविध पुस्तकें पढ़ी जा रही थीं, सकल शास्त्रों पर विचार किया जा रहा था; पत्तों की (नयी) कुटियाँ बनायी जा रही थीं; (गोबर आदि से) आंगन लीपे जा रहे थे; कुटियाँ अन्दर से (झाड़ू आदि से) साफ की जा रही थीं; (कुछ लोग) ध्यान लगा रहे थे; (कुछ लोग) मन्त्रों की सिद्धि कर रहे थे; योग का अभ्यास किया जा रहा था; वन-देवताओं को बलि दी जा रही थी; मूँज की मेखला बनाई जा रही थीं; वल्कल वस्त्र धोए जा रहे थे; यज्ञ के लिए लड़कियाँ इकट्ठा

की जा रही थीं; कृष्णमृगचर्म साफ किये जा रहे थ; गवेधुक (जंगली धान्य-विशेष) इकट्ठा किया जा रहा था; कमल के बीज (कमलगट्टे) सुखाए जा रहे थे; रुद्राक्ष की मालएँ गूँथी जा रही थीं; बेंत के दंड रखे जा रहे थे; परिव्राजकों का संस्कार किया जा रहा था। (अर्थात् उन्हें पूर्ण संन्यासी बनने की शिक्षा दी जा रही थी); कमण्डलुओं में जल भरा जा रहा था; कलिकाल पहले कभी उस आश्रम का दर्शन तक नहीं कर सका था; वह असत्य से अपरिचित था (अर्थात् असत्य का वहाँ नाम नहीं था); कामदेव ने कभी उसका नाम नहीं सुना था (अर्थात् वहाँ का वातावरण काम-भावना से मुक्त था); ब्रह्मा के समान वह तीनों लोकों में वन्दित था। विष्णु के समान उसने भी वराह और नर-सिंह के रूप प्रकट किये थे (विष्णु वराह तथा नरसिंह रूप में अवतरित हुए थे; आश्रम में वराह, नर अर्थात् पुरुष तथा सिंह थे); जिस प्रकार सांख्यदर्शन कपिल (सांख्यदर्शन के प्रवर्तक कपिल मुनि) के द्वारा अधिष्ठित (प्रवर्तित किया गया) था, उसी प्रकार (वह आश्रम) कपिला (गौ) से अधिष्ठित (युक्त) था; जिस प्रकार मधुरा (मथुरा) के उपवन में वल (वलराम जी) द्वारा अवलीढ (नष्ट किया गया) दर्पित (गर्वोन्मत्त) धेनुक (धेनकासुर) था उसी प्रकार उस आश्रम में वल (शारीरिक शक्ति) से अवलीढ (युक्त) दर्पित धेनु (गायें) थीं; जिस प्रकार राजा उदयन वत्स-कुल को आनन्द देने वाले थे उसी प्रकार वह वत्स-कुल (बछड़ों) को आनन्द देने वाला था; जिस प्रकार किन्नर-राज्य में मुनियों ने जल-कलश लेकर द्रुम (नामक राजा) का (राज्य)-अभिषेक किया था, उसी प्रकार आश्रम में मुनि जल-कलश लेकर द्रुमों (वृक्षों) का अभिषेक (सिञ्चन) कर रहे थे; जिस प्रकार ग्रीष्मकाल की समाप्ति पर जलप्रपात (जलवृष्टि) प्रत्यासन्न (जल्दी ही) होता है, उसी प्रकार उस आश्रम के निकट ही (प्रत्यासन्न) जल-प्रपात (झरना) था; जिस प्रकार वर्षाॠतु में (बादलों के समय) हरि (भगवान् विष्णु) वन-गहन (जल अर्थात् क्षीरसागर के गम्भीर जल) के मध्य में (बीच में) सुखपूर्वक सोते हैं उसी प्रकार वहाँ भी हरि (सिंह) वन

गहन (वन की गुफा) में (अथवा के मध्य में) सुखपूर्वक सोते हैं; जिस प्रकार हनुमान जी ने शिला-खंड के प्रहार से अक्ष (रावण के पुत्र) के अस्थि-सञ्चय (हड्डियों) को चूर-चूर कर दिया था, उसी प्रकार वहाँ भी शिला-खंड अर्थात् पत्थरों से अक्ष (रुद्राक्ष) के अस्थि-सञ्चय (गुठलियों का समूह तेल निकालने के लिए) तोड़ा जा रहा था; जिस प्रकार खांडव-वन को नष्ट करने के लिए उद्यत अर्जुन ने, वृष्टि द्वारा अग्नि बुझाने के इन्द्र के प्रयत्न को असफल करके, अग्नि-कार्य (वन-दाह का कार्य) प्रारम्भ किया था, उसी तरह वहाँ भी (आश्रम में भी) अग्निकार्य (हवनादि) हो रहा था; सुरभिविलेपन (सुगन्धित लेपादि) से युक्त होने पर भी (विरोध-परिहारार्थ—सुरभि-विलेपन अर्थात् गाय के गोबर से लिपे होने के कारण—'सुरभि' गाय को भी कहते हैं) वह सदैव हव्यान्न के जलने से पैदा होने वाले धुएँ की गन्ध से व्याप्त था; मातङ्गकुल (चांडाल जाति के लोगों) के वहाँ रहने पर भी (विरोधपरिहारार्थ—हाथियों से युक्त होने के कारण) वह आश्रम पवित्र था, सैकड़ों धूमकेतुओं (पुच्छलतारों) के उदय होने पर भी (धूमकेतु का उदय अनिष्टकारी माना जाता है। विरोधपरिहारार्थ यहाँ इस प्रकार अर्थ करना उचित होगा—धूम है केतु जिसका अर्थात् यज्ञाग्नि; सैकड़ों स्थानों पर यज्ञाग्नि के जलने के कारण) वहाँ समस्त उपद्रव शान्त हो गये थे; पूर्ण द्विजपति (तारापति अर्थात् चन्द्र) मंडल से युक्त होने पर भी (विरोधपरिहारार्थ—श्रेष्ठ ब्राह्मणों से युक्त होने पर भी) वहाँ सदैव समीपवर्ती वृक्ष-कुंजों के कारण अन्धकार रहता था।

शब्दार्थ—तारकावर्षम्—उल्कापातम्; पिशुनम्—सूचना देने वाला; शबला—चित्रविचित्र या रंगबिरंगी; वीरुध—लता; अवलूनानि—कुतरे हुए; दाशरथिः—दशरथपुत्र राम; चित्रभानुः—अग्नि; उपलक्ष्यमाणम्—दिखाई देती हुई, मालूम होती हुई; दीर्घिका—बावली; श्यामकः—धान्यविशेष (साँवा); सुब्रह्मण्यम्—देव; शाखामृगः—बंदर; जरदन्धाः—वृद्ध और अन्धे; एणकाः हरिण; आलूकम्—जड़; सन्धुक्ष्यमाणः—धौंका जाता था; उपमृज्यमानम्—

झाड़ा जाता था; साफ किया जाता था, गवेधुका:—धान्य-विशेष; किम्पुरुष:—किन्नर।

37. Having gone only a short distance (lit. proceeded 'not very far'), I saw or noticed a hermitage, *which* was embraced or surrounded (lit. covered or concealed) in each and every direction (*i. e.*, on all sides) by forests or woods, that had flowers and fruits always present (lit. thrown in or placed near together) in them, that abounded in or were copiously full of *palm* or *palmyra* (from the juice of which a sort of sugar or by fermentation a spirituous liquor is prepared), *Tilaka* (a species of tree with beautiful flowers, —so called either because it is similar in some way to the sesamum plant, or because it is used as an ornament like the mark on the forehead,—a plant growing near water), *Tamāla* (name of a tree with a very dark bark but white blossoms). *Hintāla* (the marshy date tree—a species of palm) and *Vakula* (a kind of tree) trees,—that had clumps or large collections of cocoanut trees in them being overgrown or crowded together with cardamum creepers or plants,—in which (forests or woods) there were (or that had) the leaves of the *Lodhra* (a tree the bark of which is used in dyeing), *Lavalī* (a kind of tree) and the *Lavanga* or clove trees, trembling or fluttering about (*i. e.*, being agitated) in them,—in which (forests or woods) the masses or heaps of pollen from the mango trees or blossoms were being wafted about or flying up (lit. sporting or dancing about), that had mango trees the fruits of which are very sweet (a sort or variety of fragrant mango tree), reverberating resounding (*i. e.*, being resonant) with the humming

sound of the swarms of bees in it,—that had a tumultuous noise being raised in them by flocks (or which were being filled with the sweet loud cries of the flocks) of inebriated or intoxicated cuckoos,—that were (rendered) tawny with (or on account of) the heaps or masses of pollen from the blooming *Ketakī* flowers or plants,—in which (forests) the wood nymphs or sylvan deities had occupied the swings (made or provided by, or in the shape) of the creepers of betel-nut plants or trees,—that were constantly or incessantly shedding a shower of (*i. e.*, ceaselessly dropping down masses of (extremely white flowers, set in motion by the wind,—a shower that was like a copious and rapid fall of (bright) meteors, as it were, indicative of the destruction of (all) unrighteousness or impiety (*i. e.*, irreligion or wickedness),—and in which (forests or woods) the trees were growing very close to (lit. touching, joined or linked together with, or adhering to) one another;—the precincts or borders of *which* (hermitage) were adorned or decorated with the large tracts or pieces of raised ground of the Daṇḍaka forest, that (tracts) were (looking) variegated with (or on account of) hundreds of black deer or antelopes fearlessly moving about (or that were moving about and were fearless,—*i. e.*, not in any way frightened, alarmed or startled) in them, that were of (*i. e.*, that put on or were made to present the appearance of) a reddish colour (or were red with or) on account of the lotus plants blooming or being fully expanded (in them), wherein or in which (tracts) the leaves of creepers grew (*i. e.*, seemed to have grown) again after they had (once before) been plucked or bitten off by *Mārīcha* in the disguise of a (false golden) deer, and the floor or

ground surface (*i. e.*, the bottom or lower part) of which (tracts) had been rendered uneven with or on account of the chasms or hollows (*i. e.*, the void spaces, gaps or pits) of the bulbs or bulbous roots extracted or torn away (lit. 'pierced or wounded'—therefrom) with the pointed end of his bow by (Rāma) the son of (king) Dasaratha ;—the proximity or neighbourhood (*i. e.*, the contiguous space) of *which* (hermitage,—lit. '*upon the neck*' or '*near the throat*,'—*i. e.*, the proximity', of which was full (lit. 'not empty or devoid') of sages; who were entering (into it) from or on all sides, who were holding or carrying in their hands (lit. had seized or taken hold of) fuel or wood (*i. e.*, fire-wood, grass etc., offered as an oblation to fire or for preparing the sacrificial fire), kusha grass, flowers and clay, and who were followed by pupils or disciples who were loud or noisy with their study ;—in *which* (hermitage) the sound or noise made or produced by the filling up of the water jars or pots, was being heard (as though it were the pleasant rumbling sound of the clouds) by the flocks of eager or eagerly-looking peacocks, or peacocks with their necks uplifted or raised upwards ;—*which* (hermitage) seemed or presented an appearance (*i. e.*, made itself appear) as though it had a ladder or staircase (*i. e.*, a flight of steps,—lit. a bridge in the shape of a ladder or staircase) for going or proceeding on the way to heaven, made or constructed in it, under the pretext or guise of a line or column of smoke that was being tossed or raised upwards (*i. e.*, continuously rising up), by the (sacrificial) fires that, having been pleased or appeased by the constant or incessant offerings of oblations into them of melted or clarified butter, (seemed as though they) were

desirous of taking or conveying the sages (collectively), even along with their (mortal or physical) bodies to the region of the immortals or heaven ;—*which* (hermitage) was surrounded or encompassed (*i. e.*, overspread or pervaded) on all sides by long or oblong lakes or ponds, that were situated quite close or near to it, that seemed to have (all) their turbidity (*i. e.*, foulness or dirtiness) removed as though on account of their (constant) association or contact with the sages or ascetics (of the hermitage), that had a line of the images or reflections (the orbs or discs) of the sun depicted or formed (lit. 'come or gone together', 'met together' *i. e.*, transferred or imaged) on the uninterrupted (*i. e.*, regular or continuous) series or succession of waves or ripples (rising on them, or their surface), and (as such) seemed as though they were being agitated or stirred about (*i. e.*, being plunged or entered or entered into in the course of their baths or ablutions) by the group or circle of the 'Seven Rishīs or Sages' (*i. e.*, the constellation of the *Great Bear* or *Ursa Major*, the seven stars of which are supposed to be the seven great Rishis or Sages, *viz.*, Marīchi, Atri, Angiras, Pulastya, Pulaha, Kratu and Vashishṭha) who had come to see or pay a visit to the hermits or ascetics (living there in the hermitage), and that (tanks or ponds) bore (*i. e.*, had or contained) during nights a bed or cluster of very fully expanded water-lilies (or white lotuses that bloom at night), *which* (bed or cluster) seemed as though it were a group or collection of (bright) stars that had descended (into it) in order or with a view to serve or wait upon (lit., 'sit near',—worship, honour or respectfully approach) the sages ;—*which* (hermitage). with or on account

of the forest creepers having had their tops bent low on account of the wind, seemed to be being bowed down to or respectfully saluted by them, as it were ;—*which*, with or on account of the trees shedding or showering their flowers constanly or incessantly in it, seemed as though it were being worshipped by them ;—*which* (hermitage) was being honoured or served (or waited upon), as it were, by the new shoots or branches (of those trees) with the hollows or open cavities of their joined or folded hands, formed or provided by (*i. e.*, in the shape of) their tender leaves ;—*which* had the *Shyāmāka* or the wild edible grain, drying up in it after having been spread in the courtyards or its huts (or, in the court-yards of the huts of *which* there were the Shyāmāka or the wild edible grain spread out for drying up) ;—*which* had the fruits or berries of the *Myrobalan* (the *Emblic Myrobalan*), the *Lavali* (a variety of tree—*Averrhoa Acida*), the *Karkandhū* (or the jujube, which has red berries, or some other species thereof), the *plantain* or *banana*, the *Lakucha* (a kind of breadfruit tree containing a large quantity of sticky milky juice), the *panasa* or the bread-fruit or Jaka (tree), the *mango* and the *palm* or *palmyra* trees, brought or collected together in it ;—*which* had young Brāhmana youths or celibates, or young religious students in it, who were loud with (or making or raising a continuous noise in the course of) their study of the Vedas (*i. e.*; who were making it resonant with their study, etc.) ;—*which* (hermitage) had flocks or a large number of parrots repeating or chattering (*i. e.*, repeatedly chattering) the formula '*Vashaṭ*' [वषट् or '*Vashaṭ*' is an exclamation used on making an oblation to a deity with fire, 'May he (the god

of fire) bear it to the gods !' (followed by a dative, *e. g.*, पूष्णे वषट् !,—a burnt offering made with this formula], caught up (*i. e.*, learnt or picked up) by them on account (or in the course) of their constant hearing (of the same, being uttered or recited by the ascetics in the course of their sacrifices), —in *which* the *Subrahmaṇyā* invocation (a particular recitation of certain *mantras* or mystical verses or sacred formulæ) was being loudly recited (lit. declared or proclaimed) by many a a *Myna*;—in *which* the balls or lumps of food-offerings or oblations (of a portion of the daily meal of ghee, grain, rice etc., to all creatures of every description) made to *'all deities'* (which is otherwise and usually done by throwing down the same in fire immediately before one's meals), were being eaten up or enjoyed by the wild or forest cocks;—*where* or in *which* (hermitage) the offerings of wild rice were being eaten up by the young ones of the *Kalahaṇsās* (a kind of duck or goose—gander) or swans of the neighbouring or adjacent (*i. e.*, the adjacently situated) large or oblong pleasure-ponds or reservoirs of water;—*where* or in *which* the young boys of the ascetics or the ascetic youths were being licked by the female deer with their tender or delicate (*i. e.*, soft or thin) leaf-like tongues (lit. with the tender leaf-like tongues of the female deer);—in *which* the sprigs or sticks of fuel, the *kasha* grass and the flowers, being half-burnt in the course or process of the (various) sacrificial performances, were making a simmering or gently hissing sound;—*where* or in *which* (hermitage) the flat surfaces of the slabs of stone were made oily smooth or greasy with the juice or watery-fluid of the cocoanut fruits, being dashed against or broken on (them or those) stones;—the ground-floor or surface of the earth of (or in) *which* (her-

mitage) was made or rendered tawny (*i. e.*, pallid or of a pink or pale-red colour) with the watery fluid or juice (*i. e.*, the drippings) of the bark (garments) recently beaten out or crushed (in the course or process of washing), or washed not very long ago;—*where* or in *which* (hermitage) the *Karavīra* flowers (a kind of flower that is red in colour) were being thrown or placed (for or in worship) over the circle (representing the circular orb or disc) of sun(that was) drawn (*i. e.*, made or painted on the ground) with the red sandal paste;—*where* the eating or dining places of the sages or ascetics were separated or set apart (*i. e.*, removed from one another) by being marked off on all sides*with lines of ashes drawn about here and there [or, 'the circuit, round which eating or dining places of the sages, was formed by the lines of ashes etc.'],—in *which* the old or decrepit and blind sages or ascetics, were being led or taken in and out being drawn with their (*i. e.*, by holding their) hands by the monkeys (lit. 'branch-animals'), which had become quite familiar or acquainted (with them);—*which* was variegated or spotted with pieces of louts fibres or stalks, that had fallen down (on the ground) after having been half or partially chewed by the young ones of elephants, and that seemed as though they were the bracelets or strings (*i. e.*, the rings or armlets) of

---

*'परिहार' means 'avoiding, shunning or removing' etc. It also means 'a circuit of common land round a village or town',—hence 'कृतपरिहार' may very well be taken to mean, 'separated or set apart from one another by a circular line being drawn around 'them' etc. This includes in it sense of *avoidance* or *shunning* also.

conch-shells, fallen or dropped down from the creeper-like (delicate) arms of *Saraswati* or the goddess of learning (which so largely prevailed in the hermitage, and led the poet to think as if she lived there like any other inmate thereof);— in *which* the various kinds of bulbs and esculent roots were being dug out for the (use of the) sages by the deer or antelopes with the pointed ends or tips of their horn;—*where* the basins for water round the roots of trees were being filled up by the wild elephants with the hollow ends of their trunks that were filled with water;—in *which* the esculent roots of the water-lilies or louts plants sticking or clinging (to the intervening spaces) between the tusks of wild boars, were being drawn out or extracted (or extricated) by the ascetic youths or young boys of the sages;—*where* the sacrificial fires of ther ascetics were being fanned or stirred up (lit. kindled o lighted up) with the wind or breezes from the folds of their wings by the peacocks that had become familiar (lit. 'had their acquaintance produced'—with them);—in *which* there was proceeding, *i. e.*, which had or contained in it, the sweet or charming scent or perfume of the oblation of rice, barley and pulse that had already started being boiled or cooked *i. e.*, prepared) with butter and milk (for presentation to the gods or manes); - *which* was being perfumed or rendered fragrant with the holy scent or sacred smell of the half or partially cooked sacrifical cake or oblation of ground rice, (usually divided into pieces and offered in one or more cups or vessels—an oblation of ghee or clarified butter with cakes of ground meal,—an oblation in genaral);—*which* was resonant (*i. e.*, resounding or reverberating) with the crackling or low murmurring sound of the fire (lit. the 'oblation-eater')

caused or produced by offering or pouring down of oblations of melted or clarified butter into it, in an unbroken or uninterrupted (*i. e.*, constant or incessant) stream or flow;—in *which* or wherein the (various) classes or groups of guests, or a large number of guests were being duly served or waited upon (*i. e*, being properly attended to),—in *which* the worship of the Manes or the ancestral deities was being performed (or, in which the Manes and the Gods were being worshipped),—in *which* Hari, Hara and Pitāmaha (*i. e.*, Vishṇu, Shiva and Brahmā respectively;—'pitāmaha' means literally, a paternal grand-father, but is also a name of Brahmā, the great Father of the entire creation), were being worshipped or adored,—*where* or in *which* (hermitage) the sacred precepts (*i. e.*, the ceremonies or ritual) or the procedure or formulæ relating to the performance of '*Shrāddhas* (a *Shārddha* is the name of a kind of funeral rite er ceremony in honour of the departed spirits of dead relatives observed with great strictness at various fixed or appointed periods, and on occasions of rejoicing as well as mourning), were being declared or determined (*i. e.*, being enunciated, taught or explained)—*where* or in *which* (hermitage) the scienitfic knowledge (or the regular method or system of performing the various sorts) of sacrifices, was being expounded or explained in detail (*i. e.*, interpreted, spoken of at length or being commented upon),—*where* the religious code of laws or jurisprudence, or the science of religion was being thought over or reflected upon,—*where* the various books or manuscripts were being read aloud,—*wherein* the sense, meaning or interpretation of (or the religious discourses or discussions on) all the (various) *Shāshtras* or religious sciences (*i. e.*, the various branches of

religious learning) was being considered or pondered over (*i. e.*, was being examined, excogitated or investigated),—*where* or in *which* (hermitage) the construction or building of the) arbours or huts of leaves and grass or hermitages (lit. 'leaf-huts') was going to be (proceeded with or taken in hand or) started or commenced,—*where* the court yards were being plastered or besmeared (with cow-dung with a view to make them clean),—*whereiin* the interiors or inner parts of the huts made of leaves (*i. e.*, the homes or the dwelling places of the saints or hermits) were being washed off or made clean,—*where* or in *which* (hermitage) the concentration of the mind or thought, or the contemplation or meditation (of the various gods or deities) was being practised (by the hermits or ascetics),—*wherein* the (recitation or chanting of the) *Mantras* or sacred mystical verses or magical formulæ (conferring miraculous or supernatural powers), was being effected or practised (or brought to a successful end or completion, or was in the course of accomplishment, by the ascetics),—*where* or in *which* (hermitage) '*Yoga*' or the application or concentration of the thoughts or the fixing of the mind on a particular point and keeping the body in a fixed posture, abstract contemplation or meditation [The systematic practice of such contemplation or meditation, or the means by which the human soul may attain *complete union with the Supreme Being*. Accordiog to Patanjali "Yoga" is defined to be 'the preventing of the modifications of '*Chitta*' or the thinking principle by *Abhyāsa* or the constant practice of keeping the mind in its unmodified state and by *Vairāgya* or dispassion.'—the union of the individual with the universal soul, devotion, pious seeking after god etc.] was being (systematically) practised,—*where*

oblations were being offered or presented, or food-offerings were being made to the sylvan nymphs or deities (*i. e.*, the spirits of the forest or wood), *where* the girdles of *Munja* grass were being prepared or made by twisting (lit. 'accomplished, finished, completed or produced' etc.)—*where* the bark (garments) were being washed off or made clean, - *where* the fuel for sacrficial purposes was being collected or brought together (*i. e.*, was being stored),—*where* the skins of the black deer or antelopes were being purified.—*where* the *Gavedhukā* (a kind of wild corn) was being gathered or picked and collected (lit. taken possession of or seized),—*where* the seeds of lotuses were being dried up,—*where* the rosaries or strings of beads, especially of the seeds of the Eleocarpus, were being made or prepared *i. e.*, were being strung together ['*Aksha*' is a seed of which rosaries are made – a shrub producing that seed *Eleocarpus Ganitrus* or Beleric Myrobalan (*Terminalia Belerica*), the seed of which is used as a diet], - *where* or in *which* (hermitage) the staffs of cane or cane-sticks were being deposited or collected (lit, thrown or placed down), – *where* the *wandering* religious mendicants (or ascetics of the fourth and last religious order, or mendicant devotees) were being initiated (into their order, namely, the fourth order or *Sannyāsa*, *i. e.*, the complete renunciation of the world and its objects), —*where Kamandalus* or the (peculiarly made) water-vessels (of the hermits) were being filled up,—*which* had never before been seen by the Iron Age or *Kali-kāla* (the age of impiety or wickedness;—lit. 'unseen before of the Iron age',—meaninig thereby that the hermitage was so holy that the Iron Age had never had any influence over there,—was conspicuous there only by its total absence),—*which* had no acquaintance

(lit. was unacquainted or unfamiliar) with falsehood (*i. e.*, was a stranger to falsehood that was known to none of its inmates),--*which* had not been heard of before (had never before been heard of) by cupid or the god of love (*i. e.*, love matters or amorous sports, or talks of any kind never found a congenial place or a place at all there).—*which*, like Brahmā (lit. the 'lotus-born' or 'one having the lotus as the source or origin of his birth', referring to the fact of his having sprung up from the lotus in the navel of Vishnu), as it were, was respectfully saluted or venerated (*i. e.*, was worthy or the object of worship or adoration,--highly regarded) by the three worlds,--*which*, like (Vishnu) the 'enemy of the demons', as it were, having manifested (himself in) the from of the (great) *Boar* and the *Mān-lion* or *Nṛisimhā* (incarnations), had boars, men, lions and (other) beasts or animals exhibited or visibly present in it,--*which*, like the Sānkhya System of philosophy, as it were, being superintended or geverned (*i e.*, presided over) by the sage *Kāpilā* (the founder there of), was inhabited or occupied by the tawny or brown-coloured (lit. 'monkey-coloured,' *i. e.*, brown, tawny or reddish) cows, —*which*, like the small forest or grove round about the city of Madhurā (modern Mathurā or Muttra), as it were, having had the proud or arrogant (*i. e.*, insolent) demon *Dhenuka* in it destroyed by Balarāma, had female or she-elephants in it that were intoxicatad and proud of their strength (or, had a number of *recently delivered cows* in it that were looking wild and proud of their strength),— *which*, like *Udayana* (a king of *Vatsa*, the name of a country or people whose capital was Kaushāmbi or modern Kosam, about 30 miles north of Allahabad), as it were, causing

rejoicing or happiness and delight to the family or race of the *Vatsas* (or to the entire body of the inhabitants of the country of Vatsa), had herds or groups of calves rejoicing or feeling happy and delighted in it,—*which*, like the empire or kingdom of the (semi-divine beings called the) *Kimpurushās* or *Kinnarās* [Kinnara=Kim-purusha, 'nara' and 'purusha', both meaning a 'man,' being interchangeable or synonymous,—means literally 'what sort of man?'—a mythical being with a human figure and the head of a horse, originally perhaps a kind of monkey (as in the word 'Vā-nara'); in later times reckoned among the *Gandharvās* or celestial choristers, and celebrated as musicians of the gods, and attached to the service of Kuvera, the god of wealth], as it were, wherein king or prince *Druma* (name of a king of the Kimpurushās) was being anointed or installed (lit. 'sprinkled over his head', consecrated, inaugurated or crowned) as king, with jars of water (of holy or sacred places) held (in their hands) by the sages or ascetics, had the trees in it being watered (or sprinkled over with water) with the water-jars held (in their hands) by the sages or ascetics [as though during the sovereignty or imperial sway of a bad king or emperor (lit. 'a bad man')], —*which*, like the end of the period of summer or the hot season, as it were, having the *fall of the rains* in torrents (*i. e.*, the rainfall) impending or imminent (*i. e.*, quite near or just about to set in) in it, had *water-falls* or *cascades* situated quite close to or in the vicinity of it —*which*, like the rainy reason (lit. 'the time of the *water-bearers* or clouds'), as it were, when Hari or Vishnu is comfortably or placidly (lying) asleep in the midst of the deep water (of the sea or ocean), had lions in it that were lying comfortably asleep

in the midst of its thick forests.—*which*, like, Hanumān [meaning literally, 'one having (large) jaws', is the name of the celebrated Monkey-Chief of Rama's army], as it were, having crushed or smashed to pieces the bony-frame (lit. the collection or heap of bones put together) of (the demon) *Aksha* (son of Rāvana) with the strokes of (*i. e.*, by pelting him with) the pieces of stones or fragments of rocks, had a collection or accumulated heap of the sweet kernels (the central, substantial or essential parts) of or inside the *Aksha* (the *Beleric Myrobalan*) fruits (or fruits of the *Terminalia Belerica* or the *Bibhītaka* tree) being crushed to pieces with the strokes of the small slabs of stones (or, had a large number of the hard or bony structures of the *Aksha* fruits being broken to pieces with small slabs of stones) in it,—*which*, like Arjuna, as it were, being ready or prepared (to help in bringing about) the destruction of the *Khāṇḍava* (forest), and having set about the work of conflagration or setting it on fire, had the kindling or feeding of the sacrificial fires with clarified butter (lit. 'the work of fire', 'the fire business',—*i. e.*, the performance or pouring in of the sacrificial offerings or oblations into the sacred fire) commenced or started in it,—*which* (hermitage), notwithstanding the fact that it had or contained fragrant ointments or sweet unguents in it, (or the floor or ground of it had a fragrant plastering in it); had yet the fragrance or (sweet) scent or smell of the sacrificial smoke (*i. e.*, the smoke caused or produced by the burning of the sacrificial offerings or oblations) constantly rising from it, (inasmuch as the floor or ground of it had merely been plastered or besmeared with the dung of cows),—*which*, though occupied or inhabi-

ted by the families of the *Chāṇḍālās*, or the *Mātanga* or *Chāṇḍāla* families was yet pure or holy (inasmuch as it was occupied or tenanted by the herds of elephants),—*which*, though having hundreds of *comets* flashing up or shining in it [The word 'धूमकेतु' or dhūma-ketu which literally signifies '*smokebannered*', 'whose sign or ensign in smoke', known or to be known from smoke,—means *fire* and also a *comet*], had yet or nevertheless had (all sorts of) unhappy or disastrous accidents or misfortunes (*i. e.*, calamities or mischiefs) put down or suppressed in it [*i. e.*, was free from all sorts of unhappy accidents,—inasmuch as it (merely had hundreds of *fires* flashing up or burning brightly in it. The appearance of comets was popularly believed to forebode evil. Hence there is a clear or apparent contradiction in saying that it had hundreds of *comets* appearing in it, and yet it was free from any kind of calamities. This विरोध or apparent contradiction is, however, removed by taking the other meaning of the word 'धूमकेतु' which, as pointed out above, is '*fire*.' The plain sense, therefore, would be—It had so many *fires* (not *comets*) flashing up or burning brightly in it],—*which*, though possessed of or endowed with the complete orb or disc of the full moon (*i. e.*, though having the full moon,—full in all her digits,—shining brightly in it), had yet thick or impenetrable darkness caused or produced by the trees (or had yet darkness caused or produced by the thickets of trees), always present (lit. 'placed near together' 'thrown in together') in it [inasmuch as it was (merely) full of a multitude or large number of excellent Brāhmaṇas or Brāhmaṇas who were *perfect* (*i. e.*, proficient or well up) in all matters relating to their position. Here

the play or pun is upon the word 'द्विजपति', which means both, the moon as well as a high Brāhmaṇa. Hence whatever contradiction there may be by saying on the one hand, that it had the full moon shining brightly in it, and on the other, that thick darkness was always present in it,—is removed by taking it in the sense that the hermitage was full of excellent Brāhmaṇas who were perfect all round in all matters],—*which* was very beautiful or charming, and *which* seemed as though it were a second or another world of Brahmā (*i. e.*, the heaven or place of residence of Brahmā, the creator,—a division of the universe and one of the supposed residences of pious spirits), as it were.

३८—यत्र च मलिनता हविर्धूमेषु न चरितेषु मुखरागः शुकेषु न कोपेषु तीक्ष्णता कुशाग्रेषु न स्वभावेषु चञ्चलता कदलीदलेषु न मनःसु चक्षूरागः कोकिलेषु न परकलत्रेषु कण्ठग्रहः कमण्डलुषु न सुरतेषु मेखलाबन्धो व्रतेषु नेर्ष्याकलहेषु स्तनस्पर्शो होमधेनुषु न कामिनीषु पक्षपातः कृकवाकुषु न विद्याविवादेषु भ्रान्तिरनलप्रदक्षिणासु न शास्त्रार्थेषु वसुसंकीर्तनं दिव्यकथासु न तृष्णासु गणना रुद्राक्षवलयेषु न शरीरेषु मुनिबालनाशः क्रतुदीक्षया न मृत्युना रामानुरागो रामायणेन न यौवनेन मुखभङ्गविकारो जरया न धनाभिमानेन । यत्र च महाभारते शकुनिवधः पुराणे वायुप्रलपितं वयःपरिणामे द्विजपतनमुपवनचन्दनेषु जाड्यमग्नीनां भूतिमत्त्वमेणकानां गीतश्रवणव्यसनं शिखण्डिनां नृत्यपक्षपातो भुजंगानां भोगः कपीनां श्रीफलाभिलाषो मूलानामधोगतिः ।

३८—यत्रच—यस्मिन्नाश्रमे । हविर्धूमेषु—हव्यधूमेषु। मलिनता—मालिन्यम् वा पापव्यवहारः । चरितेषु—जनचरित्रेषु नाभवत् । शुकेषु—कीरेषु । मुखरागः—वदनरक्तिमा । कोपेषु—क्रोधेषु न। कोपेषु इति निमित्तसप्तमी–निमित्तात्कर्मयोगे चेतिवार्त्तिकेन। यथा केशेषु चमरीं हन्तीत्यत्र । कुशाग्रेषु—दर्भाग्रभागेषु । तीक्ष्णता तीव्रता वा सूक्ष्मता स्वभावेषु—मानसव्यापारेषु वा प्रकृतिषु। क्रूरता नासीत् । कदलीदलेषु—रम्भाफलपत्रेषु । चञ्चलता—चपलता । मनस्सु—मानसेषु । अधीरता न ।। कोकिलेषु—पिकेषु । चक्षूरागः—नयनलौहित्यम् । परकलत्रेषु—अन्यभार्य्यासु । कामजन्यनेत्रासक्तिः न । कमण्डलुषु—वारिभाजनेषु । कण्ठग्रहः- गलधारणम् । सुरतेषु—रमणेषु। न कण्ठालिङ्गनम् । ऊर्ध्वरेतःसंज्ञकमुनिसत्वादाश्रमे । व्रतेषु—उपनयनादिनियमेषु। मेखलाबंधः—मौञ्जीबन्धनम्। ईर्ष्याकलहेषु—परकीयसंपदसहनजन्यविवादेषु । खड्गमुष्टिधारणम् । न 'मेखलामुष्टिदाढ्यार्थमुपर्य्यधोलौहबन्धः' इतिभरतः । होमधेनुषु–-सुरभितनयासु । स्तनस्पर्शः—दोग्धुमापीनावयवसंयोगः । वनितासु—योषित्सु । कुचस्पर्शः । न । कृकवाकुषु—मयूरेषु। पक्षपातः—पतत्रपतनम् । विद्याविवादेषु—शास्त्रविचारवितण्डाकलहेषु। आग्रहः । न। कृकेन कण्ठेन वक्तीति कृकवाकुः मयूरः वच्+उण् । तत्त्वबुभुत्सुहिताय निष्पक्षगम्भीरविचारकरणात् । अनलप्रदक्षिणासु—वह्निपरिक्रमासु । भ्रान्तिः—भ्रमणम् । शास्त्रेषु—न्यायादिषु सन्देहो न। दिव्यकथासु—स्वर्गीयोपाख्यानकथनेषु । दिवि भवास्तेषां कथास्तासु । दिव्+यत् ।

वसुसंकीर्त्तनम्—देवविशेषोल्लेखनम् । तृष्णासु—धनाकांक्षासु । धनसंशब्दनं न ।। रुद्राक्षवलयेषु—शिवनेत्रमणकवलयीकृतमालासु । रुद्रस्याक्षि इव वाऽक्षमिव तेषां वलयानि तेषु । गणना—जपसंख्या । शरीरेषु—देहेषु । आस्था वाऽऽदरः न । ऋतुदीक्षया—यागारम्भेण । ऋतौ वा ऋतोः दीक्षा तया । मुनिवालनाशः—ऋषिकेशक्षयः वा शिरोरुहच्छेदः । मुनीनां बालानां नाशः सः । मृत्युना—मरणेन । शिशुक्षयः न । रामायणेन—रामायणोदितरामगुणग्रामश्रवणेन । रामानुरागः—दाशरथिप्रीतिः । रामे वा रामयाऽनुरागः सः । यौवनेन—तारुण्येन । वनितासक्तिर्न जरया—वार्धक्येन । मुखभङ्गविकारः—वदनचर्मशैथिल्यविकृतिः । मुखे भङ्गस्य वा भङ्ग एव विकारः सः । धनाभिमानेन—द्रविणमानेन । भ्रुकुटिविकृतिः नासीत् । यत्र—आश्रमे । महाभारते—इतिहासग्रंथे । भरतैः क्षत्रियैः कृतं युद्धं भारतम् महच्च तद् भारतन्तदधिकृत्य कृतं इतिहासस्तस्मिन । शकुनिवधः—दुर्योधनमातुलघातः । पक्षिहिंसा नासीदाश्रमे । शकुनेः वा शकुनीनां वधः सः । पुराणे—पुराणशास्त्रे ब्राह्मादौ एव । वायुप्रलपितम्—वायुदेवताप्रकर्षवर्णनम् वा प्रकृष्टोक्तिः । आश्रमे तु उन्मादेनाऽनर्थकं वचो नाभूत । वायुना वा वायोः प्रलपितम् तत् । 'प्रलापोऽनर्थकं वच' इत्यमरः । वयः परिणामे—वार्धक्ये । द्विजपतनम्—दन्तपातः । नतु पातकादिना विप्राणां पतितत्वम् । 'दन्तविप्राण्डजा द्विजा' इत्यमरः । उपवनचन्दनेषु—आरामपाटीरतरुषु । उपवनेषु चन्दनानि तेषु । अत्र चन्दनपदं चन्दनवृक्षं लक्षयति अन्वयानुपपत्त्या वा तात्पर्य्यानुपपत्या ।

जाड्यम्—शैत्यम । आश्रमे जनेषु मौर्ख्यंन्नासीत् तत्रत्त्यसर्वमुनीनां विशालविद्याशालित्वात् । अग्नीनाम्—हुतभुजाम् । भूतिमत्वम्—भस्मवत्वम् । ऋषीणां तु धनसम्पत्तिमत्त्वन्नासीत् । 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इति मेदिनी । भूतिरस्ति एषां तेषां भावः तत । एणकानाम्—मृगाणाम् । गीतश्रवणव्यसनम्—गानाकर्णनासक्तिः । नतु मुनीनाम् । शिखण्डिनाम्—बर्हिणाम् । नृत्यपक्षपातः—नर्तनसमये पतत्रपतनम् । ऋषीणां नृत्यदर्शने स्पृहा नाभूत् । भुजङ्गमानां सर्पाणाम्—भुजेन गच्छतीति भुजङ्गमः । गमेः सुपिवाच्य इतिवार्त्तिकेन गमधातोः खच् प्रत्ययः । खच्च डिद्वेतिडिदभाव पक्षे रूपम् । पक्षे भुजगः भुजङ्ग इति रूपद्वयम् । भोगः शरीरम् । मुनीनां मालाचन्दनवनितादिजन्यं सुखन्नाभूत् । "भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोरित्यमरः' । कपीनाम्—वानराणाम् । श्रीफलाभिलाषः—विल्वफलाकांक्षा । नतु मुनीनां धनप्रयोजनाभिरुचिः । श्रियाः फलम् वा श्रीरेव फलम् तत्राभिलाषः सः । मूलानाम्—वृक्षलतादीनामाश्रयाणाम—वा मूलकानाम् । अधोगतिः—भूमिनिम्नस्थानम् । नतु मुनीनां नरकपातः । पापराहित्यान्मुनीनाम् । श्लेषसंकीर्णार्थंपरिसंख्यालंकारः ॥

३८—जहाँ (अर्थात् उस आश्रम में) मलिनता (कालिमा) केवल होमाग्नि के धुंए में थी, किसी के चरित्र में (मलिनता—मलिन-प्रवृत्ति) नहीं थी; मुखराग (मुख की लालिमा) केवल तोतों (की चोचों) में था, क्रोध में नहीं (अर्थात् क्रोध से किसी का मुंह लाल नहीं होता था); तीक्ष्णता केवल कुश की नोक में थी, (किसी के) स्वभाव में नहीं; चञ्चलता केले के पत्तों में ही थी, मन में नहीं; चक्षुराग (आँखों की लालिमा) कोयलों में ही था,

दूसरों की स्त्रियों के प्रति (चक्षुराग—आँखों में प्रीति) नहीं थी; कमण्डलुओं में ही कण्ठग्रह (गर्दन पकड़ना) होता था (अर्थात् कमण्डलु ही गरदन से पकड़े जाते थे), सम्भोग में नहीं (अर्थात् सम्भोग के समय कण्ठालिङ्गन नहीं होता था—सम्भोग होता ही नहीं था); मेखलाबन्ध (ब्रह्मचारियों का मौञ्जी बाँधना) व्रतों (उपनयनादि) में होता था, ईर्ष्या के कारण होने वाले कलहों में नहीं (जंजीर आदि के द्वारा खड्गादि नहीं बाँधे जाते थे); होम की गायों का ही स्तन-स्पर्श (दूध दुहने के समय) किया जाता था, (काम-केलि के अभाव के कारण) रमणियों का स्तन-स्पर्श नहीं किया जाता था; मृगों में ही पक्षपात (पंखों का गिरना) होता था, शास्त्रीय विवाद में पक्षपात (किसी का अनुचित पक्ष लेना) नहीं होता था; अग्नि की प्रदक्षिणा के समय ही भ्रान्ति (चारों ओर घूमना) होती थी, शास्त्रों को समझने में भ्रान्ति (भ्रम) नहीं होती थी; दिव्य कथाओं में ही वसु-संकीर्तन (द्युप्रभृति आठ देव-विशेषों का नाम-संकीर्तन) होता था, धन-लिप्सा के कारण वसु-संकीर्तन (धन का कीर्तिगान) नहीं होता था; रुद्राक्ष की माला में ही (नाम-जाप के समय) गणना (माला के दानों की गिनती) की जाती थी, शरीर की कोई गणना (महत्त्व या आदर) नहीं था; यज्ञ की दीक्षा के अवसर पर ही मुनियों के बालों (केशों) का क्षय होता था, मृत्यु के कारण उनके बालों (बालकों) का नाश नहीं होता था (अकालमृत्यु के अभाव के कारण); रामायण के द्वारा ही रामानुराग (राम में अनुराग होता था), यौवन के कारण रामानुराग (रामा—'रमणी'—से प्रेम) नहीं होता था; वृद्धावस्था के कारण ही मुख में विकार (झुर्रियों का पड़ जाना, मांस का लटक जाना आदि परिवर्तन) होता था, धन के अभिमान के कारण मुख में विकार (भृकुटि आदि का संकोचन) नहीं होता था; जहाँ पर (अर्थात् उस आश्रम में) शकुनि (दुर्योधन का मामा, चिड़िया) का वध महाभारत में ही था (क्योंकि कोई चिड़िया नहीं मारता था); वायु-प्रलाप (वायुदेव का संभाषण, वायु-प्रकोप या उन्माद के कारण होने वाला प्रलाप) केवल वायु-पुराण में ही था

(क्योंकि कोई व्यर्थ प्रलाप नहीं करता था); वृद्धावस्था में ही द्विज-पतन (दाँतों का गिरना, ब्राह्मणों का पतन) होता था (क्योंकि ब्राह्मण कभी आचारभ्रष्ट नहीं होते थे); जाड्य (शीतलता, मूढ़ता) उपवन के चन्दन के वृक्षों में ही थी (क्योंकि मूढ़ता का अभाव था); भूतिमत्व (भस्म से युक्त होना, सम्पत्ति का होना) विभिन्न अग्नियों में ही होता था (क्योंकि मुनि-जन धन नहीं रखते थे) गीत सुनने में मृगों को ही आसक्ति थी (मुनियों को नहीं); मोरों का ही नृत्य-पक्षपात (नृत्य में पंखों का गिरना, नृत्य में अभिरुचि) था (मुनियों का नहीं); भोग (फन, स्त्री आदि का भोग) सर्पों में ही था; श्रीफल (बेल का फल, धन अथवा लक्ष्मी की कृपा) की इच्छा बन्दरों को ही थी; अधोगति (नीचे जाना, नरक में जाना) जड़ों में ही पाया जाता था (न कि ऋषियों में)।

शब्दार्थः—कृकवाकुः—मुर्गा (मोर के अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है); क्रतुः—यज्ञ; शकुनि—पक्षी; दुर्योधन का मामा शकुनि, जिसने छल से पाण्डवों को जुए में हराया था।

38. And where or in which hermitage, *darkness* (existed or was to be found involved only) in the (thick columns or masses of) smoke arising out of the burnt-offerings or oblations (poured into the holy sacrificial fire), and not (*i. e.*,.there was no moral blackness or impurity, sinfulness or wickedness of any kind) in the deeds or practices (of the inhabitants or inmates thereof); *redness of the face* (existed or was to be met with only) iu the parrots (which had red beaks), and not in anger or angry moods (*i. e.*, no one's face there was flushed red with anger); *sharpness* or *pointedness* (was to be found or existed only) in the tips or pointed ends of the *kusha* grass, and not (*i. e.*, there was no harshness or severity) in the inner or peculiar dispositions or

innate natures (of its inmates or inhabitants) ; *restlessness* or *tremulousness* (existed or was to be found only) in the leaves of the plantain trees, and not (*i. e.*, there was no unsteadiness or fickleness) in the minds (of its residents); *redness of the eyes* (was to be met with only) in the cuckoos, and not in (*i. e.*, there was no betrayal of improper love or no such love manifested by glances as regards, no one cast glances of illicit love or lustful glances at) the wives of others ; *catching hold by the neck* (existed or was prevalent only) in respect of or in the case of) the Kamandalus or ascetics' peculiar water-vessels, and not (*i. e.*, there was no embracing to be found) in sexual enjoyments ; the *putting or tying on of the girdles* (of Munja grass) (was to be found or met with only) in the (performance of religious) vows (or vows relating to the order or class of *Brahma-chārins* or celibate studentship), and not (*i. e.*, there was no tying or putting on of the sword belts or baldrics) in (consequence of) disputes occasioned by jealosy [or as some would have it, that there was no confining or securing of the lover by means of girdles in jealous disputes or love quarrels by women]; *the touching* (*i. e., the handling while milking*) *of the breasts* or udders (milk-glands provided with nipples or teats,—was to be observed or found only) in (the case of) milch cows, or cows that have been recently delivered or lately calved, at the time of making sacrificial offerings or oblations, and not (*i. e.*, there was no lustful pressing or touching of the breasts) in the case of ladies or loving and affectionate women ; *the falling of the feathers* (existed or was to be found only) in cocks or gallinaceous fowls (it may also mean, peacocks), and not (*i. e.*, there was no *partiality*, prejudice or obstinacy shown)

in learned literary disputes or discussions of learning or knowledge; *the going or moving round* (in a circle was to be found or observed only) in the (acts of) circumambulation round the fire (*i. e.*, in the performance of reverential salutation by going round it again and again from left to right so that the right side of the person is always kept towards it), and not (*i. e.*, there was no confusion or going astray from delusion in mind) in (or as regards) the meanings or interpretation of the *Shāstras* or the sacred precepts and scriptural dicta; *the mention or glorification* (*i. e.*, the act of reciting or celebrating the praises) of Vasu or Kuvera, the god of wealth, [or of the (famous eight) Vasus (a class of gods or divinities), was confined to or found only] in stories relating to the divine beings or in divine stories, and not (*i. e.*, there was no extolling or eulogistic mention of wealth or riches in general) in (or out of a feeling of) greed (for the same); *the counting* (was to be found or observed only) in the (case of the beads of (rosaries made of the berries of a *Rudrāksha* (lit. 'Rudra-eyed', Rudra being a manifestation of Shiva) tree, and not in the reckoning of (*i. e.*, there was no regard or consideration paid to, or concern shown for) the body (*i. e.*, there was no *'reckoning'* of the body); *the loss* or *destruction* of the *hair of the sages* (was caused or brought about only) by their initiation for sacrifices or the performance of sacrificial acts, and not (*i. e.*, there was no loss or destruction of their children or hair) by death; *the attachment* or *devotion* for Rāma (was created or brought about only) by the (recitation and hearing of the Rāmāyana (the celebrated great epic relating the story of Shrī-Rāma), but (there was) no love or attachment for a beatiful

young woman or lady (shown or displayed) on account of the youthfulness or attainment of the prime of life or bloom of youth (on the part of any of its inmates ; *the change* or *distortion* or decay in the shape of (wrinkles on) the face (was caused or produced only) by old age, but (there was) no contortion of the face or making wry or frowning faces (brought about by or) due to pride or arrogance of wealth. And where or in which hermitage, the *death* or *destruction of Shakuni* (the maternal uncle of Duryodhana, was to be found or met with only as being recited) in the (story of the) Mahābhārta (meaning or implying thereby that there was otherwise no actual *killing of the birds* in that hermitage) ; *the speech* (literally, prattling, incoherent jabbering,—speaking) by (or of) *the god of wind* (was solely confined to, or was to be found or met with only) in the Purāna or ancient sacred writing (referring to the *Vāyu-Purāna*, supposed to have been originally promulgated by the Wind-god ;—implying thereby that the hermitage was free from any sort of diseases or ailments, and that there was no *delirious speech or raving*,—talking incoherently and unmeaningly—caused by delirium in it) ; (where) *the falling of the teeth* (happened or took place only) at the decline of age or at a fully matured or advanced age (implying that there was no fall or *lapse from the proper* and approved *course of conduct* on the part of the Brāhmanas in the hermitage) ; (where) *the coolness* (existed or was to be found or met with only) in the sandalwood trees of the small forest or the groves of neighbourhood (implying that there was no *dulness of intellect* or stupidity on the part of any one or the students in the hermitage) ; (where) *the being covered* (lit. the being possessed of or endow-

ed) *with ashes* was (to be found or met with only in the case) of fires (implying that there was no *possession of* or being endowed with *wealth* or riches,—no affluence—to be noticed or observed in the hermitage,—the ascetics being prohibited by the religious laws to possess or keep them); (where) *the eager desire* or *excessive fondness* for listening to music or songs was (to be found or met with only in the case) of the deer or antelopes (described as being of a black colour with beautiful eyes and short legs)—(implying that there was no *evil habit* or *vicious attachment* to the practice of listening to music or songs in the hermitage) ; (where) *the falling of feathers in* or during *dancing* was (to be found or met with only in the case) of peacocks (implying that there was no *partiality* or liking *for dancing* to be found or observed in the hermitage); (where) *the hood* was (to be found or met with only in the case) of snakes (implying that there was no *enjoyment of the wordly pleasures* on the part of the ascetics in it), (where) *the eager desire for Bilwa fruits* was (found to exist only in the case) of the monkeys (implying that there was no *desire for enjoying the fruits of wealth* to be found in the ascetics in that hermitage)' and (where) *the* (act of) *going downwards*, was (to be found or met with only in the case) of roots (of trees or plants,—implying that there was no sort of degradation to be found existing in the case of the ascetics in that hermitage).

३९—तस्य चैवंविधस्य मध्मभागमण्डलमलंकुर्वाणस्याल-क्तकालोहितपल्लवस्य मुनिजनालम्बितकृष्णाजिनजलकरकस-नाथशाखस्य तापसकुमारिकाभिर्मूलभागदत्तपीतपिष्टपञ्चाङ्ग-

लस्य हरिणशिशुभिरापीयमानालवालकसलिलस्य मुनिकुमारकाबद्धकुशचीरदाम्नो हरितगोमयोपलेपनविविक्ततलस्य तत्क्षणकृतकुसुमोपहाररमणीयस्य नातिमहतः परिमण्डलतया विस्तीर्णावकाशस्य रक्ताशोकतरोरधश्छायायामुपविष्टमत्युग्रतपोभिर्भुवनमिव सागरैः कनकगिरिमिव कुलपर्वतैः क्रतुमिव वैतानवह्निभिः कल्पान्तदिवसमिव रविभिः कालमिव कल्पैः समन्तान्महर्षिभिः परिवृतमुग्रशापभियेव कम्पितदेहया प्रणयिन्येव विहितकेशग्रहया क्रुद्धयेव कृतभ्रूभङ्गया मत्तयेवाकुलितगमना प्रसाधितयेव प्रकटिततिलकया जरया गृहीतव्रतयेव भस्मधवलया धवलीकृतविग्रहमायामिनीभिः पलितपाण्डुराभिस्तपसा विजित्य मुनिजनमखिलं धर्मपताकाभिरिवोच्छ्रिताभिरमरलोकमारोढुं पुण्यरज्जुभिरिवोपसंगृहीताभिरतिदूरप्रवृद्धस्य पुण्यतरोः कुसुममञ्जरीभिरिवोद्गताभिर्जटाभिरुपशोभमानमुपरचितभस्मत्रिपुण्ड्रकेण तिर्यक्प्रवृत्तत्रिपथगास्रोतस्त्रयेणेव हिमगिरिशिलातलेन ललाटफलकेनोपेतमधोमुखचन्द्रकलाकाराभ्यामवलम्बितबलिशिथिलाभ्यां भ्रूलताभ्यामवष्टभ्यमानदृष्टिमनवरतमन्त्राक्षराभ्यासविवृताधरपुटतया निपतद्भिरतिशुचिभिः सत्यप्ररोहैरिव स्वच्छेन्द्रियवृत्तिभिरिव करुणारसप्रवाहैरिव दशनमयूखैर्धवलितपुरोभागमुद्वमदमलगङ्गाप्रवाहमिव जह्नुमविरतसोमोद्गारसुगन्धिनिश्वासावकृष्टैर्मूर्तिमद्भिरिव शापाक्षरैः सदा

मुखभागसंनिहितैः परिस्फुरद्भिरलिभिरविरहितमतिकृशतया निम्नतरगण्डगर्तमुन्नततरहनुघोणमाकरालतारकमवशीर्यमाण-विरलनयनपक्ष्ममालमुद्गतदीर्घरोमरुद्धश्रवणविवरमानाभि-लम्बकूर्चकलापमाननमादधानमतिचपलानामिन्द्रियाश्वाना-मन्तःसंयमनरज्जुभिरिवातताभिः कण्ठनाडीभिर्निरन्तरसंबद्ध-कंधरं समुन्नतविरलास्थिपञ्जरमंसावलम्बिधवलयज्ञोपवीत-मनिलवशजनिततनुतरंगभङ्गमुत्प्लवमानमृणालमिव मन्दाकि-नीप्रवाहमकलुषमङ्गमुद्वहन्तममलस्फटिकशकलघटितमक्षव-लयमुज्ज्वलस्थूलमुक्ताफलग्रथितं सरस्वतीहारमिव चलदङ्गु-लिविवरगतमावर्तयन्तमनवरतभ्रमिततारकाचक्रमपरमिव ध्रु-वमुन्नमता शिराजालकेन जरत्कल्पतरुमिव परिणतलतासंच-येन निरन्तरनिचितममलेन चन्द्रांशुभिरिवामृतफेनैरिव गुण-संतानतन्तुभिरिव निर्मितेन मानससरोजलक्षालितशुचिना दुकूलवल्कलेन द्वितीयेनेव जराजालकेन संछादितमासन्नवर्तिना मन्दाकिनीसलिलपूर्णेन त्रिदण्डोपविष्टेन स्फटिककमण्डलुना विकचपुण्डरीकराशिमिव राजहंसेनोपशोभमानं स्थैर्येणाच-लानां गाम्भीर्येण सागराणां तेजसा सवितुः प्रशमेन तुषार-रश्मेर्निर्मलतयाम्बरतलस्य संविभागमिव कुर्वाणं वैनतेयमिव स्वप्रभावोपात्तद्विजाधिपत्यं कमलासनमिवाश्रमगुरुं जरच्चन्द-नतरुमिव भुजंगनिर्मोकधवलजटाकुलं प्रशस्तवारणमिव प्रलम्बकर्णबालं बृहस्पतिमिवाजन्मसंवर्धितकूर्चं दिवसमिवो-

द्यदर्कबिम्बभास्वरमुखं शरत्कालमिव क्षीणवर्षं शांतनुमिव प्रियसत्यव्रतमम्बिकाकरतलमिव रुद्राक्षवलयग्रहणनिपुणं शिशिरसमयसूर्यमिव कृतोत्तरासङ्गं वडवानलमिव सततपयो-भक्षं शून्यनगरमिव दीनानाथविपन्नशरणं पशुपतिमिव भस्मपाण्डुरोमाश्लिष्टशरीरं भगवन्तं जाबालिमपश्यम् ।

महामुनिजाबालिवर्णनम्—

३९—तस्य चैवंविधस्य पूर्वोक्तस्य पूर्वविशेषणविशिष्टस्य आश्रमस्य । मध्यभागम्—अभ्यन्तरप्रदेशम् । अलंकुर्वाणस्य रक्ताशोकतरोरधश्छायायामुपविष्टम् भगवन्तं जाबालिमपश्यम् इति दूरेणान्वयः । इह द्वितीयान्तानि जाबालिमित्यस्य विशेषणानि सन्ति । पूर्वतः षष्ठ्यन्तानि तु रक्ताशोकतरोर्विशेषणानि ।। अलक्तकालोहितपल्लवस्य—लाक्षारक्तदलस्य । अलक्तकवदालोहिताः पल्लवाः यस्य तस्य । मुनिजनालंबितकृष्णाजिनजलकरकसनाथशाखस्य—ऋषिलोकस्थापितकृष्णसारमृगचर्मनारिकेलविनिर्मितपात्रविशेषसहितविटपस्य । मुनिजनैरालम्बितानि कृष्णाजिनानि जलकरकाश्च तैः सनाथाः शाखाः यस्य तस्य । 'करंको मस्तके शस्ये नारिकेलफलास्थनि' इति विश्वः ।। तापसकन्यकाभिः—तपस्विकुमारिकाभिः । मूलभागदत्तपीतपिष्टपञ्चांगुलस्य—आशयप्रदेशस्थापितहरिद्रावर्णपटवासचूर्णबहुकरशाखाचिह्नस्य । मूलभागे दत्तानि पीतपिष्टस्य पंचांगुलानि यस्मिन् तस्य । पंचानामांगुलीनां समाहारः पंचांगुलम् । हरिणशिशुभिः मृगशावकैः । परिपीयमानालवालसलिलस्य पीयमानावापजलस्य । परिपीयमानमालवाले सलिलं यस्य तस्य । मुनिकुमारका-

बद्धकुशचीरदाम्नोः——ऋषिशिशुनद्धदर्भनिर्मितवसनरश्मेः । मुनिकुमारैराबद्धानि कुशचीराणां दामानि यस्मिन् तस्य ।। हरितगोमयोपलेपनविविक्ततलस्य——हरिद्वर्णार्द्रगोपुरीषावलेपपविश्राधोभागस्य । हरितेन गोमयेन यदुपलेपनन्तेन विविक्तं तलं यस्य तस्य । तत्क्षणकृतकुसुमोपहाररमणीयस्य——तत्कालविहितपुष्पबलिसुन्दरस्य । तत्क्षणे कृतेनोपहारेण रमणीयस्तस्य । नातिमहतः वृहतः । परिमण्डलतया——वृत्ताकारतया । विस्तीर्णावकाशस्य——विस्तृतनिम्नगच्छायाप्रदेशस्य । रक्ताशोकतरोः——लोहितवर्णवञ्जुलभूरुहः । रक्तानामशोकानामशोककुसुमानां तरुः तस्य । अशोकस्य पुष्पमशोकम् । अवयवे च प्राप्योषधिवृक्षेभ्यः इति विहितस्याणः पुष्पमूलेषु बहुलमिति लुक् । 'वकुलो वञ्जुलोऽशोके' इत्यमरः । अधश्छायायाम्——अधोभागानातपे । उपविष्टम्——स्थितम् । सागरैः——समुद्रैः । भुवनमिव——जगदिव । कुलाचलैः——महेन्द्रादिसप्तकुलपर्वतैः । कनकगिरिमिव——मेरुमिव ।। वैतानवह्निभिः । यज्ञाग्निभिः । वितानस्यायं वैतानः——तस्येदमित्यण् । 'वितानो यज्ञ उल्लोचे' इति मेदिनी । ऋतुमिव । रविभिः——सूर्य्यैः । कल्पान्तदिवसमिव——प्रलयदिनमिव । कल्पैः कालमिव——अखण्डं समयमिव । अत्युग्रतपोभिः——प्रभूततपस्याशालिभिः । महर्षिभिः——मुनिभिः । परिवृतम्——व्याप्तम् । विहितकेशग्रहया——कृतकुन्तलावलम्बनया । प्रणयिन्या इव——वल्लभया इव । कृतभ्रूभङ्गया——विहितभ्रुकुटिकौटिल्यया । क्रुद्धया इव——कोपाविष्टस्त्रिया इव । आकुलितगमनया ——स्खलितगतिकया । मत्तया इव——क्षीवया इव । प्रकटिततिलकया ——प्रकाशितकृष्णवर्णचिह्नया । प्रसाधितया——कृतालङ्कारया ।

भस्मधवलया—भूतिशुभ्रवर्णया । भस्मना धवला पक्षे भस्मवद्-धवला तया । गृहीतव्रतया इव—आचरितनियमया योषिता इव । जरया वार्धक्येन । धवलीकृतविग्रहम्—शुक्लीभूतशरीरम् । न धवलो धवलः कृतः विग्रहो यस्य तम् । पलितपाण्डुराभिः—वृद्धताजन्यधावल्याभिः । आयामिनीभिः—दीर्घाभिः । आयामो दैर्घ्यमस्ति आसां ताभिः । आयाम+मत्वर्थीय इनिः—अखिलम्—समग्रम् । मुनिजनम्—ऋषिलोकम् । तपोभिः—तपस्याभिः । विजित्य—स्वायत्तीकृत्य । उच्छ्रिताभिः—उत्तोलिताभिः । धर्म-पताकाभिरिव पुण्यध्वजैरिव । अमरलोकम्—स्वर्गम् । आरोढुम्—गन्तुम् । उपसंगृहीताभिः—एकत्रिताभिः । पुण्यरज्जुभिरिव—सुच-रितरश्मिभिरिव । अतिदूरप्रवृद्धस्य—अतिशयवृद्धि गतस्य । पुण्यतरोः—तपस्याभूरुहः । उद्गताभिः—उत्थिताभिः । कुसुममंजरीभिरिव—सुमनोवल्लरीभिरिव । जटाभिः—सटाभिः । वा संगृहीतकेशैः । उपशोभमानम्—मण्डितम् । तिर्य्यक्प्रवृत्तगङ्गास्रोतस्त्रयेण—विषम्-धारागतजाह्नवीप्रवाहत्रितयेन । तिर्य्यक्प्रवृत्तं गङ्गायाः स्रोतस्त्रयम् यत्र तेन । हिमगिरिशिलातलेन इव—हिमालयमहापाषाणखण्डेन इव । उपरचितभस्मत्रिपुंड्रकेन—कृतभूतिमस्तकतिर्य्यक्रेखात्रयेण । ललाटफलकेन—भालप्रदेशेन । उपेतम्—सहितम् । अत्र त्रिपुण्ड्रकः स्रोतस्त्रयेणोपलक्षितम् । ललाटफलकम्—शिलातलेनोपलक्षितम् । अधोमुखचन्द्रकलाकाराभ्याम्—अवनताननशशिरेखाकृतिभ्याम् । अधोमुखी या चन्द्रकला तस्या आकार इवाकारो ययोस्ताभ्याम् । अवलम्बितबलिशिथिलाभ्याम्—आश्रितशिथिलचर्मश्लथाभ्याम् । 'बलिश्चर्मदण्डे च जरया श्लथचर्मणि' इति विश्वः । अवलम्बिता

बलि: तया शिथिले ताभ्याम् । भ्रूलताभ्यामू अवष्टभ्यमान-दृष्टिम्—आश्रीयमाणदर्शनसामर्थ्यम् । अनवरतमंत्राभ्यासविवृताधर-पुटतया—निरन्तरजपपौनःपुन्यव्यादत्तौष्ठयुगलतया । निष्पतद्भिः—निर्गच्छद्भिः । अतिशुचिभिः—अत्यन्तशुभ्रैः । सत्यप्ररोहैरिव-यथार्थवाक्यांकुरैरिव । स्वच्छेन्द्रियवृत्तिभिः—निर्मलकरण-व्यापारैः । करुणारसप्रवाहैरिव—अनुकम्पास्वादनिर्झरैरिव । दशनम-यूखैः—दन्तकान्तिभिः । धवलितपुरोभागम्—निर्मलसम्मुखप्रदे-शम् । उद्वमदमलगंगाप्रवाहम्—निर्वान्तस्वच्छजाह्नवीस्रोतसम् । जह्नुमिव—तदाख्यं मुनिमिव । अनवरतसोमोद्गारसुगंधिनिः-श्वासावकृष्टैः । निरन्तरनिपीतसोमरसोद्गिरणसुरभिश्वासवायु-समाकर्षितैः । अनवरतं सोमस्योद्गारः तेन सुगन्धिना निःश्वासेन अवकृष्टास्तैः । मूर्त्तिमद्भिः—सशरीरैः । शापाक्षरैरिव—आक्रोश-वर्णैरिव । सदामुखभागसन्निहितैः सर्वदाननप्रान्तस्थितैः । परिस्फुर-द्भिः—स्यन्दमानैः । अलिभिः—भ्रमरैः । अविरहितम्—सहितम् । अतिकृशतया—नितान्तक्षीणशरीरतया। निम्नतरगण्डगर्त्तम् – अधिक-गम्भीरगर्त्तीभूतगण्डस्थलम् । उन्नततरहनुघोणम्—अत्युच्चचिबुकना-सिकम् । गण्डयोर्निम्नत्वादितिभावः । उन्नततरे हनुश्च घोणा च ते यस्य तम् । आकरालतारकम्—अत्युग्रकनीनिकम् । अव-शीर्य्यमाणविरलनयनपक्ष्ममालम्—क्षीयमाणाल्पनेत्रलोमश्रेणिकम् । अवशीर्य्यमाणा विरला नयनयोः पक्ष्ममाला यस्य तत् । उद्गतदीर्घरोमरुद्धश्रवणविवरम्—उत्पन्नायतलोमावृतकर्णरन्ध्रद्वयम् । उद्गतैः दीर्घैः रोमभिः रुद्धे श्रवणविवरे यस्मिन् तत् आनाभिलम्बितकूर्चकलापम्—नाभिपर्य्यन्तपतितश्मश्रुराजिकम् ।

आनाभिलम्बित: कूर्चकलापो यस्मिन् तत् । आननम्—मुखम् । आदधानम्—धारयन्तम् । अतिचपलानाम्—नितान्तचञ्चलानाम् । इन्द्रियाश्वानाम्—करणवाजिनाम् । अन्त:संयमनरज्जुभिरिव—अभ्यन्तरमानसबन्धनरश्मिभिरिव । अन्त:संयमनार्थं रज्जवस्ताभि: । आतताभि:—विस्तीर्णाभि: । कण्ठनाडीभि:—गलदेशीयशिराभि: । निरन्तरावनद्धकन्धरम्—सान्द्रसम्पृक्तग्रीवम् । समुन्नतविरलास्थिपञ्जरम्॥ उच्चाल्पास्थिसमूहम् । अंसावलम्बितधवलयज्ञोपवीतम्—स्कंधाश्रितशुक्लयज्ञसूत्रम् । अनिलवशजनिततनुतरङ्गभङ्गम्—वातप्रेरणकृतक्षुद्रोर्मिकौटिल्यम्—अनिलवशेन जनित: तनूनां तरङ्गाणां भङ्गो यस्मिन् तत् । उत्प्लवमानमृणालमिव—तीर्य्यमाणविसखण्डमिव । मन्दाकिनीप्रवाहमिव—आकाशगङ्गास्रोत इव । अकलुषम्—निर्मलम् । अङ्गं देहं उद्वहन्तम्—धारयन्तम् । अमलस्फटिकशकलघटितम्—निर्मलस्फटिकखण्डरचितम् । अमलै: स्फटिकशकलै: घटितस्तम् । चलदंगुलिविवरगतम्—चञ्चलकरशाखारन्ध्रस्थितम् । चलन्तीनामंगुलीनां विवरेषु गतम् । अक्षवलयम्—जपमालाम् । अत्युज्वलस्थूलमुक्ताफलग्रथितम्—दीप्ततरवृहत्मौक्तिकरचितम् । सरस्वतीहारमिव—वाग्देवीमालामिव । आवर्त्तयन्तम्—भ्रामयन्तम् । अनवरतभ्रमिततारकाचक्रम्—अविरतचलितकनीनिकाद्वयम् । पक्षे चालितनक्षत्रसमूहम् । अपरम्—द्वितीयम् । ध्रुवमिव—ध्रुवाख्यनक्षत्रमिव । उन्नमता—ऊर्ध्वं नयता । शिराजालकेन—नाडीसमूहेन । पक्षे तनूजडसंघेन । जरत्कल्पतरुमिव—जीर्णमन्दारमिव । परिणतलतासंचयेन-निर-

न्तर निचितम्—परिपक्ववल्लिसमूहानवरतव्याप्तम् । अमलेन—अवदातेन । चन्द्रांशुभिरिव—शशिकलाभिरिव । अमृतफेनैरिव—सुधाहिंडीरैरिव । गुणसन्तानतन्तुभिरिव प्रशंसनीयधर्मपुञ्ज-सूत्रैरिव । निर्मितेन रचितेन । मानससरोजलक्षालितशुचिना—मानसाख्यह्रदवारिमार्जनपवित्रेण । मानससरसजलेन यत्क्षा-लनं तेन शुचिस्तेन । दुकूलवल्कलेन—क्षौमवसनवल्केन । द्विती-येन—अपरेण । जराजालकेन इव—वार्धक्यसमूहेन इव । संछा-दितम्—आवृतम् । आसन्नवर्त्तिना—सन्निहितेन मन्दाकिनीस-लिलपूर्णेन—आकाशगंगाजलपूरितेन । त्रिदण्डोपविष्टेन—काष्ठ-मयत्रिपादिकास्थेन—त्रयो दण्डा यस्मिन् इति त्रिदण्डः तस्मिन् उपविष्टस्तेन । स्फाटिककमण्डलुना—स्फटिकनिर्मितजलपा-त्रेण । राजहंसेन—कादम्बेन । विकचपुण्डरीकराशिमिव—विकसत्पद्मसमूहमिव । उपशोभमानम् । स्थैर्य्येण—स्थित्या । अचलानाम्—पर्वतानाम् । गाम्भीर्य्येण—गभीरतया । सागरा-णाम् । तेजसा—प्रतापेन । सवितुः—सूर्य्यस्य । प्रशमेन—शान्त्या । तुषाररश्मेः—चन्द्रस्य । निर्मलतया । अम्बरतलस्य—आकाशस्य । संविभागम्—पृथगवयवम् । कुर्वाणमिव—विद-धतमिव । वैनतेयमिव—गरुडमिव । विनताया अपत्यं वैन-तेयः । स्त्रीभ्यो ढक् । स्वप्रभावोपात्तद्विजाधिपत्यम्—निज-महिमप्राप्त ब्राह्मणस्वाम्यम् । पक्षे पक्षिस्वामित्वम् । स्वप्र-भावेणोपात्तं द्विजानामाधिपत्यं येन तम् । कमला-सनमिव—विधातरमिव । आश्रमगुरुम्—तपोवनस्थमुनिजना-ध्यापकम्—ब्रह्मचर्य्यादिप्रवर्त्तकम् । जरच्चन्दनतरुमिव—जीर्ण-

पाटीरवृक्षमिव । भुजङ्गनिर्मोकधवलजटाकुलम्—सर्पकञ्चुक-स्वच्छसटाव्याप्तम् ।। भुजङ्गस्य निर्मोकवद्धवला जटा, पक्षे भुजङ्ग-निर्मोको धवला जटा इव ताभिः । आकुलस्तम् । प्रशस्तवारणमिव—महागजमिव। प्रलम्बकर्णवालम्—दीर्घश्रोत्ररोमकम् । बृहस्पतिमिव—धिषणमिव । आजन्मसंवर्धितकचम्—जन्मनः प्रभृति समेधित-केशम् । पक्षे जननादारभ्य पोषितकचनामकस्वसुतम् । आजन्मनः वर्धिताः कचाः, पक्षे वर्धितः कचः येन तम् । दिवसमिव—वासर-मिव ।। उद्यदर्कबिम्बभास्वरमुखम्—उदयमानरविमण्डलभासुर-प्रभातम् । उद्यन् योऽर्कस्तस्य बिम्बवत् भास्वरं मुखम् यस्य तम् । पक्षे उद्यताऽर्केन भास्वरं मुखं यस्य तम् । 'बिम्बोऽस्त्री मण्डलं त्रिषु' इत्यमरः । शरत्कालमिव—घनात्ययसमयमिव । क्षीणवर्षम्—क्षपित-वत्सरम् । पक्षे स्वल्पवृष्टिम् । क्षीणानि वर्षाणि यस्य पक्षे क्षीणा वर्षा यस्मिन् तम् । क्षि+क्तः क्षियोदीर्घात्—निष्ठा तस्य नः क्षीणः । लिटि चिक्षाप चिक्षिपतुः । लुङि अक्षैषीत् ।। शान्तनुमिव—एतन्ना-मकचन्द्रवंशीयनृपमिव । प्रियसत्यव्रतम्—इष्टसत्यवचनव्यवहारनिय-मम् । अभीष्टभीष्मम् । प्रियं सत्यव्रतं यस्य, पक्षे प्रियः सत्यव्रतो यस्य तम् । अम्बिकाकरतलमिव—दुर्गापाणितलमिव । रुद्राक्ष-ग्रहणनिपुणम्—रुद्राक्षमालाऽऽदानदक्षम ।। पक्षे शिवनेत्रपिधा-नकुशलम् । रुद्राक्षाणां ग्रहणे पक्षे रुद्रस्याक्षस्य ग्रहणे निपुणस्तम् । शिशिरसमयसूर्य्यमिव—शीतकालदिनकरमिव । कृतोत्तरास-ङ्गम्—स्कंधधारितोत्तरीयवस्त्रसम्बंधम् ।। पक्षे विहितकौबेरी-दिक्संसर्गम् । कृत उत्तरस्यासंगो येन पक्षे कृतः—उत्तरायाः सङ्गो येन तम् । वडवानलमिव—सततपयोभक्ष्यम्—अविरतदुग्धभोजनम् ।

पक्षे निरन्तरजलदहनम् । सततं पय एव भक्ष्यं यस्य तम् । शून्यनगरमिव—निर्जनपुरमिव । दीनानाथविपन्नशरणम्—दुर्गतारक्षकापन्नरक्षकम् । पक्षे—भयावहजनहीनवास्तव्यभग्नगृहम् । 'शरणं गृहरक्षित्रो'रित्यमरः । दीनानामनाथानां विपन्नानां शरणम् तम् । पक्षे—दीनानि अनाथानि विपन्नानि शरणानि यस्मिन् तम् । पशुपतिमिव—शिवमिव । भस्मपाण्डुरोमाश्लिष्टशरीरम्—भूतिश्वेतकेशालिङ्गितदेहम् । भस्मवत् पाण्डुराणि लोमानि तैः आश्लिष्टं शरीरं यस्य तम् । भस्मना पाण्डुरोमभिश्चाश्लिष्टं शरीरं यस्य तम् । भगवन्तम्—माहात्म्यवन्तम् । जाबालिं मुनिमपश्यम्—अवलोकितवान् ।

३९—इस प्रकार के (अर्थात् जैसा कि अभी वर्णन किया गया उसके समान) उस आश्रम के मध्यभाग को अलंकृत करने वाले एक रक्त (लाल फूल वाले) अशोक-वृक्ष की छाया में बैठे हुए भगवान् (ऋषि) जाबालि को मैंने (शुक ने) देखा । उसके (अशोक वृक्ष के) पत्ते लाख के समान लाल थे, उसकी शाखाएँ ऋषियों के द्वारा लटकाये हुए काले मृगचर्मों और जल-पात्रों (नारियल की खोपड़ी से बने जलपात्रों) से युक्त रहती थीं; तापस-कुमारियों ने उसके मूल भाग पर हल्दी के चूर्ण (के लेप) से थापे (पाँचों अँगुलियों सहित हथेली के विम्ब) लगा रखे थे; उस वृक्ष के थाले में से हिरनों के बच्चे जल पिया करते थे; ऋषि-बालकों ने उस पर कुश के बने पुराने वस्त्रों की डोरी (अथवा मालाएँ) बाँध दी थीं (अर्थात् उन्हें मालाओं के रूप में चढ़ाया था); उसके तले की भूमि हरे (अर्थात् ताजे) गोबर के लेपन से पवित्र बना दी गयी थी [लिपने के कारण दूसरी भूमि से विविक्त (अर्थात् अलग-सी) हो गई थी]; उसी समय चढ़ायी गयी पुष्पों की बलि से वह वृक्ष (अत्यन्त) रमणीय दिखाई पड़ रहा था; वह (यद्यपि) अत्यन्त विशाल नहीं था, (तथापि) परिमण्डल (चारों ओर के फैलाव) के कारण उसके नीचे का छाया-प्रदेश (खूब) फैला हुआ था । (इस प्रकार के उस अशोक वृक्ष की छाया में बैठे हुए जाबालि

ऋषि) अत्यन्त उग्र तप करने वाले महर्षियों से उसी प्रकार घिरे थे जिस प्रकार समुद्रों से भुवन (भूमण्डल), कुलपर्वतों से (पुराणों के अनुसार ये सात प्रमुख पर्वत हैं) सुमेरु पर्वत, यज्ञाग्नियों (दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य तथा आहवनीय) से यज्ञ, (प्रलयकालीन बारह) सूर्यों से प्रलय-दिवस और कल्पों (युगान्तों) से काल घिरा रहता है। इन जाबालि मुनि के शरीर में वृद्धावस्था आ चुकी थी। इस वृद्धावस्था का शरीर, इस भय से कि जाबालि उग्र शाप न दे दें, काँपता रहता था (मानो इसीलिए वृद्ध जाबालि का शरीर भी काँप रहा हो); प्रियतमा की भाँति उसने (वृद्धावस्था ने) उनके केशों को पकड़ लिया था (स्त्री रति-कलह में केश पकड़ लेती है, वृद्धावस्था ने मानो केशों को पकड़ लिया हो और इसी कारण वे श्वेत हो गये हों); कुपिता स्त्री की भाँति उसने भौंहें कुटिल कर ली थीं (कुपिता भौंहें चढ़ा लेती है, वृद्धावस्था के कारण भौंहों में झुर्रियाँ पड़ गयी थीं); उन्मत्ता के समान वह (वृद्धावस्था) लड़खड़ाती हुई चलती थी (वृद्धावस्था में भी पैर डगमगाने लगते हैं); आभूषित नारी के समान उसका तिलक दिखाई पड़ रहा था (स्त्री मस्तक में तिलक लगाती है, वृद्धावस्था में शरीर पर काले-काले दाग पड़ जाते हैं अर्थात् मसे निकल आए थे); व्रत धारण करने वाली स्त्री के समान वह भी भस्म-धवल दीख पड़ती थी (व्रतधारिणी शरीर पर भस्म लगाने के कारण सफेद दिखाई पड़ती है, वृद्धावस्था शरीर को भस्म के समान श्वेत बना देती है)। इस प्रकार की वृद्धावस्था के कारण उनका (जाबालि का) शरीर श्वेत बना दिया गया था (अर्थात् उनके रोम तक श्वेत हो गये थे)। वे (जाबालि) लम्बी और (वृद्धावस्था में) पकने के कारण श्वेत जटाओं से सुशोभित हो रहे थे, जो (जटा) ऐसी मालूम पड़ती थी मानो तप से समस्त ऋषियों को जीतकर ऊँची उठाई हुई धर्म-पताका हो, स्वर्गलोक में चढ़ने के लिए इकट्ठा की गई पुण्यों की रस्सी हो, खूब बढ़े हुए तपरूपी वृक्ष से निकली हुई पुष्प-मञ्जरी हो। उनका मस्तक, जिस पर भस्म का त्रिपुण्ड्र लगा हुआ था, ऐसा प्रतीत होता था मानो तिरछी होकर बहती हुई त्रिपथगा

(गङ्गा) के तीन प्रवाहों से युक्त हिमालय का (कोई) शिलातल हो। उनकी दृष्टि औंधा कर (उलटकर) रखी हुई चन्द्र-कला के समान आकार वाली (अर्थात् वृद्धावस्था के कारण श्वेत उनकी भौंहें ऐसी मालूम पड़ती थीं मानो द्वितीया के चन्द्र को उलट कर उसके सिरों को अधोमुख करके रख दिया गया हो); और वृद्धावस्था की झुर्रियों के कारण शिथिल होकर नीचे की ओर लटकने वाली भ्रू-लताओं से अवरुद्ध हो रही थी। निरन्तर मन्त्रों के अक्षरों का जाप करने के कारण खुले हुए अधर-पुटों से निकलती हुई, अत्यन्त शुभ्र, सत्य के अंकुर के समान (प्रतीत होने वाली), इन्द्रियों की स्वच्छ (अर्थात् पाप या कालुष्य-रहित) वृत्तियों तथा करुण रस के प्रवाह के समान (निर्मल) लगने वाली दन्त-रश्मियों के कारण उनके सामने का प्रदेश धवल हो गया था, जिससे वे (जाबालि) गङ्गा के निर्मल प्रवाह को (अपने कानों में से उगलते हुए) जह्नु नामक (ऋषि) के समान दिखाई पड़ रहे थे। नाभि तक लटकते हुए श्मश्रु-समूह (दाढ़ी-मूँछ) से युक्त उनका मुखमण्डल था (शाब्दिक अर्थ—वे इस प्रकार का मुख धारण करते थे)। वह (मुखमंडल) निरन्तर पिये हुए सोमरस की डकार से सुगन्धित निश्वास से आकृष्ट होकर, मुख प्रदेश के निकट मूर्तिमान शाप के अक्षरों के समान सदैव उपस्थित और (मुखमंडल के चारों ओर) मँडराने वाले भौंरों से (एक क्षण के लिए भी) रहित नहीं होता था। अत्यधिक कृशता के कारण (उनके मुखमंडल पर) गाल के गड्ढे अत्यन्त गहरे, ठोड़ी और नाक और भी ऊँचे, आँखों की पुतलियाँ अत्यन्त उग्र और बरौनियों तथा भौंहों के रोम, जीर्ण होने के कारण, बहुत ही विरल (घने नहीं) थे तथा लम्बे-लम्बे रोमों ने निकल कर कानों के विवर को रुद्ध कर दिया था। वह कलुष-हीन शरीर धारण किये हुए थे (अर्थात् उनका शरीर पवित्र और निष्कलुष था)। (उस शरीर की) अर्थात् उन ऋषि की गर्दन, गले की खूब घनी या पास-पास सटी हुई नसों से इस प्रकार कसी हुई थी, मानो अत्यन्त चञ्चल इन्द्रिय-रूपी घोड़ों को अन्तःकरण के द्वारा संयमित करने की लगाम या रस्सी के

innate natures (of its inmates or inhabitants) ; *restlessness* or *tremulousness* (existed or was to be found only) in the leaves of the plantain trees, and not (*i. e.*, there was no unsteadiness or fickleness) in the minds (of its residents); *redness of the eyes* (was to be met with only) in the cuckoos, and not in (*i. e.*, there was no betrayal of improper love or no such love manifested by glances as regards, no one cast glances of illicit love or lustful glances at) the wives of others ; *catching hold by the neck* (existed or was prevalent only) in respect of or in the case of) the Kamandalus or ascetics' peculiar water-vessels, and not (*i. e.*, there was no embracing to be found) in sexual enjoyments ; the *putting or tying on of the girdles* (of Munja grass) (was to be found or met with only) in the (performance of religious) vows (or vows relating to the order or class of *Brahma-chārins* or celibate studentship), and not (*i. e.*, there was no tying or putting on of the sword belts or baldrics) in (consequence of) disputes occasioned by jealosy [or as some would have it, that there was no confining or securing of the lover by means of girdles in jealous disputes or love quarrels by women]; *the touching* (*i. e., the handling while milking*) *of the breasts* or udders (milk-glands provided with nipples or teats,—was to be observed or found only) in (the case of) milch cows, or cows that have been recently delivered or lately calved, at the time of making sacrificial offerings or oblations, and not (*i. e.*, there was no lustful pressing or touching of the breasts) in the case of ladies or loving and affectionate women ; *the falling of the feathers* (existed or was to be found only) in cocks or gallinaceous fowls (it may also mean, peacocks), and not (*i. e.*, there was no *partiality*, prejudice or obstinacy shown)

in learned literary disputes or discussions of learning or knowledge ; *the going or moving round* (in a circle was to be found or observed only) in the (acts of) circumambulation round the fire (*i. e.*, in the performance of reverential salutation by going round it again and again from left to right so that the right side of the person is always kept towards it), and not (*i. e.*, there was no confusion or going astray from delusion in mind) in (or as regards) the meanings or interpretation of the *Shāstras* or the sacred precepts and scriptural dicta ; *the mention or glorification* (*i. e.*, the act of reciting or celebrating the praises) of Vasu or Kuvera, the god of wealth, [or of the (famous eight) Vasus (a class of gods or divinities), was confined to or found only] in stories relating to the divine beings or in divine stories, and not (*i. e.*, there was no extolling or eulogistic mention of wealth or riches in general) in (or out of a feeling of) greed (for the same); *the counting* (was to be found or observed only) in the (case of the beads of (rosaries made of the berries of a *Rudrāksha* (lit. 'Rudra-eyed', Rudra being a manifestation of Shiva) tree, and not in the reckoning of (*i. e.*, there was no regard or consideration paid to, or concern shown for) the body (*i. e.*, there was no '*reckoning*' of the body); *the loss* or *destruction* of the *hair of the sages* (was caused or brought about only) by their initiation for sacrifices or the performance of sacrificial acts, and not (*i. e.*, there was no loss or destruction of their children or hair) by death ; *the attachment* or *devotion* for Rāma (was created or brought about only) by the (recitation and hearing of the Rāmāyana (the celebrated great epic relating the story of Shrī-Rāma), but (there was) no love or attachment for a beatiful

young woman or lady (shown or displayed) on account of the youthfulness or attainment of the prime of life or bloom of youth (on the part of any of its inmates ; *the change* or *distortion* or decay in the shape of (wrinkles on) the face (was caused or produced only) by old age, but (there was) no contortion of the face or making wry or frowning faces (brought about by or) due to pride or arrogance of wealth. And where or in which hermitage, the *death* or *destruction of Shakuni* (the maternal uncle of Duryodhana, was to be found or met with only as being recited) in the (story of the) Mahābhārta (meaning or implying thereby that there was otherwise no actual *killing of the birds* in that hermitage) ; *the speech* (literally, prattling, incoherent jabbering,—speaking) by (or of) *the god of wind* (was solely confined to, or was to be found or met with only) in the Purāna or ancient sacred writing (referring to the *Vāyu-Purāna*, supposed to have been originally promulgated by the Wind-god ;—implying thereby that the hermitage was free from any sort of diseases or ailments, and that there was no *delirious speech or raving*,—talking incoherently and unmeaningly—caused by delirium in it) ; (where) *the falling of the teeth* (happened or took place only) at the decline of age or at a fully matured or advanced age (implying that there was no fall or *lapse from the proper* and approved *course of conduct* on the part of the Brāhmanas in the hermitage) ; (where) *the coolness* (existed or was to be found or met with only) in the sandalwood trees of the small forest or the groves of neighbourhood (implying that there was no *dulness of intellect* or stupidity on the part of any one or the students in the hermitage) ; (where) *the being covered* (lit. the being possessed of or endow-

ed) *with ashes* was (to be found or met with only in the case) of fires (implying that there was no *possession of* or being endowed with *wealth* or riches,—no affluence—to be noticed or observed in the hermitage,—the ascetics being prohibited by the religious laws to possess or keep them); (where) *the eager desire* or *excessive fondness* for listening to music or songs was (to be found or met with only in the case) of the deer or antelopes (described as being of a black colour with beautiful eyes and short legs)—(implying that there was no *evil habit* or *vicious attachment* to the practice of listening to music or songs in the hermitage) ; (where) *the falling of feathers in* or during *dancing* was (to be found or met with only in the case) of peacocks (implying that there was no *partiality* or liking *for dancing* to be found or observed in the hermitage); (where) *the hood* was (to be found or met with only in the case) of snakes (implying that there was no *enjoyment of the wordly pleasures* on the part of the ascetics in it), (where) *the eager desire for Bilwa fruits* was (found to exist only in the case) of the monkeys (implying that there was no *desire for enjoying the fruits of wealth* to be found in the ascetics in that hermitage)' and (where) *the* (act of) *going downwards*, was (to be found or met with only in the case) of roots (of trees or plants,—implying that there was no sort of degradation to be found existing in the case of the ascetics in that hermitage).

३६—तस्य चैवंविधस्य मध्मभागमण्डलमलंकुर्वाणस्याल-क्तकालोहितपल्लवस्य मुनिजनालम्बितकृष्णाजिनजलकरकस-नाथशाखस्य तापसकुमारिकाभिर्मूलभागदत्त[illegible]ङ्ग-

लस्य हरिणशिशुभिरापीयमानालवालकसलिलस्य मुनि-
कुमारकाबद्धकुशचीरदाम्नो हरितगोमयोपलेपनविविक्तत-
लस्य तत्क्षणकृतकुसुमोपहाररमणीयस्य नातिमहतः परिमण्ड-
लतया विस्तीर्णावकाशस्य रक्ताशोकतरोरधश्छायायामुप-
विष्टमत्युग्रतपोभिर्भुवनमिव सागरैः कनकगिरिमिव कुल-
पर्वतैः क्रतुमिव वैतानवह्निभिः कल्पान्तदिवसमिव रविभिः
कालमिव कल्पैः समन्तान्महर्षिभिः परिवृतमुग्रशापभियेव
कम्पितदेहया प्रणयिन्येव विहितकेशग्रहया क्रुद्धयेव कृतभ्रू-
भङ्गया मत्तयेवाकुलितगमना प्रसाधितयेव प्रकटिततिलकया
जरया गृहीतव्रतयेव भस्मधवलया धवलीकृतविग्रहमाया-
मिनीभिः पलितपाण्डुराभिस्तपसा विजित्य मुनिजनमखिलं
धर्मपताकाभिरिवोच्छ्रिताभिरमरलोकमारोढुं पुण्यरज्जुभिरि-
वोपसंगृहीताभिरतिदूरप्रवृद्धस्य पुण्यतरोः कुसुममञ्जरी-
भिरिवोद्गताभिर्जटाभिरुपशोभमानमुपरचितभस्मत्रिपुण्ड्रकेण
तिर्यक्प्रवृत्तत्रिपथगास्रोतस्त्रयेणेव हिमगिरिशिलातलेन लला-
टफलकेनोपेतमधोमुखचन्द्रकलाकाराभ्यामवलम्बितबलिशिथि-
लाभ्यां भ्रूलताभ्यामवष्टभ्यमानदृष्टिमनवरतमन्त्राक्षराभ्यास-
विवृताधरपुटतया निपतद्भिरतिशुचिभिः सत्यप्ररोहैरिव
स्वच्छेन्द्रियवृत्तिभिरिव करुणारसप्रवाहैरिव दशनमयूखैर्ध-
वलितपुरोभागमुद्वमदमलगङ्गाप्रवाहमिव जह्नुमविरतसोमोद्-
गारसुगन्धिनिश्वासावकृष्टैर्मूर्तिमद्भिरिव शापाक्षरैः सदा

मुखभागसंनिहितैः परिस्फुरद्भिरलिभिरविरहितमतिकृशतया निम्नंतरगण्डगर्तमुन्नततरहनुघोणमाकरालतारकमवशीर्यमाण-विरलनयनपक्ष्ममालमुद्गतदीर्घरोमरुद्धश्रवणविवरमानाभि-लम्बकूर्चकलापमाननमादधानमतिचपलानामिन्द्रियाश्वाना-मन्तःसंयमनरज्जुभिरिवाततताभिः कण्ठनाडीभिर्निरन्तरसंबद्ध-कंधरं समुन्नतविरलास्थिपञ्जरमंसावलम्बिधवलयज्ञोपवीत-मनिलवशजनिततनुतरंगभङ्गमुत्प्लवमानमृणालमिव मन्दाकि-नीप्रवाहमकलुषमङ्गमुद्वहन्तममलस्फटिकशकलघटितमक्षव-लयमुज्ज्वलस्थूलमुक्ताफलग्रथितं सरस्वतीहारमिव चलदङ्गु-लिविवरगतमावर्तयन्तमनवरतभ्रमिततारकाचक्रमपरमिव ध्रु-वमुन्नमता शिराजालकेन जरत्कल्पतरुमिव परिणतलतासंच-येन निरन्तरनिचितममलेन चन्द्रांशुभिरिवामृतफेनैरिव गुण-संतानतन्तुभिरिव निर्मितेन मानससरोजलक्षालितशुचिना दुकूलवल्कलेन द्वितीयेनेव जराजालकेन संछादितमासन्नवर्तिना मन्दाकिनीसलिलपूर्णेन त्रिदण्डोपविष्टेन स्फटिककमण्डलुना विकचपुण्डरीकराशिमिव राजहंसेनोपशोभमानं स्थैर्येणाच-लानां गाम्भीर्येण सागराणां तेजसा सवितुः प्रशमेन तुषार-रश्मेर्निर्मलतयाम्बरतलस्य संविभागमिव कुर्वाणं वैनतेयमिव स्वप्रभावोपात्तद्विजाधिपत्यं कमलासनमिवाश्रमगुरुं जरच्चन्द-नतरुमिव भुजंगनिर्मोकधवलजटाकुलं प्रशस्तवारणमिव प्रलम्बकर्णबालं बृहस्पतिमिवाजन्मसंवर्धितकचं दिवसमिवो-

द्यदर्कबिम्बभास्वरमुखं शरत्कालमिव क्षीणवर्षं शांतनुमिव प्रियसत्यव्रतमम्बिकाकरतलमिव रुद्राक्षवलयग्रहणनिपुणं शिशिरसमयसूर्यमिव कृतोत्तरासङ्गं वडवानलमिव सततपयोभक्षं शून्यनगरमिव दीनानाथविपन्नशरणं पशुपतिमिव भस्मपाण्डुरोमाश्लिष्टशरीरं भगवन्तं जाबालिमपश्यम् ।

महामुनिजाबालिवर्णनम्——

३९——तस्य चैवंविधस्य पूर्वोक्तस्य पूर्वविशेषणविशिष्टस्य आश्रमस्य । मध्यभागम्—अभ्यन्तरप्रदेशम् । अलंकुर्वाणस्य रक्ताशोकतरोरधश्छायायामुपविष्टम् भगवन्तं जाबालिमपश्यम् इति दूरेणान्वयः । इह द्वितीयान्तानि जाबालिमित्यस्य विशेषणानि सन्ति । पूर्वंतः षष्ठ्यन्तानि तु रक्ताशोकतरोर्विशेषणानि ।। अलक्तकालोहितपल्लवस्य——लाक्षारक्तदलस्य । अलक्तकवदालोहिताः पल्लवाः यस्य तस्य । मुनिजनालंबितकृष्णाजिनजलकरकसनाथशाखस्य——ऋषिलोकस्थापितकृष्णसारमृगचर्मनारिकेलविनिर्मितपात्रविशेषसहितविटपस्य । मुनिजनैरालम्बितानि कृष्णाजिनानि जलकरकाश्च तैः सनाथाः शाखाः यस्य तस्य । 'करंको मस्तके शस्ये नारिकेलफलास्थनि' इति विश्वः ।। तापसकन्यकाभिः——तपस्विकुमारिकाभिः । मूलभागदत्तपीतपिष्टपञ्चांगुलस्य—आशयप्रदेशस्थापितहरिद्रावर्णपटवासचूर्णबहुकरशाखाचिह्नस्य । मूलभागे दत्तानि पीतपिष्टस्य पंचांगुलानि यस्मिन् तस्य । पंचानामांगुलीनां समाहारः पंचांगुलम् । हरिणशिशुभिः मृगशावकैः । परिपीयमानालवालसलिलस्य पीयमानावापजलस्य । परिपीयमानमालवाले सलिलं यस्य तस्य । मुनिकुमारका-

बद्धकुशचीरदाम्नोः——ऋषिशिशुनद्धदर्भनिर्मितवसनरश्मेः। मुनिकुमारकैराबद्धानि कुशचीराणां दामानि यस्मिन् तस्य ।। हरितगोमयोपलेपनविविक्ततलस्य——हरिद्वर्णार्द्रगोपुरीषावलेपपवित्राधोभागस्य। हरितेन गोमयेन यदुपलेपनन्तेन विविक्तं तलं यस्य तस्य। तत्क्षणकृतकुसुमोपहाररमणीयस्य——तत्कालविहितपुष्पबलिसुन्दरस्य। तत्क्षणे कृतेनोपहारेण रमणीयस्तस्य। नातिमहतः वृहतः। परिमण्डलतया——वृत्ताकारतया। विस्तीर्णावकाशस्य——विस्तृतनिम्नगच्छायाप्रदेशस्य। रक्ताशोकतरोः——लोहितवर्णवञ्जुलभूरुहः। रक्तानामशोकानामशोककुसुमानां तरुः तस्य। अशोकस्य पुष्पमशोकम्। अवयवे च प्राप्योषधिवृक्षेभ्यः इति विहितस्याणः पुष्पमूलेषु बहुलमिति लुक्। 'वकुलो वञ्जुलोऽशोके' इत्यमरः। अधश्छायायाम्——अधोभागानातपे। उपविष्टम्——स्थितम्। सागरैः——समुद्रैः। भुवनमिव——जगदिव। कुलाचलैः——महेन्द्रादिसप्तकुलपर्वतैः। कनकगिरिमिव——मेरुमिव ।। वैतानवह्निभिः। यज्ञाग्निभिः। वितानस्यायं वैतानः——तस्येदमित्यण्। 'वितानो यज्ञ उल्लोचे' इति मेदिनी। क्रतुमिव। रविभिः——सूर्य्यैः। कल्पान्तदिवसमिव——प्रलयदिनमिव। कल्पैः कालमिव——अखण्डं समयमिव। अत्युग्रतपोभिः——प्रभूततपस्याशालिभिः। महर्षिभिः——मुनिभिः। परिवृतम्——व्याप्तम्। विहितकेशग्रहया——कृतकुन्तलावलम्बनया। प्रणयिन्या इव——वल्लभया इव। कृतभ्रूभङ्गया——विहितभ्रुकुटिकौटिल्यया। क्रुद्धया इव——कोपाविष्टस्त्रिया इव। आकुलितगमनया——स्खलितगतिकया। मत्तया इव——क्षीवया इव। प्रकटिततिलकया——प्रकाशितकृष्णवर्णचिह्नया। प्रसाधितया——कृतालङ्कारया।

भस्मधवलया---भूतिशुभ्रवर्णया । भस्मना धवला पक्षे भस्मवद्-धवला तया । गृहीतव्रतया इव---आचरितनियमया योषिता इव । जरया वार्धक्येन । धवलीकृतविग्रहम्---शुक्लीभूतशरीरम् । न धवलो धवलः कृतः विग्रहो यस्य तम् । पलितपाण्डुराभिः ---वृद्धताजन्यधावल्याभिः । आयामिनीभिः---दीर्घाभिः । आयामो दैर्घ्यमस्ति आसां ताभिः । आयाम+मत्वर्थीय इनिः---अखिलम् ---समग्रम् । मुनिजनम्---ऋषिलोकम् । तपोभिः---तपस्याभिः । विजित्य---स्वायत्तीकृत्य । उच्छ्रिताभिः---उत्तोलिताभिः । धर्म-पताकाभिरिव पुण्यध्वजैरिव । अमरलोकम्---स्वर्गम् । आरोढुम्---गन्तुम् । उपसंगृहीताभिः---एकत्रिताभिः । पुण्यरज्जुभिरिव---सुच-रितरश्मिभिरिव । अतिदूरप्रवृद्धस्य---अतिशयवृद्धि गतस्य । पुण्यतरोः ---तपस्याभूरुहः । उद्गताभिः--उत्थिताभिः । कुसुममंजरीभिरिव ---सुमनोवल्लरीभिरिव । जटाभिः---सटाभिः । वा संगृहीतकेशैः । उपशोभमानम्---मण्डितम् । तिर्य्यक्प्रवृत्तगङ्गास्रोतस्त्रयेण---विषम्-धारागतजाह्नवीप्रवाहत्रितयेन । तिर्य्यक्प्रवृत्तं गङ्गायाः स्रोतस्त्रयम् यत्र तेन । हिमगिरिशिलातलेन इव---हिमालयमहापाषाणखण्डेन इव । उपरचितभस्मत्रिपुंड्रकेन---कृतभूतिमस्तकतिर्य्यक्रेखात्रयेण । ललाटफलकेन---भालप्रदेशेन । उपेतम्---सहितम् । अत्र त्रिपुण्ड्रकः स्रोतस्त्रयेणोपलक्षितम् । ललाटफलकम्---शिलातलेनोपलक्षितम् । अधोमुखचन्द्रकलाकाराभ्याम्---अवनताननशशिरेखाकृतिभ्याम् । अधोमुखी या चन्द्रकला तस्या आकार इवाकारो ययोस्ताभ्याम् । अवलम्बितबलिशिथिलाभ्याम्---आश्रितशिथिलचर्मश्लथाभ्याम् । 'बलिश्चर्मतरङ्गे च जरया श्लथचर्मणि' इति विश्वः । अवलम्बिता

बलिः तया शिथिले ताभ्याम् । भ्रूलताभ्याम् अवष्टभ्यमान-दृष्टिम्—आश्रीयमाणदर्शनसामर्थ्यम् । अनवरतमंत्राभ्यासविवृताधर-पुटतया—निरन्तरजपपौनःपुन्यव्यादत्तौष्ठयुगलतया । निष्पतद्भिः—निर्गच्छद्भिः । अतिशुचिभिः—अत्यन्तशुभ्रैः । सत्यप्ररोहैरिव-यथार्थवाक्यांकुरैरिव । स्वच्छेन्द्रियवृत्तिभिः—निर्मलकरण-व्यापारैः । करुणारसप्रवाहैरिव—अनुकम्पास्वादनिर्झरैरिव । दशनम-यूखैः—दन्तकान्तिभिः । धवलितपुरोभागम्—निर्मलसम्मुखप्रदे-शम् । उद्वमदमलगंगाप्रवाहम्—निर्वान्तस्वच्छजाह्नवीस्रोतसम् । जह्नुमिव—तदाख्यं मुनिमिव । अनवरतसोमोद्गारसुगंधिनिः-श्वासावकृष्टैः । निरन्तरनिपीतसोमरसोद्गिरणसुरभिश्वासवायु-समाकर्षितैः । अनवरतं सोमस्योद्गारः तेन सुगन्धिना निःश्वासेन अवकृष्टास्तैः । मूर्त्तिमद्भिः—सशरीरैः । शापाक्षरैरिव—आक्रोश-वर्णैरिव । सदामुखभागसन्निहितैः सर्वदाननप्रान्तस्थितैः । परिस्फुर-द्भिः—स्यन्दमानैः । अलिभिः—भ्रमरैः । अविरहितम्—सहितम् । अतिकृशतया—नितान्तक्षीणशरीरतया । निम्नतरगण्डगर्त्तम् - अधिक-गम्भीरगर्त्तीभूतगण्डस्थलम् । उन्नततरहनुघोणम्—अत्युच्चचिबुकना-सिकम् । गण्डयोर्निम्नत्वादितिभावः । उन्नततरे हनुश्च घोणा च ते यस्य तम् । आकरालतारकम्—अत्युग्रकनीनिकम् । अव-शीर्य्यमाणविरलनयनपक्ष्ममालम्—क्षीयमाणाल्पनेत्रलोमश्रेणिकम् । अवशीर्य्यमाणा विरला नयनयोः पक्ष्ममाला यस्य तत् । उद्गतदीर्घरोमरुद्धश्रवणविवरम्—उत्पन्नायतलोमावृतकर्णरन्ध्रद्वयम् । उद्गतैः दीर्घैः रोमभिः रुद्धे श्रवणविवरे यस्मिन् तत् आनाभिलम्बितकूर्चकलापम्—नाभिपर्य्यन्तपतितश्मश्रुराजिकम् ।

आनाभिलम्बितः कूर्चकलापो यस्मिन् तत् । आननम्—मुखम् । आदधानम्—धारयन्तम् । अतिचपलानाम्—नितान्तचञ्चलानाम् । इन्द्रियाश्वानाम्—करणवाजिनाम् । अन्तःसंयमनरज्जुभिरिव—अभ्यन्तरमानसबन्धनरश्मिभिरिव । अन्तःसंयमनार्थं रज्जवस्ताभिः । आतताभिः—विस्तीर्णाभिः । कण्ठनाडीभिः—गलदेशीयशिराभिः । निरन्तरावनद्धकन्धरम्—सान्द्रसम्पृक्तग्रीवम् । समुन्नतविरलास्थिपञ्जरम्—उच्चाल्पास्थिसमूहम् । अंसावलम्बितधवलयज्ञोपवीतम्—स्कंधाश्रितशुक्लयज्ञसूत्रम् । अनिलवशजनिततनुतरङ्गभङ्गम्—वातप्रेरणकृतक्षुद्रोर्मिकौटिल्यम्—अनिलवशेन जनितः तनूनां तरङ्गाणां भङ्गो यस्मिन् तत् । उत्प्लवमानमृणालमिव—तीर्य्यमाणविसखण्डमिव । मन्दाकिनीप्रवाहमिव—आकाशगङ्गास्रोत इव । अकलुषम्—निर्मलम् । अङ्गं देहं उद्वहन्तम्—धारयन्तम् । अमलस्फटिकशकलघटितम्—निर्मलस्फटिकखण्डरचितम् । अमलैः स्फटिकशकलैः घटितस्तम् । चलदंगुलिविवरगतम्—चञ्चलकरशाखारन्ध्रस्थितम् । चलन्तीनामंगुलीनां विवरेषु गतम् । अक्षवलयम्—जपमालाम् । अत्युज्वलस्थूलमुक्ताफलग्रथितम्—दीप्ततरवृहत्मौक्तिकरचितम् । सरस्वतीहारमिव—वाग्देवीमालामिव । आवर्त्तयन्तम्—भ्रामयन्तम् । अनवरतभ्रमिततारकाचक्रम्—अविरतचलितकनीनिकाद्वयम् । पक्षे चालितनक्षत्रसमूहम् । अपरम्—द्वितीयम् । ध्रुवमिव—ध्रुवाख्यनक्षत्रमिव । उन्नमता—ऊर्ध्वं नयता । शिराजालकेन—नाडीसमूहेन । पक्षे तनुजडसंघेन । जरत्कल्पतरुमिव—जीर्णकल्पतरुमिव । परिणतलतासंचयेन-निर-

न्तर निचितम्—परिपक्ववल्लिसमूहानवरतव्याप्तम् । अमलेन—अवदातेन । चन्द्रांशुभिरिव—शशिकलाभिरिव । अमृतफेनैरिव—सुधाहिंडीरैरिव । गुणसन्तानतन्तुभिरिव प्रशंसनीयधर्मपुञ्जसूत्रैरिव । निर्मितेन रचितेन । मानससरोजलक्षालितशुचिना—मानसाख्यह्रदवारिमार्जनपवित्रेण । मानससरसजलेन यत्क्षालनं तेन शुचिस्तेन । दुकूलवल्कलेन—क्षौमवसनवल्केन । द्वितीयेन—अपरेण । जराजालकेन इव—वार्धक्यसमूहेन इव । संछादितम्—आवृतम् । आसन्नवर्त्तिना—सन्निहितेन मन्दाकिनीसलिलपूर्णेन—आकाशगंगाजलपूरितेन । त्रिदण्डोपविष्टेन—काष्ठमयत्रिपादिकास्थेन—त्रयो दण्डा यस्मिन् इति त्रिदण्ड: तस्मिन् उपविष्टस्तेन । स्फाटिककमण्डलुना—स्फटिकनिर्मितजलपात्रेण । राजहंसेन—कादम्बेन । विकचपुण्डरीकराशिमिव—विकसत्पद्मसमूहमिव । उपशोभमानम् । स्थैर्य्येण—स्थिरत्या । अचलानाम्—पर्वतानाम् । गाम्भीर्य्येण—गभीरतया । सागराणाम् । तेजसा—प्रतापेन । सवितुः—सूर्य्यस्य । प्रशमेन—शान्त्या । तुषाररश्मेः—चन्द्रस्य । निर्मलतया । अम्बरतलस्य—आकाशस्य । संविभागम्—पृथगवयवम् । कुर्वाणमिव—विदधतमिव । वैनतेयमिव—गरुडमिव । विनताया अपत्यं वैनतेयः । स्त्रीभ्यो ढक् । स्वप्रभावोपात्तद्विजाधिपत्यम्—निजमहिमप्राप्त ब्राह्मणस्वाम्यम् । पक्षे पक्षिस्वामित्वम् । स्वप्रभावेणोपात्तं द्विजानामाधिपत्यं येन तम् । कमलासनमिव—विधातरमिव । आश्रमगुरुम्—तपोवनस्थमुनिजनाध्यापकम्—ब्रह्मचर्य्यादिप्रवर्त्तकम् । जरच्चन्दनतरुमिव—जीर्ण-

पाटीरवृक्षमिव । भुजङ्गनिर्मोकधवलजटाकुलम्—सर्पकञ्चुकस्वच्छसटाव्याप्तम् ।। भुजङ्गस्य निर्मोकवद्धवला जटा, पक्षे भुजङ्गनिर्मोको धवला जटा इव ताभिः । आकुलस्तम् । प्रशस्तवारणमिव—महागजमिव। प्रलम्बकर्णवालम्—दीर्घश्रोत्ररोमकम् । वृहस्पतिमिव—धिषणमिव । आजन्मसंवर्धितकचम्—जन्मनः प्रभृति समेधितकेशम् । पक्षे जननादारभ्य पोषितकचनामकस्वसुतम् । आजन्मनः वर्धिताः कचाः, पक्षे वर्धितः कचः येन तम् । दिवसमिव—वासरमिव ।। उद्यदर्कविम्बभास्वरमुखम्—उदयमानरविमण्डलभासुरप्रभातम् । उद्यन् योऽर्कस्तस्य विम्बवत् भास्वरं मुखम् यस्य तम् । पक्षे उद्यताऽर्केन भास्वरं मुखं यस्य तम् । 'विम्बोऽस्त्री मण्डलं त्रिषु' इत्यमरः । शरत्कालमिव—घनात्ययसमयमिव । क्षीणवर्षम्—क्षपितवत्सरम् । पक्षे स्वल्पवृष्टिम् । क्षीणानि वर्षाणि यस्य पक्षे क्षीणा वर्षा यस्मिन् तम् । क्षि+क्तः क्षियोदीर्घात्—निष्ठा तस्य नः क्षीणः । लिटि चिक्षाप चिक्षिपतुः । लुङि अक्षैषीत् ।। शान्तनुमिव—एतन्नामकचन्द्रवंशीयनृपमिव । प्रियसत्यव्रतम्—इष्टसत्यवचनव्यवहारनियमम् । अभीष्टभीष्मम् । प्रियं सत्यव्रतं यस्य, पक्षे प्रियः सत्यव्रतो यस्य तम् । अम्बिकाकरतलमिव—दुर्गापाणितलमिव । रुद्राक्षग्रहणनिपुणम्—रुद्राक्षमालाऽऽदानदक्षम् ।। पक्षे शिवनेत्रपिधानकुशलम् । रुद्राक्षाणां ग्रहणे पक्षे रुद्रस्याक्षस्य ग्रहणे निपुणस्तम् । शिशिरसमयसूर्य्यमिव—शीतकालदिनकरमिव । कृतोत्तरासङ्गम्—स्कंधधारितोत्तरीयवस्त्रसम्बंधम् ।। पक्षे विहितकौबेरीदिक्संसर्गम् । कृत उत्तरस्यासंगो येन पक्षे कृतः—उत्तरायाः सङ्गो येन तम् । वडवानलमिव—सततपयोभक्ष्यम्—अविरतदुग्धभोजनम् ।

पक्षे निरन्तरजलदहनम् । सततं पय एव भक्ष्यं यस्य तम् । शून्यनगरमिव—निर्जनपुरमिव । दीनानाथविपन्नशरणम्—दुर्गतारक्षकापन्नरक्षकम् । पक्षे—भयावहजनहीनवास्तव्यभग्नगृहम् । 'शरणं गृहरक्षित्रो'रित्यमरः । दीनानामनाथानां विपन्नानां शरणम् तम् । पक्षे—दीनानि अनाथानि विपन्नानि शरणानि यस्मिन् तम् । पशुपतिमिव—शिवमिव । भस्मपाण्डुरोमाश्लिष्टशरीरम्—भूतिश्वेतकेशालिङ्गितदेहम् । भस्मवत् पाण्डुराणि लोमानि तैः आश्लिष्टं शरीरं यस्य तम् । भस्मना पाण्डुरोमभिश्चाश्लिष्टं शरीरं यस्य तम् । भगन्तम्—माहात्म्यवन्तम् । जाबालिं मुनिमपश्यम्—अवलोकितवान् ।

३९—इस प्रकार के (अर्थात् जैसा कि अभी वर्णन किया गया उसके समान) उस आश्रम के मध्यभाग को अलंकृत करने वाले एक रक्त (लाल फूल वाले) अशोक-वृक्ष की छाया में बैठे हुए भगवान् (ऋषि) जावालि को मैंने (शुक ने) देखा । उसके (अशोक वृक्ष के) पत्ते लाख के समान लाल थे, उसकी शाखाएँ ऋषियों के द्वारा लटकाये हुए काले मृगचर्मों और जल-पात्रों (नारियल की खोपड़ी से वने जलपात्रों) से युक्त रहती थीं; तापस-कुमारियों ने उसके मूल भाग पर हल्दी के चूर्ण (के लेप) से थापे (पाँचों अँगुलियों सहित हथेली के बिम्ब) लगा रखे थे; उस वृक्ष के थाले में से हिरनों के बच्चे जल पिया करते थे; ऋषि-वालकों ने उस पर कुश के बने पुराने वस्त्रों की डोरी (अथवा मालाएँ) बाँध दी थीं (अर्थात् उन्हें मालाओं के रूप में चढ़ाया था); उसके तले की भूमि हरे (अर्थात् ताजे) गोवर के लेपन से पवित्र बना दी गयी थी [लिपने के कारण दूसरी भूमि से विविक्त (अर्थात् अलग-सी) हो गई थी]; उसी समय चढ़ायी गयी पुष्पों की बलि से वह वृक्ष (अत्यन्त) रमणीय दिखाई पड़ रहा था; वह (यद्यपि) अत्यन्त विशाल नहीं था, (तथापि) परिमण्डल (चारों ओर के फैलाव) के कारण उसके नीचे का छाया-प्रदेश (खूब) फैला हुआ था। (इस प्रकार के उस अशोक वृक्ष की छाया में बैठे हुए जाबालि

ऋषि) अत्यन्त उग्र तप करने वाले महर्षियों से उसी प्रकार घिरे थे जिस प्रकार समुद्रों से भुवन (भूमण्डल), कुलपर्वतों से (पुराणों के अनुसार ये सात प्रमुख पर्वत हैं) सुमेरु पर्वत, यज्ञाग्नियों (दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य तथा आहवनीय) से यज्ञ, (प्रलयकालीन बारह) सूर्यों से प्रलय-दिवस और कल्पों (युगान्तों) से काल घिरा रहता है। इन जावालि मुनि के शरीर में वृद्धावस्था आ चुकी थी। इस वृद्धावस्था का शरीर, इस भय से कि जावालि उग्र शाप न दे दें, काँपता रहता था (मानो इसीलिए वृद्ध जावालि का शरीर भी काँप रहा हो); प्रियतमा की भाँति उसने (वृद्धावस्था ने) उनके केशों को पकड़ लिया था (स्त्री रति-कलह में केश पकड़ लेती है, वृद्धावस्था ने मानो केशों को पकड़ लिया हो और इसी कारण वे श्वेत हो गये हों); कुपिता स्त्री की भाँति उसने भौंहें कुटिल कर ली थीं (कुपिता भौंहें चढ़ा लेती है, वृद्धावस्था के कारण भौंहों में झुर्रियाँ पड़ गयी थीं); उन्मत्ता के समान वह (वृद्धावस्था) लड़खड़ाती हुई चलती थी (वृद्धावस्था में भी पैर डगमगाने लगते हैं); आभूषित नारी के समान उसका तिलक दिखाई पड़ रहा था (स्त्री मस्तक में तिलक लगाती है, वृद्धावस्था में शरीर पर काले-काले दाग पड़ जाते हैं अर्थात् मसे निकल आए थे); व्रत धारण करने वाली स्त्री के समान वह भी भस्म-धवल दीख पड़ती थी (व्रतधारिणी शरीर पर भस्म लगाने के कारण सफेद दिखाई पड़ती है, वृद्धावस्था शरीर को भस्म के समान श्वेत बना देती है)। इस प्रकार की वृद्धावस्था के कारण उनका (जावालि का) शरीर श्वेत बना दिया गया था (अर्थात् उनके रोम तक श्वेत हो गये थे)। वे (जावालि) लम्बी और (वृद्धावस्था में) पकने के कारण श्वेत जटाओं से सुशोभित हो रहे थे, जो (जटा) ऐसी मालूम पड़ती थी मानो तप से समस्त ऋषियों को जीतकर ऊँची उठाई हुई धर्म-पताका हो, स्वर्गलोक में चढ़ने के लिए इकट्ठा की गई पुष्पों की रस्सी हो, खूब बढ़े हुए तपरूपी वृक्ष से निकली हुई पुष्प-मञ्जरी हो। उनका मस्तक, जिस पर भस्म का त्रिपुण्ड्र लगा हुआ था, ऐसा प्रतीत होता था मानो तिरछी होकर बहती हुई त्रिपथगा

(गङ्गा) के तीन प्रवाहों से युक्त हिमालय का (कोई) शिलातल हो। उनकी दृष्टि औंधा कर (उलटकर) रखी हुई चन्द्र-कला के समान आकार वाली (अर्थात् वृद्धावस्था के कारण श्वेत उनकी भौंहें ऐसी मालूम पड़ती थीं मानो द्वितीया के चन्द्र को उलट कर उसके सिरों को अधोमुख करके रख दिया गया हो); और वृद्धावस्था की झुर्रियों के कारण शिथिल होकर नीचे की ओर लटकने वाली भ्रू-लताओं से अवरुद्ध हो रही थी। निरन्तर मन्त्रों के अक्षरों का जाप करने के कारण खुले हुए अधर-पुटों से निकलती हुई, अत्यन्त शुभ्र, सत्य के अंकुर के समान (प्रतीत होने वाली), इन्द्रियों की स्वच्छ (अर्थात् पाप या कालुष्य-रहित) वृत्तियों तथा करुण रस के प्रवाह के समान (निर्मल) लगने वाली दन्त-रश्मियों के कारण उनके सामने का प्रदेश धवल हो गया था, जिससे वे (जाबालि) गङ्गा के निर्मल प्रवाह को (अपने कानो में से उगलते हुए) जह्नु नामक (ऋषि) के समान दिखाई पड़ रहे थे। नाभि तक लटकते हुए श्मश्रु-समूह (दाढ़ी-मूँछ) से युक्त उनका मुखमण्डल था (शाब्दिक अर्थ—वे इस प्रकार का मुख धारण करते थे)। वह (मुखमंडल) निरन्तर पिये हुए सोमरस की डकार से सुगन्धित निश्वास से आकृष्ट होकर, मुख प्रदेश के निकट मूर्तिमान शाप के अक्षरों के समान सदैव उपस्थित और (मुखमंडल के चारों ओर) मँडराने वाले भौंरों से (एक क्षण के लिए भी) रहित नहीं होता था। अत्यधिक कृशता के कारण (उनके मुखमंडल पर) गाल के गड्ढे अत्यन्त गहरे, ठोड़ी और नाक और भी ऊँचे, आँखों की पुतलियाँ अत्यन्त उग्र और बरौनियों तथा भौंहों के रोम, जीर्ण होने के कारण, बहुत ही विरल (घने नहीं) थे तथा लम्बे-लम्बे रोमों ने निकल कर कानों के विवर को रुद्ध कर दिया था। वह कलुष-हीन शरीर धारण किये हुए थे (अर्थात् उनका शरीर पवित्र और निष्कलुष था)। (उस शरीर की) अर्थात् उन ऋषि की गर्दन, गले की खूब घनी या पास-पास सटी हुई नसों से इस प्रकार कसी हुई थी, मानो अत्यन्त चञ्चल इन्द्रिय-रूपी घोड़ों को अन्तःकरण के द्वारा संयमित करने की लगाम या रस्सी के

रूप में (वे नसें गर्दन पर) फैली हुई हों; (उन ऋषि का शरीर) ऊपर उठी हुई (अर्थात् कृशता के कारण हड्डियाँ ऊपर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती थीं) और विरल (घनी नहीं) हड्डियों का पञ्जर (मात्र) ही था; उनके (शरीर के) कन्धे पर धवल यज्ञोपवीत सुशोभित हो रहा था। इस प्रकार उनका शरीर ऐसा मालूम होता था मानो वायु के कारण उत्पन्न होने वाले छोटे-छोटे तरङ्ग-भंगों (तरंग-खंडों) से तथा पानी के ऊपर उतराते हुए मृणालों से युक्त गंगा का प्रवाह हो (ऊपर उठी हुई हड्डियों के ढाँचे की उपमा वीचियों से और मृणाल की उपमा यज्ञोपवीत से दी गई है)। स्वच्छ स्फटिक के टुकड़ों की बनी हुई और उज्ज्वल और बड़े-बड़े मुक्ताओं से गुँथे हुए सरस्वती के हार के समान दिखाई पड़ने वाली अक्षमाला को (माला जपने की क्रिया में) हिलती हुई अँगुलियों के बीच लेकर (वे ऋषि) उसे घुमा रहे थे (अर्थात् जप रहे थे), अतएव वे ऐसे दिखाई पड़ते थे मानो दूसरे ध्रुव, जिसके कि चारों ओर सदैव नक्षत्र-समूह घूमता रहता है, ही हों (स्थिर बैठे हुए ऋषि ध्रुव के समान और जपने के समय मालारूप में घूमते हुए श्वेत स्फटिक के दाने ध्रुव की चारों ओर चक्कर लगाने वाले तारक-समूह के समान मालूम पड़ते थे); ऊपर उभड़ी हुई नसों से पूरी तरह व्याप्त उनका शरीर पूर्ण वृद्धि को प्राप्त लता-समूह से पूर्णतया व्याप्त पुराने कल्पवृक्ष के समान प्रतीत होता था; विमल चन्द्रकिरणों, अमृतफेन तथा (कारुण्य, तपश्चर्या आदि) गुण-समूह के तन्तुओं से निर्मित मालूम पड़ने वाले, मानस सरोवर के जल में धो जाने के कारण पवित्र और रेशमी वस्त्र के समान दिखाई पड़ने वाले वल्कल से ढके हुए (अर्थात् वल्कल को धारण किये हुए) वे ऋषि ऐसे प्रतीत होते थे मानो वृद्धावस्था के दूसरे जाल अथवा समूह ने उनके शरीर को ढक लिया हो; गङ्गाजल से पूर्ण, निकट ही तिपाई पर रखे हुए स्फटिकनिर्मित कमण्डलु के कारण वे इस प्रकार दिखाई पड़ रहे थे मानो विकसित श्वेत पद्म-समूह राजहंस की (सन्निकट) उपस्थिति से सुशोभित हो रहा हो; ऐसा मालूम होता था कि वे पर्वतों में अपनी स्थिरता,

सागरों में गम्भीरता, सूर्य में तेज, चन्द्रमा में शान्ति, आकाश में निर्मलता बाँट रहे हों (अर्थात् उनमें इन गुणों का आधिक्य था); जिस प्रकार गरुड़ ने अपने प्रभाव से समस्त द्विजों (पक्षियों) पर स्वामित्व प्राप्त कर लिया था, उसी प्रकार उन्होंने समस्त द्विजों (ब्राह्मणों) पर आधिपत्य प्राप्त कर रखा था; जिस प्रकार ब्रह्मा (ब्रह्मचर्यादि) आश्रमों के गुरु (नियन्ता) हैं, उसी प्रकार जावालि भी उस आश्रम के गुरु अथवा नियामक थे; जिस प्रकार पुराने चन्दन के वृक्ष को जटाएँ सर्पों की केचुलियों से श्वेत हो जाती हैं, उसी प्रकार उनकी जटाएँ भी सर्प के केचुल के समान श्वेत थीं; जिस प्रकार विशाल हाथी का कर्ण (कान) और बाल (पूँछ के बाल) लम्बे और बड़े होते हैं, उसी प्रकार उनके कानों के बाल भी लम्बे थे; जिस प्रकार (सुरगुरु) बृहस्पति ने (अपने पुत्र) कच का जन्म से ही संवर्द्धन (पालन-पोषण) किया था, उसी प्रकार उन्होंने भी जन्म से अपने कच (बालों) को बढ़ने दिया था; जिस प्रकार दिन का मुख (प्रारम्भिक भाग) उदय होते हुए सूर्यमण्डल (की प्रभा) से प्रकाशमान रहता है, उसी प्रकार उनका मुख भी उदय होते हुए सूर्यमण्डल की प्रभा से प्रकाशमान था; जिस प्रकार शरत्-काल क्षीणवर्ष (जब वर्षा क्षीण हो जाती है अर्थात् वर्षा नहीं होती) होता है, उसी प्रकार जाबालि भी क्षीणवर्ष थे (अर्थात् उनके जीवन के बहुत वर्ष क्षीण हो चुके थे या बीत चुके थे); शान्तनु को जिस प्रकार (अपना पुत्र) सत्यव्रत (भीष्म) प्रिय था, ऋषि को भी उसी प्रकार सत्यव्रत (सत्यवचन, सत्याचार आदि) प्रिय था; अम्बिका (पार्वती) जिस प्रकार रुद्राक्षवलय (शिव की गोल आँख) ग्रहण (क्रीड़ा में बन्द) करने में निपुण हैं, ऋषि भी उसी प्रकार रुद्राक्ष का वलय (माला) ग्रहण करने में निपुण थे; शिशिरकालीन सूर्य जिस प्रकार उत्तरासङ्ग (उत्तर दिशा का संग अर्थात् उत्तर दिशा की ओर गमन प्रारम्भ कर देता है, उत्तरायण) हो जाता है, उसी प्रकार ऋषि ने भी उत्तरासंग (उत्तरीय वसन) धारण कर रखा था; जिस प्रकार वडवाग्नि सदैव पय (जल) का भक्षण अथवा पान करता है उसी

प्रकार जावालि भी सदैव पय (दूध) पिया करते थे; जिस प्रकार जनशून्य नगर दीन (शोभाशून्य), अनाथ (गृहस्वामी-रहित) तथा विपन्न (टूटे-फूटे) शरणस्थलों (घरों) से युक्त रहता है, उसी प्रकार वे दीनों, अनाथों और विपन्नों (दुःखियों) की शरण थे (उनको शरण देने वाले थे) और जिस प्रकार शंकर भगवान् का शरीर भस्म के कारण श्वेत रोम-समूह से व्याप्त है, उसी प्रकार उनका शरीर भी (वृद्धावस्था के कारण) भस्म के समान श्वेत रोम-समूह से व्याप्त था ।

शब्दार्थ—जलकरकः—कमंडलु; मूलभागः—जड़ के निकट का प्रदेश; पीतपिष्टम—हल्दी के चूर्ण का लेप; पञ्चांगुलम्—पाँचों अंगुलियों का बिम्ब, थापा, आलवालक—थाला; गोमयः—गोबर; विविक्तम्—अलग किया हुआ, पवित्र; क्रतुः—यज्ञ; वैतानवह्निभिः—वितानस्य यज्ञस्य इमे इति वैतानाः, ये अग्नियाँः, यज्ञ की दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य तथा आहवनीय अग्नियाँ हैं; आयामिनी—विस्तीर्ण; उपसंगृहीतम्—स्वीकार की हुई; इकट्ठी की गई; त्रिपथगा—गंगा; वलि—श्लथ चर्म, झुर्री; अवष्टभ्यमान—अवरुद्ध होती हुई; उद्गारः—डकार; घोणा—नाक; नाडी—शिरा; जह्नुः—भगीरथ के प्रयत्न से भूलोक में अवतरित गंगा ने जह्नु की यज्ञभूमि को प्लावित कर दिया । क्रुद्ध होकर जह्नु ने गंगा को पी लिया । भगीरथ के प्रार्थना करने पर उन्होंने उसे अपने कान से निकाल दिया; त्रिदंडः—त्रिपदिका, तिपाई; तुषाररश्मिः—चन्द्रमा, वैनतेयः—गरुड़; वारणः—हाथी ।

39. I saw the venerable or illustrious sage Jābali, *who* was seated in the shade under or beneath a red (*i. e.*, red-flowering) Ashoka tree, *that* was adorning or decorating the large or great circular region or space of the central part of that hermitage of such a description (as given in the last two immediately preceding paragraphs), the tender leaves of *which* (tree) were of a slightly red hue or reddish in colour like that of lac-dye, the boughs or branches of *which* were

endowed with or had the skins of the black deer or antelopes, and the pitchers or jars of water [करक=the water pot of the ascetic or the religious student, the shell of the cocoanut hollowed to form a vessel,—hence the water vessels or pots] suspended or hung down (from them) by the ascetics or sages, at the roots or basic part of *which* were made (lit. imparted) the marks or impressions with the five-fingers (joined togather,—*i. e.*, the full open palms, of their hands) dipped in (lit. with) moistened yellow flour paste or the auspicious turmeric pigment, by the ascetic girls or young maidens of the ascetics or sages, the water in the basin of *which* was being drunk by the young ones of the deer or antelopes, *which* (tree) had the cords or strings (*i. e.*, the threads) of old and torn or tattered garments, made of Kusha grass, tied or fastened to it by the young ascetics (*i. e.*, the ascetic youths or young boys of the ascetics), the ground floor or surface underneath or under *which* (tree) was sanctified or made pure or holy (*i. e.*, made conspicuous, being kept apart or separated) by the plastering or besmearing of it with green or fresh cow-dung, *which* appeared (or was made to present a) charming or attractive (appearance) on account of the offerings or showers of flowers just or recently made (lit. made that very moment) by it [that is, the showers of flowers that it had just then shed, made it look beautiful], *which* was not very large or spacious, (but) *which*, on account of its (great) orbit or circumference (spreading all round), had (*i. e.*, occupied or covered) a large space (included within it or in its scope ; *who*—*like* the globe of the earth, as it were, being surrounded or encircled on all sides by the (seven) seas or oceans, *like* the mountain Meru (lit. the 'gold-mountain'), as it were, being

surrounded or enclosed on all sides by the *'Kula-Parvatas'* or the (seven) principal mountains, *like* a sacrifice or a sacrificial rite or ceremony, as it were, being surrounded on all sides by the (three well-known) sacrificial fires, *like* the day of universal destruction or dissolution (lit. the day 'at the end of a *Kalpa*,'—a fabulous period of time, a day of Brahmā or 1,000 *yugas*—a period of four hundred and thirty-two million years of mortals, measuring the duration of the world, at the end of which the world is annihilated or destruction takes place, --the dooms-day of the other peoples), as it were, being surrounded or encompassed on all sides by the (twelve fiercely burning) suns, *like* time, as it were, being limited or fully circumscribed by (*i. e.*, consisting of or being divided over) the *Kalpas* or particular fabulously long periods (thereof),—was surrounded on all sides by the great sages who had performed very severe or austere penances, *who* had his body whitened or made grey or white by old age, *which* had caused a (natural) tremour or shaking of his body or made his body tremble or quiver, and *which* itself had its body trembling or made to tremble, as though on account of the fear of a terrible curse, as it were (from the sage), *which* (old age) had seized or laid hold of his hair (*i. e.*, made his hair grey or white), and *which* itself had its hair seized or caught hold of, as though by a mistress or loving woman (in an amorous sport or love quarrel), as it were, *which* had caused a contraction (*i. e.*, curving and furrowing) of his eye brows (*i. e.*, caused wrinkless and furrows to appear on his eyebrows), and *which* itself had its eyebrows contracted (*i. e.*, had put on a frown), like an angry woman, as it were, having had her eyebrows contracted or knit up in an angry or frowning

mood, *which*, like an intoxicated women, as it were, having her gait or movements made faltering (on account of drunkenness), had made his gait faltering or unsteady (lit. 'confused or agitated' etc;), *which*, like a well decorated lady or woman, as it were, with the (beauteous ornamental) mark on her forehead (made with saffron etc.) having been (fully) displayed or shown (to advantage), had caused moles* to appear, or had dark moles or spots produced or made manifest (on his body), and *which* (old age), like a lady having undertaken (*i. e.*, observing or undergoing) a vow, as it were, and looking grey or white (on account of her body being besmeared) with the holy ashes, was white (i. e., had made the aged saint's body white) like ashes; *who* was looking adorned or decorated with (or on account of) the matted locks of his hair, *which* were very long (or long-stretching or extending), *which* were yellowish white or pale in colour on account of their hoariness or old age (or the hair of which had become grey and hoary), *which* had (very much) increased in size or bulk, or grown prosperous or very tall or high, and (as such) looked as though they were the banners or flags (that were long or far-outstretched, and whitish in colour like the hoariness of old age) of religious merit or righteousness, as it were, having been hoisted or lifted up (by him,—*i. e.*, by the sage Jābāli, as a sign or mark of his victory) after having conquered (*i. e.*, excelled or surpassed) the entire body or assemblage of the sages or ascetics through (or by the effect or influence of) his superior) penance,

*तिलक or Tilaka is a freckle or dark spot, or a natural mark under the skin,—a kind of eruption of the skin due to old age.

which (being collected up together) were like (or looked as though they were) the ropes of moral or religious virtues or merits (or of holiness or righteousness), as it were, collected together for the purpose of making or enabling him to ascend or climb up to heaven or the region or world of the immorta-ls, and *which* being raised or cast up) were like (or looked as though they were) the clusters of blossoms, or the branching stalks or shoots and sprouts of flowers, as it were, of the tree of religious merit or moral virtue, that (tree) had grown very long and high, having shot up (*i. e*, the clusters of blossoms having shot up) or risen very high (lit. 'gone or risen up', 'proceeded forth' etc.); *who* was endowed with or possessed of a broad forehead (lit. 'the flat surface of the forehead'), *which* had a *tri-lineal* mark (or a mark consisting of three slightly curved lines) made on it with the holy ashes, and *which* (as such) was like (or seemed as though it were) the flat surface of a huge slab or rock of the Himalaya or *Snow-Mountain*, from or through which had proceeded or flowed forth in an oblique or slanting direction, the three streams of the holy Ganges (lit.—'going or flowing through the three paths or ways'—*viz.*, the heaven, the earth and the lower regions,—an epithet of the Ganges), as it were; *whose* eyes were being supported or protected by (*i. e.*, had leaning or resting upon, or overhanging on them) his creeper-like or arched eye-brows (lit. 'brow-creepers'), *which* (eye-brows) were in form like (or resembled) the (two separate) digits of the moon's disc, or the (two separate) crescents of the new moon (with both their pointed ends or horns) turned downwards or upside down, and *which* had become flabby or loose on account of the wrinkles (*i. e.*, the natural lines or

folds of skin caused by old age) that were (loosely) hanging down from (or that had formed themselves upon) them; *who* had the front part (of his body) or the space in front of him whitened or brightened up with the rays of (light emanating from) his teeth *which* (rays) were (every now and then, or continually) issuing or flowing forth (lit. 'falling down' 'descending',—*i. e.*, proceeding from, or shooting out of, his mouth) on account of the hollow or cavity between his lips (*i. e.*, the hollow or cavity of his mouth) being (so frequently opened in the course or practice of his constant repetition or pronouncing of the words, letters or syllables of the sacred mystical verses or texts (*i. e.*, of the mystical formulæ), *which* were very pure, *which* (rays) were like the tender shoots or sprouts of (the tree of) Truth, as it were, *which* were like the pure or stainless activities or serene functionings or leanings of his senses, as it were, *which* were like the (coutinuously flowing) streams or currents of the pathetic sentiment or the sentiment of compassion or pity, as it were, and *who* (in that state, *i. e.*, while the rays of light emanating from his teeth were issuing out of his month) seemed or appeared as though he were (the sage) *Janhu* letting off (lit. 'emitting or vomiting forth') the pure stream (*i. e.*, the pellucid or clear waters) of the Ganges, as it were;—*who* was never destitute of or separated or free from (*i. e.*, was ever or constantly surrounded by) the black bees, *which* were attracted or drawn by his breath (lit. 'inspiration or inhaling') that was fragrant with the uninterrupted or continual vapourous emissions or eructations of Soma (drunk by him in the course of his sacrifices), *which* (black bees) were like the (very) letters or syllables incarnate or in bodily form, of (the word) Curse.

as it were, *which* were always present near (lit. 'placed near together,'—*i. e.*, were hovering about in the vicinity of) his face or mouth, and *which* were flashing about (or hovering near him);—*who* had (lit. 'was having or putting on,' 'appropriating to himself' or 'bearing') a face, *which*, on account of his extreme or great emaciation or leanness, had the dimples or small natural depressions on his cheeks rendered very deep or made *deeper* still, the chin and the nose of *which* (face) looked or were looking very prominent (lit, 'raised higher or still more upwards,'—on account of the extreme depression of the cheeks), the pupils of (the eyes of) *which* (face) were slightly large or raised, or had a somewhat terrific aspect (about them), the (already) thin rows of (hair on the) eye lashes of *which* (face) were being (still more) shattered (*i. e.*, were in the process of decaying or wasting away,—were dropping or shedding off,—very fast), the hollows or cavities of the ears of *which* were covered up or surrounded (lit. 'choked up or blockaded,'—hence, closely begirt, invested or fenced in, *i. e.*, were profusely overgrown on all sides) with hair that had grown very long and risen or shot up very high, and the cluster or the thickly grown tuft of hair on the beard (*i. e.*, the thickly grown beard) of *which* (face) reached as far as or hung down to his navel; *who* had or possessed a body, the neck of *which* was thickly surrounded or overspread (lit. 'bound, tied or fastened together,'—*i. e.*, was fixed up in its place, being closely secured or surrounded, on all sides) with the veins and arteries of the throat, that were fully stretched like (or as though they were) the reins (lit. 'the ropes') for restraining inwardly the very spirited horses or restive steeds in the shape or form of his (inconstant or un-

steady) senses (lit. 'sense-horses' or sense-steeds), as it were, —the thin or widely apart bony frame of *which* (body) was (made or looking) prominent (lit. 'risen up' or 'elevated,'—hence, prominent or projecting owing to its being devoid of flesh), *which* had a pure or white sacred thread hanging down from its shoulders, *which* was not unclean or dark (*i. e.*, was pure and holy and not stained in any way), and *which* (as such) was like or resembled the pure or holy flowing stream of the Ganges, as it were, *that* (stream) was not turbid or unclean and impure, in *which* (stream) small ripples or wavy undulations were caused or produced by the force of the wind (which are compared here to the thin but prominent bony frame of his ribs mentined before), and in *which* (*i. e.*, on the surface of which) lotus fibres or the fibres of a lotus stalk or water-lily were floating up (here and there,—which has furnished the comparison thereof to the sacred thread of the sage); *who* was revolving a rosary of beads made (up) of the pieces of pure crystals or pebbles, *which* (rosary), while lying in (*i. e.*, passing through) the interstices or intervening spaces of his moving fingers (as he gradually revolved it), was like the necklace of Saraswati, the goddess of learning (always represented in all things connected with her as being pure white), as it were, strung together or made up of bright and large pearls, and *who* (as such or in that state), with the round or circular pupils of his eyes constantly revolving within them, appeared like (or seemed as though he were) a second or another *Dhruva* or the (fixed or immovable) *polar star*, as it were, having a cluster or group of (other) stars and planets incessantly or ceaselessly revolving or made to revolve round it; *who*, like an old *Kalpataru or celestial tree* (one of the

trees of *Swarga* or heaven, or of Indra's paradise,—a fabulous tree granting all desires), as it were, being thickly overgrown or heaped up with a large mass or collection of fully grown or ripened and matured (*i. e.*, withered or dry and old) cre-epers, was closely or thickly [lit. 'without (leaving) any intermediate space'] covered over or overspread (lit. 'heaped or piled up') with a prominent (lit. rising or lifted up) net-work of veins; *who* was clothed in (lit. 'covered over with' or concealed with,'—*i. e.*, was wearing or putting on) a pure or white bark garment resembling silk or *that* resembled silk, *that* (was so white and pure that it) seemed as though it were made of or *with* the (pure white) rays of the moon, *with* the (white) foams of nectar, *with* the widely expanding threads or fibres, or the threads or fibres of an expansion or continuo-us succession of virtues or good qualities (*i. e.*, high merits in the form of lotus-stalks or in some other bodily form), *that* was pure or holy on account of its having been washed in the waters of the *lake Mānas* or *Mānasarovara*, and *that* (white garment) appeared like (or looked as though it were) a second or another network or chain-armour of old age, as it were; *who*, like a heap or mass of fully blown or expanded white lotuses, as it were, looking beautiful on account of the presence near it of a swan or flamingo (lit. 'king-goose' or 'royal-goose,' a sort of white goose with red legs and bill), was being adorned or decorated (*i. e.*, was looking splendid or ornamented) with or on account of his having by his side or near him, a crystal jar *Kamaṇḍalu* (*i. e.*, the ascetics' peculi-ar water pot or vessel called by that name), or a Kamaṇḍalu *that* was made of crystal and was lying or placed near him, *that* was filled up with the water of the Ganges, and *that*

was placed upon a tripod, or 'three-footed' or of 'three-legged' stand (*i. e.*, a stand with *three feet*, legs or sticks); *who* seemed as though he were making a division of or sharing *his* firmness or steadiness with (that of) the mountains (*i. e.*, *who* was so firm or steady in his behaviour that it seemed as though he bestowed upon the mountains a part or portion of his own firmness, or that the mountains derived their firmness (or stability from him), *his* profound serenity or depth of character (*i. e.*, the quality of being unruffled in mind at all times,—sagacity or earnestness) with the (depth of the) seas or oceans, *his* lustre or effulgence with the (splendour or brilliance of the) sun, *his* tranquillity or peace of mind, or peaceful mildness with the (coolness of the) moon (lit 'having cold rays' or the 'cool-rayed' one), and *his* purity or freedom from (all sorts of physical and moral) stain or sin with the (absence of dirt from the) sky [Briefly the meaning is this: 'He was *so* firm or steady on his path of virtue or righteousness, *so* serene or unruffled in his mind, *so* effulgent or splendidly bright in his external aspect *so* mild or tranquil in his behaviour, and *so* pure or free from any moral stain or sin, *that* it seemed as though he were sharing all these virtues with, or had bestowed a part or fractional share thereof respectively to, the *mountains* as regards their stability or immovable position, the *seas* or *oceans* in regard to their profound depth, the *sun* in regard to its brightly burning or fierce splendour or brilliance, the *moon* as regards its coolness, and the *sky* in regard to its clearness or freedom from, or absence of any dirt. The poet fancies that all these agencies of nature seemed to derive their respective virtues from the corresponding

ones of the great sage, as it were],— *who*, having (or inasmuch as he had) attained to the position of highest emence or rank among the *twice-born ones* or *Brāhmanas*, through or by means of his own superhuman powers or great religious virtues (or through the strength or might of his own virtues), was like (Garuda) the son of Vinatā, as it were, who had acquired sovereignty or mastery and kingly power over the (whole class or kingdom of) *birds*, through or by means of his own strength or puissance (*i. e.*, through his own great power and might); *who*, like Brahmā (lit. the 'lotus-seated,' 'one having a lotus for his seat'), as it were, who is the head or the first progenitor (*i. e.*, the propounder or promulgator) of (all the four) religious orders, was the presiding head of (lit., a religious father or teacher,—a spiritual teacher of the highest rank in) the hermitage, or the religious order (obtaining in it) ; *who*, like an old sandal wood tree, as it were, that was irregularly crowded up or full of its fibrous roots which were (rendered or made to look) white on account of their being covered over with the sloughs of snakes, was beset with (*i. e.*, had or bore on his head) locks or tufts of matted hair that were white or grey in colour like the slough of a snake ; *who*, like an excellent or admirable elephant (or an elephant possessed of all the auspicious signs or marks), as it were, having his ears and tail hanging down, had the hair of (or on) his ears hanging down (from them) ; *who*, like Brihaspati the preceptor of the gods), as it were, who had brought up *Kacha* (his own son) from his birth, [or up till his (second) birth or the time of his investiture with the sacred thread (after which he was sent to Shukrāchārya, the great preceptor

of the demons for learning the संजीविनी विद्या, *i. e.*, acquiring the knowledge of '*the science that causes life to revive*',—knowledge of restoring one to life], had allowed or let his *hair* to grow from or since his birth; *who*, like day, as it were, having had the early or first (*i. e.*, the beginning or opening) part of it made bright or resplendent *with* (or on account of) the disc or orb of the rising sun, had his face shining or radiant *like* the disc or orb of the rising sun; *who*, like the autumnal season, as it were, when (or in which) the *rains* are (so) meagre or suppressed (or, having its rains destroysd, suppressed or greatly diminished,—referring to the fact that there is practically no rain in that season), had (many of) the *years* (of his life) expended or worn away (*i. e.*, much of his age had declined away), to *whom*, like Shantanu, as it were, who loved or had (his son) Priyavrata or Bhīshma (lit. 'vow-loving') dear to him, the vow of speaking the truth was dear, or who was fond of or loved his vow of speaking tho truth; *who* like the palm of the hand of Ambikā or Pārvati (the Consort of Shiva), as it were, which was clever or skilful in covering or enclosing (lit. seizing or laying hold of) the round eye (lit. the-circumference or circle of the eyes) of Rudra or Shiva (in sport), was clever or proficient (*i. e.*, thoroughly skilled, conversant or experienced) in the handling or manipulation (*i. e.*, the taking or taking hold) of the rosary made of the Rudrāksha berries (lit. 'Rudra-eyed,' a kind of tree, the berries of which are used for making rosaries); *who*, like the sun during the cold or winter season, as it were, when it has had its contact or proximity brought about or produced with the *Northernly Direction* [or it might mean ; when it has had its

nonattachment or freedom from the contact or proximity of the *North direction* effected or fully brought about (or attachment or contact etc, avoided)], had put on an upper garment, *who*, like the submarine fire [lit, the 'mare's fire,'—*Vaḍavā* meaning a 'mare,' and *Anala* 'fire,'—submarine fire or the fire of the lower regions fabled to be at the South-pole and not extinguishable by the sea-water], as it were, constantly or always having the waters (of the sea) as its food (for consumption) [*i. e.*, continually feeding upon, burning or consuming the waters of the sea], always had milk (alone) as his food (*i. e.*, who always subsisted or lived on milk alone) ;—*who*, like an empty or deserted city or town, as it were, having houses that are or in which the houses are,—lit. a refuge—place of refuge or sanctuary—a house, abode or habitation—resting-place etc.) ruined or gloomy—looking miserable or melancholy (*i. e.*, *without* any external charm) *without* a master or natural protector, and *fallen* into a bad or dilapidated state, was a place of refuge or shelter, or afforded protection, to the poor or needy (*i. e.*, those who are either indigent or afflicted and distressed), to those having no master or natural protector (*i. e.*, the fatherless or helpless ones), and to the distressed or afflicted ones) (*i. e.*, those fallen into adversity or misfortune) ;—and *who*, like Shiva [lit. the 'Lord of the animals',—or according to others, 'Lord of a servant named Pashu',—an epithet of the later *Rudra* (Rudra-Shiva), or of a similar diety,—here Shiva], as it were, having his body (made) whitish ot yellowish-white (in colour) with the (application or besmearing of the) holy ashes, and embraced by *Umā* (his consort), had his body covered or closely invested (*i. e.*,

thickly overspread or overgrown) with the short soft hair that was grey or pale in colour with (or like) the holy ashes.

४०—अवलोक्य चाहमचिन्तयम् । अहो प्रभावस्तपसाम् । इयमस्य शान्तापि मूर्तिरुत्तप्तकनकावदाता परिस्फुरन्ती सौदामिनीव चक्षुषः प्रतिहन्ति तेजांसि । सततमुदासीनापि महाप्रभावतया भयमिवोपजनयति प्रथमोपगतस्य । शुष्कनलकाशकुसुमनिपतितानलचटुलवृत्ति नित्यमसहिष्णु तपस्विनां तनुतपसामपि तेजः प्रकृत्या भवति किमुत सकलभुवनतलवन्दितचरणानामनवरततपःक्षपितमलानां करतलामलकफलवदखिलं जगदालोकयतां दिव्येन चक्षुषा भगवतामेवंविधानामघक्षयकारिणाम् । पुण्यानि हि नामग्रहणान्यपि महामुनीनाम् । किं पुनर्दर्शनानि । धन्यमिदमाश्रमपदमयमधिपतिर्यत्र । अथवा भुवनतलमेव धन्यमखिलमनेनाधिष्ठितमवनितलकमलयोनिना । पुण्यभाजः खल्वमी मुनयः यदहर्निशमेनमपरमिव नलिनासनमपगतान्यव्यापारा मुखावलोकननिश्चलदृष्टयः पुण्याः कथाः शृण्वन्तः समुपासते । सरस्वत्यपि धन्या यास्य तु सततमतिप्रसन्ने करुणाजलनिस्यन्दिन्यगाधगाम्भीर्ये रुचिरद्विजपरिवारा मुखकमलसंपर्कमनुभवन्ती निवसति हंसीव मानसे । चतुर्मुखमुखकमलवासिभिश्चतुर्वेदैः सुचिरादिव द्वितीयमिदमपरमुचितमासादितं स्थानम् । एनमासाद्य शरत्कालमिव कलिकालजलदसमय-

कलुषिताः प्रसादमुपगताः पुनरपि जगति सरित इव सर्व-विद्याः। नियतमिह सर्वात्मना कृतावस्थितिता भगवता परि-भूतकलिकालविलसितेन धर्मेण न स्मर्यंते कृतयुगस्य। धरणितलमनेनाधिष्ठितमालोक्य न वहति नूनमिदानीं सप्त-र्षिमण्डलनिवासाभिमानमम्बरतलम्। अहो महासत्त्वेयं जरा यास्य प्रलयरविरश्मिनिकरदुर्निरीक्ष्ये रजनिकरकिरणपाण्डु-रशिरोरुहे जटाभारे फेनपुञ्जधवला गङ्गेव पशुपतेःक्षीराहुति-रिव शिखाकलापे विभावसोर्निपतन्ती न भीता। बहलाज्य-धूमपटलमलिनीकृताश्रमस्य भगवतः प्रभावाद्भीतमिव रवि-किरणजालमपि दूरतः परिहरति तपोवनम्। एते च पवन-लोलपुञ्जीकृतशिखाकलापा रचिताञ्जलय इवात्र मन्त्रपूतानि हवींषि प्रतिगृह्णन्त्येतत्प्रीत्याशुशुक्षणयः। तरलितदुकूलव-ल्कलोयं चाश्रमलताकुसुमसुरभिपरिमलो मन्दसंचारी सशङ्क इवास्य समीपमुपसर्पति गन्धवाहः। प्रायो महाभूतानामपि दुरभिभवानि भवन्ति तेजांसि। सर्वतेजस्विनामयं चाग्रणीः। द्विसूर्यमिवाभाति जगदनेनाधिष्ठितं महात्मना। निष्कम्पेव क्षितिरेतदवष्टम्भात्। एष प्रवाहः करुणारसस्य संतरणसेतुः संसारसिन्धोराधारः क्षमाम्भसां परशुस्तृष्णालतागहनस्य सागरः संतोषामृतस्योपदेष्टा सिद्धिमार्गस्यास्तगिरिरसद्-ग्रहस्य मूलमुपशमतरोर्नाभिः प्रज्ञाचक्रस्य स्थितिवंशो धर्मध्व-जस्य तीर्थं सर्वविद्यावताराणां वडवानलो लोभार्णवस्य

निकषोपलः शास्त्ररत्नानां दावानलो रागपल्लवस्य महामन्त्रः क्रोधभुजङ्गस्य दिवसकरो मोहान्धकारस्यार्गलाबन्धो नरकद्वाराणां कुलभवनमाचाराणामायतनं मङ्गलानामभूमिर्मदविकाराणां दर्शकः सत्पथानामुत्पत्तिः साधुताया नेमिरुत्साहचक्रस्याश्रयः सत्त्वस्य प्रतिपक्षः कलिकालस्य कोशस्तपसः सखा सत्यस्य क्षेत्रमार्जवस्य प्रभवः पुण्यसंचयस्यादत्तावकाशो मत्सरस्यारातिर्विपतेरस्थानं परिभूतेरननुकूलोभिमानस्यासंमती दैन्यस्यानायत्तो रोषस्यावशी विषयाणामनभिमुखः सुखानाम् । अस्य भगवतः प्रसादादेवोपशान्तवैरमपगतमत्सरं तपोवनम् । अहो प्रभावो महात्मनाम् । अत्र हि शाश्वतिकमपहाय विरोधमुपशान्तात्मानस्तिर्यञ्चोपि तपोवनवसतिसुखमनुभवन्ति । तथाहि । एष विकचोत्पलवनरचनानुकारिणमुत्पतच्चारुचन्द्रकशतं हरिणलोचनद्युतिशबलमभिनवशाद्वलमिव विशति शिखिनः कलापमातपाहतो निःशङ्कमहिः । अयमुत्सृज्य मातरमजातकेसरैः केसरिशिशुभिः सहोपजातपरिचयः प्रक्षरत्क्षीरधारमापिबति कुरंगशावकः सिंहीस्तनम् । एष मृणालकलापाशङ्किभिः शशिकरधवलं सटाभारमामीलितलोचनो बहु मन्यते द्विरदकलभैराकृष्यमाणं मृगपतिः । इदमिह कपिकुलमपगतचापलमुपनयति मुनिकुमारकेभ्यः स्नातेभ्यः फलानि । एते च न निवारयन्ति मदान्धा अपि गण्डस्थलीभाञ्जि मदजलपाननिश्चलानि

मधुकरकुलानि जातदयाः कर्णतालैः करिणः। किं बहुना। तापसाग्निहोत्रधूमलेखाभिरुत्सर्पन्तीभिरनिशमुपपादितकृष्णाजिनोत्तरासङ्गशोभाः फलमूलभृतो वल्कलिनो निश्चेतनास्तरवोऽपि सनियमा इव लक्ष्यन्तेस्य भगवतः। किं पुनः सचेतनाः प्राणिनः।

४०—अवलोक्य चाहमचिन्तयम्—दृष्ट्वा चिन्तितवान्। अहोप्रभावस्तपसाम्—तपश्चर्य्याणाम्। प्रभावः—महिमा। इयम्—एषा। अस्य—जाबालेः। शान्तापि—शमयुतापि। मूर्त्तिः। उत्तप्तकनकावदाता—सन्तप्तसुवर्णनिर्मला। परिस्फुरन्ती—प्रकाशमाना। सौदामिनीव—विद्युदिव। सुदाम्ना अद्रिणा एकदिक् इति सौदामिनी। तेनैकदिगिति अण् प्रत्ययः। चक्षुषः। तेजांसि—प्रकाशान्। प्रतिहन्ति—नाशयति। सततम्—निरन्तरम्। उदासीनाऽपि—निरपेक्षापि। महाप्रभावतया—प्रभूतप्रतापवत्तया। प्रथमोपगतस्य—पूर्वमत्रोपस्थितस्य। मम। भयमिव। उपजनयन्तीव—करोतीव। तनुतपसामपि—स्वल्पतपसामपि। तपस्विनाम्—तापसानाम्। तेजः—प्रभावः। शुष्कनलकाशकुसुमनिपतितानलचटुलवृत्ति— नीरसनलतृणकाशपुष्पगतवह्निचञ्चलव्यापारम्। शुष्केषु नलेषु च काशकुसुमेषु निपतितोऽनलः तद्वत् चटुला वृत्तिर्यस्य तत्। नित्यम्—सदा। असहिष्णु—असहनशीलम् सद्योदहमित्यर्थः। सह्+इष्णुच्। लुटि सोढा लुङि असाक्षीत्, असोढाम् इत्यादि। लटि सक्ष्यति॥ प्रकृत्या—स्वभावेन। दुःसहम्—दुर+सह्+खल् दुःसहम्। भवति—विद्यते। किमुत—

किम्पुनः । सकलभुवनवन्दितचरणानाम्--सर्वलोकपूजितपादानाम् । अनवरततपःक्षालितमलानाम्---अविरतपुण्यवारिमार्जितमलीमसा - नाम् । अनवरतं तपांसि एव सलिलानि तैः क्षालितानि मलानि यैः तेषाम् । करतलामलकवत्---पाणितलस्थितधात्रीफलमिव । करः तस्य तलं तत्रस्थितमामलकं तद्वत् । अखिलं--समस्तम् जगत् । दिव्येन—स्वर्गीयेण । चक्षुषा—ज्ञानलोचनेन । आलोकयताम्-- पश्यताम् । एवंविधानाम्---पूर्वविशेषणविशिष्टानाम् । अघक्ष-यकारिणाम्---पापौघविध्वंसिनाम् । भगवताम्---महामुनीनाम् महर्षीणाम् । नामग्रहणान्यपि---अभिधेयोच्चारणान्यपि । पुण्यानि--- पवित्राणि । किम्पुनर्दर्शनानि---साक्षात्काराः । इदम् आश्रमपदम्--- महामुनिस्थानम् । धन्यम्---प्रशस्ततरम् । यत्र---आश्रमे । अयमधिपतिः । असौ जाबालिः । अथवा । अवनितलकमलयो-निना---भूमण्डलब्रह्मणा । अवनितले कमलयोनिरिव तेन । अनेन--- जाबालिना । अधिष्ठितम्---सहितम् । भुवनतलमेव । धन्यम्— पुण्योपेतम् । अमी मुनयः---पुरस्थिताः ऋषयः । पुण्यभाजः--- परमपावनाः । यत्---यतः । अहर्निशम्---रात्रिन्दिवम् । अपरम्-- द्वितीयम् । नलिनासनमिव---विधातारमिव । एनम्---जाबालिम् । अपगतान्यव्यापाराः---दर्शनपरायणाः । मुखावलोकननिश्चलदृष्टयः--- दर्शनस्तिमितलोचनाः । पुण्याः कथाः—इतिहासान् । शृण्वन्तः— आकर्णयन्तः । समुपासते---सेवन्ते । सरस्वत्यपि—वाग्देव्यपि । धन्या । या । अस्य---जाबालेः । सततम् । अतिप्रसन्ना---परमानुग्रह-वती । करुणाजलनिःष्यन्दिनी---दयावारिवर्षिणी । अगाध-गाम्भीर्ये—अपरिमितागाधत्ववति । मानसे चेतसि—पक्षे तन्ना-

मकसरसि । रुचिरद्विजपरिवाराः—उत्तमविप्रच्छात्रपरिजनाः—पक्षे सुन्दरपक्षिकुटुम्बिनः । मुखकमलसम्पर्कसुखम्—पद्मानन-संसर्गहर्षम् । अनुभवन्ती—भुञ्जती । राजहंसीव—मरालीव । निवसति—तिष्ठति । चतुर्मुखमुखकमलवासिभिः—विधातृपद्माननवासशीलैः । चतुर्वेदैः—चतुःसंख्यकश्रुतिभिः । इदम्-द्वितीयम् । अन्यत्—स्थानम् । सुचिरादिव—बहुकालात् । आसादितमिव—प्राप्तमिव । सर्वविद्याः—सकलवेदादिविज्ञानानि । एनम्—जाबालिम् । आसाद्य—प्राप्य । कलिकालजलधरसमयकलुषिताः—कलियुगसमयवारिदकालमलिनाः । पक्षे दूषिता । कलिकालः जलधरसमय इव तेन कलुषिताः । जगति—संसारे सरित इव—नद्य इव । पुनरपि—भूयोऽपि । प्रसादं—निर्दोषताम् । पक्षे निर्मलताम् । उपगता—प्राप्ता । इह—आश्रमे । नियतम्—नियमेन । सर्वात्मना—साकल्येन । कृतावस्थितिना—निवसता । भगवता—महानुभावेन । परभूतकलिकालविलसितेन । तिरस्कृतचतुर्थयुगसमयचेष्टितेन परिभूतं कलिकालस्य विलसितं येन तेन । धर्मेण—पुण्येन । कृतयुगस्य—सत्ययुगः । न स्मर्य्यते—नो स्मृतिं नीयते । अनेन । अधिष्ठितम्—सहितम् । धरणीतलम्—भूमण्डलम् । आलोक्य । लोक्—लिटि लुलोक—लुङि अलोकिष्ट । अम्बरतलम्—आकाशमण्डलम् । सप्तर्षिमण्डलनिवासाभिमानम्—मरीच्यादिऋषिसमूहस्थितिमानम् । इदानीम् । न वहति—ना धारयति । अहो—आश्चर्यम् । इयम्—एषा । जरा—वार्धक्यम् । महासत्त्वा—परमबलशालिनी । अस्य—जाबालेः । प्रलये रविकरनिकरदुर्निरीक्ष्ये—युगान्तकालदिवाकर-

रश्मिपुञ्जदुर्दर्शे ।,प्रलये रविकराणां—निकरस्तद्वद्दुर्निरीक्ष्यस्तस्मिन् । रजनिकरस्य किरणपाण्डुशिरोरुहे—निशानाथमयूखधवलकेशे । रजनिकरस्यकिरणवत् पाण्डवः शिरीरुहाः यस्य तस्मिन् । जटाभारे—सटासमूहे । फेनपुञ्जधवला—समुद्रडिण्डीरराशिशुभ्रा । फेनपुञ्जवत् पक्षे फेनपुञ्जैः धवला सा । पशुपतेः—शिवस्य । जटाभारे—गङ्गा इव विभावसोः—वन्हेः । 'सूर्य्यवह्नी विभावसू' इत्यमरः । शिखाकलापे—ज्वालानिकरे । क्षीराहुतिरिव—दुग्धमयहव्यमिव ।। निष्पतन्ती—पतिता न भीता । भी लिटि बिभाय, बिभयांचकार । लुङि—अभैषीत्, अभैष्ट । बहलाज्यधूममलिनीकृताश्रमस्य—प्रचुरसर्पिर्हविर्धूम्रकृष्णीभूतस्थानस्य । भगवतः—जाबालेः । प्रभावात्—महिम्नः । भीतमिव । तपोवनम्—तपश्चर्यास्थानम् । रविकिरणजालमपि—दिवानाथरश्मिराशिमपि । दूरतः—आरात् । परिहरति—निवारयति । एते च—पुरस्थिताः । आशुशुक्षणयः—वह्नयः । आशु—त्वरितं शोषयति स आशुशुक्षणिः । पवनलोलपुञ्जीकृतशिखाकलापाः—वातचपलराशीकृतज्वालासमूहाः । पवनेन लोलाः पुञ्जीकृताः शिखाकलापाः येषां ते । रचिताञ्जलय इव—उत्तोलितयोजितपाणिद्वया इव । मंत्रपूतानि । हवींषि—हव्यानि । गृह्णंति—आददते । एतत्प्रीत्या—मुनिप्रणयेन । तरलितदुकूलवल्कलः—कम्पितक्षौमवस्त्रवल्कः । तरलितः दुकूलवद्वल्कलो येन सः । आश्रमलताकुसुमसुरभिपरिमलः—मुनिस्थानवल्लिपुष्पगंधः । मन्दमन्दसञ्चारी—अतिमन्दगामी । गंधवाहः—अनिलः । अस्य सशङ्क इव—सन्दिग्ध इव । समीपम्—उपसर्पंति । गच्छति । महाभूतानामपि—सिंहादी-

नामपि । तेजांसि—प्रभावाः । प्रायः—बाहुल्येन । दुरभिभवानि—अनतिक्रमणीयानि । अयञ्च सर्वतेजस्विनाम्—सकलतापसानाम् । अग्रणीः—प्रधानः । अनेन महात्मना—अमुना महानुभावेन । अधिष्ठितम् । जगत्—भुवनम् । द्विसूर्य्यमिव—रविद्वयोपेतम् इव । आभाति—राजते । एतदवष्टम्भात्—जाबालिसमाश्रयात् । क्षितिः—भूः । क्षि—लिटि चिक्षाप । लुङि अक्षैषीत् । निष्कम्पेव—निश्चलेव । अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः सत्यामपि अचलायाम् भूमौ तथात्वेनोत्प्रेक्षिता । एकः असौ । करुणारसस्य—दयावारिणः । प्रवाहः—ओघः । संसारसिंधोः—जगत्सागरस्य । सन्तरणसेतुः—पारनयनावलम्बनम् । क्षमावारीणाम्—क्षान्तिजलानाम् । आश्रयः । तृष्णालतागहनस्य—विषयभोगाभिलाषवल्लिवनस्य । तृष्णा एव लताः तासां गहनं तस्य । परशुः—कुठारः । सन्तोषामृतरसस्य—तुष्टिपीयूषद्रवस्य । सन्तोषः अमृतमिव रसः तस्य । सिद्धमार्गस्य—मोक्षपथस्य । उपदेष्टा—शिक्षकः । असद्ग्रहस्य—दुष्टनक्षत्रस्य । अस्तगिरिः—अस्ताचलः । उपशमतरोः—शान्तिवृक्षस्य । मूलम्—कारणम् । प्रज्ञाचक्रस्य—विज्ञानरथाङ्गस्य । नाभिः—अक्षः । धर्मध्वजस्य—पुण्यकेतोः । प्रासादः—सौधः । सर्वविद्यावताराणाम्—सकलप्रज्ञानप्रवेशानाम् । तीर्थम्—घट्टः । यथा घट्टमाश्रित्य लोकाः वारिषु प्रविशन्ति तथा शिष्याणां निखिलविद्यासुः प्रवेश एतत्समाश्रयेण । लोभार्णवस्य—गृध्नुतासागरस्य । वडवानलः—वाडवाग्निः । शास्त्ररत्नानाम्—दर्शनमाणिक्यानाम् । निकषोपलः—परीक्षापाषाणखण्डः । रागपल्लवस्य—विषयाभिलाषपत्रस्य । दावानलः—वनवह्निः ।

दावस्यानलः सः । क्रोधभुजङ्गस्य--कोपसर्पस्य । महामंत्रः--प्रौढमंत्रणम् । मोहांधकारस्य--अज्ञानतिमिरस्य । मोहः अंधकार इव तस्य । दिवसकरः--सूर्य्यः । दिवस+कृ+टः । दिवसकरः । नरकद्वाराणाम्--निर्ऋतिप्रवेशमार्गाणाम् । अर्गलबंधः--कपाटबन्धक कीलकः । आचाराणाम्--सत्कर्मणाम् । कुलभवनम्--चिरन्तन-गृहम् । मङ्गलानाम्--शुभकर्मणाम् । आयतनम्--स्थानम् । मदविकाराणाम्--अहङ्कारजन्यविकृतीनाम् । अभूमिः--अविषयः । सत्पथानाम्--धर्मकार्य्याणाम् । दर्शकः--उपदेष्टा । साधुतायाः--सौजन्यस्य । उत्पत्तिः--प्रसूतिस्थानम् । उत्साहचक्रस्य--उद्यम-संघस्य । नेमिः--प्रान्तदेशः । सत्त्वस्य--तन्नामकगुणस्य रजस्त-मोभिन्नस्य । आश्रयः । कलिकालस्य--चतुर्थयुगस्य । प्रतिपक्षः--शत्रुः । तपसः--तपस्यायाः । कोशः--आकरः । सत्यस्य--यथा-र्थस्य । सखा--सहायकः । आर्जवस्य--सरलतायाः । क्षेत्रम्--विषयः । पुण्यसंचयस्य--धर्मसंग्रहस्य । प्रभवः--कारणम् । मत्स-रस्य--द्वेषस्य । अदत्तावकाशः--अविषयः । विपत्तेः--विपदः । अरातिः--रिपुः । परिभूतेः--परिभवस्य । परि+भू+अप् परिभवः अस्थानम्--अभूमिः । अभिमानस्य--अहङ्कारस्य । प्रतिकूलः--द्वेष्टा । दैन्यस्य--खेदस्य, वा कार्पण्यस्य । असम्मतः--विरुद्धः । रोषस्य--क्रोधस्य । अनायत्तः--पराधीनः । सुखानाम्--विषयरा-गाणाम् । अनभिमुखः--अननुकूलः । अस्य--जाबालेः । भगवतः । प्रभावादेव--महिमत एव । अशान्तवैरम्--अपगतसापत्न्यम् । अमत्सरम्--विद्वेषशून्यम् । तपोवनमस्ति । अहो महात्मनां प्रभावः । अत्रहि--आश्रमे । तिर्य्यञ्चोऽपि--पक्ष्यादयोऽपि ।

तिरोऽञ्चतीति तिर्य्यंङ् । तिरस्+अञ्च्+क्विन् । तिरसस्तिर्य्यादेशः । उपशान्तान्तरात्मानः---प्रशमितान्तःकरणाः । शाश्वतिकम्---शश्वद्भवम् । विरोधम्---वैरम् । अपहाय—त्यक्त्वा । तपोवनवसतिसुखम्---तपस्यावनवासजन्यमुदम् । अनुभवन्ति---सेवन्ते । तथाहि । एष---अयम् । विकचोत्पलवनरचनानुकारिणम्---विकसत्पद्मविपिनभङ्गीभावनिर्माणसदृशम् । विकचानामुत्पलानां वनस्य रचनायाः अनुकारी तम् । उत्पतच्चारुचन्द्रकशतम्---उद्गच्छद्मनोहरमेचकबहुलम् । उत्पतन्ति चारूणि चन्द्रकशतानि यस्मिन् तम् । हरिणलोचनद्युतिशबलम्---मृगनयनकान्तिमिश्रितम् । अभिनवशाद्वलम्---नवीनशष्पदेशम् । शद्+ड्वलच् शाद्वलः । इव । आतपाहतः---सूर्य्यसन्तापपीडितः । निःशंकम्---असंशयम् । शिखिनः---मयूरस्य कलापम्---राशिम् । विशति—अन्तर्गच्छति । अयम् । कुरंगशावकः—मृगशिशुः । मातरम्—जननीम् । उत्सृज्य---त्यक्त्वा । अजातकेसरैः---अनुत्पन्नग्रीवाकेशैः । केसरिशिशुभिः---सिंहशावकैः । सह—साकम् । उपजातपरिचयः---उत्पन्नसौहार्दः सन् । प्रक्षरत्क्षीरधारम्---स्यन्दमानदुग्धम् । सिंहीस्तनम्---सिंहभार्य्याचूचुकम् । पिवति---धपति । एष । मृगपतिः---सिंहः । मृणालकलापशंकिभिः—विसकिसलयसमूहसन्देहिभिः । मृणालानां कलापमाशंकते तैः । द्विरदकलभैः—गजसुतैः । आकृष्यमाणम्---आमीलितलोचनः---ईषन्निमीलितनयनः । शशिकरधवलम्---इन्दुकिरणशुभ्रम् । सटाभारम्---जटासमूहम् । वहु—अधिकम् । मन्यते—आद्रियते । इदम्—अपगतचापलम्—दूरीभूतचाञ्चल्यम् । कपिकुलम्—वानरवृन्दम् । स्नातेभ्यः—कृतस्ना-

नेभ्यः । मुनिकुमारकेभ्यः—ऋषिसुतेभ्यः । फलानि—प्रसवान् । उपनयति—प्रापयति वा ददाति । एते । मदांधा अपि—मत्ता अपि । करिणः—गजाः । सञ्जातदयाः—प्राप्तकरुणाः । गण्डस्थलीभांजि—कटप्रदेशमग्नानि । गण्ड एव वा गण्डःस्थलीव तं भजन्तीति तानि । मदजलपाननिश्चलानि—दानवारिग्रहणस्थिराणि । मधुकरकुलानि—भ्रमरकदम्बान् । कर्णतालैः—श्रोत्रताडनैः । न निवारयन्ति—न दूरीकुर्वन्ति । किंबहुना—अधिकवर्णनेनालम् । तापसाग्निहोत्रधूमलेखाभिः—तपस्विहवनधूम्रराजिभिः । तापसानामग्निहोत्रस्य धूमस्य लेखास्ताभिः । उपसर्पन्तीभिः—उपतिष्ठन्तीभिः । अनिशम्—निरन्तरम् । उपपादितकृष्णाजिनोत्तरासंगशोभाः—कृतकृष्णसरचार्मनिर्मितोत्तरीयसंसर्गमण्डनाः । उपपादिता कृष्णाजिनस्य उत्तरासंगस्य शोभा यैस्ते । फलमूलभृतः—प्रसवमूलककन्दधारिणः । वल्कलिनः—वल्कवस्त्रवरतः—वृक्षत्वक्शालिनः । निश्चेतनाः—चैतन्यरहिता । तरवोऽपि—वृक्षा अपि । अस्य—भगवतः । स्वामिनः—जाबालेः । सनियमा इव—व्रतिन इव । लक्ष्यन्ते—दृश्यन्ते । सचेतनाः—प्राणिनः । गुणिनः—गुणवन्तः । पुनः किम्—भूयः न वाच्यं किमपि ।

४०—और उन्हें (जावालि को) देखकर मैंने सोचा—अहो तप का कैसा प्रभाव है । इनका यह सुवर्ण के समान निर्मल कान्ति से युक्त स्वरूप शान्त (अथवा शमयुक्त) होने पर भी कौंधती हुई बिजली के समान आँखों की ज्योति को चौंधिया देता है । यद्यपि वे सदैव संसार से उदासीन रहते हैं, तब भी जो कोई पहले पहल आता है (उसके हृदय में) अथवा (मेरे, जो कि यहाँ पहली बार उनका दर्शन कर रहा हूँ, हृदय में) उनका यह स्वरूप अपने महान् प्रताप या प्रभाव के कारण भय-सा उत्पन्न कर देता है । जिन

तपस्वियों का तप थोड़ा ही होता है, उनका तेज भी स्वभावतः सदैव असहिष्णु (दूसरों के तेज को न सहने वाला अर्थात् अत्यन्त तीव्र) और नल और काश के सूखे फूलों पर पड़ी हुई (लगी हुई) अग्नि के समान, अत्यन्त शीघ्र फल जाने वाला होता है, तब फिर इस प्रकार के (जाबालि के समान) ऐश्वर्यशाली (दृष्टि-मात्र से दूसरों के) पापों का नाश कर देने वाले ऋषियों का, जिनके चरणों की वन्दना समस्त संसार करता है, जिन्होंने अपने तप से समस्त पाप (मल) का नाश कर दिया है और जो अपनी दिव्य-दृष्टि से समस्त संसार को हथेली में रखे हुए आँवले के समान देखते हैं, तो कहना ही क्या ! महामुनियों का नाम लेना मात्र पुण्य का कारण होता है, फिर दर्शन का तो कहना ही क्या ! यह आश्रम धन्य है, जहाँ कि ये अधिपति हैं अथवा (यही कहना अधिक उपयुक्त होगा कि) यह भूमण्डल ही धन्य है, जहाँ कि भूलोक के ब्रह्मा— ये ऋषि-निवास करते हैं। ये मुनि-जन भी अत्यन्त पुण्यवान् हैं कि रात-दिन दूसरे (साक्षात्) ब्रह्मा के समान इन महर्षि की सेवा, अन्य समस्त कार्य छोड़कर, उनके मुख की ओर निश्चल दृष्टि से देखते हुए और (उनके मुख से) पुण्य कथाएँ सुनते हुए, करते हैं। वह वाग्देवी सरस्वती भी धन्य है, जो इनके मुख-कमल के संसर्ग-सुख का अनुभव करती हुई, सदैव अत्यधिक प्रसादगुण से युक्त (सरोवर पक्ष में अति स्वच्छ) और करुणा-रूपी जल के प्रवाह से युक्त, अत्यन्त गम्भीर (अत्यधिक गहरे) मानस (मन-रूपी सरोवर) में सुन्दर द्विजों (ब्राह्मणों) के साथ (हंसिनी पक्ष में सुन्दर पक्षियों के साथ) हंसिनी के समान निवास करती है। ऐसा मालूम होता मानो चतुर्मुख ब्रह्मा के मुखकमल में निवास करने वाले चारों वेदों ने (क्योंकि ब्रह्मा के मुख से ही वेदों की उत्पत्ति बताई जाती है) बहुत दिनों बाद यह दूसरा (निवास)-योग्य स्थान पा लिया है। इन ऋषि का संसर्ग प्राप्त करके कलिकाल-रूपी वर्षा ऋतु से कलुषित (अर्थात् उचित अध्ययन के अभाव में वेदों का ह्रास हो गया था) समस्त

विद्याएँ इस संसार में पुनः उसी प्रकार प्रसाद गुण से सम्पन्न हो गईं हैं जिस प्रकार वर्षा ऋतु में मलिन हो जाने वाली सरिताएँ शरद्काल को प्राप्त कर पुनः स्वच्छसलिला हो जाती हैं। निश्चय ही भगवान् धर्म सब प्रकार से यहाँ जमकर स्थित हो गये हैं और (यहाँ के सात्विक वातावरण के कारण) उन्होंने कलियुग की विलास-चेष्टाओं के प्रभाव को दूर कर दिया है, अतएव यहाँ वे (दुःख-पूर्वक) कृतयुग की याद नहीं किया करते हैं। यह देखकर कि ये महात्मा भूतल पर निवास कर रहे हैं, गगन-मण्डल को निश्चय ही इस समय यह घमण्ड नहीं रहा है कि आकाश में सप्तर्षि-मण्डल निवास करता है। अहो! यह वृद्धावस्था भी अत्यन्त बलवती है, क्योंकि जैसे फेनपुञ्ज के कारण शुभ्र गंगा शिव के जटा-समूह पर और दुग्धाहुति अग्नि की शिखासमूह (ज्वालाओं) पर गिरने से नहीं डरती, उसी प्रकार यह वृद्धावस्था भी प्रलय-कालीन सूर्य के रश्मि-समूह के समान दुर्निरीक्ष्य तथा चन्द्रमा की किरणों के समान श्वेत केशों से युक्त इन ऋषि के जटा-समूह पर स्थित हो जाने से नहीं डरती। हवि से उत्पन्न होने वाले अत्यधिक धूम-समूह से आश्रम में श्यामता फैल रही थी, जिससे ऐसा प्रतीत होता था मानो भगवान् जाबालि के प्रभाव से भयभीत होकर सूर्य का किरण-समूह दूर से ही (तपोवन से हटकर) जाता था और उनके ही (जाबालि के) प्रेम से ये (विभिन्न यज्ञ) अग्नियाँ भी, जिनका चञ्चल ज्वाला-समूह वायु के द्वारा पुंजीभूत कर दिया गया है, मानो हाथ जोड़ कर मन्त्रों से पवित्र किये हवि को ग्रहण कर रही हों। आश्रम की लताओं के कुसुमों की सुगन्धित सुरभि से पूर्ण, मन्दगति से बहने वाली यह वायु, उनके (जाबालि के) दुकूल-सदृश बल्कल वस्त्र को लहराते हुए (हिलाते हुए) उनके निकट सहमती हुई सी आती है; प्रायः (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) ये पंच महाभूत (अथवा सिंहादि महाशक्तिशाली जन्तु) भी (ऐसे महर्षियों के) तेज का अतिक्रमण (या उसकी उपेक्षा) नहीं कर सकते हैं, फिर ये तो समस्त तेजस्वियों में प्रमुख हैं। संसार इनके रहने के कारण ऐसा मालूम होता है मानो दो सूर्यों से युक्त हो। इनका आश्रय

पाकर ही मानो पृथ्वी निष्कम्प हो । ये (ऋषि) करुणा रस के प्रवाह, संसार सागर को पार करने के सेतु, क्षमारूपी जल के आधार, तृष्णा-रूपी लताओं के जङ्गल (को काटने के लिए) परशु के समान, संतोषामृत के सागर, मोक्ष-पथ के उपदेशक, दुराग्रह (अथवा शनि आदि अशुभ ग्रहों) के अस्ताचल (पुराणों के अनुसार वह पर्वत जहाँ ग्रह अस्त होते हैं), शान्ति-वृक्ष के मूल, ज्ञानचक्र की नाभि (अर्थात् केन्द्र, आलम्बन अथवा सार), धर्मध्वजा के आश्रयभूत बाँस (अर्थात् धर्म के आधार), समस्त विद्या (रूपी पवित्र सरिता) में प्रवेश करने (या उतरने) के घाट, लोभरूपी समुद्र के वडवानल, शास्त्र-रूपी रत्न-समूह की कसौटी, विषयाभिलाष रूपी पत्तों के लिए दावानल, क्रोधरूपी सर्प को वश में करने के लिए महामन्त्र, मोहान्धकार के (विनाशार्थ) सूर्य, नरक के द्वारों के अगलाबन्ध (किवाड़ वन्द करने के लिए प्रयुक्त काष्ठ अथवा कील), सदाचरणों के कुल-भवन (प्राचीन या परम्परागत आवार-स्थान), मङ्गलों के घर, अहंकार जन्य मानसिक विकारों के अ-स्थान (अर्थात् उनसे शून्य), सन्मार्ग के पथ-प्रदर्शक, सज्जनता के जन्म-स्थान, उत्साह-चक्र की परिधि, सत्व गुण के आधार, कलिकाल के विरोधी, तप के कोशागार, सत्य के मित्र, सरलता के क्षेत्र, पुण्यसमूह के उत्पत्ति-स्थान, मत्सर (ईर्ष्या-द्वेष) को स्थान न देने वाले (अर्थात् शून्य), विपत्ति के शत्रु, अनादर के अ-स्थान (अर्थात् किसी का भी अनादर नहीं करते हैं), अभिमान के प्रतिकूल (अर्थात् अभिमान उनके पास फटकने नहीं पाता), दैन्य के विरोधी या दैन्यरहित हैं; रोष के अधीन नहीं हैं, विषयों के वश में नहीं हैं और सांसारिक सुखों के अभिलाषी नहीं हैं । इन महर्षि की कृपा से ही इस तपोवन में वैर-भावना शान्त हो गई है और ईर्ष्या की भावना यहाँ से दूर हो गई है। अहो ! महात्माओं के प्रभाव का क्या कहना ! यहाँ पर तो पशु-पक्षी आदि भी अपनी स्वाभाविक (या सदैव से चली आने वाली) शत्रुता छोड़ कर शान्त (अथवा विरोध-शून्य) अन्तःकरण से तपोवन में रहने के सुख का अनुभव करते हैं। उदाहरण के लिए ये सर्प धूप से संतप्त होकर, विकसित

कमल-वन की शोभा की समानता करने वाले, ऊपर उठते हुए सैकड़ों सुन्दर चन्द्रकों (चन्द्राकार चिह्नों) से युक्त और हिरनों की आँखों की शोभा के समान चित्र-विचित्र मोर के पंखों में निडर होकर इस प्रकार घुस जाते हैं मानो नई दूब में घुस रहे हों। इस हिरन के बच्चे की मित्रता (अथवा परिचय) सिंह के बच्चों के साथ जिनके (गर्दन पर) अभी केसर (बाल) नहीं निकले हैं, हो गई है और वह अपनी माता को छोड़कर सिंहिनी का स्तन-पान कर रहा है, जिसमें से दूध की धारा बह रही है। हाथी के बच्चे सिंह के, चन्द्रमा की किरणों के समान-शुभ्र, केसर-समूह को कमलनाल का समूह समझ कर खींच रहे हैं; परन्तु वह आँखें बन्द किये हुए इसे (आनन्द-दायक) बहुत अच्छा मानता है; यह वानर-समह अपनी (स्वाभाविक) चञ्चलता को छोड़कर मुनिकुमारों के लिए, जो कि स्नान कर चुके हैं, (पूजादि के लिए) फल लाते हैं। और ये मदान्ध हाथी भी अपने गण्डस्थल पर बैठे हुए और मद-जल पीने के कारण निश्चल भ्रमर-समूह को दया-वश हो अपने कानों को फड़फड़ा कर नहीं हटाते हैं। अधिक क्या कहा जाय, इन महर्षि के (आश्रम के) फल-मूल धारण करने वाले (ऋषि भी फल-मूल पर जीवन-निर्वाह करते हैं) और वल्कल (छाल) से युक्त (मुनि भी वल्कल वस्त्र धारण करते हैं) अचेतन वृक्ष तपस्वियों, के द्वारा किये जाने वाले अग्निहोत्र से उठती हुई धुएँ की रेखाओं से, सदैव ऐसे प्रतीत होते हैं मानो कृष्ण मृगचर्म के उत्तरीय की शोभा से युक्त हों और इस कारण वे (अचेतन वृक्ष) भी व्रतधारी ऋषियों के समान मालूम पड़ते हैं। (जब जड़ वस्तुओं का यह हाल है) तो सचेतन जीवों का तो कहना ही क्या !

शब्दार्थ—मूर्तिः—शरीर; कनकावदाता—सुवर्ण के समान निर्मल; सौदामिनी—बिजली; आसादितम्—प्राप्त किया गया; प्रसादमुपगता—स्वच्छता को प्राप्त; महासत्त्वा—अत्यन्त बलवती; विभावसुः—अग्नि; आशुशुक्षणयः—अग्नि; गन्धवाहः—गन्ध वहन करने वाला, वायु; अवष्टम्भः—आश्रय, आलम्बन; स्थितिवंश—वह बाँस जिस पर झंडे आदि लगाये जाते हैं;

लोभार्णवः—लोभरूपी समुद्र, निकषोपलः—कसौटी; अर्गला—किवाड़ बन्द करने की लकड़ी; कुलभवन—प्राचीन आश्रम, गृह; नेमि—परिधि अथवा [illegible] -भाग, प्रतिपक्षः—शत्रु; आर्जवम्—सरलता; चन्द्रकः—चन्द्राकार चिह्न; अहिः—सर्प; कुरंगशावकः—मृग का बच्चा।

40—And having seen or observed (all this or him), I thought within myself (or began to reflect or revolve in my mind,—thus) ; 'Oh ! The greatness or majestic power of penances or (the practice or observance of) religious austerities ! Here (lit. 'this ') is the form or body of this (great ascetic), which, though calm or tranquil (*i. e.*, quiet-looking), yet, being bright or brilliant in lustre like well-heated gold, repulses or drives back (—repels, keeps or wards off, or beats back) the light or power of vision (lit. the 'lustres or powers ') of the eyes (*i. e.*, completely dazzles the eyes), like suddenly flashing lightning, as it were. Though always or ever (remaining) indifferent (lit. 'sitting apart or away from',—*i. e.*, free from all affection or attachment of any kind), yet, on account of its great majesty or exceedingly mighty power, it creates or produces (*i. e.*, inspires a sentiment of) fear or awe, as it were, in one who approaches (lit. 'come or gone near') him (*i. e.*, who happens to be in his presence) for the first time. The power or might (lit. fiery energy or radiant glory,—*i. e.*, spiritual efficacy) even of those ascetics or religious devotees, (the store of religious merit of) whose penance is (but) slight or insignificantly small, naturally has (or is so constituted as to have) a tendency or inclination (by its innate nature) to be restlessly active or moving quickly (lit. unsteady or moving, *i. e.*, ready to set about its operation) like fire fallen on dried

or withered reeds, *kusha* grass (a species of grass) and flowers, and is always or ever (by its very nature) impatient or unforbearing (of any opposition or obstacle,—or as regards its natural consequences,—*i. e.*, quickly burns up or destroys whatever happens to come in opposition to it), how much more (so should it not be in the case of the far greater might or power) of those illustrious or glorious sages or ascetics (lit. 'venerable ones,'—*i. e.*, religious devotees practising penances) of such a kind, *who* have their feet (*i. e.*, whose feet are) respectfully saluted or adored by (people on) the surface of the whole world or of all the (three) worlds or regions, *who* have had their sins or moral impurities or taints removed or cast away (*i. e.*, destroyed) by the constant or incessant (practice of) penances, *who* (possess or have the superhuman power to) see, with or by means of their divine eye or inspired visoion, the whole world like or as though it were (but) a myrobalan fruit (lying) on the palm of their hand (*i. e.*, see through it all ever so easily, fully, and distinctly), and *who* destroy or purge away (lit. who cause or bring about the destruction of) the sins (of others). Surely even the taking or uttering (*i. e.*, the mere mention or repetition) of the names of the great sages or ascetics is holy or meritorious (*i. e.*, is conducive to one's holiness or purity and virtue). How much more (so) the having of (their actual physical) sight or vision (*i. e.*, the going into their presence)? Blessed or happy (*i. e.*, lucky or fortunate) is this hermitage or abode of the ascetics, where such a (mighty) one (lit, 'this' one, - *i. e.*, such a mighty or great sage) is (at) head (lit. 'a ruler or regent,'—something like the modern Rector of a religious

institute in the west). Or rather the entire world (or the whole of this world,—lit. 'the entire surface of the world') is blessed or lucky, inhabited or occupied (as it is) by this earthly Brahmā [lit. by this one who is (as it were, like the God) Brahmā (the 'lotus-born') on the surface of (this) earth] These (lit. 'those') ascetics over there are, indeed, the (happy or virtuous) partakers or sharers of the bliss or happiness of religious merit (or moral virtue), inasmuch as or since they, having given up or desisted from (all their) other duties or activities [lit. 'having had (all their) other acts or transactions removed or set or laid aside'], and listening to the holy or sacred stories or accounts of past events, with their eyes remaining steadily fixed or motionless (*i. e.*, closely intent or attentive) in the act of (or while) seeing or looking at his face, wait or attend (*i. e.*, remain in regular or close and near attendance) day and night upon him (lit. 'this one'), who is like (or seems as though he were) a second or another Brahmā (lit. the 'lotus-seated,' 'one having a lotus for his seat,' or 'whose seat is on a lotus'), as it were. Even Saraswatī (the personified goddess of learning and wisdom) is blessed or lucky who,—like a female goose or swan, as it were, *being* attended or surrounded (on all sides) by fine or beautiful birds [or having (other) fine or beautiful birds as her attendants (around her)], *enjoying* or *experiencing* the (pleasure or happiness of the) contact of lotuses (in the shape) of his face, and *living* in the *Mānasa lake*, *that* is always or ever (so) very clear or pellucid (*i. e.*, the water of which is always so very clear or transparent, being fully settled down), *that* allows its waters (in the shape or form) of compassion to flow or trickle down, and *that* has a profound or unfathomable depth in it,—

however, lives or dwells in his (lit. 'of this one') *mind, which* is always or ever (so) very pleased or gracious and refined, *which* sheds tenderness or compassion (that is) like water, and the sagacity of *which* is extremely profound (*i. e.*, which is characterized by so much depth or profoundity of his character,—or the serenity of which is so very deep,—lit. 'bottomless'), *being* (*i. e.*, Saraswatī being) attended or surrounded by his fine or beautiful teeth (*i* e., having the fine or beautiful teeth of the holy sage as her attendants,—it could also mean 'being surrounded by or having *brilliant Brāhmanas or religious students* as her attendants), and *enjoying* or *experiencing* the (pleasure or happiness of the) contact of his (lit. 'of this one') lotus-like face or mouth. This (namely, the mouth of the sage Jābāli) has been found or obtained, as though after a very long time, as the second or another suitable or appropriate place (of abode) by the four Vedas or the Holy Scriptures, which have (so far) been living or dwelling in (lit. have been the indwellers or inhabitants of,—the Vedas are said to have sprung from the mouth of the Creator) the lotus like mouths of Brahmā or the Creator (lit. 'the *fourmouthed*'). Having obtained this (great sage), all the (various) sciences or branches of learning in the world, having (previously) been polluted or corrupted (*i. e.*, rendered rusty or dark and obscure for want of their proper pursuit or study,—contaminated or infected) by the cloudy or rainy season-like (lit. 'the time of the water-givers or clouds',—hence the rainy season) Iron Age, have once again attained to or come upon (lit. 'gone near to', 'approached',—experienced or undergone,—*i. e.*, become furnished with) brightness or clearness (*i. e.*, purity and agreeable lucidity of style etc.),—

like (so many) rivers, as it were, which (after) having been made or rendered turbid or muddy by the rainy season (in the shape or form) of the Iron Age, have once again become clear or pellucid on having reached the winter or cold season. Certainly or decidedly the *Kritayuga* or the *Golden Age* (the first and the most righteous and virtuous of the four ages of the world) is not remembered here (with any regret) by the divine or sacred religious law incarnate (*i. e.*, the holy observance of the religious law or practice regarded as a glorious divinity in bodily form), *which* has (undoubtedly) taken or made its (fixed or permanent) abode or residence (*i. e.*, which abides or dwells,—here in this place or hermitage with all its heart (or with the *universal soul*,—*i. e.*, in its entirety), and *which* has set at naught or defied the wanton gestures or amorous manifestations of the Iron Age (*i. e.*) which has had the sportive dalliance or workings of the Iron Age despised and over-powered or treated with contempt and disregard). Having seen or found the surface of the earth being inhabited or occupied by this (great sage or ascetic), the sky now will (lit. does) surely or indeed not (*i. e.*, will no longer) feel or experience (lit. 'bear' or carry about it) the pride or haughtiness (the honourable feeling or consciousness,—*i. e.*, will now surely cease to take pride in or entertain a high opinion of itself as regards the fact that the seven sages live in it), caused or produced by the (fact of the) residence or abode on it of the group or constellation of the '*seven sages*' (*i. e.*, the constellation of the 'Great Bear' or Ursa Major). Oh! This old age, which is pure white like a collective mass of foam, is (indeed or really) possessed of great power or courage (lit. vigour, energy or a great or noble essence,

excellence or might, etc.) or is very bold, inasmuch as it (or which) is not afraid or apprehensive of or alarmed and terrified at falling (lit. 'while falling') or coming down upon (*i. e.*, whitening) the mass or large quantity of matted hair,—*which* (on account of its dazzling brilliance or brightness) is difficult to look or gaze at, like a mass or cluster of the rays of the sun at the time of the universal destruction or dissolution, and the hair (lit. 'head-growing' or 'growing on head',—*i. e.*, the hair of the head) of *which* is whitish or yellowish-white in colour like the rays of the moon (lit. the 'causer or producer of the night'),—of this (mighty sage or ascetic), *like* the river Ganges, made or looking pure white on account of the (presence on its surface of the) mass of foam, as it were, not being afraid of (or while) falling or coming down upon (*i. e.*, while descending or alighting on) the great collective mass or tuft of matted hair on the head,—*which* (collective mass, on account of its dazzling lustre or brightness) was difficult to look or gaze at, like a mass or cluster or rays of the sun at the time of the universal destruction or dissolution, and the hair of *which* was whitish or yellowish white in colour like the rays of the moon,—of the God Shiva (lit. 'the lord of the animals'), or *like* an oblation or offering of milk, that is (similarly) pure white with a mass of foam (floating on its surface), as it were, (like-wise) not being afraid of (or while) falling down upon (*i. e.*, while being poured into) the mass of the pointed flames,—*which* (mass, on account of its dazzling lustre) was difficult...... dissolution (as in the other two cases described above), and the pointed flames of *which* were whitish......moon (exactly as in the other two cases spoken of above),—of fire (lit. 'abound-

ing in light,'—hence the fire, sun or moon). Even the collective mass or network of rays of the sun, leaves the penance grove or forest (*i.e.*, the hermitage) at a respectable distance (*i. e.*, avoids or passes by it from a distance), as though it were afraid of (or alarmed and terrified at) the superhuman power or majestic glory of the illustrious or venerable sage, who has had the hermitage rendered dark or obscure with a mass or column (*i. e.*, a heap or large quantity) of smoke (issuing from, or arising out) of the plentiful or abundant offerings or oblations of *ghee* or clarified butter (poured incessantly into the holy fire at the numerous sacrifices performed therein). [The plain meaning is this: The volume of smoke, arising from the burnt-offerings at sarcrifices in the hermitage, was so dense around it, that the sun's rays did not succeed in breaking through the same. This fact strikes the fancy of the poet as though the rays were afraid of the great power or might of the venerable sage, and so avoided or tried to keep at a respectable distance from the hermitage] And these sacrificial fires [lit. 'being worshipped on account of shining very quickly' or 'causing sorrow (to one's enemies),'—according to Sāyana;—hence meaning 'fire' shining forth, wind or air;—a Vedic term rarely used in any classical Sanskrit literature], the mass of the pointed flames of which is or has been made restless or tremulous (*i. e.*, tossing or swinging about, quivering or being agitated), and collected together into a heap (or one column) by the wind, being pleased with (or out of their liking, fondness or affectionate regard for) him (lit. 'this one'), receive or accept here (in this hermitage) the oblations or sacrificial burnt-offerings, consecrated or purified (*i. e.*, made holy) by (the

chanting or recitation of the) *Mantras* or the sacred texts or verses (or the mystical syllables or formulæ), as though with their joined or folded hands (or, as though after having formed a hollow or cavity by joining the two hands together and keeping the palms from touching so as to hold the offerings of oblations in it,—like alms in a bowl or other receptacle). And this wind (lit. 'the fragrance or smell bearer',—the term also means 'the musk-deer'), *which* has stirred or agitated his silk-like bark garment (*i. e.*, which has caused it to move about, or wave to and fro in the air,—made it tremulous, or has had a tremulous motion imparted to it),—*which* has or is endowed with a sweet-smelling fragrance or pleasing and agreeable perfume in it (*i. e.*, which is laden with the sweet-smelling fragrance) of the flowers of creepers in the hermitage, and *which* is blowing gently or moving slowly (being thus laden with the adundant perfume of the creeper-flowers of the hermitage), approaches or moves onward near him (lit. 'creeps near this one'), as though (it were) afraid or inspired with (a certain amount of) fear or apprehension (of him). Generally or for the most part, the fiery splendours or brilliant energetic powers even of the great beings or creatures (such as the lions, tigers, etc.), or of the (five) great or primary elements of nature (such as the ether, air, fire, water and earth), are difficult to defy or overpower [or it might also mean: 'the splendours or fiery energetic powers (of those possessing brilliant—spiritual, moral or mystical—forces) are generally or for the most part, difficult to defy or prevail upon even by (lit 'of' or 'at the hands of') the (five) great or fundamental elements of nature (*viz.*, ether, air, fire, water and earth)']. Whereas (lit. 'and',—*i. e.*, And

in fact) this (great sage Jābāli) is the leader or foremost of all the brilliant ones or those possessed of bright or glorious powers. Being inhabited or occupied by this high-souled or eminent (sage or ascetic), the earth or the world appears or looks as though it had or were possessed of two suns. The earth (stands or remains) motionless or free from shaking as though it were through his support or the support given by him (or, the earth is motionless, as it were, on accouut of its leaning against or resting upon him,—*i. e.*, if the earth is motionless or free from shaking or trembling, it is only due to the support given to it by him.) This (great sage or ascetic) is the flowing *stream* of (the water in the shape or consisting of) the emotion or sentiment of compassion or tenderness; the *bridge* for crossing over (or rescuing and carrying or conveying those who resort to him—his pupils and others—safely across) the sea or ocean of (this) world or secular life (lit. 'passing through a succession of states',—'the ever-going cycle or circle of births and deaths',—'the course or circuit of mundane existence' etc.); the *resersvoir* (lit. 'that which holds or contains',—a vessel or receptacle) or support of the waters of forbearance or patience and endurance; the *hatchet* or small axe of (*i. e.*, for cutting down) the thicket or dense wood of creepers (consisting or in the shape) of strong wishes or desires; the *sea* or ocean of the nectar of contentment (*i. e.*, contentedness or satisfaction); the *teacher* (*i. e.*, a *Guru* or spiritual guide) of the path of success or prosperity and well-being (in this, and) of perfection or complete attainment of final emancipation or supreme felicity (in the other world), the *setting mountain* (*i. e.*, the western mountain behind which the sun is said or

supposed to set) of idle caprices or false notions, or of an evil or ominous star or inauspicious planet (like Saturn, Mars etc.,—or of a mischievous or wicked trick); the *root* of the tree of tranquillity or calmness; the *navel* or nave of the wheel (hence the centre or essence) of wisdom; the *bamboo* (staff) for supporting (lit. 'the bamboo affording stay or support') the banner of righteousness or religious virtue (*i. e.*, he is the support or mainstay of religion and virtue); the *sacred bathing place* or sacred place of pilgrimage (in regard to or in respect) of the landing-places or ghats (or flights of steps) of all the (various) sciences or branches of learning [*i. e.*, as all the flights of steps or the stairs of a landing-place or ghat on the bank of a river, lead to a sacred place, so all the branches of learning came to him as to a sacred preceptor or teacher ;—or, it might mean ; he is the landing-place for a descent into (the waters of) all the branches of learning,—*i. e.*, his pupils by approaching him easily acquire the knowledge of all the sciences or branches of learning]; the *submarine fire* (or the fire of the lower regions, fabled to be at the South-pole, and not extinguishable by the sea-waters upon which it feeds) of the ocean of greed or covetousness (*i. e.*, as the submarine fire devours or consumes the waters of the sea, so did he all sorts of greed or covetousness) ; the *touch-stone* of (*i. e.*, for testing the genuineness or otherwise of) the jewels of sacred scriptural teachings or institutes (or the sacred religious or other scientific works,—*i. e.*, just as the quality of a jewel is tested on a touchstone, so could the various religious or other scientific works or teachings be tested by their reference to him); the *forest conflagration* of (*i. e.*, for burning down or consuming) the leaves (in the form of

passions or feelings of attachment or affection (or interest of any kind in anything); the *great* or *very sacred efficacious charm* or *spell* (*i. e.*, a very sacred or efficacious text or mystical syllable or formula) of (*i. e.*, for controlling, subduing or keeping in check) the snake of anger or wrath; the *sun* of (*i. e.*, for removing or repelling) the darkness (in the shape or form) of delusion or ignorance (*i. e.*, spiritual infatuation or delusion of mind preventing the discernment of truth,—leading men to believe in the reality of worldly objects and to addict themselves to mundane or sensual enjoyment); the *wooden bolt* or *pin* of (*i. e.*, for fastening or making secure) the doors or gates of hell (*i. e.*, just as a bolt fastens a gate or door, so he shuts off the doors or gates of hell by the preaching and practice of virtue, or by his highly virtuous conduct); the *noble house* or the hereditary home or abode (*i. e.*, the worthy receptacle) of the established rules of good conduct or behaviour (or of virtuous conduct, customs or practices); the *receptacle* or *resting-place* (*i. e.*, the support, abode or seat and sanctuary) of all auspicious things, happiness or blessings (*i. e.*, of all auspiciousness, good fortunes or omens); *no* (suitable or appropriate) *place* or *object* (lit. 'non-earth', 'anything but earth',—hence, 'no proper object', 'fit place' or suitable ground') of (*i. e.*, for holding—for the display or exercise of) the passions or feelings of emotion or excitement (lit. 'change of form or nature', 'alteration or deviation from any natural state') caused by intoxication or wantonness and arrogance (lit. pride or conceitedness, petulance, lust or sensual emotion, etc.,—the plain meaning, however, is 'that he gave no scope to, nor ever suffered from the evil effects of vain conceits or intoxicating thoughts'); the

door-keeper or *warder* (lit. 'one who shows or displays,'—'points out or explains and makes clear',—a skilful man, one conversant with the science or art) of the paths of virtue or truthfulness (*i. e.*, of honest or virtuous courses of life, or correct and upright modes of conduct) ; the *birth-place* (*i. e.*, the source or origin) of simplicity or saintliness (*i. e.*, of goodness, piety or righteousness) ; the *circumference* or edge (*i. e.*, the outer rim or felly) of the wheel of zealous resolution or enthusiasm (*i. e.*, of strenuous and continued exertion, persevering or active and energetic efforts,—the plain sense is this : Just as the circumference or rim is the furthest limit of a wheel, so he was the highest embodiment of resolute or enthusiastic exertion,—or, just as the outer rim of a wheel keeps up the other inner parts thereof in proper order, so he maintained and regulated or kept under proper control all his energetic efforts or exertions) ; the *rest* or *resting-place* (lit. 'that on which anything depends or rests,'—hence, an asylum, shelter or place of refuge) of the quality of purity or goodness (regarded in philosophy as the highest of the three *Gunas* or fundamental qualities, the characteristic feature of which is to render one in whom it predominates, chaste, true, honest, wise, etc.) or of virtue, or truth, or of strength, vigour or energy, or of good or sound sense ; the *antagonist* or *adversary* (*i. e.*, the enemy or opponent) of the period of *Kali* or the Iron Age (*i. e.*, of the age of vice and wickedness) ; the *treasure* or *store* (*i. e.*, the store-house of the accumulated wealth) of penance or religious austerities (*i. e.*, the practice of mental or personal self-denial, or the infliction of bodily tortures or mortifications) ; the *friend* or *companion* (*i. e.*, the comrade or associate) of truth

(*i. e.*, truthfulness) or sincerity; the *place of origin* (*i. e.*, the land, field or fertile soil,—the place or sacred spot) or the place of pilgrimage of rectitude or honesty (*i. e.*, of simplicity or straightforwardness, of the propriety of acts or observances, or the open, honest and sincere behaviour); the *source* or *origin* (lit. 'the birth or production',—hence, the immediate origin or cause of existence,—the operative or generative cause etc.) of the store or accumulation of virtues or religious merits; *one who never gave room* or *occasion* (lit. 'one by whom scope or opportunity was not given') to envy or jealousy (*i. e.*, he afforded or made no room for jealousy, or entertained no feelings of grudge or hostility, anger or passion, towards or for any one); the *enemy* (lit. the evil spirit that frustrates the good intentions, and disturbs the happiness of mankind,—malignity personified) of adversity or misfortune (*i. e.*, just as an evil spirit frustrates the good intentions and disturbs the happiness of men, so did he uproot or remove all misfortunes or avert disasters or mishaps); *no place* (*i. e.*, a bad or wrong place, for the display or manifestation) of contumely or humiliation (*i. e.*, a place where contumely or insult could have no firm footing, or which it could ill afford to remain in,—or, treating him with contempt, disgracing or despising him was as though in a wrong or unsuitable place,—*i. e.*, nobody could insult or humiliate him with impunity); *not agreeable* or *in accord with* (*i. e.*, averse or not conformable to) pride or self-conceit (*i. e.*, haughtiness or arrogance found no favour with or from him); *not approved of* by (*i. e.*, averse or contrary to) weakness or melancholy (*i. e.*, sorrow or dejection of spirits did not approve of or find favour with him,—'it differed or was

dissentient from him,'—the sense is that he was free from the influence of grief, undue humility or depression of spirits etc.); *independent* or *uncontrolled* (*i. e.*, not subject to the influence or control) of anger or wrath (*i. e.*, he was not docile or tractable to anger,—wrath or anger never had any mastery or upper hand over him,—he was never under their control or influence); *not under or subject to the will or power* of (*i. e.*, uninfluenced or not enslaved by) the objects of senses or the worldly pleasures or pursuits (*i. e.*, the latter could exercise no control or influence over him); and (lastly, this—great sage or ascetic—is) not *friendly or favourably disposed or inclined* towards pleasures or enjoyments [of this world,—lit. 'with his face not directed or turned towards (worldly) pleasures or comforts']. The penance-grove or forest (*i. e.*, the hermitage) has had (all its feelings of animosity or natural hatred or hostility suppressed or put down (*i. e.*, is free from all natural strife or quarrel, which has been pacified or appeased in it), and (those of) jealousy or malice and spite removed or taken away from it, as though mainly through the good grace or kind favour of this venerable or illustrious sage. Oh ! The (great or wonderful) power or might (*i. e.*, the greatness or spiritual puissance) of the great or high-souled ones (*i. e.*, of the eminent or distiuguished, powerful or magnanimous sages or ascetics) ! For, or inasmuch as, here (in this hermitage or penance-grove), even the birds or lower animals, giving up or leaving aside (*i. e.*, having abandoned) their constant or eternal (lit. permanent or perpetual,—hence, natural or instinctive, inborn or standing) hostility or antagonism, and (having or) with their minds or inner souls pacified or made tranquil and quiet,

enjoy or experience the pleasure or happiness of a residence or abode in the penance-grove or hermitage. For instance, here is a snake (lit. 'this snake' over here), which, being oppressed by heat, or having been struck or afflicted with the (blazing) heat of the sun, or the hot or scorching sunshine, fearlessly or without any misgiving or apprehension, enters into (the shade of or under) a peacock's tail (as consisting of a multitude of single feathers) *which* (tail) resembles or looks like (lit. imitates) the natural formation or arrangement of a thick bed or cluster of fully blown or expanded blue lotuses or water-lilies, *which* has hundreds of pretty or fine little eyes or small moonlike spots, rising or flashing up (lit. 'flying up') in it, and *which* is variegated like the appearance (*i. e.*, the beauty or lustre) of the eyes of a deer,—as though it (*i. e.*, the tail of the peacock) were (merely) a spot abounding in fresh green grass. This fawn or young one of a deer or antelope (*i. e.*, this young deer over here), having left or quitted its dam or mother, and had an acquaintance or familiarity (*i. e.*, intimacy, familiar intercourse or friendship) made or produced with the cubs or young ones of a lion (lit. of one 'having a mane'), *which* (cubs) have not (yet) had (their) manes grown, sucks the breast or udder of the lioness, from which a stream of milk is dripping (*i. e.*, is trickling forth) or oozing out (or which udder has a stream of milk trickling forth or oozing out of it). Here is a lion (lit. 'lord of the beasts'), who, having had the mass or large quantity (or the great bulk) of hair on his mane (or having his mane, consisting of a thick mass of hair), that is white like the rays of the moon, being pulled at (lit. 'being attracted or drawn'), with his eyes

closed (in confidential ease or repose), by (*i. e.*, the hair of his mane being pulled at by) the young ones of elephants (lit. of those '*two-toothed* or *two-tusked*'), suspecting it (*i. e.*, the mane) to be a collection or bundle of lotus fibres or fibres of lotus stalks, treats the act with an apparent approval or approbation (lit. 'considers, regards, or values or values it highly', 'thinks much of', – *i. e.*, approves of it and does not get angry or furious at them). This troop or assemblage of monkeys over here or in this place, having given up or desisted from their fickle-minded or mischievous (*i. e*, with their natural fickleness or quick naughty movements having ceased or departed, or been removed away from them), brings near or offers fruits to the young boys of the ascetics or ascetic youths, who have taken their baths or performed their ablutions And these elephants (over here), even though blind through ruttishness or intoxication *i e.*, though highly or deeply infatuated on account of their being in rut, do not, on account of pity or compassion being aroused or produced in them, prevent or drive away (*i. e.*, ward or keep off, or defend themselves against), with the flapping of their ears, the swarms of bees (lit. the 'honey-makers'), that resort or betake themselves to (*i. e*, frequent or cling to) the region of their temples (overflowing with ichor), and are motionless on account of their (being busy with the) drinking or sucking of the ichor,—lit. 'the juice of the rut'—(flowing therefrom). Why (or of what use is it to) say more, or what occasion is there for much (speaking) ? [That is in short or in fine, in brief]. Even the trees of (the hermitage of) this venerable or illustrious sage, who subsists on fruits and roots, and puts on bark garments,—*which* (trees) have

been or are made (incessantly) to present the appearance or beauty of (*i. e.*, which appear as though they were having or putting on, or were clad in) the black or dark deer-skins as their upper garments (lit. 'which have the beauty or appearance of an upper garment. made of black deer-skin, proved or demonstrated, effected or accomplished') by or on account of the lines of smoke, issuing or emanating from the burnt-offerings or oblations, poured into the sacrificial fires by the ascetics (or from the sacred sacrificial fires of the ascetics), that (lines of smoke) are rising and spreading, or gliding upwards incessantly (lit. 'night-lessly',—hence, 'restlessly' or 'sleeplessly',—uninterruptedly), *which* (trees) are bearing fruits and roots, *which* have or are provided with bark (on them), and *which* are without any (or devoid of all, discriminative) consciousness;—appear or are seen or observed to be (or as though they were, performing or undergoing a (religious) vow (of penance), as it were (or to be performing or observing religious ceremonies, or engaged in religious observances, as it were). How much more (so should it not be in the case of) the conscious or sentient and rational beings *i. e.*, of the living beings or animate creatures such as the human beings are, who have or are possessed of consciousness or emotions and feelings) !'

४१—एवं चिन्तयन्तमेव मां तस्यामेवाशोकतरोरधश्छायायामेकदेशे स्थापयित्वा हारीतः पादावुपगृह्य कृताभिवादनः पितुरनतिसमीपवर्तिनि कुशासने समुपाविशत् । आलोक्य तु मां ते सर्व एव मुनयः कुतोयमासादितः शुकशिशुरिति तमासीनमपृच्छन् । असौ तु तानब्रवीत् । अयं मया स्नानु-

मितो गतेन कमलिनीसरस्तीरतरुनीडपतितः शुकशिशुरातप-जनितक्लान्तिरुत्तप्तपांसुपटलमध्यगतो दूरनिपतनविह्वलतनुरल्पावशेषायुरासादितः । तपस्विदुरारोहतया च तस्य वनस्पतेर्न शक्यते स्वनीडमारोपयितुमिति जातदयेनानीतः । तद्यावदयमप्ररूढपक्षतिरक्षमोऽन्तरीक्षमुत्पतितुं तावदत्रैव कस्मिंश्चिदाश्रमतरुकोटरे मुनिकुमारकैरस्माभिश्चोपनीतेन नीवारकणनिकरेण फलरसेन च संवर्ध्यमानो धारयतु जीवितम् । अनाथपरिपालनं हि धर्मोऽस्मद्विधानाम् । उद्भिन्नपक्षतिस्तु गगनतलसंचरणसमर्थो यास्यति यत्रास्मै रोचिष्यते । इहैव वोपजातपरिचयः स्थास्यति । इत्येवमादिकमस्मत्संबद्धमालापमाकर्ण्य किंचिदुपजातकुतूहलो भगवाञ्जाबालिरीषदावलितकंधरः पुण्यजलैः प्रक्षालयन्निव माममतिप्रशान्तया दृष्ट्या दृष्ट्वा सुचिरमुपजातप्रत्यभिज्ञान इव पुनः पुनर्विलोक्य स्वस्यैवाविनयस्य फलमनेनानुभूयत इत्यवोचत् । स हि भगवान्कालत्रयदर्शी तपःप्रभावाद्दिव्येन चक्षुषा सर्वमेव करतलगतमिव जगदवलोकयति । वेत्ति जन्मान्तराण्यतीतानि । कथयत्यागामिनमप्यर्थम् । ईक्षणगोचरगतानां च प्राणिनामायुषः प्रमाणमावेदयति । यतः सर्वैव तापसपरिषच्छ्रुत्वा विदिततत्प्रभावा कीदृशोनेनाविनयः कृतः किमर्थं वा कृतः क्व वा कृतो जन्मान्तरे वा कोयमासीदिति कौतूहलिन्यभवत् । उपनाथितवती च तं भगवन्तम् । आवेदय प्रसीद

भगवन्कीदृशस्याविनयस्य फलमनेनानुभूयते । कश्चायमासीज्जन्मान्तरे । विहगजातौ कथमस्य संभवः । किमभिधानो वायम् । अपनयतु नः कुतूहलम् । आश्चर्याणां हि सर्वेषां भगवान्प्रभवः ।

वैशम्पायनशुकशिशुविषयकसमालोचनम्

४१—इत्येवम्—इत्थम् । चिन्तयन्तमेव—ध्यायन्तमेव । माम्—वैशम्पायनम् । तस्यैव—रक्ताशोकतरोः । अधः—निम्नभागे । छायायाम्—अनातपे । एकदेशे—कतमभागे । स्थापयित्वा—निधाय । पादौ—चरणौ । उपगृह्य—धृत्वा । कृताभिवादनः—संपादितनमस्कारः । हारीतः—महर्षिजाबालिसुतः । पितुः । अनतिसमीपवर्त्तिनि—किञ्चिन्निकटस्थे । कुशासने—दर्भविष्टरे । समुपाविशत्—स्थितवान् । सर्वं एव । मुनयः—आश्रमस्थसकलमुनयः । माम् । आलोक्य—संल्लक्ष्य । अयम् । शुकशिशुः—कीरशावकः । कुतः—कस्मात्स्थानात् । आसादितः—लब्धः वा प्राप्तः । तमासीनम्—समीपस्थम् हारीतम् । अपृच्छन्—पृष्टवन्तः । असौ तु तानब्रवीत् । इतः आश्रमात् । इदम्+तसिल्—इदमः स्थाने इरादेशः इतः । स्नातुम्—स्नानविधिं सम्पादयितुम् । गतेन—प्रयातेन । कमलिनीसरस्तीरतरुनीडनिपतितः—पम्पाख्यपद्मसरोवरतटवृक्षकुलायपतितः । कमलिनीनां सरस्तस्य तीरे तरुः तस्मिन् वा तस्य नीडात् पतितः सः । आतपजनितक्लान्तिः—धूपकृतखेदः । आतपेन जनिता क्लान्तिर्यस्य सः । उत्तप्तपांसुपटलमध्यगतः—सन्तप्तधूलिराशिअभ्यन्तरस्थः उत्तप्तस्य पांसु-

पटलस्य मध्यगतः सः । दूरनिपतनविह्वलतनुः—आरात्पात-विकलदेहः । दूरात् निपतनेन विह्वला तनुर्यस्य सः । अल्पाव-शेषायुः—स्तोकावशिष्टवयाः । अयम् । शुकशिशुः । आसादितः । तस्य च वनस्पतेः पूर्वोक्तस्य शाल्मलीतरोः । तपस्विदुरारोह-तया—तापसैरारोढुमशक्यतया । तपस्विभिर्दुरारोहस्तस्य भावस्तया । दुर्+आ+रुह्+खल् दुरारोहः । सः । नीडमारोप-यितुम्—तदीयकुलाये निधातुम् । न शक्यते –न कल्प्यते । इति—हेतोः । जातदयेन—सकरुणेन । मया—आनीतः प्रापितः । तत्—तस्मात् । अयम्— शुकशिशुः । यावत्—यत्कालपर्य्यन्तम् । अप्ररूढपक्षतिः—अजातपक्षमूलः । अन्तरिक्षम्—आकाशम् । अन्तराक्षान्तम् इति अन्तरिक्षम् । पृथ्वीआकाशयोर्मध्ये क्षान्तं स्थितमिति अन्तरिक्षन् । उत्पतितुम्—उद्गन्तुम् । अक्षमः—अशक्तः । तावत् । अत्रैव—आश्रमे एव । कस्मिंश्चित्—कतम-स्मिन् । आश्रमतरुकोटरे—आश्रमवृक्षनीडे । मुनिकुमारकैः—अल्पशिशुभिः । अस्माभिश्च—मादृशैः च । उपनीतेन—प्राप्तेन । नीवारकणनिकरेण—सस्यमञ्जरीलवसमूहेन । विविध-फलरसेन च–अनेकप्रसवद्रवेण च । संवर्ध्यमानः—पोष्य-माणः । जीवितम्—जीवनम् । धारयतु—दधातु । अस्म-द्विधानाम्—मादृशानाम् । वयं विधा येषां तेषाम् । अनाथपरिपालनम् - अरक्षकरक्षणम् । धर्मः—कर्त्तव्यम् । हि—एव । उद्भिन्नपक्षतिस्तु—आविर्भूतपक्षमूलस्तु । उद्भिन्ने पक्षती यस्य सः । गगनतलसञ्चरणसमर्थः—आकाशमार्गगमनशक्तः । गगनतले सञ्चरणे समर्थः सः । यत्र—

यस्मिन् देशे। अस्मै--शुकशिशवे। रोचिष्यते--प्रीतिं जनिष्यति। तत्र यास्यति। वा इहैव--आश्रमे एव। उपजातपरिचयः--प्राप्त-स्नेहः। स्थास्यति--निवत्स्यति। इत्येवमादिकम्--पूर्वोक्तम्। अस्मत्संवद्धम्--मद्‌विषयकम्। आलापम्--आभाषणम्। आ-कर्ण्य--श्रुत्वा। आ+कर्ण+स्वार्थे णिच्+क्त्वा तस्यल्यप्। आकर्ण्य॥ किञ्चिदुपजातकुतूहलः--अल्पोत्पन्नकौतुकः। रम्यं वस्तु समालोक्य लोलुपत्वं कुतूहलम्। भगवान्--महानु-भावः--जाबालिः। ईषदावलितकंधरः--किञ्चित्परावर्त्तितग्रीवः। पुण्यजलैः--धर्मवारिभिः। माम्। परिक्षालयन्निव--परिशोध-यन्निव। अतिप्रशान्तया--अतिस्थिरया। दृशा--दृष्ट्या। दृश्+क्विन् दृक्। सुचिरम्--बहुकालम्। दृष्ट्वा--अवलोक्य। उपजातप्रत्यभिज्ञान इव--उत्पन्नपुनरनुभव इव। पुनः पुनः--भूयोभूयः। अनेन--शुकशिशुना। स्वस्यैव--निजस्यैव। अवि-नयस्य--अशिष्टव्यवहारस्य। फलम्--परिणामः। अनुभूयते--भुज्यते। इत्यवोचत्--इत्थमब्रवीत्। ब्रू+लुङ् ब्रूस्थाने वचा-देशः। अवोचत्। स हि--जाबालिः भगवान्। कालत्रयदर्शी--भूतवर्त्तमानभविष्यत्समयज्ञानवान्। कालानां त्रयं द्रष्टुं शील-मस्य सः। तपः प्रभावात्--तपश्चरणमहिम्नः। दिव्येन--स्वर्गी-येण। चक्षुषा--लोचनेन। चष्टेऽनेन तत् चक्षुः। सर्वमेव जगत्--सकललोकम्। करतलगतमिव--हस्तस्थितमिव। आलोकयति--पश्यति। जन्मान्तराणि--अन्यजन्मकर्म्माणि। वेत्ति च--जा-नाति च॥ विद्+लट् वेत्ति। लिटि विवेद, विदांचकार। लोटि वेत्तु, विदांकरोतु लुङि अवेदीत्। आगामिनमपि--

भविष्यन्तमपि। अर्थम्—विषयम् । कथयति—वदति । ईक्षणगोचरगतानाम्—लोचनविषयमारूढानाम् । ईक्षणयोर्गोचरं गतास्तेषाम् । प्राणिनाम्—प्राणधारिणाम् । आयुषः—अवस्थायाः । प्रमाणम् परिणामम् । आवेदयति—बोधयति । ततः—तदनन्तरम् । सा सर्वैव । तापसपरिषद्—तपस्विसंसद् । श्रुत्वा । विदिततत्प्रभावा—ज्ञातजाबालिमहिमा । अनेन । कीदृश—कतमः । अविनयः—अशिष्टव्यवहारः । कृतः—विहितः । किमर्थं वा—कस्माद्हेतोः । कृतः । क्व वा—कस्मिन् देशे च कृतः । जन्मान्तरे—पूर्वजन्मनि । अयम् क आसीत् । इति कुतूहलिनी—सञ्जातप्रश्नकौतुका । प्रच्छ्+न चछयोः शकरः प्रश्नः। अभवत् । तं भगवन्तम्—महर्षिजाबालिम् । असकृत्—पुनः पुनः । उपनाथितवती—प्रार्थितवती चा । भगवन्—प्रभो । आवेदय—ज्ञापय । प्रसीद—प्रसन्नो भव । कीदृशस्याविनयस्य फलमनेनानुभूयते । कश्चायमासीज्जन्मान्तरे । विहगजातौ वा—पक्षिजन्मनि वा। कथमस्य सम्भवः—कुत एतदुत्पत्तिः । अयं किमभिधानो वा । किन्नामा च । नः—अस्माकम् । कुतूहलम्—अपनयतु—निवारयतु । सर्वेषांहि—आश्चर्य्याणाम्—निखिलाद्भुतरूपाणाम् । भगवान्—त्वम । प्रभवः—कारणम् ।

४१—मैं इस प्रकार सोच ही रहा था कि हारीत ने मुझे उसी अशोक वृक्ष के नीचे छाया में एक स्थान पर रखकर (पिता जाबालि का) चरण-स्पर्श कर अभिवादन किया और वह कुछ दूर पर रखे हुए कुशासन पर बैठ गया। मुझे देख कर वे सब मुनि आसन पर बैठे हुए उस हारीत से पूछने लग कि यह तोते का बच्चा कहाँ से ले आये। उसने उनसे कहा—जब मैं यहाँ से स्नान करने के लिए गया तो कमलिनी सर के तट पर स्थित एक वृक्ष

के घोंसलें से गिरा यह तोते का बच्चा मुझे मिला। धूप के मारे यह परेशान हो रहा था:, गरम-गरम धूल के बीच पड़ा हुआ (तड़फड़ा रहा) था; दूर से (ऊँचाई से) गिरने के कारण उसका शरीर विकल हो रहा था; और ऐसा मालूम होता था कि उसमें बहुत कम आयु बची हो। उस पर मुझे दया आ गई, परन्तु उस पेड़ पर चढ़ना तपस्वियों के लिए बहुत कठिन था, अतएव उसे मैं उसके घोंसले में नहीं रख सका और अपने साथ ही लेता चला आया। इसलिए जब तक इसके पर नहीं निकलते और इस कारण यह आकाश में उड़ने में समर्थ नहीं होता तब तक यहीं आश्रम के किसी वृक्ष के कोटर में मुनिकुमार और हम लोग ला-लाकर उसे तिन्नी के दाने और फल का रस देंगे और उसका पालन-पोषण करेंगे जिससे कि वह जी जाय। जब उसके पर निकल आएँगे और वह आकाश-मण्डल में उड़ने (अथवा घूमने) में समर्थ हो जायगा तो जहाँ उसका जी चाहेगा, चला जायगा; अथवा परिचित हो जाने के कारण यहीं रह जायगा। मुझसे सम्बन्ध रखनेवाली इस प्रकार की अनेक बातें सुनकर महात्मा जाबालि को कुछ कुतूहल हुआ और उन्होंने अपनी गर्दन कुछ घुमा कर मुझे अपनी अत्यन्त प्रशान्त दृष्टि से इस प्रकार देखा मानो वे मुझे (दृष्टि के रूप में) पुण्य-जल से नहला रहे हों। बार-बार देर तक देखने के कारण ऐसा प्रतीत होता था मानो उन्होंने मुझे पहचान लिया हो। इस प्रकार (बार-बार) देखकर उन्होंने कहा—'यह अपनी उद्दण्डता का ही फल भोग रहा है।' वे महात्मा त्रिकालदर्शी (भूत, भविष्य और वर्तमान को जाननेवाले) हैं और अपने तप के प्रभाव के कारण अपने दिव्य नेत्रों से सम्पूर्ण जगत् को इस प्रकार देखते हैं जैसे वह उनकी हथेली पर ही रखा हो। वे पिछले जन्मों के विषय में भी जानते हैं। भविष्य में होनेवाली बातों को भी बता देते हैं। प्राणियों को देख कर ही यह बता देते हैं कि उनकी आयु कितनी है। सम्पूर्ण तपस्त्रियों की वह मण्डली उनके प्रभाव को जानती थी अतएव यह (शुक-विषयक उनके कथन को) सुनकर उसको (उस मण्डली को) यह कुतूहल हुआ कि इसने (शुक ने) किस प्रकार का अशिष्ट व्यवहार

किया था, अथवा कहाँ किया था और पिछले जन्म में यह था कौन? और इस कारण उस मण्डली ने उन महात्मा से यह प्रार्थना की—कि कृपाकर हमें यह बताइये, यह किस प्रकार की अविनय (अभद्र व्यवहार) का फल भोग रहा है, पिछले जन्म में यह कौन था, किसलिए इसकी उत्पत्ति विहग-योनि में हुई और इसका नाम क्या है? आप हमारे इस कुतूहल को दूर कीजिए। भगवन्, आप तो समस्त आश्चर्यजनक बातों के कारण हैं।

शब्दार्थः—पांशुपटलम्—धूलि-समह ; दुरारोहतया—चढ़ना कठिन होने के कारण; अविनयस्य—उद्दण्डता या अशिष्ट व्यवहार का; प्रत्यभिज्ञानम्—पहचान; उपनाथितवती—प्रार्थना की; प्रसीद—प्रसन्न होइये, कृपा कीजिये; प्रभवः—उत्पत्ति-स्थान, कारण।

41. Having placed or put me, who was thus thinking or reflecting in this strain or manner, in a corner or part (*i. e.*, on a spot) in the shade beneath or under that very (red-flowering) Ashoka tree, Hāriṭa, having made his obeisance or respectful salutation to his father by touching, or after having touched, (lit. 'holding up or seizing'—'taking hold of') his feet, sat down (or took his seat) upon a small mat or seat of *kusha* grass, that (seat) was lying at a respectable distance (lit. 'lying or situated not very near or close') from him (*i. e*, his father, the sage Jābāli). Now, having seen or looked at me, all those ascetics or sages enquired of him (while he was thus) seated, saying: Whence or from where has this young one of a parrot been obtained (*i. e.*, whence have you got this young one of a parrot)? He, however or on his part, said to them: 'This young one of a parrot, *which* had fallen down from a nest on a tree on the bank of the lotus-lake or lake abounding with lotuses, *which* had had a languor or exhaustion (*i. e.*, fatigue, weariness, or faintness)

produced or brought about (or caused) in it, by or on account of the (scorching) heat of the sun, *which* was lying in the midst of a heap of well-heated or hot dust, *which* had its body staggering or trembling (*i. e.*, greatly distressed or afflicted,—languishing) on account of the fall from a great height (lit. 'a long distance'—downwards), and *which* had (but) a little (or hardly any) life (still) left in it, was found or obtained (*i. e.*, reached or met with) by me, who (*i. e.*, while I) had gone from this place or hermitage to have a bath (to bathe or perform my ablution,—in that lake). Thinking (or as I thought) that it could not be restored to or replaced (lit. 'planted or placed') in its own nest, on account of that tree having been hard or difficult to climb up by an ascetic (or ascetics), and having pity or compassion aroused or produced in me (at or by that thought), (it) has been brought (here by me) [or, 'thinking......ascetics, (it) has been brought (here by me who) was moved to pity, or had had pity or compassion aroused or produced (in me, at that thought)]. Therefore as long as it has not had its wings (lit. the root or insertion of a wing,—the pit of a bird's wing) fully grown or developed, and is unable to fly (*i. e.*, is not capable of flying) up into the sky (lit. the intermediate space between heaven and earth —the atmosphere or sky, the air), let it so long or till then sustain or maintain (*i. e.*, live, drag on its existence, or preserve) its life here in this very place in some hollow or cavity of a (or in the hollow or cavity of some) tree in the hermitage, being brought up or fostered and nourished (*i. e.*, being made to prosper or grow to maturity and perfection,—fed or nursed) with a heap of the small grains or particles of wild rice (that grows without cultivation and is frequently

or mostly used by the ascetics or hermits) [or with the pith, sap or essence of the grains or minute particles of wild rice], and the juice of fruits, offered or presented (lit. brought near) to it by the ascetic youths or boys, and also by us. For surely or indeed, the taking care of or protecting and cherishing (*i. e.*, the maintaining, keeping, supporting or defending etc.) of the orphans or the destitute or helpless ones (of those having no natural protector—the fatherless, helpless or poor ones) is the (appropriate religious or pious) duty of people or persons such as we are or like us. When, however, it has (*i. e.*, will have) its wings (fully) grown or developed (lit. 'burst forth', 'broken or come out', 'germinated', etc.), and is able (*i. e.*, is strong or has strength enough) to roam or move about (*i. e.*, fly about or fly up freely) in the sky, it will go wherever it likes or pleases: or will (or might) stay on in this very place (or hermitage), having become familiar (lit. 'having had its acquaintance or familiarity produced', – with us all)'. Now, having heard or listened to such a speech or conversation, or all this speech etc., concerning me or relating to myself, the venerable sage Jābāli, with or having (thereby) had a little curiosity aroused in him, with (lit. having had) his neck turned round a little, (*i. e.*, turning round his neck a little), and having looked at me for quite a long time, with an eye or glance that was very calm or exceedingly tranquil (lit. 'made tranquil or calm', tranquillized, calmed or composed), and appearing (thereby) as though he were sprinkling me over (or washing or purifying me) with the holy or sacred waters, as it were, and having repeatedly or over and over again cast his glance (at me), and (appearing thereby) as though he had recognised me once again [lit. 'who had the recognising or knowing (*i. e.*,

the recognition—of me) again, produced or caused in him',— hence, recognised or known (me once again) by his spiritual vision as to who I was in my former or previous birth etc.], said this (namely): 'It is reaping the fruits (*i. e.*, experiencing, bearing or suffering from the bad results) of its own bad conduct or misbehaviour,—rude behaviour or immodesty' [or thus: 'The fruit or the evil consequence of its own immodesty or rude behaviour—bad conduct,—is being reaped or experienced—suffered from or borne,—by it']. For (surely) that venerable or illustrious sage, who could see or behold (*i. e.*, was able to know) the '*three times*' (*viz.*, past, present and future, -lit. was the 'seer or beholder of the three times', *i. e.*, could know, or possessed the ability to see or behold clearly. the three times), sees or beholds (clearly), by the supernatural power of his penance, with his divine eye or supernatural vision, the entire world or the whole of the universe, as though it were (lying situated) in the palm of his hand. He knows the other (*i. e.*, the previous or former) births or lives, that are now past or (long) gone by. He foretells or predicts (lit. 'says or speaks about',—*i. e.*, can predict or foretell) even about the future or coming (*i. e.*, impending) events (*i. e.*, he can predict or interpret the events or happenings even of a future existence or life). And he can tell or declare the exact measure (*i. e.*, the extent, length or duration) of the lives (lit. 'the age') of sentient or living beings, who (happen to) come within the range or scope of his sight or view. For [lit. 'for or in consequence of which' (supernatural powers of the great sage), 'for which reason', 'because of which', 'wherefore', etc.,], the whole assembly or the entire congregation of the ascetics or hermits, to which his great

powers were (fully) known (*i. e.*, which—assembly—knew his great or supernatural powers), having heard (those words of the great sage,—namely,—'It is reaping the fruits etc.), became full of curiosity or inquisitive (to know) as to (all this, namely): What sort of immodesty or misbehaviour has (*i. e.*, should or must have) been done or shown by it (namely, the young parrot, *i. e.*, myself)? Or with what object or reason (should it have been) done? Or where (should it have been) done? Or who or what was it in its other (*i. e.*, the former or previous) life etc.? And it (*i. e.*, the assembly of ascetics,—thereupon) implored or solicited that venerable sage (*i. e.*, begged of him or approached him with the request,—thus or saying): 'Be pleased to tell or inform us (*i. e.*, kindly declare to us or let us know), O venerable sage, as to what sort of immodesty or misbehaviour it was, the fruit of which it is (now) reaping(lit. 'the fruit of what sort of immodesty is being experienced by it'), And what was it in its other or previous birth or life? How (has it come to have) its birth (*i. e.*, how was it born) in the class or species of birds ? or what has it got as its (*i. e.*, what is its) name? (Kindly or be pleased to) remove or satisfy our curiosity or inquisitiveness. For (surely) your holiness is the source or birthplace (*i. e.*, you are the origin) of all marvels or wonderful things'.

४२—इत्येवमुपयाच्यमानस्तु तपोधनपरिषदा स महामुनिः प्रत्यवदत् । अतिमहदिदमाश्चर्यमाख्यातव्यम् । अल्पशेषमहः । प्रत्यासीदति च नः स्नानसमयः । भवतामप्यतिक्रामति देवार्चनविधिवेला । तदुत्तिष्ठन्तु भवन्तः सर्व एव तावदाचरन्तु यथोचितं दिवसव्यापारम् । अपराह्णसमये

भवतां पुनः कृतमूलफलाशनानां विश्रब्धोपविष्टानामादितः प्रभृति सर्वमावेदयिष्यामि । योयम् । यच्चानेन कृतमपरस्मिन्ञ्जन्मनि । इह लोके यथास्य संभूतिः अयं च तावदपगतक्लमः क्रियतामाहारेण । नियतमयमप्यात्मनो जन्मान्तरोदन्तं स्वप्नोपलब्धमिव मयि कथयति सर्वमशेषतः स्मरिष्यति । इत्यभिदधदेवोत्थाय सह मुनिभिः स्नानादिकमुचितं दिवसव्यापारमकरोत् ।

४२—इत्येवम्—इत्थम् । तपोधनपरिषदा—तापससमूहेन । उपयाच्यमानस्तु । सः । महामुनिः । जाबालिः । प्रत्यवदत्—उत्तरं दत्तवान् । इदमाश्चर्य्यम्—एतदद्भुतम् । अतिमहत्—अतिशयविस्तृतम् । आख्यातव्यम्—वाच्यम् वा वृत्तम् । अहः—दिनम् । अल्पशेषम्—स्तोकावशिष्टभागम् । अल्पः शेषो यस्य तत् । नः—अस्मदीयः । स्नानसमयश्च—नित्यस्नानविधिवेला । प्रत्यासीदति—प्राप्नोति । भवतामपि—यौष्माकीणापि । देवार्चनवेला—इष्टदेवपूजनसमयः । अतिक्रामति—गच्छति । तद्—तस्मात् । भवन्तः—यूयम् । सर्व एव—समग्रा एव । उत्तिष्ठंतु—उत्थितिं नयन्तु । यथोचितम्—यथायोग्यम् । दिवसव्यापारम्—अहःकृत्यम् । आचरन्तु—विदधतु । अपराह्णसमये—मध्याह्नकाले व्यतीते सति । भवताम्—पुनः—भूयः । कृतमूलफलाशनानाम्—भुक्तफलादिभोज्यानाम् । विस्रब्धोपविष्टानाम्—विश्वस्तं स्थितानाम् । आदितः प्रभृति—पूर्वत आरभ्य । सर्वम् । आवेदयिष्यामि—बोधयिष्यामि । योऽयं यच्च कृतमनेनापरस्मिन् जन्मनि—

पूर्वजनुषि । इहलोके च—मर्त्यलोके च । यथाऽस्य—शुकशिशोः । सम्भूतिः—उद्भवः । अयं च । तावत्—तत्कालपर्य्यन्तम् । अपगत-क्लमः—निवारितखेदः । आहारेण—भोजनेन । क्रियताम्—सम्पाद्यताम् । अयमपि । आत्मनः—स्वस्य । जन्मान्तरोदन्तम्—पूर्वजननवृत्तान्तम् । नियतम्—निश्चितम् । स्वप्नोपलब्धमिव—शयनावस्थादृष्टमिव । स्वप्ने उपलब्धः तम् । मयि । कथयति सति । अशेषतः—साकल्येन । सर्वम् । स्मरिष्यति—अध्येष्यति । इति अभिदधत्—एवं कथयन् । एव । उत्थाय—उत्क्रम्य । तैः—तत्रत्यैः । मुनिभिः । सह—सार्धम् । उचितं दिवसव्यापारम्—योग्यं दिनकृत्यम् । स्नानादिकम् । अकरोत्—विहितवान् ।

४२—जब मुनि-मण्डली ने महामुनि से इस प्रकार निवेदन किया तो उन्होंने उत्तर दिया—'मैं यह आश्चर्यमय कथा सुनाऊँगा तो, पर वह है बहुत विस्तृत । दिन बहुत कम शेष रहा है, हम लोगों के स्नान का समय हो रहा है और देवार्चना का आप लोगों का समय बीता जा रहा है, इसलिए इस समय तो आप सब लोग उठ जायँ और यथोचित नित्य-कर्म करें । तीसरे पहर जब आप सब लोग फलमूल का भोजन कर चुकेंगे और निश्चिन्त हो कर बैठेंगे तब मैं शुरू से लेकर यह सब बताऊँगा कि यह कौन है, पिछले जन्म में इसने क्या किया था; इस लोक में किस प्रकार इसका जन्म हुआ । तब तक आहार देकर इसके कष्ट को दूर करें । मेरे कहने पर निश्चय ही उसे अपने पूर्वजन्म का सम्पूर्ण वृत्तान्त पूर्ण-रूप से इस प्रकार याद आ जाएगा मानो उसने स्वप्न में देखा हो । ऐसा कहते हुए उठकर उन्होंने मुनियों के साथ स्नानादि आवश्यक नित्य-कर्म किये ।

शब्दार्थः—प्रत्यासीदति—निकट आ रहा है; विश्रब्धम्—निश्चिन्त होकर, आराम से; संभूतिः—जन्म; उदन्तम्—वृत्तान्त; अशेषतः—पूर्ण-रूप से ।

42. Now, having, however, been thus implored or solicited (*i. e.*, requested) by the assembly or congregation of the ascetics or hermits (lit. 'those having penance alone as their wealth'), the great sage replied or spoke in reply (thus): 'This marvel or wonderful tale to be told or related (to you presently,—or which is worthy of being, or fit to be, told or declared,—*i. e.*, which I may have to relate to you, or, which I am now or presently proceeding to narrate to you in due course), is very long or lengthy. The day has very little (*i. e.*, a very small or little part) of it left (*i. e.*, the evening time of the day is drawing to its close), and (or besides) the time of our baths or ablutions is drawing near or is close at hand ('is imminent'). The time of your worshipping also of the deities (*i. e.*, in your case also the time of worshipping the deities) in accordance with the prescribed rites or ceremonies (lit. 'the time of the particular procedure or prescribed directions to the worship of gods or deities'), is about to pass away or elapse [lit. 'is getting beyond or passing over' (the prescribed limit);—*i. e.*, is getting transgressed or over-stepped]. Therefore let all of you also rise or get up, and should first of all or in the meanwhile (*i. e.*, should at once, now or just) perform the duties of day as is proper or in accordance with propriety, (*i. e.*, with due rites and ceremonies. In the afternoon, when or after you have taken your food or meal consisting of roots and fruits, and when you are sitting at (your) ease or leisure (lit. 'seated in confidence or without fear',—'seated confidingly'), I shall again (*i. e.*, later) narrate or relate to you, or tell you all or everything from the very beginning, as to *who* it (namely, this young parrot) is, and *what* was or has been done by it

in its other (*i. e.*, the former or previous) birth or life, and as to *how* it has (come to have) its birth (its being or existence) in this world. In the meantime or meanwhile, let this (young parrot) also have its fatigue or weariness (*i. e.*, its exhaustion or languor) removed with (*i. e.*, by being given or supplied and fed with some) food. When or while I (*i. e.*, on my proceeding to) narrate or describe (the events or story of its former birth), surely or undoubtedly (*i. e.*, positively or inevitably), this (young parrot) also will recollect fully or) completely (lit. 'without leaving anything or any remainder' the whole of the story of its former or previous (lit. 'other or another') birth or life, as though it had perceived or acquired it in a dream'. Having risen while still speaking thus or in this manner or strain, he performed along with or in the company of the (other) sages or ascetics, the appropriate duties, or discharged the usual or proper functions of the day, such as bathing etc.

४३——अनेन च समयेन परिणतो दिवसः । स्नानोत्थितेन मुनिजनेनार्घविधिमुपपादयता यः क्षितितले दत्तस्तमम्बरतलगतः साक्षादिव रक्तचन्दनाङ्गरागं रविरुदवहत् । ऊर्ध्वमुखैरर्कबिम्बविनिहितदृष्टिभिरुष्मपैस्तपोधनैरिव परिपीयमानतेजःप्रसरो विरलातपो दिवसस्तनिमानमभजत् । उद्यत्सप्तर्षिसार्थस्पर्शपरिजिहीर्षयेव संहृतपादः पारावतचरणपाटलरागो रविरम्बरतलादलम्बत । आलोहितांशुजालं जलशयनगतस्य मधुभिदो विगलन्मधुधारमिव नाभिनलिनं प्रतिमागतमपरार्णवे सूर्यमण्डलमलक्ष्यत । विहाय धरणितलमुन्मुच्य कमलिनीव-

नानि शकुनय इव दिवसावसाने तपोवनतरुशिखरेषु पर्वताग्रेषु च रविकिरणाः स्थितिमकुर्वत । आलग्नरक्तातपच्छेदा मुनिभिरालम्बितालोहितवल्कला इवाश्रमतरवः क्षणमशोभन्त। अस्तमुपगते च भगवति सहस्रदीधितावपरार्णवतलादुल्लसन्ती विद्रुमलतेव पाटला संध्या समदृश्यत। यस्यामाबध्यमानध्यानमेकदेशदुह्यमानहोमधेनुदुग्धधाराध्वनितधन्यतरातिमनोहरमग्निहोत्रवेदीविकीर्यमाणहरित्कुशमृषिकुमारिकाभिरितस्ततो विक्षिप्यमाणदिग्देवताबलिसिक्थमाश्रमपदमभवत्। क्वापि विहृत्य दिवसावसाने लोहिततारका तपोवनधेनुरिव कपिला परिवर्तमाना संध्या मुनिभिरदृश्यत । अचिरप्रोषिते सवितरि शोकविधुरा कमलमुकुलकमण्डलुधारिणी हंससितदुकूलपरिधाना मृणालधवलयज्ञोपवीता मधुकरमण्डलाक्षवलयमुद्वहन्ती कमलिनी दिनपतिसमागमव्रतमिवाचरत् । अपरसागराम्भसि पतिते दिनकरे पतनवेगोत्थितमम्भःसीकरनिकरमिव तारागणमम्बरमधारयत् । अचिराच्च सिद्धकन्यकाविक्षिप्तसंध्यार्चनकुसुमशबलमिव तारकितं वियदराजत। क्षणेन चोन्मुखेन मुनिजनेनोर्ध्वविप्रकीर्णैः प्रणामाञ्जलिसलिलैः क्षाल्यमान इवागलदखिलः संध्यारागः ।

संध्यावर्णनम्—

४३—अनेन च समयेन--अमुना कालेन । (अपवर्गे तृतीयेतिसूत्रेण फलप्राप्त्यर्थे अत्र कालवाचकात् तृतीया) । दिवसः ।

परिणतः—अवसानम् प्राप्तः । स्नानोत्थितेन—स्नानविधिमाचरितुमुद्गतेन । मुनिजनेन—ऋषिलोकेन । अर्घ्यविधिमुपपादयता । सूर्य्यार्घ्यदानं कुर्वता । क्षितितले । दत्तः—अर्पितः । तम्—रक्तचन्दनरागम् । अम्बरतलगतः—आकाशमध्यस्थितः । साक्षादिव—प्रत्यक्षमिव । रक्तचन्दनाङ्गरागम्—लोहितपाटीरदेहविलेपनवर्णम् । रविः । उदवहत्—धारितवान् । सायंवेलायां रवेर्बिम्बस्य रक्तवर्णत्वात् मुनिभिर्दत्तोऽर्घः किमस्मिन् संसृष्ट इत्युत्प्रेक्ष्यते बिम्बो रवेः । तात्कालिकं तदीयं लौहित्यं अर्घ्यचन्दनरक्तिम्नोत्प्रेक्षितम् इतिभावः । ऊर्ध्वमुखैः—उन्नताननैः । अर्कबिम्बनिहितदृष्टिभिः—सूर्य्यमण्डलस्थापितलोचनैः । अर्कबिम्बे निहता दृष्टयो यैस्तैः । ऊष्मपैः—उत्तापपायिभिः । ऊष्माणं पिबन्तीति तैः । ऊष्मन्+पा+कः आतोऽनुपसर्गे कः इति सूत्रेण । तपोधनैरिव—तापसैरिव—परिपीयमानतेजःप्रसरः—धीयमानप्रकाशपुञ्जः । परिपीयमानः तेजसः प्रसरः यस्य सः—विरलातपः—अल्पीभूतप्रतापः । तनिमानम्—कृशताम् । तनोर्भावस्तनिमा—तनु+इमनिच् । अभजत्—सेवितवान् । लिटि बभाज, भेजतुः, भेजुः भेजे । लुटि—भक्ता । लृटि भक्ष्यति । लुङि—अभाक्षीत्, अभक्त । उद्यत्सप्तर्षिसार्थस्पर्शऽपरिजिहीर्षया इव—उदीयमानमरीच्यादिमुनिसमूहसम्पर्कम् निवारयितुमिच्छया । उद्यतां सप्तर्षीणां सार्थस्य स्पर्शस्य परिजिहीर्षा तया । संहृतपादः—संकोचितकिरणः । हृ+लिटि जहार, जहृतुः । लुङि—अहार्षीत्—अहृत । पारावतचरणपाटलरागः—कपोतचरणश्वेतरक्तप्रभः पारावतानां पादवत् पाटलः रागो यस्य सः । रविः अम्बरतलात्—आकाशात् । [illegible]—

आलम्बितवान् । आलोहितांशुजालम्—ईषद्रक्तकरनिकरम् । आलोहितमंशूनां जालं यस्य तम् । जलशयनगतस्य—वारिशय्याभ्यन्तरप्राप्तस्य । मधुभिदो—मधुरिपोः—वासुदेवस्य । विगलन्मधुधारम्—क्षरन्मकरन्दवर्षम् । विगलन्ती मधुधारा यस्मात् तत् । प्रतिमागतम्—प्रतिबिम्बतान्नीतम् । नाभिनलिनम्—नाभिपद्मम् इव । सूर्य्यमण्डलम्—रविचक्रवालम् । अपरार्णवम्—पश्चिमसागरम् । अलक्ष्यत—अदृश्यत । धरातलम्—भूतलम् । विहाय—त्यक्त्वा । कमलिनीवनानि च—पद्मिनीकाननानि । उन्मुच्य—विहाय । लिटि—जहौ । लुङि—अहासीत् । आशिर्लिङि—हेयात् । दिवसावसाने—सायंवेलायाम् । शकुनय इव—पक्षिण इव । तरुशिखरेषु—वृक्षोपरिभागेषु । पर्वताग्रेषु च—अचलशिखरेषु च । रविकिरणाः—सूर्य्यरश्मयः । स्थितिम्—स्थानम् । अकुर्वत—कृतवन्तः । आलग्नलोहितातपच्छेदाः—संसक्तरक्तवर्णालोकखण्डाः । आलग्नाः लोहिताः आतपस्य छेदा येषु ते । आलम्बितलोहितवल्कलाः । आश्रितरक्तवल्कलवस्त्रा इव । आलम्बितानि लोहितानि वल्कलानि यैस्ते । आश्रमतरवः—मुनिनिकेतनवृक्षाः । मुनिभिः—ऋषिभिः । क्षणम्—ईषत्कालम् । अदृश्यन्त । भगवति—प्रकाशेश्वरे । सहस्रदीधितौ—रवौ । सहस्रं दीधतयो यस्य तस्मिन् । अस्तमुपगते—अस्ताचलं प्राप्ते सति । अपरार्णवतलात्—पश्चिमसागरकूलात् । उल्लसन्ती—प्रादुर्भवन्ती । विद्रुमलतेव—प्रवालवल्लीव । पाटला—श्वेतरक्ता । संध्या—सायंवेला । अदृश्यत । यस्याम्—संध्यायाम् । जातायाम् आबध्यमान ध्यानम्—विधीयमानसंध्यावन्दनप्राणायामादिचिन्तनम् । एकदेशद्रुह्यमान-

होमधेनुदुग्धधाराध्वनितधन्यतरातिमनोहरम्---एकतमप्रदेशप्रपूर्य्यमाणहवनगोक्षीरधारापातशब्दसुन्दरम् । एकदेशे दुह्यमानाः होमधेनवस्तासां दुग्धधाराणां ध्वनिभिः मनोहरस्तम् । अग्निहोत्रवेदिविकीर्य्यमाणहरित्कुशम्---नित्ययागहवनपरिष्कृतभूमिनिक्षिप्यमाणहरितदर्भम् । अग्निहोत्राणाम् वेदिषु विकीर्य्यमाणाः हरितः कुशाः यस्मिन् तत् । ऋषिकुमारिकाभिः---मुनिसुताभिः । इतस्ततः---समन्तात् । विक्षिप्यमाणदिग्देवतार्चनबलिसिक्थकम्---विप्रकीर्य्यमाणाशापालशक्रादिदेवपूजनोपायनान्नम् सिक्थ ओदनसम्भवे । विक्षिप्यमाणाः दिग्देवतानामर्चनाय बलिसिक्था यस्मिन् तत् । क्वापि विहृत्य---कतमस्मिन्नपि देशे विहारं विधाय । दिवसावसाने---सायम् । लोहिततारकाः यस्यां सा पक्षे लोहिते तारके यस्याः सा । कपिला तपोवनधेनुरिव---पिङ्गलवर्णतापससुरभिरिव । परिवर्त्तमाना---विद्यमाना । संध्या---सायंवेला । मुनिभिः---तपोधनैः---तापसैः । अदृश्यत । अचिरप्रोषिते---सद्योऽस्तंगतेव मृत्युन्नीते । सवितरि---सूर्य्ये । शोकविधुरा---परिपीडाविह्वला । कमलमुकुलकमण्डलुधारिणी---पद्मकोरकदारुमयजलपात्रग्राहिणी । कमलमुकुलमेव कमण्डलुः पक्षे कमलमुकुलमिव कमण्डलुः तं धरतीति सा । हंससितदुकूलपरिधाना---मरालधवलाधोवसना । हंसा एव सितदुकूलं पक्षे हंसवत् सितदुकूलं यस्या सा । विधवायाः रक्तवस्त्रादिधारणनिषेधात् इतिभावः । मृणालधवलयज्ञोपवीता---विसतन्तुसितयज्ञसूत्रा । मृणालमेव धवलं यज्ञोपवीतम् विधवापक्षे मृणालवद् धवलं यज्ञोपवीतमस्या अस्ति सा । मधुकरमण्डलाक्षवलयम्---भ्रमरसमूहजपमालाम् ।

मधुकराणां मण्डलमेवाक्षवलयम् पक्षे मधुकरमण्डलवत् अक्षवलयं तत् । उद्वहन्ती—धारयन्ती । कमलिनी—पद्मिनी । दिनपति-समागमव्रतमिव—दिवाकरसंसर्गनियममिव । दिनपतिना समागमाय व्रतम्—तत् । आचरत्—कृतवती । अत्र विधवाया यज्ञोपवीतधारणम् हारीतस्मृतेरनुसारेण । तथाहि स्त्रियो द्विविधा:—ब्रह्मवादिन्य:, वध्वश्च । ब्रह्मवादिनीनाम् उपनयनम्, अग्नीन्धनम्, वेदाध्ययन , स्वगृहे भक्ष्यं चेति कथनात् । अपरसागराम्भसि पतिते—पश्चिमसमुद्रवारिणि गते । दिवाकरे—सूर्य्ये । दिवा करोत्यर्थे दिवाऽव्यये दिनार्थके उपपदे कृधातो: ट: प्रत्यय:—दिवाविभानिशेत्यादिना । अम्बरम्—गगनम् । तत्पतनवेगोत्थितम्—सूर्य्यपातवलोद्गतम् । तस्य पतनेन यो वेगस्तेनोत्थितस्तम् । अम्भ:—शीकरनिकरमिव—जलकण-समूहमिव । तारागणम्—नक्षत्रपुञ्जम् । अधारयत्—दधार । अचिराच्च—सद्य एव । सिद्धकन्यका—देवयोनिसुता । विक्षिप्त-सन्ध्यार्चनकुसुमशबलमिव—विकीर्णसायंपूजनपुष्पमिश्रितमिव । तारकितम्—सञ्जाततारकम् । वियत्—आकाशम् । विपूर्वकयम्धातो: क्विप्—वियत् ।। अराजत—शोभते स्म । उन्मुखेन—ऊर्ध्वाननेन । मुनिजनेन—ऋषिलोकेन । ऊर्ध्वविप्रकीर्णै:—उपरिक्षिप्तै: । ऊर्ध्वं विप्रकीर्णानि तै: । प्रणामाञ्जलिसलिलै: । सूर्य्यनमस्कारकालिक-हस्तपुटपूर्णजलै: । प्रणामायाञ्जलिपूर्णानि सलिलानि तै: । प्रक्षाल्यमान इव—प्रमार्ज्यमान इव । अखिल:—समग्र: । सन्ध्याराग:—सायंवेलालोहितिमा । क्षणेन—ईषत्कालेन । अगलत्—प्रच्यावित: । अर्थात्—गत: सन्ध्यासमय: ।

४३—इतने समय में (अर्थात् मध्याह्न के नित्य-कर्म करते-करते) दिन ढलने लगा । स्नान करने के बाद खड़े होकर सूर्य को अर्घ (अर्थात्

पूजा के लिए चढ़ाया जानेवाला जल, रक्तचन्दन, पुष्प आदि) देते हुए मुनिजनों ने भूतल पर जो चन्दन चढ़ाया मानो आकाश-स्थित सूर्य ने उसी रक्त चन्दन के अङ्गराग को साक्षात् धारण कर लिया हो (अर्थात् सान्ध्य-कालीन सूर्यबिम्ब मानो इसी कारण रक्तिम वर्ण का हो गया हो) । ऊपर मुख करके (सदैव) सूर्यमण्डल पर दृष्टि लगाये रहनेवाले ऊष्मप अर्थात् सूर्य के ताप का पान करनेवाले तपस्वियों के द्वारा तेजसमूह पी लिए जाने के कारण ही मानो धूप बहुत कम हो गई हो और दिन भी क्षीण होता जा रहा हो अर्थात् सन्ध्या होने ही वाली थी । सप्तर्षि-मण्डल उदित होने लगा । कहीं उसके (सूर्य के) पाद (किरण, चरण) उनको (महर्षि को) छू न जायें इसी भावना से (शाब्दिक अर्थ है—स्पर्श-त्याग की इच्छा से) सूर्य ने अपने पाद (किरणों) को सिकोड़ लिया और अब वह कबूतर के चरणों के समान गुलाबी रंग का होकर गगनतल से उतरने (अथवा नीचे की ओर लटकने) लगा है । सूर्य का रश्मि-समूह कुछ लाल--सा हो चला अतएव जब उसका प्रतिबिम्ब पश्चिमी समुद्र में पड़ा तो वह (प्रतिबिम्ब) ऐसा दिखाई पड़ने लगा मानो जल में शयन करनेवाले (मधुराक्षस का संहार करनेवाले) भगवान् विष्णु की नाभि से निकला हुआ कमल हो, जिसमें से मधु की धारा निकल रही हो (सूर्य की लाल किरणों को मधु-धारा के समान माना गया है) । दिवस के अवसान पर रविकिरणें पक्षियों की भाँति धरणितल को छोड़ कर और कमलिनी-वनों का त्याग कर तपोवन के वृक्षों की चोटियों पर और पर्वतशिखरों पर स्थित हो गईं । आश्रम-वृक्षों पर कहीं-कहीं लाल-लाल धूप पड़ रही थी, इस कारण थोड़ी देर के लिए वे (वृक्ष) इस प्रकार शोभित होने लगे मानो मुनियों ने उन पर अपने लाल रंग के वल्कल वस्त्र फैला दिये हों । भगवान् सूर्य के अस्त हो जाने पर पाटल वर्ण की संध्या (अर्थात् सान्ध्यकालीन लालिमा) इस प्रकार दिखाई पड़ी मानो पश्चिमी समुद्र-तल से उठती हुई (अथवा निकलती हुई) मूँगे की लता हो । उस संध्या में (अर्थात् उस समय) आश्रम में

ऋषि-गण ध्यान लगा रहे थ; एक ओर होम की गायों के दुहे जाने के कारण दुग्ध-धार की ध्वनि से धन्य होकर वह (आश्रम) अतिमनोहर दिखाई पड़ता था; अग्निहोत्र की वेदिका पर हरित कुश बिछाया जा रहा था; ऋषि-कन्याएँ इधर-उधर दिग्देवताओं को (पूजा के लिए) पके हुए अन्न की बलि चढ़ा रही थीं या बलि अन्न दे रही थीं। मुनियों को दिन के समाप्त होने पर कपिल (पिंगल) वर्ण की तथा सूर्य-सम्पर्क के कारण कुछ रक्तिमा से युक्त तारों वाली संध्या इस प्रकार दिखाई पड़ी मानो कहीं घूम कर संध्यासमय लाल पुतलियों वाली, तपोवन की धेनु कपिला लौट कर आ रही हो। थोड़ी देर में सूर्य परदेश चला गया अर्थात् डूब गया। (पति-वियोग से दुःखित उसकी प्रिया) कमलिनी (अपने प्रिय) सूर्य से मिलने के लिए (पतिव्रता स्त्री की भाँति) व्रत-सा करने लगी। (इसीलिए उसने मानो) कमल-मुकुल रूपी कमण्डलु धारण कर लिया और हंस के रूप में श्वेत दुकूल पहन लिया (अर्थात् रंगीन वस्त्र का त्याग कर दिया); कमलनाल ही मानो उसका उज्ज्वल यज्ञोपवीत था और भ्रमर-समूह रूपी रुद्राक्ष की माला उसने धारण कर ली। पश्चिमी सागर में सूर्य के गिरने पर मानो उसके गिरने के वेग से पानी की बूँदें ऊपर उछली हों और उन्हीं को तारों के रूप में आकाश ने धारण कर लिया हो। थोड़ी ही देर में तारों-भरा आकाश ऐसा सुशोभित होने लगा मानो सिद्धकन्याओं (सिद्ध देवों की योनि-विशेष) द्वारा सान्ध्य-कालीन पूजा के लिए बिखेरे हुए फूलों से चित्र-विचित्र हो गया हो। क्षण भर में सन्ध्या की सम्पूर्ण लालिमा इस तरह लुप्त हो गई मानो ऋषियों ने मुख ऊपर करके (देवताओं को) प्रणाम करते हुए अपनी अञ्जलि में लेकर जो जल ऊपर फेंका, उसीसे (वह लालिमा) घुल गयी हो।

शब्दार्थ :—परिणतम्—समाप्त हो गया; उष्मपैः—उत्ताप पान करने वाले तपस्विविशेष; तनिमा—तनु का भाव, क्षीणता; सार्थः—समूह, मधुत्रिभिद्—मधुनामक राक्षस के रिपु, विष्णु; सहस्रदीधितिः—सूर्य; बलिसिक्थः—बलि का अन्न; वियत्—आकाश, मराजत्—सुशोभित हुआ।

43. Now by this time (*i. e.*, by the time that the great sage concluded the performance of his usual duties of the day), the day had (far or much) advanced (lit. 'bent down' or 'deflected', (*i. e.*, grown or advandced). The red sandal paste, that was offered (*i. e.*, thrown or poured down) on the ground or the surface of the earth by the (assembly or collective body of the) sages or ascetics, while performing the worship or ceremony the prescribed act or rite) of making a respectful presentation or offering (to the sun), after they had risen from (*i. e.*, finished off) their bath or ablution, seemed (as though it were) the scented cosmetic or unguent (in the shape or form of an ointment) of red sandal paste, which the sun, having reached the sky, was as though visibly or manifestly applying or putting on (lit. 'bore, had or possessed',—*i. e.*, bore or had on, or had applied as though visibly or manifestly;—or it might be rendered thus: 'The red sandal paste... ablution, the sun, having reached the sky seemed to bear or bore as though visibly, like or as if it were the ointment, or scented cosmetic or unguent—in the shape or form—of that red sandal paste) [the idea behind the sentence is this : While or just before setting, the orb of the sun must have looked red or presented a red-hued appearance. The sages, after their bath made a respectful offering or presentation of red sandal paste to the sun, and threw it on the ground. The poet, in his imagination, combines the two together and fancies that the redness of the sun at the time, was due to the ointment of the same red sandal paste offered by the sages, which it was as though visibly applying or putting on]. The day, with its meagre or scanty (*i. e.*, much diminished) heat or sunshine, or that had its heat or sunshine

considerably reduced or thinned down (lit. heat that was 'not thick or dense'), appearing as though it had the diffusion or flow of its glow or lustre (*i. e.*, its brilliant radiance or bright splendour) being drunk up by the ascetics, *who* had their faces raised upwards (while performing the particular penance of constantly looking at the sun), *who* had their eyes (firmly or steadily) fixed upon or directed towards the orb or disc of the sun, and *who* were (engaged in performing the particular penance of) imbibing or drinking in the heat of the sun, became thin or feeble (lit. 'took possession of' or 'resorted to' thinness or feebleness). [The natural want of lustre or fading away of the sun's glow in the evening, is fancied by the poet as though it were due to the penance of ascetics, who were engaged in performing the particular austerities looking fixedly towards the sun at the time, and who as such seemed as though they were drinking off the light or glow of the sun, and thus made it look feeble or lustreless]. The sun, that possessed the redness of colour (or which was pink-red in colour) like the feet of a dove or pigeon (turtle-dove or turtle-pigeon), having withdrawn or contracted its rays (or *feet*,—*i. e.*, as it was going to set, it was shorn of all its rays, and seemed to do so) as though with the desire of avoiding the touch of (*i. e.*, as though desirous of or wishing to avoid touchiug—*with those rays-like feet*—) the group or collection of the '*Seven Sages*') in the shape or form) of the constellation of the Great Bear or *Ursa Major*, that was (just) rising or appearing (in the evening), hung down from the sky. [The idea is that the rays of the sun in the evening had vanished, and it looked pink in colour. The poet from this fancies that the sun without, or thus shorn of, its *rays* seemed

as though it had withdrawn or contracted its *feet* in the shape of its *rays*, so as to avoid touching (with those feet—*rays-like feet*) the group of the *Seven Sages* that was just rising or making its appearance in the sky in the form of the constellation called the *Great Bear*]. The orb or disc of the sun, with the cluster or collection of its rays being slightly red or reddish in colour, when reflected (lit. 'gone to a statue, picture or figure', fallen into the state of an image or reflection) in the western ocean, looked or appeared like the navel-lotus, as it were, from which a stream of honey was flowing or tirckling forth (*i. e.*, dripping or oozing out), of Vishnu (lit. 'the slayer of the demon Madhu',—an epithet of Vishnu), lying on his watery-bed (in the ocean). Like the birds, fixing or taking up their abodes or residence on the tops of the trees of the hermitage or the penance-grove or forest, and on the peaks or summits of mountains, after having at the end or close of the day, left the surface of the earth, and quitted the lotus-beds or clusters of lotuses,—the rays of the sun, having (likewise) at the close of the day left the ground and the lotus-beds, settled down or made their (temporary) stay, or took up their (temporary) position (*i.e.*, remained shining or continued to shine for a while) on the tops of the trees of the hermitage, and on the summits or peaks of the mountains. The trees of the hermitage, which had patches (*i. e.*, sections, pieces or portions) of the red or crimson evening hues or sunshine (or glow of the setting sun) adhering or clinging to (*i. e.*, touching or coming in contact with,—falling upon or appearing on) them, looked beautiful or splendid for a moment, as though they had the reddish or slightly red-coloured bark garments hung on them by the ascetics or sages.

And on the lustrious or glorious thousand-rayed god (*i. e.*, the sun) having set (lit. 'gone near to the western mountain', behind which the sun is supposed to set,—'attained sunset'), *i. e.*, when the sun had set, the pink glow of the twilight or the crimson-coloured evening, appeared or was seen (*i. e.*, looked like or presented an appearance) as though it were a branch of coral or a coral creeper, as it were, sprining or leaping up (*i. e.*, rising up) from the surface of the western ocean. In or during which (pink twilight or crimson-coloured evening), the hermitage *had* (lit. became such as *had*)—the concentration of the mind or thought, or the meditation or contemplation (of some deity or god), being intently or fixedly practised (or being engaged in) in it,—*looked* or appeared very charming or attractive (lit. 'stealing away or captivating the mind') and more blessed, on account of the sound of the streams of milk of holy or sacrificial cows (*i. e.*, cows whose milk were used in sacrifices or for purposes of sacrifices), being milked in a part or corner of it,—*had* green *kusha* grass being scattered about or strewn over the sacrificial altar or raised platform (for pouring down the burnt offerings or oblations into the fire contained) in it,—and *had* balls or lumps of boiled rice (intended as an oblation or religious offering for or) to the presiding deities or divinities of the (various) Quarters or Directions, being distributed or thrown here and there by the ascetic girls or maidens. The reddish-brown (lit. 'monkey-coloured',—hence brown, reddish,—or tawny colour of the) evening twilight, that had (now) at the conclusion of the day, the reddish or copper-coloured stars (appearing or twinkling) in it, was seen or noticed by the ascetics or sages, to be rolling or revolving on, like or as

though it were, the tawny or brown-coloured cow of the penance-grove or forest (*i. e.*, the hermitage); as it were with its red or copper-coloured pupils, returning, after having, roamed or wandered about somewhere at pleasure, (to the hermitage) at the close or end of the day. The lake abounding with lotus-flowers, or the *female* lotus plant (which is regarded here as though it were a female or mistress in person), on the sun having (but) recently, or not long ago been absent abroad or away from home (*i. e.*, temporarily sojourning abroad, or having been abroad not long ago) [or thus : The sun having but recently disappeared or gone on a journey abroad,—having set not long ago, the lake abounding with lotuses or the lotus plant],—like a mistress or noble lady, *who*, when her husband or lover is absent or gone abroad on a journey, is overpowered with sorrow or grief, due to separation or absence from her lord or lover, *who* carries a Kamandalu that is like the bud of a lotus, *puts* on a silk garment that is white like a swan, a sacred or sacrificial thread that is white like the fibres of a lotus-stalk, and *a rosary* of Aksha berries that is like a circle of bees,—*while* observing a vow with a view to her re-union with her lord), —*being* distressed (*i. e.*, the lotus-lake or the lotus plant being distressed) or overpowered with grief or sorrow (on account of the separation or absence from her lord, the sun, which had now set and thus disappeared temporarily), *carrying* a *Kamandalu* (the peculiar bowl or watervessel of the ascetics, —in the shape or form) of (so many) buds of lotuses, *putting* or *having* a white silk garment on (in the shape or form) of (the white) swans, *having* a pure or white sacred thread on (her person, in the form or shape) of the lotus-fibres or the

fibres of lotus-stalks, and *bearing* or *wearing* a rosary (lit. a rosary of *Aksha* beads,—*i. e.*, of the seeds or berries of the Aksha tree,—in the shape or form) of a circle of bees,—appeared as though it performed (or was as though it were practising or performing), or were observing or undergoing the religious *vow* (*i. e.*, the prescribed religious obligation) with a view to, or that would, bring about her union (or rather re-union) with (her lord or lover) the sun (lit. 'the lord of the day'). On the sun having (or when the sun had) fallen or plunged (*i. e.*, set) into the waters of the western sea or ocean, the sky bore or had (appearing or twinkling in it) a cluster or collection of stars, which seemed as though it were a large mass or collection of water spray, or fine drops or particles of water, having been raised or tossed up (or rising or flying up) on account of the force of (that) fall (of the sun into it or the western sea). And soon (or not long) after, the sky, having been bespangled or dotted over with the stars, shone or looked beautiful, as though it were variegated or spotted over with the flowers, scattered or strewn (*i. e.*, offered or thrown as an offering) over there, by the *Siddha* girls or maidens [*i. e.*, the girls or maidens of the *Siddhas*, the holy or sanctified personages or great saints, especially those who, by their austere practices, have attained some or all of the states of beautitude ;—an adept in magical or mystical arts, one who by the performance of certain mystical rites has come to acquire super-human powers,—a class of *semi-divine beings* supposed to be of great purity and holiness, a perfect or completely sanctified personage, a sage or seer etc.,] in the course or process of their *Evening adoration* or *worship* (or religious

exercises of the evening), or their worship of the *Sandhyā* or Twilight (*i. e., Eventide* personified as a goddes). And presently or in a moment, the entire or whole of the redness of the evening twilight, vanished or disappeared (*i. e.,* passed away), as though being washed away or washed off with the waters, offered or poured out of the open hollows or cavities of their hands formed by joining the palms thereof in reverential salutation (to the sun), and thrown or scattered about upwards, by the (whole or collective body of the) sages or ascetics, with their faces raised upwards.

४४——क्षयमुपागतायां संध्यायां तद्विनाशदुःखिता कृष्णाजिनमिव विभावरी तिमिरोद्गमभिनवमवहत् । अपहाय मुनिजनहृदयानि सर्वमन्यदन्धकारतां तिमिरमनयत् । क्रमेण च रविरस्तमुपागत इत्युदन्तमुपलभ्य जातवैराग्यो धौतदुकूलवल्कलधवलाम्बरः सतारान्तःपुरः पर्यन्तस्थिततनुतिमिरतमालवनलेखं सप्तर्षिमण्डलाध्युषितमरुन्धतीसंचरणपवित्रमुपहिताषाढमालक्ष्यमाणमूलमेकान्तस्थितचारुतारकमृगममरलोकाश्रममिव गगनतलममृतदीधितिरध्यतिष्ठत् । चन्द्राभरणभृतस्तारकाकपालशकलालंकृतादम्बरतलात् त्र्यम्बकोत्तमाङ्गादिव गङ्गा सागरानापूरयन्ती हंसधवला धरण्यामपतज्ज्योत्स्ना । हिमकरसरसि विकचपुण्डरीकसिते चन्द्रिकाजलपानलोभादवतीर्णो निश्चलमूर्तिरमृतपङ्कलग्न इवादृश्यत हरिणः । तिमिरजलधरसमयापगमानन्तरमभिनवसितसिन्धुवारकुसुमपाण्डुरैरर्णवा-

गतैरगाह्यन्त हंसैरिव कुमुदसरांसि चन्द्रपादैः । विगलितसकलोदयरागं रजनिकरबिम्बमम्बरापगावगाहधौतसिन्दूरमैरावतकुम्भस्थलमिव तत्क्षणमलक्ष्यत । शनैः शनैश्च दूरोदिते भगवति हिमततिस्रुति सुधाधूलिपटलेनेव धवलीकृते चन्द्रातपेन जगत्यवश्यायजलबिन्दुपतनमन्दगतिषु विघटमानकुमुदवनकषायपरिमलेषु समुपोढनिद्राभरालसतारकैरन्योन्यग्रथितपक्ष्मपुटैरारब्धरोमन्थमन्थरमुखैः सुखासीनैराश्रममृगैरभिनन्दितागमनेषु प्रवहत्सु निशामुखसमीरेष्वर्धयाममात्रावखण्डितायां विभावर्यां हारीतः कृताहारं मामादाय सर्वैस्तैः सह मुनिभिरुपसृत्य चन्द्रातपोद्भासिनि तपोवनैकदेशे वेत्रासनोपविष्टमनतिदूरवर्तिना जालपादनाम्ना शिष्येण दर्भपवित्रधवित्रपाणिना मन्दमुपवीज्यमानं पितरमवोचत् । हे तात सकलेयमाश्चर्यश्रवणकुतूहलाकलितहृदया समुपस्थिता तापसपरिषदाबद्धमण्डला प्रतीक्षते । व्यपनीतश्रमश्च कृतोयं पतत्रिपोतः । तदावेद्यतां यदनेन कृतमपरस्मिञ्जन्मनि कोयमभूद्भविष्यति च । इत्येवमुक्तस्तु स महामुनिरग्रतः स्थितं मामवलोक्य तांश्च सर्वानेकाग्राञ्छ्रवणपरान्मुनीन्बुद्ध्वा शनैः शनैरब्रवीत् । श्रूयतां यदि कुतूहलम् ।

४४—सन्ध्यायाम्—सायंवेलायाम् । क्षयमुपागतायाम्—नष्टायाम् । तद्विनाशदुःखिता—सन्ध्यानाशशोकातुरा । विभावरी—निशा । विपूर्वकभाधातोः वनिप्—ङीप्—विभावरी ।

अभिनवम्——नवीनम् । तिमिरोद्गमम्——ध्वान्ताविर्भावम् । कृष्णाजिनमिव--कृष्णमृगछालामिव । अवहत्—वहतिस्म । मुनिजनहृदयानि--ऋषिलोकचेतांसि । अपहाय--परित्यज्य । तिमिरम्——तमः । अन्यत्--इतरत् । सर्वम्--सकलवस्तुजातम् । अन्धकारताम्—ध्वन्तोपेतताम् । अनयत्—निनाय । क्रमेण च——क्रमात् । रविः——सूर्य्यः । वा कश्चित् सुहृत्तमः । अस्तमुपागतः——अस्ताचलं यातः । सुहृत्पक्षे विनाशं प्राप्तः । इत्युदन्तम्--एवं वृत्तान्तम् । उपलभ्य——अधिगम्य । जातवैराग्यः—वीतरागः—पक्षे प्राप्तविशेषानुरागः । विगतो रागः यस्य तस्य भावो वैराग्यम् निखिलविषयविगततृष्णा । धौतदुकूलवल्कलधवलाम्बरः——प्रक्षालितक्षौमवसनवल्कलसिताकाशः । पक्षे श्वेतवासा । धौतदुकूलवल्कलमेव धवलमम्बरं यस्य सः । पक्षे धौतदुकूलवल्कलवत् धवलमम्बर यस्य सः । सतारान्तःपुरः—ज्योतिःसहितहृदयमध्यः । पक्षे अश्विन्यादि नक्षत्रावरोधः । सतारमन्तःपुरं यस्य सः । पक्षे तारा एवान्तःपुरं तेन सहितः सः । अमृतदीधितिः——चन्द्रः । पर्य्यन्तस्थिततनुतिमिरतमालवनलेखम्—समीपस्थ विरलतमःतापिच्छकाननश्रेणिकम् । पर्य्यन्ते स्थिता तनुतिमिरा तमालवनानां लेखा यस्मिन् तम् । पक्षे पर्य्यन्तेस्थितं तनुतिमिरं तमालवनलेखा इव यस्मिन् तम् । सप्तर्षिमण्डलाध्युषितम्——मरीच्यादिमुनिराशिसमधिष्ठितम् । सप्तर्षिमण्डलेन--तारकाविशेषगणेन, पक्षे सप्तसंख्याकोत्तममुनिवृन्देन । अरुन्धतीसंचरणपवित्रम्——अरुन्धतीनामकताराविशेषविचरण-पूतम् । पक्षे वशिष्ठपत्नीचलनशुद्धम् । उपहितगाढम्—

स्थापितव्रतिदण्डम् । पक्षे सन्निहितपूर्वाषाढोत्तराषाढनक्षत्रम् । उपहिताऽऽषाढा यस्मिन् पक्षे उपहिते आषाढे यस्मिन् । आलक्ष्यमाणमूलम्---दृश्यमानमुनिभोज्यमूलकम्---पक्षे दृश्यमानमूलनक्षत्रम् । आलक्ष्यमाणानि मूलानि यस्मिन्---पक्षे आलक्ष्यमाणं मूलं यस्मिन् तम् । एकान्तस्थितचारुतारकमृगम्---एकप्रदेशविद्यमानसुन्दरनक्षत्रमृगशिरसम्---पक्षे एकभागवर्त्तमानमनोहरकनीनिकहरिणम् । एकान्ते स्थिता चारुतारका मृगः पक्षे चारुतारकः मृगः मृगशिरोनक्षत्रम् यस्मिन् । गगनतलम्---आकाशम् । अमरलोकाश्रममिव---स्वर्गमिव । अध्यतिष्ठत्---प्राप्नोत् । नक्षत्रे नेत्रमध्ये च 'तारकं तारकापिचे' त्यमरः । यथा प्राण सदृशबांधवजनमृत्युना द्वितीयोऽपि स्वर्गमेति तद्वत् विधुर्गगनमियाय चन्द्रस्य बंधुना सादृश्यम् गगनस्याश्रमेणेतिभावः । चन्द्राभरणभृतः---शशिभूषणधारिणः । चन्द्रमेवाभरणं विभर्त्तीति तस्मात् । तारकाकपालशकलाऽलंकृतात्---नक्षत्रनरशिरोऽस्थिखण्डभूषितात् । तारकाः कपालशकलानीव तैरलंकृतस्तस्मात् । पक्षे तारका इव कपालशकलानि । अम्बरतलात्---आकाशात् । हंसधवला---मरालशुभ्रा । ज्योत्स्ना---चन्द्रिका । सागरान् ---अब्धीन् । आपूरयन्ती---स्वोदयेन पूर्णं कुर्वती । पक्षे आप्याययितुमेष्यन्ती । गङ्गा---जाह्नवी । त्र्यम्बकोत्तमाङ्गादिव ---शिवमस्तकादिव । धरण्यामपतत्---भूमौ पतितवती । विकचपुण्डरीकसिते---विकसत्कमलशुभ्रे । विकचानि यानि पुण्डरीकानि तद्वत् सिते तडागपक्षे तैः सिते । हिमकरसरसि---शशिसरोवरे । हिमकरः सर इव पक्षे हिमकर एव सरः

तस्मिन् । चन्द्रिका जलमिव—सरः पक्षे चन्द्रिका इव जलन्तस्य पाने लोभस्तस्मात । अवतीर्णः—प्रविष्टः । हरिणः—मृगः । अमृतपङ्कलग्न इव—सुधाकर्दमसंबद्ध इव । अमृतं पङ्क इव । सरसः पक्षे अमृतमिव पङ्कः तत्र लग्नः सः । निश्चलमूर्त्तिः—स्थिरतनुः । 'स्त्रियां मूर्त्तिस्तनुस्तनूः' इत्यमरः । अदृश्यत—अलक्ष्यत । यथा सरसः सलिलमादातुं मृगस्तत्र पंकसन्नद्धो निष्क्रियस्तिष्ठति तथा चन्द्रेऽपि मृगचिह्न-मवालोक्यात शशिनः पूर्णोदयो जात इति भावः । तिमिर-जलधरसमयापगमानन्तरम्—ध्वान्तवर्षाकालनिवृत्तिपश्चात् । तिमिरं जलधरसमय इव पक्षे तिमिरमिव जलधरसमयः तस्यापगम-स्तस्यानन्तरन्तत् । अभिनवसितसिन्धुवारकुसुमपाण्डुरैः—नवीनश्वेत-निर्गुण्डीपुष्पपाण्डुभिः । अभिनवानि सितानि च सिन्धुवारकुसु-मानि तद्वत् पाण्डुरास्तैः । अर्णवागतैः—सागरप्राप्तैः । अर्ण-वेभ्य आगताः किरणपक्षे आर्णवान् आगतास्तैः । हंसैरिव—मरालै-रिव । चन्द्रपादैः—इन्दुकिरणैः । कुमुदसरांसि—कैरवमयतडागाः । अगाह्यन्त—अवालोड्यन्त । यथा शरत्काले समुद्रादभ्येत्य हंसाः सरस्सु निवसन्ति तथा चन्द्ररश्मयोऽपीतिभावः । विगलितसकलोद-यरागम्—अपगतोदयकालिकरक्तिमानम् । विगलितः सकलः उदयरागो यस्य तम् । रजनिकरबिम्बम्—सुधाकरमण्डलम् । 'बिम्बो-ऽस्त्री मण्डलं त्रिषु' इत्यमरः । अम्बरापगावगाहधौतसिन्दूरम्—आका-शगङ्गास्नानप्रक्षालितसिन्दूररागम् । 'मन्दाकिनी वियद्गंगेत्यमरः' । अम्बरे याऽऽपगा तस्यामवगाहेन धौतं सिन्दूरं यस्य तम् । ऐरावत-कुम्भस्थलमिव—ऐरावत मस्तकस्थपिण्डफलकप्रदेशमिव—ऐरावतस्य

कुम्भाकारं स्थलम् तत् । 'ऐरावतोऽभ्रमातंगैरावणाभ्रमुवल्लभाः' इत्यमरः । तत्क्षणम्--तदा । अलक्ष्यत । हिमततिस्रुति--तुहिनकरे । हिमस्य ततिं प्रसारं स्रावयति तस्मिन् । अन्तःर्भावितण्यर्थोऽत्र स्रुधातुः । भगवति--माहात्म्यशालिनि । शनैः शनैः -- क्रमशः । दूरोदिते--आरादाविर्भूते । 'आराद्दूरसमीपयोरि'त्यमरः । दूरमुदितस्तस्मिन् । जगति—भुवने । 'विष्टपं भुवनं जगत्' इत्यमरः । सुधाधूलिपटलेनेव--अमृतपरागपुञ्जेनेव । सुधाया धूल्याः पटलन्तेन । चन्द्रातपेन--इन्दुप्रभया । धवलीकृते—शुभ्रतां नीते । धवल+च्विः अभूततद्भावेऽर्थे ततोऽस्येत्वम्--धवलीकृतम् तस्मिन् । अवश्यायजलविन्दुपतनमन्दगतिषु—तुषारपृषतधारणशिथिलगमनेषु । अवश्यायस्य जलं तस्य विन्दूनां धारणेन, मन्दा गतिर्येषान्तेषु । विघटमानकुमुदवनकषायपरिमलेषु—विकचकैरवकुलसुरभिविमर्दगन्धवत्सु । विघटमानस्य कुमुदवनस्य कषायः परिमलो येषु तेषु । समुपोढनिद्राभरालसतारकैः—प्राप्ताजागरगप्राचुर्य्यनिष्पन्दकनीनिकैः । समुपोढो यो निद्राभरस्तेनालसाः कनीनिकाः येषान्तैः । अन्योन्यग्रथितपक्ष्मपुटैः—परस्परदृढसंल्लग्ननेत्रलोमभिः । अन्योन्यं ग्रथितानि पक्ष्मपुटानि येषान्तैः । आरब्धरोमंथमंथरमुखैः—कृतचर्वितापचर्वणालसाननैः । सुखासीनैः—सप्रमोदमुपविष्टैः । सुखं यथा स्यात्तथाऽऽसीनास्तैः । आस्धातोः कर्त्तरि शानच् । आसीनाः । आश्रममृगैः--मुनिनिवासहरिणैः । अभिनन्दितागमनेषु—प्रशंसितगतिषु । अभितोनन्दितमागमनं येषान्तेषु । निशामुखसमीरेषु प्रदोषवातेषु । 'प्रदोषोरजनीमुखमित्य'-मरः । प्रवहत्सु—वात्सु वा चलत्सु । विभावर्य्याम्—निशि ।

अर्धयाममात्रावखण्डितायाम्—अर्धप्रहरन्यूनायाम् । हारीतः—जावालिसुतः । कृताहारम्—विहितभोजनम् । माम्—वैशम्पायनम् । आदाय—गृहीत्वा । तैः—तत्रत्यैः । सर्वैः—सकलैः । मुनिभिः । सह—साकम् । उपसृत्य—महामुनिजाबालिमभ्युपगम्य । चन्द्रातपोद्भासिनि । शशिप्रभाभासमाने । चन्द्रस्यातपेनोद्भासितुं शीलमस्य तस्मिन् । तपोवनैकदेशे—तपस्याकाननैकभागे । तपसो निमित्तं वनन्तस्यैकदेशस्तस्मिन् । वेत्रासने—वेतसनिर्मितविष्टरे । वेत्रैर्निर्मितमासनन्तस्मिन् । उपविष्टम्—स्थितम् । अनतिदूरवर्त्तिना—समीपस्थायिना । नातिशयं दूरं वर्त्तते तेन । दर्भपवित्रधवित्रपाणिना—कुशपूतमृगचर्मव्यजनहस्तेन—दर्भनिर्मितं पवित्रं धवित्रं पाणौ यस्य तेन । गमकत्वाद् व्यधिकरणोबहुव्रीहिः । जालपादनाम्ना । शिष्येण—छात्रेण । मन्दं—शनैः शनैः । उपवीज्यमानम्—कृतव्यजनवातम् । पितरम्—महामुनिम् जाबालिम् । अवोचत्—प्रार्थितवान् । हे तात—पितः । आश्चर्य्यश्रवणकुतूहलाकलितहृदया—विस्मयजनकवृत्ताकर्णनोत्कटोत्कण्ठितमानसा । आश्चर्य्यस्य श्रवणे यत कुतूहलं तेनाकलितं हृदयं यस्या सा । आबद्धमण्डला—वर्त्तुलश्रेणीभावेन कृतावस्थाना । आबद्धं मण्डलं यया सा । इयम्—एषा । सकला—समग्रा । तापसपरिषत्—तपस्विसभा । तपोस्ति अस्य स तापसः । तपस्शब्दात् अण मत्वर्थीयः । समुपस्थिता—विद्यमाना । प्रतीक्षते—आलोचते श्रीमद्वचः । अयम्—एषः । पतत्रिपोतः—शुकशावकश्च । व्यपनीतश्रमः कृतः—अपगतखेदः विहितः । तत्—अदः । सर्वम् । आवद्यताम्—कथ्यताम् । यत् । अपरस्मिन्—पूर्वस्मिन् । जन्मनि—जनने ।

अनेन--शुकशिशुना । कृतम् । वा--च । अयम् । कः--कतमः । अभूत्--आसीत् । वा को भविष्यति । इति एवमुक्तः--इत्थं-प्रार्थितः । सः--जाबालिः महामुनिः । महर्षिः । अग्रतः--पुरोभागे । स्थितम--वर्त्तमानम् । माम्--वैशम्पायनम् । अवलोक्य--दृष्ट्वा । तान्--सर्वान् मुनीन् । च । एकाग्रान्--समीहितचेतसः । अतएव । श्रवणतत्परान्--आकर्णनोत्सुकान् । बुद्ध्वा--अवगम्य । शनैः शनैः --मन्दम मन्दम् । अब्रवीत्--उक्तवान् । श्रूयताम्--सावधानेना-कर्ण्यताम् । यदि--चेत् । कुतूहलम्--श्रोतुमौत्सुक्यम् अस्ति ।

समाप्तमिदं कथामुखप्रकरणम्

संस्कृतविवृतिसहितम्

४४--सन्ध्या के समाप्त हो जाने पर उसके (संध्या के) विनाश से दुःखित रात्रि ने अभिनव अन्धकार को कृष्णवर्ण के मृगचर्म के समान धारण कर लिया । मुनियों के हृदय को छोड़कर उस अन्धकार ने सब कहीं अँधेरा फैला दिया । धीरे धीरे जब चन्द्रमा को यह खबर लगी कि सूर्य मृत्यु को प्राप्त हुआ (अस्त हो गया) है तो उसके (हृदय में) वैराग्य उत्पन्न हो गया । (अतएव तपस्वियों के समान) वह धुले हुए दुकूल (रेशमी वस्त्र) के समान वल्कल के श्वेत अम्बर (वस्त्र, आकाश) से युक्त हो गया (अर्थात् आकाश उसकी चन्द्रिका से शुभ्र हो गया था। कवि यहाँ पर यह कल्पना करता है कि मानो चन्द्रमा ने श्वेत वल्कल वस्त्र धारण कर लिया हो।) और (तारा आदि अन्तःपुर की नारियों या तारों से युक्त) वह ऐसा प्रतीत होता था मानो उसका अन्तःपुर (अन्तःकरण) सतारं (सप्रणवं--प्रणव अर्थात् 'ॐ' शब्द से युक्त, ब्रह्मचिन्तन में लीन) हो । (तपस्वियों की ही भाँति विरागी चन्द्रमा ने) देवलोक के आश्रम के समान ही गगनतल को अपना आश्रम बनाया और वहाँ स्थित हो गया । इस गगनतल-रूपी आश्रम के चारों ओर अन्धकाररूपी तमाल वृक्ष के वनों की रेखा थी

(आश्रमों के चारों तरफ तमाल वृक्ष होते हैं । आकाश के चारों तरफ अन्धकार

था); अमरलोक के आश्रम की भाँति गगनतल के आश्रम में सप्तर्षि (सात ऋषि; उसी नाम के सात तारों का समूह) स्थित थे, अरुंधती (वशिष्ठ-पत्नी) के चरणस्पर्श से पवित्र आश्रम के समान आकाश भी अरुन्धती (नामक तारे) के परिभ्रमण से पवित्र था; आश्रम में ऋषियों के पास आषाढ (पलाश-दण्ड) रहते हैं; आकाश में आषाढ़ (पूर्वाषाढ तथा उत्तराषाढ नामक नक्षत्र) थे; आश्रम में (ऋषियों के भोज्य) मूल (कन्द-मूल आदि) दिखाई पड़ते हैं, आकाश में मूल (नामक नक्षत्र) के दर्शन होते हैं; आश्रम में, एकान्त में सुन्दर तारक (नेत्र) वाले मृग बैठे रहते हैं, आकाश में एकान्त (एक भाग) में सुन्दर मृगशिरा नामक तारक (नक्षत्र) रहता हैं। जिस प्रकार चन्द्रकला रूपी आभूषण को धारण करने वाले और तारों के समान (दिखलाई पड़ने वाले) नरमुण्ड के खण्डों से सुशोभित भगवान् शंकर के मस्तक से,---सागर को (जल से) भरती हुई और (तैरते हुए) हंसों के कारण शुभ्र, गङ्गा धरणितल पर गिरी थी उसी प्रकार चन्द्र और नक्षत्रों से युक्त आकाश से हंस के समान धवल चाँदनी सागर को (उसमें ज्वार उत्पन्न कर) भरती हुई-सी धरणितल पर छिटक रही थी। चन्द्रमा के विम्ब में हरिण ऐसा दिखाई पड़ता था मानो वह, चन्द्रमारूपी सरोवर में, विकसित कमलों के समान शुभ्र चन्द्रिकारूपी जल पीने के लोभ से उतरा हो, परन्तु (चन्द्र की) सुधा के कीचड़ में फँस कर निश्चल हो गया हो। अन्धकाररूपी वर्षाकाल के बीतने पर कुमुदसरों में जब चन्द्रमा की किरणें पड़तीं, तो वे ऐसे मालूम होने लगते मानो वर्षाकाल की समाप्ति पर नवीन निर्गुण्डी के पुष्पों के समान श्वेत हंस ही सागर से लौट कर उनमें प्रवेश कर रहे हों। उस समय, उदय-कालीन लाल-रंग से रहित चन्द्र मण्डल क्षण भर के लिए ऐसा मालूम होता था मानो (वह) ऐरावत हाथी का (श्वेत वर्ण) कुम्भस्थल, जिसका सिन्दूर आकाश में स्नान करने के कारण धुल गया हो, हो। धीरे-धीरे (आकाश में) भगवान् चन्द्र बहुत दूर तक चढ़ आये और सम्पूर्ण जगत् सुधा के धूलिसमूह (अथवा सफेदी या चूने के लेप) के समान

चाँदनी से उज्ज्वल हो गया। प्रातःकालीन वायु भी वहने लगी। ओस की बूँदों के कारण वायु धीरे-धीरे बह रही थी; विकसित कुमुदवन के परिमल के कारण वह सुवासित हो रही थी। सुख से बैठे हुए आश्रम के मृग, जिनकी आँखें या पुतलियाँ निद्रा के उपस्थित हो जाने के कारण (निद्रा के भार से) अलसाई हुई थीं, बरौनियाँ पलकों के वन्द होने के कारण आपस में परस्पर उलझ-सी गई थीं और जुगाली प्रारम्भ कर देने के कारण जिनके मुख अलसा गये थे, वायु का स्वागत और अभिनन्दन कर रहे थे। अभी रात्रि का आधा ही प्रहर बीता था कि हारीत, मेरे भोजन कर लेने के बाद, मुझे लेकर सब मुनियों के साथ अपने पिता जावालि के पास पहुँचे। वे (जावालि) चाँदनी से प्रकाशित तपोवन के एक भाग में वेंत के आसन पर सुखपूर्वक बैठे हुए थे। थोड़ी ही दूर पर जालपाद नामक (उनका) शिष्य हाथ में कुश के समान पवित्र (मृगचर्म का बना हुआ) पंखा लिये धीरे-धीरे उन्हें झल रहा था। (वहाँ पहुँचकर) हारीत बोले—पिताजी, यह सम्पूर्ण मुनिसमाज मण्डली बनाकर, उपस्थित हो गया है। उसका (मुनिसमाज का) हृदय आश्चर्यमय वृत्तान्त सुनने की उत्सुकता से भरा हुआ है और वह (कथारम्भ की) प्रतीक्षा कर रहा है। इस पक्षिशावक की थकावट भी अब दूर हो गई है, अतएव अब बताइये कि पूर्व जन्म में इसने क्या किया था, यह कौन था और (अगले जन्म मे) यह क्या होगा? (जब हारीत ने) मुनि से इस प्रकार कहा तो वे मुझे (तोते को) सामने स्थित देखकर और उन सब मुनियों को एकाग्रचित्त होकर सुनने के लिए तैयार जान कर धीरे-धीरे बोले—"यदि आप लोगों को उत्सुकता है तो सुनिये।"—

कादम्बरी का कथामुख विवरण समाप्त

शब्दार्थ :—उदन्तम्—समाचार को; अमृतदीधितिः—चन्द्रमा; त्र्यम्बकः—त्रिनेत्र-धारी शंकर; उत्तमाङ्गम्—मस्तक; हरिणः—चन्द्रमा के बिम्ब में स्थित मृग; अर्णवः—समुद्र; हिमततिस्रुत्—चन्द्रमा; चन्द्रातपेन—चाँदनी से; अवश्याय-जलबिन्दुः—ओस की बूँद; विघटमानः—विकसित होते हुए; रोमन्थम्—जुगाली; धवित्रम्—मृगचर्म का बना पंखा; पतत्रि—पक्षी।

44 On the evening twilight having (*i. e.*, when the evening twilight had) come to an end or declined (lit. 'gone near to destruction' or 'perished'), the night bore or put on the fresh appearance or new advent (lit. 'the coming forth,' 'becoming visible.'—'the rising or breaking out') of darkness (*i. e.*, put on tho garb of, or became involved in the darkness that soon ensued or followed thereafter), which seemed as though it were a dark or black deer-skin, put on by it on account of its having been distressed or afflicted with grief or sorrow at the loss or destruction thereof (*i. e.*, of the evening). [The night enveloped in darkness seemed as though it had put on or covered itself with black deer-skin being sorry at the loss or disappearance of its friend the evening] The darkness (of the night) made all other things (in the hermitage) dark (*i. e*; enveloped or covered up every other thing), except (*i. e.*, leaving aside or excluding) the hearts of the sages or ascetics. And having in due or regular course (or by degrees) obtained the news or intelligence (lit. 'telling to the end',—'the full tidings'), that the sun had set (lit. 'gone near to the western or setting mountain'), the moon (lit. 'the *nectar-rayed*'),—*like* a hermit or ascetic (or a religious devotee), *who having* (or with) feelings of asceticism (or freedom from or absence of all worldly passions and desires) aroused or produced in him (*i. e.*, being prompted by a sense of stoicism, or stoic disregard for or indifference to worldly objects,—a sense of despondency or disgust at the loss of a friend or some other dear one), *having* put on a white garment made or consisting of well-washed bark resembling silk or silk-like bark, and *having* or keeping the inside of his body (*i. e.*, his mind,– constantly engaged in or occupied)

with the (contemplation, meditation or repetition of the) mystical syllable '*Om*' (*Praṇava*),—*abides* or takes up his abode or residence, as it were, (or as though it were) in a hermitage in, or in the form or shape of, the world of the immortals, *that* (or which hermitage) has, situated on the borders (*i e.*, the skirts or precincts) of it (or on the borders of which there is), a thin or small line of a group or collection (lit. a forest) of dark *Tamála* trees (or *Tamála* trees which are dark like darkness itself,—*i. e.*, very dark), *that* is occupied or inhabited by the circle (*i. e.*, the group or assemblage) of the '*Seven Rishis or Sages*') the hermitage, being situated in heaven or the world of the immortals, would naturally be near or surrounded by the *Seven Sages* in the form of the constellation of the *Great Bear* or *Ursa Major*), *that* is (rendered) holy or pure on account of *Arundhatī* (the wife of Vashishtha, one of the eminent group of the seven sages, and an ideal or pattern, or a type of conjugal excellence, constancy and fidelity) walking or moving about in it, *that* has staffs of *Palásha* trees (lying about or placed) in it, *that* has roots visibly appearing or being seen or displayed in it, and *that* has the fine or beautiful spotted antelopes or the dappled deer [or it might also mean the 'deer with or having beautiful pupils'] standing or lying in a portion, or a secluded, lonely or solitary part, of it,—*having* (*i. e.*, the moon, like such a hermit, *having*) had the loss of its natural colour (which is white) produced or brought about [*i. e.*, with its natural white colour faded or lost,—referring to the reddish hue (which implies a distinct loss of its standing white colour) of the moon just about the time of its rising on the eastern horizon,—which is fancied by the poet to indicate as though it (*i. e.*, the moon)

had been struck with grief, or a sense of despondency or disgust at the news of the disappearance of its friend—the sun], *with* the sky (made) white or bright (with its rays), like a well-washed bark (garment resembling) silk, and *with* its harem or inner apartment being endowed with or consisting of (or appearing in the shape or form of) the stars or planets [or of *Tárā* (the wife of Brihaspati, whom the moon had seduced) as its queen].—*stood upon* or ascended (lit. took its abode on, hence, mounted, appeared, or made its appearance on) the (flat or surface of the) sky, *which* had been lying or appearing on the skirts or borders of it a thin or slender lining of darkness, like or resembling a grove *i. e.*, a number or collection) of Tamāla trees, *which* was inhabited or occupied by the constellation of the Great Bear or Ursa Major, *which* was sanctified, (or made) pure or holy, on account of the apparent movements on it of the planet or star *Arundhatī* (the morning star, personified as the wife of the sage Vashishṭha), *which* had the constellation of *Purvāshādhā* appearing (lit. placed or deposited) on it, *which* had the asterism or constellation of (*i. e.*, the group of stars called) *Mūla* appearing visible on it, and *which* (sky) had the constellation of *Mṛiga-shiras*, the constituent stars of (or in) which were charming (or with its charming constituent stars), rising or lying situated (lit. resting or staying) in a part or corner of it. The luminous moonlight, pure or white in colour like a swan (or swans), and causing a flood-tide in the seas (lit. 'filling up the seas', —*i. e.*, causing a great rising—swelling or overflowing,—of their waters), *fell down* or poured forth upon the ground or earth from the flat of the sky, *that* bore the moon as an ornament, and *that* was adorned with stars

which looked or were like the pieces or fragments of a cup or vessel, or the potsherds of a dish or jar ['कपाल' or '*Kapāla*' means by itself the fragment of a vessel, a potsherd,—so that the word 'शकल'=a piece or fragment, would seem here to be somewhat redundant,—'*a fragment of the fragment of a pot or vessel*'. It may, however, be taken generally to mean, 'pieces of potsherds'],—like the river Ganges, as it were, looking white or fair coloured like the swans, or with or on account of the swans (sporting on its surface), and filling up the seas (with its waters), *falling* upon the earth or ground from the head (lit. '*the highest or chief part of the body*') of the '*Triocular* or *Three-eyed*' god Shiva, having or bearing the moon (on it or his forehead) as an ornament, and being adorned (*i. e.*, the head being adorned) with pieces or fragments of skulls (bright or shining) like (or in the shape or form of) the stars. The deer or antelope [in the form of the *dark spot* on the bright disc of the moon, which (dark spot) is supposed, according to one of the most popular beliefs, to be a — or the figure of a—deer or antelope], having descended into the moon-like lake [or the lake in the form of the (bright disc of the) moon], that (lake) was pure white or bright like fully blown or expanded white lotuses, with (or being prompted by) the eager desire or greed of drinking the water (in the shape or form) of the bright moonlight, and having had its figure or body (made or standing) motionless, appeared or was seen (*i. e.*, looked) as though it had got stuck or were held fast into the mud (in the shape) of nectar. [Here the *dark spot* in the moon, which is popularly supposed to be the figure of a deer, has given rise to the peculiar fancy of the poet. He considers as though the *dark spot* were a deer, that had descended

into the lakelike bright disc of the moon, with a view to drink of the water-like moonlight, and having got stuck into the mud of nectar with which the moon abounds, was made to appear motionless there]. The lakes (that were full) of lilies or night lotuses, after the passing away or disappearance (going away or vanishing) of the rainy season (lit 'the time of the clouds or water-bearers') (in the shape or form) of darkness, were dived or plunged into by the rays of the moon, that were pale or yellowish-white in colour like fresh and white *Sindhu-vāra* flowers, and that were coming to or falling upon the seas, like (or as though they, namely the rays of the moon, were) the swans, as it were, which, having come back or returned to the seas, on the rains, in the form of darkness, having been over, and being or looking whitish in colour like fresh and white *Sindhuvāra* flowers, were taking a dip or plunge, or sporting into their waters [The idea simply is this: The bright rays of the moon fell upon the waters of the lakes, that were full of lilies or night lotuses, after the darkness of the night had been removed by its own rays. This is fancied by the poet as though the rays of the moon were so many swans which, having at the end of the rainy season (in the shape of darkness) returned from the seas, were plunging into the waters of those lakes that were full of night lilies]. The disc or orb of the moon, that had the entire or the whole of its redness (appearing in it) at the time of its rising, disappeared or faded away (lit. 'drained off or 'melted away') from it, appeared or looked (*i. e.*, was seen, bore or put on an appearance) at that moment as though it were the region of the frontal globe on the upper part of the forehead of (the celestial elephant) *Airavata*, as it

were, having had (the mark of) its red lead or vermilion washed away in the course or process (or on account) of its plunging or bathing into the heavenly or celestial Ganges (lit 'the river or stream of the sky'). Now, *on* the glorious or illustrious moon (lit. 'having a series, succession or line of cold or snow flowing, exuding or streaming forth from it') *having* (or when the glorious moon had), by slow degrees or gradually, *risen* or ascended high up (lit. 'far or at a distance.'—in the sky), *on* the world *having been* (or when the world had been) *whitened* or made pure white by the moon-light or moon-shine, as though with a mass or large quantity of the white-wash powder (the powder of white-wash or lime), *on the breezes* of the beginning—first or early part—of the night,—the movement or motion of *which* was sluggish or dull and feeble (which had a slow motion,—*i. e.*, which were moving or blowing gently or slowly) on account of the fall of the water drops of hoar-frost, white dew or mist (*i.e.*, owing to the minute particles of dew-drop with which they were charged at the time), the fragrance of *which* had been (rendered or made) sweet or perfumed (or merely scented and made more fragrant) by or on account of the beds or clusters of water-lilies, bursting or blooming forth (over there), and the appearance or advent of *which* was welcomed, applauded or rejoiced at by the deer or antelopes of the hermitage (*i. e.*, which breezes made them happy or delighted), whose pupils (or the pupils of which deer) were dull or heavy on account of the weight or influence of suppressed or restrained sleep, or sleep that was drawing near or coming over them, whose eye-lashes (or the folds or covering,—the hollows or cavities,—of whose eyelashes) had met to-

gether or got strung or mutually enter-twined together (*i. e.*, who had their eye-lashes closed up), whose mouths were or had become dull or lazy (*i. e.*, slow or inactive and inert) on account of the rumination or the act of chewing the cud (that they had) commenced or started, and who were comfortably seated or seated at their ease or leisure,—*having* begun to blow, and *on* the night *having* (or when the night) had only half a nightwatch (period or watch of three hours,—the eighth part of a day) of it spent or passed away (lit. 'divided 'destroyed,'—(*i. e.*, elapsed), *Hārīta* having taken me, who had had or taken his food or meal, up, and approached, along with or in the company of (*i. e.*, being accompanied by) all those sages or ascetics, his father, who was sitting or seated on a cane-seat or mat of cane, in a part of the hermitage, or penance-grove or forest, that (part) was being illuminated or shining (*i e.*, looking bright or radiant, brilliant) with or on account of the moon-light or moon-shine and was being gently fanned by a disciple or pupil, named Jāla-pāda who was standing not very far from (*i. e.*, close to) him, and was holding (*i. e.*, who had) in his hand a fan made of deer-skin, (that was made) holy or pure with (or like) *Kusha* grass,—said to him (thus): 'O Father! The whole of this assembly of ascetics or hermits, having approached, or drawn or come near together, and formed itself into a circle, with (or having) their hearts possessed or full of (*i. e.*, with their hearts seized or laid hold of by) curiosity to hear the wonderful tale (or the marvellous or extraordinary story,—lit. 'curiosity in or as regards the listening to or hearing of the marvel or wonder'), is looking forward (to you), or is waiting in eager expectancy or expectantly (to hear you).

And this young one of a bird (*i. e*. this young parrot,—lit. 'the young one of one having a wing or pinion, or feather') has also had its fatigue or weariness (*i e.*, its languor or exhaustion,—its distress or pain) removed or taken away (lit. 'made such as has had its fatigue removed,'—*i. e.*, made free from all weariness or exhaustion). Therefore be pleased to tell us (*i. e.*, inform or declare to us) as to what had been or was done by it in its other or former life, as to what it was in its other (*i. e.*, the former or previous) birth or life, and as to what it would be in its other (*i. e.*, the future or coming) birth or life'. Now, having, however, been thus addressed or spoken to, that great sage or ascetic (Jābāli), having seen or looked at me, who was lying or placed before or in front (of him), and having found or considered (*i e.*, deemed, known or perceived) all those sages or ascetics to be closely attentive* or bent only on one thing, and full of eagerness‡ or engrossed interest to hear (the wonderful story or the marvellous tale), quietly or gently (or slowly or gradually) said: 'Hear or listen, if (you have a) curiosity or inquisitiveness (to do so):

* 'एकाग्र' means, 'with or having one's *attention fixed or concentrated upon only one object or point*'.

‡ 'श्रवणपर' means, '*engrossed in or closely intent upon hearing*' or *listening*' to anything.

Here ends the "*Section or Part*' of Kādambari,
entitled the '*Introduction to the Tale*'.
May it all be well!

APPENDIX

ADDITIONAL NOTES IN SANSKRIT.

Development of Prose in Classical Sanskrit Literature.

संस्कृतगद्यकाव्यानामाविर्भावः समुन्नतिश्च कदा कुतः कालादारभ्य कियत्कालपर्य्यन्तं च जात इति प्रदर्श्यते ।

ख्रीष्टाब्दीयपञ्चमशताब्द्या आरभ्य सप्तमीशताब्दीपर्यन्तमुन्नतिः गद्यकाव्यस्य आसीत् । त्रयः कवयो गद्यकाव्यलेखका आसन् । तेषां प्रथमो दण्डी । स च चतुर्थीशताब्द्यवसाने ख्रिष्टीयपञ्चमशताब्द्या आरम्भे वा समुत्पन्नः मालवदेशप्रान्ते । तेन च दशकुमारचरितं लिखितम् । ख्रिष्टीयपञ्चमशताब्द्यवसाने षष्ठशताब्द्या आरम्भे वा सुबन्धुकविरासीत् विहारवङ्गदेशप्रान्ते । तेन च वासवदत्ता गद्यभागे कथा लिखिता । सुबन्धुना स्वग्रन्थे वासवदत्तानामके नगरीवर्णनवेलायां लिखितम् छन्दोविचितिरिव मालिनीसनाथेति । अत्र पक्षे मालिनी छन्दोविशेषो गृह्यते । दशकुमारचरितं काव्यादर्शः छन्दोविचितिः एतद्ग्रंथत्रयं दण्डिविरचितम् । तत्र छन्दोविचितिः ग्रन्थविशेषः इति वासवदत्ताटीकाकारेण च लिपिकृतम् । छन्दोविचित्यां तत्प्रपञ्चो निर्दशितः इति काव्यादर्शे दण्डिना स्वयमुक्तत्वाच्च कल्प्यते, छन्दोविचितिग्रन्थोऽपि तृतीयः तन्निर्मितोऽस्ति । पूर्वोद्दिष्टपाठस्य वासवदत्तायां दर्शनात् कल्प्यते दण्डी सुबन्धोः प्राक्तनः । "त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदा त्रयो देवास्त्रयो गुणाः । त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ।" इति पद्येनापि महाकविराजशेखरोक्तेन दण्डिनः पूर्वोक्तग्रन्थत्रयकर्तृत्वं स्पष्टमेव । सुबन्धोर्मातुलः वररुचिः षष्ठ्यां शताब्द्यामुद्भूतः । श्रीहर्षनृपकाले इति तदीयइतिहासाज्ज्ञायते । स च तस्य भागिनेयः । वररुचिना च प्राकृतप्रकाशो विरचितः । नहि भागिनेयो बहुशतवर्षपूर्वं वा अधिककालपश्चाद्भवितुमर्हति । अतः पूर्वोक्तः कालः सुबन्धोः कवेर्निश्चितः इति ।

अथ च षष्ठशताब्द्यन्ते कान्यकुब्जाधिपश्रीहर्षसमकालेन तदीयसभापण्डितेन

बाणेन सप्तमशताब्द्यां हर्षचरितं कादम्बरीकथा च लिखिता । आह च तथैव राजशेखरः—"सहर्षचरिताख्याद्भुतकादम्बरीकथा । बाणस्य वाण्यनार्येव स्वच्छन्दा भ्रमति क्षितौ" इति । सप्तमशताब्द्या ख्रिष्टीयाया अनन्तरं प्रायेण नवीनगद्यग्रन्थाविर्भावो न हि जातः । वीवरनामा आङ्गलदेशीयः पण्डितः प्राह—'गुणाढ्यकविः पैशाचभाषायां लक्षश्लोकेषु बृहत्कथाग्रन्थस्य निर्माता ख्रिष्टषष्ठशतके आसीत् । दण्डिनो जन्मकालमपि षष्ठशतकमाह' । परन्तु दण्डिना काव्यादर्शे प्रोक्तम् "भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम्" । अत्र प्राहुरितिपदेन ज्ञायते बहुकालपूर्व्वम् बृहत्कथा विरचिता । अतो द्वयोः समानकालकत्वकथनं न रोचते युक्तियुक्तत्वाभावात् । पूर्वोक्तप्रौढतरयुक्तियुक्तोपपादनाच्च । एषा हि खलु शैली योरुपदेशीयविदुषां लक्ष्यते । यदल्पमपि कथञ्चिल्लब्धम् कारणमवलम्ब्य यथेच्छं वदन्तीति ।

Bana's Life, Date and Works.

पुरा कान्यकुब्जप्रान्ते शोणनदस्य पश्चिमे प्रदेशे प्रीतिकूटनामो ग्राम आसीत् । तत्र च वात्स्यगोत्रजन्मा प्रौढविद्वदग्रणी परमश्रोत्रियः कुवेराभिधो बभूव कश्चिद्द्विजः । तदात्मजः पशुपतिः तत्सुतोऽर्थपतिः । तदीयाश्चैकादश सूनवः समभवन् । तन्मध्येऽष्टमश्चित्रभानुः । अदसीयायां राजदेवीनामिकायां भार्यायां कविकुलालंकारभूतो बाणः उद्भूतिं लेभे । शैशवैव वर्त्तमाने बाणे मृत्योर्बाणलक्षितामियाय तन्माता राजदेवी । यतो मातृवत्परिपोषितः पित्रा परमस्नेहेन । परन्तु चित्रभानुः तदीयोपनयनादिसंस्कारान् यथाविधि विधाय यथायोग्यमध्याप्य च चतुर्दशेऽब्दे विद्यमानमेव तं विहाय पंचत्वमगमत् । ततः सः स्वाभाविकयौवनदोषैः साहचर्यदोषैश्च ईशाननामादिभिः सखिभिः सार्द्धम् विविधदेशान् पर्यटितुमारेभे । तत्र च विविधभूपतिभिरनेकविधकोविदैश्च सह समागमं विदधत् । समुपलभ्य च विततविमलविविधज्ञानं पुनरायातः स्वकीयजन्मदेशम् । ततः कदाचित् कान्यकुब्जेश्वरो हर्षवर्धनो नृपतिर्बाणभट्टं दूतद्वारा समाहूतवान् । तदा

च राजसन्मुखे सदसि समुपस्थे वाणभट्टे कतमं सदस्यं प्रति जगाद श्रुततदीय-दुश्चरित्रः पूतचरित्रो राजा वाणमुद्दिश्यैव अयं भुजङ्गः समायातः इति । तदा वाणः शान्तिं धैर्य्यं चावलम्ब्य परिमृष्य च स्वीयं तादृशमवमानं भविष्यति निर्णयः इत्यभिधाय सभायां तस्थौ । तदा समुपस्थिते सदस्यैरनेकैरनेकशास्त्र-पारङ्गतैर्पण्डितैः समम् शास्त्रीयविचारे नृपतिस्तं विद्वन्मालामौक्तिकम् प्रचुरा-खण्डपाण्डित्यवन्तं पण्डितप्रवरं स्वीयसभायां प्रधानाचार्यपदवीं तस्मै समर्प्य स्थापितवान् । यतः आह च पारखीनामा पण्डितः उभयार्थकं पद्यम् वाणप्रखर-पाण्डित्यमुद्दिश्य—'केवलोऽपि स्फुरन्वाणः करोति विमलान्कवीन् । किं पुनः क्लृप्तसंधानः पुलिन्दकृतसन्निधिः' । अत्र पुलिन्दशब्देन पक्षे वाणसुतः भूषण-भट्टापरनामा ग्राह्यः । तत आरभ्य नृपतेः सभायां प्राप्तोन्नतपदवीकस्तत्रैवो-षितवान् । तदुक्तं काव्यमीमांसाभूमिकायां—'श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु । श्रीहर्ष एष निजसंसदि येन राज्ञा संपूजितः कनककोटिशतेन वाणः' । तत्र च कतिपयैः सुहृद्भिरनुमोदितो वाणभट्टो हर्ष-वर्धनस्य नृपस्य जीवनचरितम् वर्णयितुमारेभे 'हर्षचरितम्' इतिग्रन्थं च प्रणी-तवान् । तदुक्तम् काव्यमीमांसाभूमिकायां—'हेम्नो भारशतानि वा मदमुचां वृन्दानि वा दन्तिनां श्रीहर्षेण समर्पितानि कवये बाणाय कुत्राद्य तत् । या वाणेन तु तस्य सूक्तिनिकरैरुट्टंकिताः कीर्तयस्ताः कल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनाङ्मन्ये परिम्लानताम्' इति । 'पार्वतीपरिणयम्' अपि बाणेनैव लिखितम् 'चण्डिशतकम्' च । अन्तिमावस्थायां तु कादम्बरीकथा प्रणीता । अतः सः ताम् पूर्तिं न निनाय । पूर्वार्धमेव तस्या लिखित्वा सः परां मुक्ति प्रपेदे । अतः कादम्बर्य्या उत्तरभागस्तु वाणसुतेन भूषणभट्टेन निर्मितः । हर्षवर्धनस्तु कान्य-कुब्जे ६०६ षडुत्तरषष्ठशताब्दारभ्य अष्टचत्वारिंशदुत्तरख्रिष्टाब्दवर्षपर्य्यन्तम् ६४८ भूमिं शशास । हर्षसभायां बाणस्य सत्वात् कल्प्यते यत् षष्ठ्यां शताब्द्यां अन्तिमे भागेऽथवा सप्तम्यां शताब्द्यां पूर्वस्मिन्भागे प्रादुर्बभूव बाण इति । हर्षवर्धनसभायां बाणेन सह मातङ्गदिवाकरः मयूरश्चास्ताम् । तथा राजशेखरः आह 'अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातङ्गदिवाकरः । श्रीहर्षस्या-

भवत्सभ्यः समो बाणमयूरयोः' इति । परन्तु कविकुलकामिनीकन्निताकामुकत्वं विमलविशदप्रखरप्रज्ञाशीलत्वन्तु बाणस्यैवासीत् । स्फुटीभविष्यति चैतत् तत्कवितामहत्त्वप्रदर्शनेऽनुनैव । यद्यपि केनचिदुक्तम्—'दर्पं कविभुजङ्गानां गता श्रवणगोचरम् । विषविद्येव मायूरी मायूरी वाङ् निकृन्तति' । तत्तु मयूरनिर्मितसूर्य्यशतकस्य प्रशंसापरम् । भगिनीदत्तशापजन्यकुष्ठनिवारणार्थं सूर्यदेवताकम् पद्यशतकम् स्तोत्रं स्वयं विरच्य स्तुतो देवो भास्करो मयूरेण तथा च तन्निवारणं जातम् सवितृदेवस्तुत्या । तथा चोक्तम् काव्यप्रकाशे मम्मटेन—'आदित्यादे (सूर्य्यादे) र्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम्' । प्रभूतभक्त्यावेशेन परमसमाहितो मयूरः कृतवान् शतकम् स्वाभाविकन्तु नासीत् तदीयम् तादृशं कौशलं कवित्वे । बाणस्य तु नैसर्गिकम् नैपुणम् सहृदयहृदयङ्गमम् सुकवित्वे इति

The Genealogy of Bana.

ब्रह्मणः सकाशात् पुलहः सञ्जातः पुलहाद्वत्सः स्वयं वत्स्यस्तु पुलहात् इति ब्रह्मवैवर्त्तपुराणप्रमाणम् । वत्स्यानन्तरमनेकेषां तद्वंशीयजनानां नामानि अनुपलब्धानि । ततः कुवेरः तस्य च अच्युतः ईशानः हरः पशुपतिः एतन्नामकाश्चत्वारः सुता जाताः क्रमशः । पशुपतेश्चार्थपतिः । अस्य तु भृगुः हंसः शुचिः कविः महीदत्तः धर्मः जातवेदः चित्रभानुः त्र्यक्षः अहिदत्तः विश्वरूपः एतदेकादशसंख्यकाः पुत्राः क्रमेण समजनिष्यन्त । चित्रभानोर्बाणभट्टो महाकविमुकुटमणिः प्रादुर्बभूव । अस्य भूषणभट्टः उद्भूतः । केचिद्वदन्ति यत् बाणभट्टसूनोः वक्ष्यमाणानि चत्वारि नामानि आसन्—भूषणभट्टः भूषणबाणः पुलिन्दः पुलिनश्चेत्यात्मकानि । एकैकमते प्रत्येकं नासीदिति भावः ।

The Source of Kadambari :—

वृहत्कथारूपमाधारमवलम्ब्य कादम्बरीकथा बाणभट्टेन निर्मिता तत्रद्वयमेकं कमपि देशमाधारं समाश्रित्य । आसीत् श्रीमान् गुणाढ्यः कविः प्रतिष्ठानपतेः श्रीयुतः सातवाहननरपतेः सभायाम् तेन च लक्षश्लोकनिबद्ध-

(बृहत्कथा) पैशाच्यां भाषायां विरचितेति कथापीठलम्बके प्रकरणे स्पष्टमेव दृश्यते । सातवाहनभूपतिस्तु ख्रीष्टाब्दीयप्रथमशतके समुद्भवदिति प्रसिद्धमेव । अतः स एव गुणाढ्यस्य कालः ।

बृहत्कथान्तर्गतानां कासांचित्कथानामाधारेण वा केषांचित्कथैकदेशानामाधारेण तैस्तैः कविभिः प्रियदर्शिका, रत्नावली, नागानन्द, पञ्चतन्त्र, कादम्बरी, मालतीमाधव, मुद्राराक्षस, वेतालपञ्चविंशति, हितोपदेशप्रभृतयो ग्रंथा निर्मिताः सर्वत्र प्रकाशन्ते । परन्तु भूतभाषामयी बृहत्कथा इतरो वा गुणाढ्यरचितो ग्रंथो नाधुना लभ्यते । प्राचीनग्रंथेषु क्वचित् क्वचित् बृहत्कथायाः गुणाढ्यस्य च स्मरणं वर्त्तते । यथा वासवदत्तायां कुसुमपुरवर्णने बृहत्कथारम्भैरिव शालिभञ्जिकोपेतैः इति । काव्यादर्शे—भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम् । हर्षचरिते-समुद्दीपितकन्दर्पा कृतगौरीप्रसाधना । हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा । कादम्बर्य्यामुज्जयिनीवर्णने—बृहत्कथाकुशलेन इति दशरूपके रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च इति ।

नलचम्वाम्—'शश्वद्बाणद्वितीयेन नमदाकारधारिणा । नुपेव गुणाढ्येन निःशेषो रञ्जितो जनः' इति । गोवर्धनसप्तशत्याम् श्रीरामायणभारतबृहत्कथानां कवीन्नमस्कुर्मः । अतिदीर्घजीविदोषाद् व्यासेन यशोऽपहारितं हन्त । कैर्नोच्येत गुणाढ्यः स एव जन्मान्तरापन्नः इति च ॥ कुवलयानन्दस्य परिकरप्रकरणे—चित्रार्थां न बृहत्कथामचकथम् इति प्राचीनं पद्यम् । इत्यादि ऊह्यम् । प्रकाशेन्द्रसुतः व्यासापरनामा महाकविः क्षेमेन्द्रः अनन्तराजस्य सातवाहनभूपतेः सूनोः राज्यसमये १०२८-१०८० ख्रीष्टाब्देषु कश्मीरदेशे समभवत् । रचितास्तेन बहवो ग्रंथाः तेनैव बृहत्कथाऽतिविस्तृता पिशाचभाषामयी निर्मिताऽस्तीति हेतोर्न सर्वहृदयप्रियाऽतः संस्कृतभाषायां तस्याः सार आकृष्टः तदीयं नाम च बृहत्कथामंजरीति कृतम् ।

तत्र च लम्बकाख्यप्रकरणेषु क्वचित् क्वचित् कथासु च पौर्वापर्यं कृतम् । यस्या अयमारम्भः—उमाप्रणामसंक्रान्तः चरणालक्तकः शशी । संध्यारुण इवाभाति यस्य पायात्स वः शिवः इत्यादि । ततः राजभट्टसूनुः श्रीमान्

सोमदेवभट्टोऽपि पूर्वोक्तानन्तराजराज्यवेलायामासीदिति निर्णीतप्रायमेव तदीयं जन्म च कश्मीराभिधजनपदेषु वर्त्तते स्म । स च वृहत्कथामञ्जरीमतिशय-संकुचितां नातिमनोरमां चावलोक्य श्रीमत्याऽनन्तराजमहिष्याऽत्यन्तविदुष्या "सूर्य्यवत्या" प्रोत्साहित: नाधिकसंक्षिप्तमनतिविस्तीर्णं च प्रसादगुणोपेतं नितान्तस्वान्ताकर्षणक्षमम् वृहत्कथानुसारं कथासरित्सागरनामकं ग्रंथं संस्कृत-भाषायां ग्रथितवान् । अस्मिन् ग्रंथे सोमदेवभट्टेनेषदपि व्यत्ययो मूलापेक्षया न कृत: तथा च तद्वाक्यम्—"यथामूलं तथैवैतन्न मनागप्यतिक्रम:" इति । अथ कथासरित्सागरस्यैकोनषष्टितमतरङ्गस्थितं मकरन्दिकोपाख्यान-मेव कुत्रचित् विषयान् न्यूनीकृत्य कुत्रचित् पात्राणान्नामानि चान्यानि विधाय श्रीमता बाणभट्टेन निर्मिता कादम्बरीकथा उत्तरार्धे तु बाणसुतभूषण-भट्टेन बहुधा भिन्नवृत्तान्तो लिखित: । पूर्वार्धे तु न तथा । यथा विंध्याटवी-वर्णने—"कर्णीसुतकथेव सन्निहितविपुलाचला, शशोपगता च" इति कादम्ब-र्य्यामुक्तम् । एतन्मूलभूत: पाठ: वृहत्कथायामस्ति—'कर्णीसुत: कटक: स्तेयशास्त्रप्रवर्त्तक: । ख्यातौ तस्य सखायौ द्वौ विपुलाचलसंज्ञकौ । शशो मंत्रिवरस्तस्य" इति मकरन्दिकोपाख्यानान्तर्गत एव पाठ: तत्रास्ति । अत: वृहत्कथा मूलकत्वं कादम्बर्य्या: स्पष्टमेव प्रतिभाति । अपि च—

जाबालेराश्रमवर्णने 'किम्पुरुषाधिराज्यमिव मुनिजनगृहीतकलशाभि-षिच्यमानद्रुमम्' इति कादम्बरीपाठ: । पुरा मुनय: किन्नरराज्ये द्रुमनाम-कन्नृपमभिषेचयामासुरिति वृहत्कथाकथाऽस्ति आश्रमपक्षे द्रुमा: वृक्षा: ग्राह्या राज्यपक्षे तन्नामा नृपो गृह्णीय: तेन स्फुटं प्रतीयते कथासरित्सागरमूला कादम्बरीकथा, किंच 'प्रलयानलशिखाकलपकपिलजटाभारभ्रान्तसुरसिन्धु-रन्धकारातिर्भगवानुत्सृष्टकैलासवासप्रीतिर्महाकालाभिधान: स्वयं निवसति' इति उज्जयिनीवर्णने कादम्बरीगतोऽयम्पाठ: । 'यस्यां वसति विश्वेश: महा-कालवपु: स्वयम् । शिथिलीकृतकैलासनिवासव्यसनो हर:' । इति कथा-सरित्सागरस्थ: पाठ: तेन स्पष्टं ज्ञायते समानत्वात् कथासरित्सागरमूलिका कादम्बरीकथेति ।

कादम्बरीस्थितानां पात्राणां नामानि—विदिशा, शूद्रकः, चाण्डालकन्यका, वैशम्पायनः शुकः विन्ध्याटवीस्थशाल्मलीतरुः, हारीतः, जाबालिः, उज्जयिनी, तारापीडः, विलासवती, चन्द्रापीडः, शुकनासः, वैशम्पायनः, इन्द्रायुधः, हंसः, गौरी, महाश्वेता, श्वेतकेतुः, पुण्डरीकः, चित्ररथनामकगन्धर्वराजः, कादम्बरी, केयूरकः, पुण्डरीकापरनामा वैशम्पायनाख्यः, शुकशिशुः, चन्द्रापीड एव शूद्रकः इमानि ।

कथासरित्सागरस्थ पात्राणां नामानि नितान्तं तत्सदृशानि सन्ति । तथाहि —कांचनपुरी, सुमनाः, मुक्तालता, शास्त्रगंजशुकः, हिमालयस्थितरोहिणीतरुः, मरीचिः, पौलस्यः, रत्नाकरपुरम्, ज्योतिष्प्रभः, हर्षवती, सोमप्रभः, प्रभाकरः, प्रियंकरः, आशुश्रवाः, पद्मकूटः, हेमप्रभा, मनोरथप्रभा, दीधितिमान्, रश्मिवान्, सिंहविक्रमाख्यविद्याधरराजः, मकरन्दिका, देवजयः, सिंहविक्रमाख्यशुकः, रश्मिवानेव सुमनाः, इतीमानि नामानि यथाक्रमं कादम्बरीगतपात्रनाम्नां सदृशान्यतस्तस्यास्तन्मूलत्वं स्पष्टमेव । अच्छोदसरोजरद्द्रविडधार्मिकचण्डिका पत्रलेखेत्यादीनां केषाञ्चिद्वर्णनानि तत्तत्प्रकरणानुरोधादधिकानि सन्ति कादम्बर्य्याम् न काचित्क्षतिः किन्तु शोभनैव दृश्यते प्रायः ईदृशी शैली आधाराश्रितग्रन्थानाम् (यथोत्तरचरितादिकम्) । न हि तेन (आधेयग्रन्थे प्रकरणाऽविरोधिविशेषवर्णनेन) आधारस्य तत्त्वे (आधाराधेयसम्बन्धेनाधेयमूलकत्वे) कतमोऽपि दोषोऽप्रसिद्धः प्रसिद्धो वा पदं निधातुं समर्थः इति ।

Merits and Demerits of Kadambari and Ban's works:—

गुणदोषसमालोचना—

"श्लेषे केचक शब्दगुम्फविषये केचिद्रसे चापरे-
ऽलंकारे कतिचित्सदर्थविषये चान्ये कथावर्णने ।
आसर्वत्रगभीरधीरकविताविन्ध्याटवीचातुरी-
सञ्चारी कविकुम्भिकुम्भभिदुरो बाणस्तु पञ्चाननः ।।

इति पद्यं श्रीचन्द्रदेवकविना नितान्तमनुकूलमेव बाणकवितायाः अभिहितम् निखिलकविता गुणसत्तायाः समौचित्येन प्रतिपादनपरम् । यथा विन्ध्याटवीवर्णने, गिरितनयेव स्थाणुसङ्गता मृगपतिसेविता च, जानकीव प्रसूतकुशलवा निशाचरपरिगृहीता च, राज्यस्थितिरिव चमरमृगवालव्यजनोपशोभिना समदगजघटापरिपालिता च, क्वचिदम्बरश्रीरिव व्याधानुगम्यमानतरलतारकमृगा इत्यादि ।

यथा च हारीतवर्णने—सुराजेव निगूढमन्त्रसाधनक्षपितविग्रहः, जलनिधिरिव करालशङ्खमण्डलावर्तनाभिगर्तः, भगीरथ इवासकृद्दृष्टगङ्गावतारः वनचरोऽपि कृतमहालयप्रवेशः सुप्तोऽपि प्रबुद्धः, सन्निहितनेत्रद्वयोऽपि परित्यक्तवामलोचनः इत्यादि । यथा च जावालेराश्रमवर्णने—जलधरसमयमिव वनगहनमध्यसुखसुप्तहरिम्, हनुमन्तमिव शिलाशकलप्रहारसंचूर्णिताक्षास्थिसंचयम्, खाण्डवविनाशोद्यतार्जुनमिवारब्धाग्निकार्यम्, परिपूर्णद्विजपतिमण्डलसनाथमपि सदासन्निहिततरुगहनान्धकारम् इत्यादि सर्वत्रैव कादम्बर्यां तत्तद्वर्णनैः पूर्वोद्दिष्टपद्योक्तसकलगुणाः स्फुटमेव प्रतिभान्तितराम् ।

श्लिष्टार्थाभिधानम (श्लिष्टार्थकपदैस्तत्तदर्थानां कथनम्) विशिष्टा शब्दरचनाऽप्यसाधारणैव । क्वचिच्छृङ्गाररसस्य कुत्रचिदद्भुतरसस्य च सातिशयं दर्शनं, विविधानामलंकाराणां यथास्थानमभिनिवेशः स्फुटोत्कृष्टार्थस्य च यथाविधिप्रदर्शनम्, वितताऽविततानां विशदानां तासां कथानां साशयमवबोधनम्प्रकरणे नियोजनं च दृश्यते । अतः प्रकटितकविचातुरीकादम्बरी कादम्बरीव नितान्तसेविताऽतिशयानन्दपारावारे मनो निमज्जयन्ती केषां विदुषां मोहं नापादयति, केषांवा परितो रसभावाऽश्रितानाल्पाऽलंकारालङ्कृता वनितेव बाणकविताऽनुपमपदविन्यासापहृतमानसामानसेषु पदन्न निदधाति ।

यतः कुत्रचित्काव्ये श्लेषस्यैवाऽसीमा महिमा विद्यते । यथा—अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदिशेषु च वक्ष्यति । [illegible] मित्राणीव पारमेजः ।।

यथा—पृथुकार्तस्वरपात्रम् । यथा वासवदत्तायाम्—दशरथ इव सुमित्रोपेतः सुमन्त्राऽधिष्ठितश्चेत्यादि । क्वचित्तु शब्दरचनैव पटीयसीं परिपाटीमाश्रिता, यथा वासुदेवविजये—अतुम्फद्यामानमिव प्रतोफितुम् अतुम्फशीलान्मिलतोऽथ राक्षसान् इत्यादि । अर्थोऽस्य—अक्षततेजसं सूर्यं हिंसितुं हिंसाशीलान् संगतांश्च राक्षसान् दृष्ट्वेति ।

यथा च वासवदत्तायां चिन्तामणिनृपवर्णने—सर्वोर्वीपतिचक्रचारुचूडामणिश्रेणिशोणकषणनिर्मलीकृतचरणनखमणिरिति ।

केचित्तु रसमेव प्राधान्येन दर्शयन्ति—यथा वासवदत्तायाम् कामिनीवर्णने—पुनर्दर्शनपृच्छाविधुरसखीजनाऽनुक्षणवीक्ष्यमाणप्रियतमासु इति । यथा वा—अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्गम्भङ्गीभिरङ्गीकृतमानताङ्गयाः इत्यादि ।

परे त्वलंकारमहत्त्वमेव सर्वस्वं मन्यन्ते दर्शयन्ति च यथा वासवदत्तायाम् वसन्तवर्णने—समृद्धकासारशकुनिसार्थ इव निन्दितमरुवकः इति । यथा वा विनोक्तेरलंकारस्य पद्यम्—विना जलदकालेन चन्द्रो निस्तन्द्रताङ्गतः । विना ग्रीष्मोष्मणा मंजुर्वनराजिरजायत इत्यादि ।

कतिपये तु सतो विलसतोऽर्थस्यैव प्राचुर्यं मुख्यमतिशयं ददन्ति यथा वासवदत्तायाम् चिन्तामणिवर्णने—धृतराष्ट्रोऽपि गुणप्रियः, क्षमानुगतोऽपि सुधर्माश्रितः इत्यादि । यथा वा किराते—अचिरांशुविलासचंचला ननु लक्ष्मीः फलमानुषङ्गिकम् इति ।

अपरे विद्वांसः विविधकथावर्णनमेव परं काव्यकृतित्वम् सहृदयहृदयंगमत्वमभिदधति यथा दशकुमारचरिते कुमाराणां तेषां चरितानां वर्णनम् विश्रुतादीनाम् । कादम्बर्यान्तु साकल्येनेमे प्रोक्ता गुणा विलसन्त्यतः सर्वगुणसम्पन्नेयमस्तीति । किंच युक्तं कादम्बरीं श्रुत्वा कवयो मौनमाश्रिताः । बाणध्वनावनध्यायो भवतीति स्मृतिर्यतः इति कीर्तिकौमुदीस्थपद्यं सत्यमेव प्रतीयते, महाश्चर्यजनिकायाः कादम्बर्याः निर्मितेः परमरचनाचातुरीरीतिरचितत्वात् । तथा हि संध्यावर्णने—क्रमेण च रविरस्तंगत इत्युदन्तमुपलभ्य जातवैराग्यो धौतदुकूलवल्कलाम्बरः, ससारान्तःपुरः, पर्यन्तस्थिततनुतिमिरतमालवन-

लेखम् गगनतलम् । यथा च पम्पासरोवणने—अनेककुसुमपरिमलवाहिनीभिर्वनदेवताभिः श्वासवासिताभिरिव वनराजिभिरुपरुद्धतीरम्, अपरसागराशंकिभिः सलिलमादातुमवतीर्णैः जलधरैरिव बहलपंकमलिनैः वनकरिभिरनवरतमापीयमानसलिलम् इत्यादि । यथा वा शाल्मलीवृक्षवर्णने—तुङ्गस्कन्धावलम्बिभिरनिलवेल्लितैरहिनिर्मोकैर्धृतोत्तरीय इव, दिक्चक्रवालपरिमाणमिव गृह्णतः भुवनान्तरालविप्रकीर्णेन शाखासंचयेन प्रलयकालताण्डवप्रसारितभुजसहस्रमुडुपतिशकलशेखरमिव विडम्बयितुमुद्यतः, पुराणतया पतनभयादिव गगनस्कंधसंलग्नः, जरातिलकविन्दुभिरिव कण्टकैराचिततनुः वनगजकपोलकण्डूयनलग्नमदनिलीनमत्तमधुकरमालेन लोहशृङ्खलाबन्धनिश्चलेनेव कल्पस्थायिना मूलेन समुपेतः । यैः पक्षिकुलैः परिणामविरलदलसंहतिरपि स वनस्पतिरविरलदलनिचयश्यामल इवोपलक्ष्यते दिवानिशं निलीनैरिति ।

यथा च शुकोत्पत्तिवर्णने—शकुनयो नभसि विरचितपंक्तयो मदकलहलधरहलमुखोत्क्षेपविकीर्णबहुस्रोतसमम्बरतले कलिन्दकन्यामिव दर्शयन्तः, सुरगजोन्मूलितविगलदाकाशगङ्गाकमलिनीशंकामुपजनयन्तः, दिवसकररथतुरगप्रभानुलिप्तमिव गगनतलमुपपादयन्तः, संचारिणीमिव मरकतस्थलीं विडम्बयन्तः इति । यथा च शुकशावकनिपातवर्णने—एकतमस्तु जरच्छबरः पूर्वोक्तपादपमारुह्य कांश्चिदल्पदिवसजान् गर्भच्छविपाटलान् शाल्मलीकुसुमशंकामुपजनयतः, कांश्चिदर्कफलसदृशान्, कांश्चिल्लोहितायमानचंचुकोटीन्, ईषद्विघटितदलपुटपाटलमुखानां कमलमुकुलानाम् श्रियमुद्वहतः, कांश्चिदनवरतशिरःकम्पव्याजेन निवारयत इव प्रतीकारासमर्थान्, एकैकशः फलानीव तस्य वनस्पतेः शाखासंधिभ्यः कोटरान्तेभ्यश्च शुकशावकानग्रहीत् इत्यादीनां परमनैपुण्यलावण्यविलक्षणक्षणवर्णविषयाणां कादम्बरीगतानां दर्शनात् प्रचुरमाश्चर्यं स्थापयति स्थानं हृत्सु विज्ञानाम् । अतः यथाश्रद्धानश्रवणे शास्त्राध्ययनाऽनध्यायः स्मृतिविहितः तथा बाणभट्टस्याश्चर्यंजनकां कृतिमाकर्णयन्तः प्रौढमनःशालिनोऽपि अकार्यपरा क्षणं ध्यायन्ति वैशिष्ट्यं कादम्बरीकथाभावानाम् ।

अन्यच्च—जाता शिखण्डिनी प्राक् यथा शिखण्डी तथावगच्छामि । प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी वाणो बभूवेति, गोवर्धनोक्तिः । तथाहि—स्त्री-सप्रागल्भ्यं भाषितुमसमर्था स्त्रीत्वादतः वाग्देवी बाणावतारमुपेतवती कृत्स्नतया सविस्तरं काव्यं निर्मातुम् । यथा प्रगल्भा शिखण्डिनी भीष्ममाक्रमितुमसमर्था तदीयभार्यात्वे भीष्मेणाऽस्वीकृते सा प्रतिज्ञातवती यन्मया बहुशः प्रार्थितेऽपि त्वदीयस्वामित्वे त्वया तन्नाङ्गीकृतमतो द्वितीयजन्मनि पुरुषाकारं शिखंडिनामकं गृहीत्वा सप्रागल्भ्यं त्वामाक्रमिष्यामीति ।

तथा च बाणस्योत्कटपाण्डित्यनिदर्शनमुत्कृष्टया प्रगल्भया कवितयाऽसमया प्रौढसारवत्या स्फुटमेव प्रतिभाति ।

गजरुधिररक्तहरिसटालोमलोहिनीभिरातप्तलाक्षिकतन्तुपाटलाभिरायामिनीभिरशिशिरकिरणदीधितिभिः पद्मरागरत्नशलाकासम्मार्जनीभिरिव समुत्सार्य्यमाणे गगनकुट्टिमकुसुमप्रकरे तारागणे, सन्ध्यामुपासितुमुत्तराशावलम्बिनि मानससरस्तीरमवतरति सप्तर्षिमण्डले, क्षपाजलजडकेसरकुसुमनिकरमुदयगिरिशिखरस्थितं सविस्तारमिवोद्दिश्य पल्लवाञ्जलिभिः समुत्सृजति कानने, क्रमेण च गगनतलमवतरतो दिवसकरवारणस्यावचूलचामरकलाप इवोपलक्ष्यमाणे मंजिष्ठारागलोहिते किरणजाले शनैरुदिते भगवति सवितरि, पम्पासरपर्य्यन्ततरुशिखरसंचारिणि अध्यासितगिरिशिखरे दिवसकरजन्मनि हृततारे पुनरिव कपीश्वरे वनमभिपतति बालातपे, स्पष्टे जाते प्रत्यूषसि इत्यादिवर्णनेषु पूर्वोद्दिष्टश्लेषादयः सर्वेऽपि गुणा राजन्ततेराम् । इतरकविवर्णनेषु प्रभातीयेषु तदंशांश एव लक्ष्यते यथा माघकविरचना—

"कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डं
त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः ।
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं
हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः ।"

इति न कांचिदपि शोभामावहति तस्य पुरः यथा वा—

अरुणकिरणजालैरन्तरिक्षे गतर्क्षे
चलति शिशिरवाते मन्दमन्दं प्रभाते ।
युवतिजनकदम्बे नाथमुक्तोष्ठबिम्बे
चरमगिरिनितम्बे चन्द्रबिम्बं ललम्बे ।।

इति च । अन्यच्च अभूत् पिङ्गा प्राची रसपतिरिव प्राप्य कनकमित्याद्यपि अकिंचित्करमेव तदपेक्षया । "गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति" इत्युक्तं काव्यालंकारसूत्रेषु वामनेन तत्परमयुक्तियुक्तं प्रतिभाति तथैव हि दर्शितम् । न हि तादृशमौत्कृष्ट्यं पद्यग्रंथेषु अपि यथा कंथचिद् विद्यते । तथा च वासवदत्तायां सुबंधुकृतं प्रभातवर्णनं वर्णयति शोभां कांचिद् विशिष्टां परन्नाधिकां कादम्बरीनिरूपितप्रभातनिरूपणात् । किन्तु आधिक्येन शब्दचित्रता चित्रणात् कस्यचिद् विशिष्टभावस्य समुपेक्षणाच्च । तथाहि—अथ कदाचिदवसन्नायां यामवत्यां दधिधवले कालक्षपणकग्रासपिण्ड इव निशायमुनाफेनपुंज इव मेनकानखमार्जनशिलाशकल इव मधुच्छत्रच्छायमण्डलोदर पश्चिमाचलोपधानसुखनिलीनशिरसो राजतताटंक इव शेषमधुभाजि चषक इव विभावरीवध्वा अपरजलधिपयसिशङ्खकान्तिकामुके मज्जति कुमुदिनीनायके, कलप्रबोधचकिताभिसारिकासु सारिकासु, शिशिरकर्दमितकुमुदधूलिमध्यबद्धचरणेषु, षट्चरणेषु प्रबुद्धाध्ययनकर्मठेषु मठेषु, विभासरागमुखरकार्पटिकजनोपगीयमानकाव्यकथासु रथ्यासु, दुर्जनेष्विव दग्धस्नेहतया मन्दिमानमुपगतेष्वतिवृद्धेष्विव दशान्तमुपगतेषु विपन्नसदीश्वरेष्विव पात्रमात्रावशेषेषु शरदवासरलक्ष्मीष्विव नखालङ्कृतपयोधरास्वासन्नमरणाष्विव जीवितेशपुराभिमुखीषु वसन्तवनराजिष्विवोत्कलिकाबहुलासु, प्रियैरालिङ्ग्यमानासु कामिनीष्वान्दोलितकुसुमकेशरकेशरेणुमुषि रणितमधुरमणीनां रमणीनां विकचकुमुदाकरे मुदाकरे सङ्गभाजि प्रियविरहितासु रहितासु सुखेन मुमुर्मुरमिव वसति समन्तादर्पकेदर्पकेषुदहनस्य दूरप्रसारितकोकप्रियतमारुते मारुते वहति इति ।

गद्येष्वपि बाणस्यैव सर्वप्रधाना चमत्कृतिशालिनी काव्यीयनिखिलगुणमालिनी कृतिरस्ति, उक्तमपि सूक्तिमुक्तावल्याम् "याता दिवं साधुना, बाणे

गीर्वाणवाणीप्रणयिनिविधिना शायिते मृत्युशय्याम्" इति बहुधा स्फुटं प्रदर्शितमेवास्माभिरिह प्राक् । यद्यपि "सुबंधुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः । वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वेति" राघवपाण्डवीये कथितं तथापि तत् वक्रोक्तिनैपुण्ये नाभिधायिनां कवीनां स्वरूपकथनपरम्, बहुदास्तस्य बाणस्य कृतेर्लोकोत्तरत्वेन बहुधा प्रदर्शितत्वात् इति "यादृग्गद्यविधौ बाणः पद्यबंधे न तादृशः" इति वाराणसीयमुद्रितपुस्तके प्रथमविभागीयचतुर्विंशतितमे पृष्ठे स्पष्टमुक्तत्वात् । अपि च—

वागीश्वरं हन्त भजेऽभिनन्द-
मर्थेश्वरं वाक्पतिराजमीहे ।
रसेश्वरं स्तौमि च कालिदासं
बाणन्तु सर्वेश्वरमानतोऽस्मि ।

इति काव्यमीमांसायामुदितम् ।

यथा शूद्रकवर्णने—नाम्नैव यो निर्भिन्नारातिहृदयः विरचितनारसिंहरूपाडम्बरम् एकविक्रमाक्रान्तसकलभुवनतलो विक्रमत्रयायासितं च जहासेव वासुदेवम् । अतिचिरकाललग्नमतिक्रान्तकुनृपतिसहस्रसम्पर्ककलंकमिव क्षालयन्ती यस्य विमले कृपाणधारातले चिरमुवास राजलक्ष्मीः । यस्य च कृपाणेनाकृष्यमाणा सुभटोरःकपाटघटितकवचसहस्रांधकारमध्यवर्तिनी करिकरटतटगलितमदजलासारदुर्दिनास्वभिसारिकेव समरनिशासु समीपमसकृदाजगाम राजलक्ष्मीः । यस्य च हृदयस्थितानपि पतीन् दिधक्षुरिव प्रतापानले वियोगिनीनामपि रिपुसुन्दरीणामन्तर्जनितदाहो दिवानिशं जज्वाल । इन्द्रनीलमणिकुट्टिमप्रभासम्पर्कश्यामायमानैः प्रणतरिपुनिश्वासमलिनीकृतैरिव चरणनखमयूखजालैरुपशोभमानम् । इत्यादिना पूर्वोक्तविमलमहागुणमालाऽलङ्कृतिः निर्मिततिगतिर्बाणस्य स्पष्टैव ।

अपि च विदग्धमुखमण्डने धर्मदासोक्तिः—रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति । तत्किं तरुणी नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य इति ।

अर्थगतं शब्दगतंचेति द्विविधम्माधुर्यम् बाणस्य वाण्यान्निरन्तरं भातितरान्नितराम् । रमणीगताः रमणीया अप्यरमणीयतां यान्ति गुणाः हावभावकटाक्षलावण्यादयः ।

अर्थगतं माधुर्यं यथा--चाण्डालकन्यकावर्गने--अतिकठिनमणिकुट्टिमस्पर्शमसहमानाम् क्षितितले पल्लवभङ्गानिव विधाय संचरन्तीम् ।

आपिंजरेणोत्सर्पिणा नूपुरमणीनां प्रभाजालेन रंजितशरीरतया पावकेनेव भगवता रूप एव पक्षपातिना प्रजापतिमप्रमाणीकुर्वता जातिसंशोधनार्थमालिङ्गितदेहाम्, अनङ्गवारणशिरोनक्षत्रमालायमानेन रोमराजिलतालवालकेन मेखलादाम्ना परिगतजघनस्थलाम्, अतिस्थूलमुक्ताफलघटितेन शुचिना हारेण गंगास्रोतसेव कालिन्दीशंकया कृतकण्ठग्रहाम् शरदमिव विकसितपुण्डरीकलोचनाम्, अनङ्गकुसुमचापलेखामिव मुष्टिग्राह्यमध्याम्, इत्यादिकमर्थमाधुर्यं प्रायः कादम्बर्यां सर्वत्रैव दृश्यते ।

शब्दगतं माधुर्य्यं यथा--'स्तनयुगमश्रुस्नातं समीपतरवर्ति हृदयशोकाग्नेः । चरति विमुक्ताहारं व्रतमिव भवतो रिपुस्त्रीणामिति' वचः शुकशावकोक्तमार्याछन्दोबद्धम् । यथा च पम्पासरोवर्णने--अनवरतमज्जदुन्मदशबरकामिनीकुचकलशलुलितजलम्, अम्बुरुहमधुपानमत्तकलहंसकामिनीकृतकोलाहलम्, अनेकजलचरपतङ्गशतसंचलनचलितवाचालवीचिमालम् इत्यादि शब्दमाधुर्य्यं विदुषां मनःप्रियम् । यतो बाणवाणी श्रुतिं गतैव चमत्कारकारिणी वर्तते दृश्यमानकामिनीलावण्यापेक्षया । चित्तद्रवीभावमयोह्लादो माधुर्यमुच्यते इतिदर्पणोक्तमाधुर्य्यलक्षणस्यार्थे शब्दे च सत्वात् । न च रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्मा शौर्यादयो यथा गुणाः इति दर्पणोक्तदिशा च ये रसस्याङ्गिनो धर्मा इति काव्यप्रकाशोक्तप्रकारेण माधुर्य्यादिगुणत्रयस्य रसवृत्तित्वादर्थवृत्तित्वं शब्दवृत्तित्वं च दुर्लभमिति वाच्यम् । गुणवृत्याऽर्थादारोपेण तदुभयगतत्वमपि सम्यक्, यथाऽऽत्मधर्माशौर्यादयः शरीरे आरोप्यन्तेऽहं शूर इत्यादि रीत्याऽतः परममाधुर्यशालिनी मानिनी बाणीयकविताकामिनी हरतितराम् मानसानि सुधियाम् ।

विमलविचित्रार्थवत्त्वादर्थगत्वम्, अष्टवर्गह्रस्वाऽसंयुक्तवर्णदीर्घस्वरादिवर्णसमुपेतत्वाच्छब्दगत्वम् इत्युभयप्रकारमपि मधुरत्वम् पूर्वं यथाक्रमं प्रतिपादितत्वात् ।

अत एव कवियशोवर्णयञ्जयदेव आह—हृदयवसतिः पंचवाणस्तु बाणः इति । अर्थाद्बाणः कामदेवरूपः कविकुलकामिन्याः कविताया मानसे वसति अतः सर्वकविविविधकवितायाः सापत्न्यभावः बाणवाण्याः सूचितः यथा—बाणीयगिर्यपि बाणः तत्सदृशगिरां हृदयगतोऽपि वर्तते सर्वविधकाव्यगुणोपेतत्वात् । यथाऽन्यमपि कामिनं पूर्णनायकगुणोपेतं भार्याऽभिन्नाऽपि कामिनी कामयतेतरामतः हृदयेन दधाति, तथेहाऽपि पूर्वोक्तोदाहृतेषु बाणवाचि परमरमणीयत्वदर्शनात्स्फुटैवोपमा अथवा रतिरूपाया सकलकवितायाः कामिन्याः भार्यारूपायाः हृदये भर्तृरूपः बाणः समुल्लसतितराम् पतिभावेन, अर्थाद्दाम्पत्यभावः कवितायाः बाणस्य च प्रकटितः । नहीदृशी कापि कस्यापि कविता यत्र बाणेन वर्णितानां विषयाणां गुणानां च छाया वा लेशो वाल्पभागो न भवेत् अतः सर्वकवितामध्यगत्वाद्दाम्पत्यभावः प्राधान्यात् महाकविमुकुटमणित्वं च बाणस्य स्फुटमेव राजतेतराम् ।

अतएव समस्तोऽपि बुधवर्ग एवमाह बाणविषये बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वमिति । तथाहि—श्रियमिव हस्तस्थितकमलशोभाम्, मूर्छामिव मनोहारिणीम् अरण्यभूमिमिवाक्षतरूपसम्पन्नाम् इत्यादि विशेषणैः चाण्डालकन्याऽनुपमम् विशेषणीयतां नीता । यथा च क्वचित्समरभूमिरिव शरशतनिचिता, क्वचिद्विधवेवोन्मुक्ततालपत्रा—इत्यादिभिर्विन्ध्याटवीवर्णितोत्कृष्टोत्कृष्टम् । तथा च सर्वतः प्रसारितदीर्घमयूखमण्डलेनेवेर्ष्यया परपुरुषदर्शनमिव निरुन्धता कुतूहलेन विस्तारमिव तन्वता स्पर्शसुखेन रोमांचमिव मुंचता कांचीदाम्ना नितम्बबिम्बस्य विरचितपरिवेषाम्, अन्तःप्रविष्टकर्णपल्लवप्रतिबिम्बेनातिभरखिद्यमानहृदयकरतलप्रेर्यमाणेनेव निष्पतता मकरकेतुपादपीठेन स्तनभरेण भूषिताम्, नूपुरमणिकिरणचक्रवालेन गुरुनितम्बभरखिन्नोरुयुगलसहायतामिव कर्तुमुद्गच्छता स्पृश्यमानजघनभागाम्, निपतितसकललोकहृदयभरेणे-

वातिगुरुनितम्बाम् इत्यादि कादम्बरीस्थवर्णना लोकोत्तरेव भाति । शंका-ज्वरकम्पितैरिव कदलीवनैर्भयोत्कण्ठितैरिव श्रीफलतरुषण्डैस्त्रासोर्ध्वकेशैरिव खर्जूरवनैः समन्ताद् गहनीकृताम् प्रभूतरुधिरदर्शनोद्भूतमूर्छापतितेनेव प्रतिबिम्बेनास्तताम्रेण सवित्रा ताम्रतरीकृतैः क्षतजजलप्रवाहैः पिच्छिलीकृताजिराम् इत्यादिवर्णनं चण्डिकाया परमाद्भुतमुद्भावयति कमपि विचित्रभावम् इत्यादिना वाणस्य परमं माधुर्यं नैपुण्यं लावण्यं वैलक्षण्यं तारुण्यं च कवितायां दृश्यतेऽन्यकाव्यवर्णितविषयगुणेषु इतोन्यूनतैवातः कल्प्यते वाणोच्छिष्टमित्यादि ।

किं च पुराणमिव विभागावस्थापितसकलभुवनकोशम्, चन्द्रोदयमिव मृदुकरसहस्रसंवर्धितरत्नालयम् ब्रह्माण्डमिव सकलजीवलोकव्यवहारकारणोत्पन्नहिरण्यगर्भम्, महाभारतमिवानन्तगीतकर्णनानन्दितनरम् यदुवंशमिव कुलक्रमागतशूरभीमपुरुषोत्तमबलपरिपालितम्, व्याकरणमिव प्रथममध्यमोत्तमपुरुषविभक्तिस्थितानेकादेशकारकाख्यातसम्प्रदानक्रियाव्ययप्रपंचसुस्थितम्, इत्यादिना राजकुलवर्णने वाणस्य परमपौराणिकत्वैतिहासिकत्ववैयाकरणत्वसकलशास्त्रज्ञत्वालंकारिकाग्रणीत्वान्यवगम्यन्ते । अन्यैश्च वर्णनैस्तत्कल्प्यते । यादृशो गरिमा महिमा मधुरिमाऽत्र वाणकृतौ ततो न्यून एवेतरकविरचनासु अतो वाच्यमस्माद् गृहीत्वैवान्ये कवयो व्यरचयन् तानि तानि काव्यनिर्माणानि तेन स्फुटमेव—वाणोच्छिष्टं जगदित्यादि । नहि कश्चिदीदृशो विषयः वा वर्णनकृतिरवम् यन्नास्पर्शि बाणेन । शूद्रकादीनां सर्वेषामेवानेकैर्विशेषणैर्वर्णनेन तेषां तेषां परमकाष्ठा प्रशंसायाः च स्वरूपसद्भावकमहत्तायाः दर्शिता इतरकविरचनासु तच्छाया वा कश्चिल्लेश एव न दृश्यते । अतएव शार्ङ्गधरपद्धतावुक्तम्—हृदि लग्नेन बाणेन यन्मन्दोऽपि पदक्रमः । भवेत्कविकुरङ्गाणां चापलं तत्र कारणम् इति ।

Kinds of 'Gadya' Kāvya and the Distinction between 'Kathā' & Akhyāyikā'.

कादम्बरीयं कथागद्यं काव्यम्—अपादः पदसन्तानो गद्यमितिदण्डिनोक्तत्वात्—तथा च भोजोऽपि आख्यायिकाकथा खण्डकथा परिकथा तथा

कथालिकेति मन्यन्ते गद्यकाव्यं हि पंचधेति पंचविधं गद्यकाव्यं तन्मध्ये कथाख्यकमेतत् । दण्डी तु काव्यादर्शे गद्यस्य द्वैविध्यमाह—गद्यमाख्यायिका कथा इति तस्य प्रभेदौ द्वौ, तयोराख्यायिका किल "नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा । स्वगुणाविष्क्रिया दोषो नात्रभूतार्थशंसिनः" इति तद्द्वय-कथनात् ।पुनर्दण्डिना द्वयोरैक्यमेव सिद्धान्तितम् स्फुटस्य भेदस्याभावात् । कथाया अपि नायकनिर्माणसद्भावात् इत्यादिना, परन्तु कथा नामैव केवलं पृथक् । आख्यायिकाकथयोर्लक्षणे स्फुटमुक्ते तत्रैव तथाहि—

गद्येन युक्तोदात्तार्था सोच्छ्वासाऽऽख्यायिका मता ।
वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम् ।।
वक्त्रं चापरवक्त्रं च काले भाव्यार्थशंसि च ।
कवेरभिप्रायकृतैरंकनैः कैश्चिदंकिता ।।
कन्याहरणसंग्रामविप्रलंभोदयान्विता ।
न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छ्वासवत्यपि ।।

दर्पणेऽप्युक्तम्—कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ।
क्वचिदेव भवेदार्या क्वचिद् वक्त्रापवक्त्रके ।।
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्त्तनम् ।

इति द्वयोः क्रमेण लक्षणसद्भावात् ।
आख्यायिका कथावत्स्यात् कवेर्वंशादिकीर्त्तनम् ।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित् क्वचित् ।
कथांशानां व्यवच्छेदः आश्वास इति बध्यते ।
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित् ।।
अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यार्थसूचनम् ।

हर्षचरितादि । सामस्त्येन तु चतुर्विधम् गद्यमुक्तम् दर्पणे—
वृत्तबंधोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगंधि च ।
भवेदुत्कलिकाप्रायम् चूर्णकं तु चतुर्विधम् ।।

आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम् ।
अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं तुर्य्यं चाल्पसमासकम् ।

इत्यनेनोत्कलिकाप्रायमेव काव्यं कादम्बरीति दर्शितम् । अत्र नायकस्तु धी रोदात्तः चन्द्रापीडः । तथा च तल्लक्षणम्—

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही ।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता ॥

इति सा० दर्पणे । नायिका तु कन्या परकीया मुग्धा । 'कन्यात्वजातोपयमा सलज्जा नवयौवना । परकोया द्विधा प्रोक्ता परोढा कन्यका तथा'—

प्रथमावतीर्णमदनविकारा रतौ वामा ।
कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा ॥

कादम्बर्य्या उत्तरार्धे स्वकीया नायिका ज्ञातव्या । विप्रलम्भाख्यः शृङ्गारो रसः पूर्वार्धेऽस्ति उत्तरार्धे तु सम्भोगः शृङ्गाररसः । क्वचित् करुणश्च रसोऽस्ति । अत्र माधुर्य्यं गुणः तथा च तल्लक्षणम् दर्पणे—

चित्तद्रवीभावमयोह्लादो माधुर्यमुच्यते ।
सम्भोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात् ।

क्वचित् प्रसादगुणोऽपि चित्तं व्याप्नोति यः कश्चित् शुष्केन्धन इवानलः इत्यादि तल्लक्षणात् । रीतिस्तु पाञ्चालिकाख्या तथा हि लक्षणम् दर्पणे—वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः समस्तपञ्चषपदो बंधः पाञ्चालिका मता—द्वयोः वैदर्भीगौडयोरित्यर्थः । इति साहित्यदर्पणे विश्वनाथपञ्चाननेन पूर्वोक्तं सर्वं सम्यग्दत्तं नायिकादिस्वरूपवर्णनम् । इति संक्षेपतः प्रदर्शितः सर्वोऽयं भूमिकाविषयः छात्रहितार्थं तत्तद् विषयाणामनायासेन बोधार्थम् । तत्तद्ग्रंथेभ्यः परमोपयोगिपरिमितविषयान् समाकृष्य ।

कादम्बरीशब्दव्याख्या—

कादम्बरीनामिका गंधर्वसुता तामधिकृत्य कृता कथा कादम्बरी "अधिकृत्य कृते ग्रंथे" इति इत्यर्थेऽण्प्रत्ययः तस्य च लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलमिति

लुप् ततो लुपियुक्तवद्व्यक्तिवचने इति तद्वद् व्यक्तिवचने कृते तन्नाम स्फुटमेव । किंच् कादम्बरम् मद्यम् कदम्बपुष्परसनिर्मितम् तथा चोक्तम् सि० ४ र्थे "निषेव्य मधुमाधवाः सरसमत्र कादम्बरम्" कदम्बस्य पुष्पं कदम्बं तेषां समूहः कादम्बं तत् राति लातीति "आतोऽनुपसर्गे कः" इति कः कादम्बरम् स्त्रियाम् षिद्गौरादिभ्यश्चेति ङीषि तु कादम्बरी । किं च कादम्बरीयैकैः पुष्पैः वा वस्तुभिः निर्मिता सा । तथाहि सि० षष्ठपृष्ठे कादम्बरीसाक्षिक प्रथमसौहृदमिष्यते इति । किंच कादम्बरीमदविघूर्णितलोचनस्य युक्तं हि लाङ्गलभृतः पतनं पृथिव्याम् इति । किंच कादम्बरी-उत्तरार्धे कादम्बरी-रसभरेण समस्त एव मत्तो न किंचिदपि चेतयते जनोऽयम् इति। कुत्सित-मम्बरं कदम्बरं यस्य स कदम्बरः अर्थात् मलिनवासाः नीलाम्बरः बलभद्रः 'नीलाम्बरो रौहिणेय' इत्यमरात् । कदम्बरस्येयं कादम्बरी "तस्येदमिति" इदमर्थेऽण् ततो ङीप् कादम्बरी । अपि च सरस्वत्यां कादम्बरी । कोकिला-यामपि सारिकायामपि । गर्त्तेषु एकत्रितं मेघवारि अपि कादम्बरम् । मत्त-करिणः प्रवहत् दानवारि अपि कादम्बरम् । तत्तत्कोषेषु तत्तदर्थनिरूपणात् ।

॥ इति ॥

मुद्रक—[illegible] अग्रवाल, नेशनल प्रेस, प्रयाग ।